http://www.jainkosh.org

सहजानंद शास्त्रमाला

भावपाहुड प्रवचन

रचयिता

अध्यात्मयोगी, न्यायतीर्थ, सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री

पूज्य श्री क्षु० मनोहरजी वर्णी "सहजानन्द" महाराज

प्रकाशक

श्री सहजानंद शास्त्रमाला, मेरठ

एवं

श्री माणकचंद हीरालाल दिगम्बर जैन पारमार्थिक न्यास

गांधीनगर, इन्दौर

Online Version : 001

http://sahjanandvarnishastra.org/

भावपाहुड़ प्रवचन

प्रवक्ता—अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री
पूज्य श्री १०५ क्षु० मनोहर जी वर्णी "सहजानन्द" महाराज

णमिऊण जिणवरिंदे णरसुरभवणिंदवंदिए सिद्धे ।
वोच्छामि भावपाहुडमवसेसे संजदे सिरसा ।। १ ।।

(१) ग्रन्थकार श्री कुन्दकुन्दाचार्य द्वारा जिनवरेन्द्रको नमस्करण एवं भावपहुड़रचनाका संकल्प— इस ग्रन्थके प्रणेता कुन्दकुन्दाचार्य भावपाहुड़ ग्रन्थके प्रारम्भमें मंगलाचरण और अपना संकल्प बताते हैं। मनुष्य देव भवनवासी आदिक एकशत सभी इन्द्रोंके द्वारा बंदनीक जिनेन्द्रदेवको नमस्कार करके मैं इस भावपाहुड़ ग्रन्थको कहूंगा। यह प्रथम नमस्कार जिनेन्द्र देवको किया है, और कहते हैं कि सभी प्राणी, संज्ञी पंचेन्द्रिय देवादिक जो जानन-हार हैं उन सबके द्वारा वंदनीय सिद्ध भगवंतको नमस्कार करके भावपाहुड़ ग्रन्थ कहेंगे। तीसरी वंदनामें कहते हैं कि शेष बचे हुए संयमी जीव उनको सिर झुकाकर प्रणाम करके भावपाहुड़ ग्रन्थको कहेंगे। इस प्रकार संयतजनसम्बोधक इस भावपाहुड़ ग्रंथके प्रारम्भमें आचार्यने अरहंत सिद्ध और संयत तीनकी वंदना की है। अरहंतमें अरहंत परमेष्ठी हैं, सिद्धमें सिद्ध परमेष्ठी हैं और संयतमें आचार्य उपाध्याय और साधु, ये तीन परमेष्ठी आ गए। इस प्रकार पंच परमेष्ठियोंको इसमें नमस्कार किया है। भावकी साधना करके प्रभु अरहंत बने हैं इसलिए भाव पाहुड़में भावोंकी विशेषतायें बतायी जायेंगी। वे सब भाव पूर्ण हुए हैं, विकसित हुए हैं अरहंत प्रभुके, इसलिए अरहंतको नमस्कार किया है और सिद्ध प्रभु अरहंतके बाद और निर्मलताको प्राप्त हुए हैं।

यहां भावोंकी निर्मलताका अन्तर नहीं है, किन्तु अघा-तिया कर्म और उनका निमित्त पाकर शरीरादिकका संबंध जो कुछ भी द्रव्यकर्म और नोकर्मसे रह रहा था उससे भी रहित हो गए। यह आत्यंतिक विकास इस भावपाहुड़का लक्ष्य है सो सिद्धको नमस्कार किया है और भावपाहुड़में बताये हुए प्रकरणका सीधा संयमीसे है, आचार्य, उपाध्याय और साधुवोंकी ही सब बात इसमें बतायी जायगी कि वे किस भावकी साधना करें, और अपने भाव विकसित करें, उनकी बहिरंग प्रक्रिया और अन्तरंग प्रक्रिया सभी कुछ बतायी जायगी तो भावपाहुड़के वाच्यसे संयमी जनोंका सम्बंध अधिक है, सो संयमी जनोंको नमस्कार किया है। इस प्रकार पंच परमेष्ठियोंकी वंदना करके भावपाहुड़ ग्रंथको कहेंगे, ऐसा आचार्य कुंदकुन्ददेव अपना संकल्प कर रहे हैं।

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

भावो हि पढमलिंगं ण दव्वलिंगं च जाण परमत्थं ।
भावो कारणभूदो गुणदोसाणं जिणा विंति ।। २ ।।

(२) **भावलिङ्गकी परमार्थता**—भाव है सो पहला लिङ्ग है और इस ही के कारण द्रव्यलिङ्गमें जैसा कि यथाजात रूप बताया है इस प्रथम लिङ्गकी साधना की जाती है तो वास्तवमें परमार्थ रूप तो भाव ही है, पर द्रव्यलिङ्ग परमार्थ नहीं है । वह तो केवल एक भाव लिङ्गकी साधना करने वालेकी बाह्य परिस्थिति क्या होती है, उसकी मुद्रा है द्रव्यलिङ्ग । गुणदोषका कारणभूत तो भाव ही है । यदि किसी साधकसे भावकृत दोष हो जाय तो उसका प्रायश्चित्त विशेष है और जहां वचनकृत कोई अपराध हो जाय तो उसका प्रायश्चित्त कम है, क्योंकि जीवका होनहार तो भावके अनुसार है । जब भाव विशेष शिथिल हो जाते हैं तो आय आदिकमें भी शिथिलता आती है, पर मुख्य तो भाव है । इस भावपाहुड़ ग्रन्थमें गुण और दोषका कारणभूत भाव होनेसे सर्वप्रथम गाथामें भाव गुण जिनके पाया गया है उनको नमस्कार किया था और नमस्कार किया था भावप्रधान आत्माओंको । पहला नमस्कार था अरहंत परमेष्ठीको, सो उनके भाव इतने विशेष थे मुनि अवस्थामें साधक अवस्थामें कि गुणश्रेणी निर्जरासे कर्मोंकी निर्जरा बढ़ती चली जाती है और ऐसे साधक मुनिजनोंमें श्रेष्ठ होते हैं गणधर, इनमें भी श्रेष्ठ हैं तीर्थंकर । तीर्थंकर भावके फलको जो पहिचान चुका है, घातियाकर्मका जिसने नाश किया है वह सब भावोंके द्वारा ही तो है, जो गुणश्रेणी निर्जरा रूप भाव है वह है क्या ? आत्मा के अविकार इस ज्ञानस्वभाव उपयोग दृढ़ हो जाना, फिर विचलित न हो सके, ऐसा जो ज्ञानमें ज्ञानका एकमेक हो जाना है वह है भाव । जो कर्मोंकी निर्जराका कारणभूत है ।

(३) **धर्मका बीज परमार्थभाव**—धर्मके लिए शान्तिके लिए करना क्या है ? अपने ज्ञानके द्वारा ज्ञानस्वरूप आत्माको निहारें और ऐसा अनुभव बनायें कि ऐसा जो ज्ञानस्वरूपमें ज्ञानउपयोगका रमना है वह है उत्कृष्ट भाव जिससे कर्म कटते हैं और कैवल्य अवस्था प्राप्त होती है परमार्थभूत भावलिंगका इस ग्रन्थमें वर्णन चलेगा और इस ही भावलिंगके धारक हैं आचार्य, उपाध्याय और साधु, ये इन भावोंका पालन करते हैं और अन्य जनोंको इन शुद्ध भावोंकी शिक्षा दीक्षा देते हैं, तो ऐसे इस प्रथम भावलिंगका इस ग्रन्थमें वर्णन होगा जिनेन्द्र देवने बताया है कि प्रधान भावलिंग ही है । जो पुरुष द्रव्यलिंगपर दृष्टि देकर यह मैं मुनि हूं और उस द्रव्यलिंगके नातेसे बड़े जीवरक्षा आदिक कार्योंमें भी चले तो भी उसके मोक्षमार्ग जरा भी नहीं है यदि भावलिंग नहीं है तो । गुण तो हैं स्वर्ग मोक्ष, उत्तम गुण तो मोक्ष है, पर जो मोक्ष जाता है प्रायः करके ऊंचेसे

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

ऊंचे स्वर्ग और स्वर्गसे ऊपरके अहमिन्द्र पद उसे प्राप्त होते हैं। यद्यपि अभव्य मिथ्यादृष्टि जीव द्रव्यलिंग धारण कर और मंद कषायसे तपश्चरण करके नवग्रैवेयक तक उत्पन्न होते हैं। मगर यहां सम्यग्दृष्टि जीवोंकी बात कही जा रही है वह भी स्वर्गोंमें और ग्रैवेयकोंके एवं उससे ऊपरके अहमिन्द्र पदमें रहते हैं। तो जो एक रास्ता जा रहा है उसके बीच जो पगडंडियां आती हैं उनका भी उसके साथ महत्त्व बन जाता है।

(४) **भावोंकी दोषगुणकारणभूतता**—दोष है नरकादिक, तो जैसे स्वर्ग और मोक्षका कारण भाव है ऐसे ही नारकादिक दुर्गतियोंका कारण भी भाव है, वह सद्भाव है, यह दुर्भाव है। तो भाव जो है यह गुण और दोषका कारण है, इसलिए भावकी शुद्धि करना चाहिए जीवको। बाह्यमें क्या गुजरता है, किसका कैसा परिणाम है इस ओर यदि विकल्प जरा भी न रहे और अपने इस सहज ज्ञानस्वभावका ही उपयोग रहे तो इस जीवका कल्याण है। कितने भव गुजर चुके। उन भवोंमें भी तो बहुतसा समागम था, लोग थे, जनता होगी, इज्जत चलती थी तो वे कैसे स्वप्न थे इस जीवके? ऐसे ये भी स्वप्न हो जायेंगे। तो थोड़े दिनोंके मिले हुए इन समागमोंमें अपने आपको बहा देना यह अपने लिए उचित बात नहीं है। तो भावको ही गुण दोषका कारण जानें, उनमें उत्तम भाव तो गुणके कारण हैं और खोटे भाव दुर्गतिके कारण हैं। मतलब इस जीवका जो कुछ होनहार है वह भावोंके आधारपर है, इस कारण यहां भाव लिङ्गको प्रधान कहा है। जो सांचा मुनि और श्रावक है उसके उस योग्य भावलिङ्ग रहता है सो द्रव्यलिङ्गको परमार्थ न जानना। भावलिंगको परमार्थ जानना। जैसा संतोंने द्रव्यलिंग धारण किया है याने सही जैनी दीक्षा ग्रहण की है, दिगम्बर मुद्रा जिस शरीरकी है वह मुनि भावलिंगी है, तो उसकी द्रव्यलिंगपर दृष्टि न रहेगी। द्रव्यलिंग चलता है, पर द्रव्यलिंगमें ममता नहीं। द्रव्यलिंगको देखकर यह मैं हूं, ऐसा भाव ज्ञानियोंके नहीं आता।

(५) **छह द्रव्योंमें जीव और पुद्गलमें ही विभावकी संभवता**—भावलिंगोंको तो अपने भाव ही दृष्टिगत रहते हैं। जगतमें ६ प्रकारके द्रव्य हैं—(१) जीव, (२) पुद्गल, (३) धर्म, (४) अधर्म, (५) आकाश और (६) काल, जिसमें जीव तो अनन्तानन्त हैं। पुद्गल उससे भी अनन्तानन्त गुने हैं, धर्मद्रव्य एक है, अधर्मद्रव्य एक है, आकाशद्रव्य एक है, कालद्रव्य असंख्यात हैं। इन अनन्तानन्त पदार्थोंमें जो जीवनामक पदार्थ है वह है चैतन्यस्वरूप। पुद्गल है रूप, रस, गंध, स्पर्शका पिण्ड। धर्म, अधर्म, आकाश, काल, यह अमूर्त द्रव्य हैं, इसका परिणमन निरन्तर समान चलता है, क्योंकि ये चार द्रव्य कभी अशुद्ध नहीं होते, ये अमूर्त हैं, समान परिणमन हैं, सदैव शुद्ध हैं इस कारण इन द्रव्योंमें

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

अधिक कहने लायक कुछ नहीं है। शेषके जो दो प्रकारके द्रव्य हैं जीव और पुद्गल, ये अशुद्ध होते हैं। इनका जो भव भवान्तर परिणमन चलता है वह भी ध्यानमें आता है। पुद्गलका तो यह सब आंखोंसे दृष्टिगत हो रहा है और अनन्तानंत पुद्गल आदिक ऐसे हैं जो आंखोंसे दृष्टिगत हो ही नहीं सकते। पुद्गलका एक भावसे, एक अवस्थासे दूसरी अवस्थारूप परिणम जाना यह तो पुद्गलका भाव है, और जीवमें दर्शन, ज्ञान, चारित्र, आनन्द आदिक गुणोंके परिणमनसे जो परिणमन होता रहता वे सब जीवके भाव कहलाते हैं।

(६) **विभावसे हटकर स्वभावमें उपयुक्त होनेमें आत्माकी भलाई**—जीव केवल अकेला परसंसर्गके बिना हो तो उसकी सिद्धिमें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र भाव होते हैं। और पुद्गल कर्मका निमित्त पाकर कर्ममें मोह राग द्वेष होना यह विभाव परिणमन होता है। तो विभाव परिणमन तो प्रकट समझमें आ जाते हैं कि यह क्रोध है, मान है, यह माया है, लोभ है और उसकी जो बदल है वह झट समझमें आती है कि देखो यह जीव कैसा बदलता है, किन्तु जो अनैमित्तिक सहजभाव है सम्यक्त्व ज्ञान चारित्र रूपी भाव हैं, ज्ञानका ज्ञान रूपसे परिणत रहना सो ये भाव भी प्रति समयमें नाना प्रकारके चलते हैं, मगर पूर्णतया समान होनेसे इनकी लोगोंमें प्रसिद्धि नहीं हो पाती कि ये भी कोई भाव हैं और इस तरह यह परिणम रहा है। तो भाव ऐसे जीव और पुद्गलमें बनते जाते हैं। कुछ प्रति बोधके लिए सोचें—इनमेंसे जो पुद्गलके भाव हैं उनसे पुद्गल आदिकको कोई नुक्सान नहीं, क्योंकि वे जड़ हैं। काठ जड़ है तो जल जाय उससे उन स्कंधोंमें क्या नुक्सान है ? राग हो गया, उनके वेदना तो नहीं है। परिणमन मात्र है, पर जीवको इन परिणमनोंमें आकुलता निराकुलता, शान्ति अशान्ति बर्तती है इस कारण जीवोंके लिए उपदेश है कि ऐसे भावोंसे अलग होओ, जो दुर्गतिके कारण हैं और ऐसे भावोंमें आवो जो भलाईके कारण हैं, तो भावोंको एक संक्षेप रूपसे ऐसा विचार करें कि जितने इसमें औपाधिक भाव होते हैं वे तो सुख दुःख आदिक रूप बनते हैं और जो अनैमित्तिक सहज आत्माके स्वरूपमें परसंगरहित होता है वह सब आनन्दस्वरूप भाव होता है। तो संक्षेप रूपमें यह ही आदेश है कि नैमित्तिक भावोंसे तो हटना और स्वभावमें आना। नैमित्तिक भाव जब हटें तब हट जायेंगे पूर्णतया, पर नैमित्तिकभावोंमें श्रद्धा तो न रखें कि ये मेरे स्वरूप हैं। नैमित्तिक भावोंमें अपना उपयोग तो मत रमावें, उनसे विरक्ति करें और उनसे हटे हुए रहें, यह तो किया जा सकता है। सो नैमित्तिक भावसे तो हटना और स्वभाव भावके अभिमुख होना, जो आत्माका सहज चैतन्यस्वरूप

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

है वही मैं हूं ऐसा अपने आपमें अभिमुख होना यह कहलाता है भावलिङ्ग ।

(७) **देहकी सकलसंकटबीजता**—एक देह शरीर ऐसा विकट सम्बंध है कि यह बाह्य पदार्थोंकी तरह न्यारा नहीं है जो इस देहको अलग छोड़ दे और देहसे अलग होकर ध्यान करने बैठ जावे । ऐसा जैसे बाह्य पदार्थोंको छोड़ा जाता है उस तरह देहको नहीं छोड़ा जा सकता और देह जीवका है नहीं । यह तो चिमगादड़की तरह लिपटा हुआ गंदा देह है । इसका सम्बन्ध भी इस जीवके लिए अहितकर है । एक चिमगादड़की कथा है कि एक बार पशु और पक्षियोंमें विद्रोह हो गया । दो पार्टी हो गई इस विषयपर कि पशु पक्षियोंसे मिल जाते और पक्षी पशुओंसे मिल जाते । तो वहां चिमगादडने क्या सोचा कि अपना ऐसा रूप बनावें कि मौका पड़े तो मेरी शुमार पशुओंमें हो जाय तो ऐसी चिमगादड़की शक्ल बन गई कि वह पशु जैसा भी लगता और पक्षी जैसा भी । जैसे चार पैर और दांत होना तो पशु जैसी बात बन गई और पंख होना चिड़ियों जैसी बात बन गई । तो ऐसी चिमगादड़के माफिक जो देह है इसका बाह्य परिग्रहकी तरह आत्मदेवसे अत्यंत भिन्न स्वरूप है । यों तो अत्यन्त जुदा है देह, मगर यह जीवके प्रदेशोंमें एक क्षेत्रावगाह है कि यह जीवसे हट नहीं सकता । तो ऐसा चिमगादड़की तरह कठिन चिपका हुआ देह है । जितने भी कष्ट होते हैं वे सब इस देहके सम्बन्ध और ख्यालसे होते हैं । किसी भी प्रकारका आप कष्ट आलोचनाके लिए रखें, आपको देहका सम्बन्ध उसका कारण मिलेगा । क्षुधा तृषा आदिक तो शरीर के ही कष्ट हैं, पर सम्मान अपमान आदिकके जो कष्ट हैं सो देहमें जब आत्मबुद्धि है और यह सोचे देहको निरखकर कि इस मुझको कहा गया है तो उसका सक्लेश हो जाता है ।

(८) **देहका व आत्माका तथ्य विज्ञात होनेपर शान्तिमार्गका दर्शन व वर्तन**—यदि तथ्य जान ले कोई कि देह तो देह है, लोग देखते हैं देहको और जो कुछ कहते हैं वह देहको । मैं तो अमूर्त दर्शन, ज्ञानस्वरूप अंतस्तत्त्व हूं । मेरा तो पहिचाननहार ही नहीं है । इसको कौन क्या कहेगा ? उसको अपमान नहीं महसूस होता । ज्ञानियोंका और बल बल है ही क्या, जिस बलके कारण वे किसी भी विपत्तिमें अधीर नहीं होते । वह है सहज ज्ञान-स्वरूप अंतस्तत्त्वकी दृष्टिका बल । तो ये तो सब दुर्भाव—सद्भाव स्वभाव विभाव जीव के व पुद्गलके भाव कहलाते हैं, और द्रव्य कहलाता है प्रदेशरूप । जैसे पुद्गलके जो परमाणु हैं वे पुद्गलके द्रव्य हैं, जीवके जो प्रदेश हैं वे इस प्रदेशमें जो जीव अस्तिकाय है वह है जीवका द्रव्य । सो पुद्गलमें तो सम्बंध हो होकर स्कंधरूप द्रव्यका बनाव होता

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

है और जीवोंमें कर्मका सम्बंध पाकर नारकादिक, तिर्यञ्च, मनुष्य रूप द्रव्यका बनाव होता है। सो असमानजातीय द्रव्य पर्याय है इसलिए केवल जीवकी बात नहीं बतायी जा सकती। हां जिस भवमें यह जीव मोक्ष पाता है, मोक्ष अवस्थामें पूर्ण देहमें जो आत्माका फैलाव है, ऐसा द्रव्य भावका स्वरूप जानकर न तो द्रव्यके प्रदेशके ख्यालमें आत्माके भावोंकी प्रगति है और न जीवके विभावोंके ख्यालमें आत्माके भावोंकी प्रगति है, और परद्रव्यके ख्यालमें तो कहना ही क्या है। तो इन भावोंसे हटकर एक सहज ज्ञान स्वभावमें उपयोगको लगावें। यह ही भावलिङ्गका आधार है।

(६) **द्रव्यलिङ्गमुद्रामें रहकर मुनिके भावलिङ्गकी विशुद्धिका उद्यम**—मुनिके भावलिङ्ग है, इसका अर्थ क्या है कि इन मुनियोंका उपयोग अविकार सहज ज्ञानस्वभावके अभिमुख रहा करता है, बस इसकी ही बढ़वारी द्रव्यलिङ्गमें रहती है कोई वस्त्र पहने हो, घरमें रहता हो, कुटुम्ब बना हो और वह चाहे कि अविकार ज्ञानस्वरूपमें अपने उपयोग की दृढ़ताका आनन्द लिए रहा करूं, यह उससे नहीं बन सकता। जो इस धुनमें बढ़ेगा, उसको यह चित्तमें होगा कि यह घरका सम्बंध, कुटुम्बका सम्बंध, वैभवका सम्बंध आत्माके लिए अहितका करने बाला है, इसलिए उनका त्याग करता ही रहेगा। उसकी द्रव्यलिङ्ग मुद्रा बन जायगी, और वहां इस सहज ज्ञानस्वभावकी आराधनाकी साधना बनायगा। तो कर्म किससे कटे ? भावोंसे कटे, द्रव्यसे कर्म नहीं कटे। द्रव्यलिङ्ग तो एक शरीरकी स्थिति है, वह भी प्रयोगमें आयी है, मगर कर्म कटनेका निमित्त कारण शरीर का भेष नहीं है, किन्तु जीवका निर्मल भाव है। तो जो कर्मक्षयका कारण भाव है, ऐसे भावका वर्णन इस भाव पाहुड़में चलेगा। उन भावोंमें दो विभाग बने—(१) विभावभाव ओर (२) स्वभावभाव। विभावभाव दुःखरूप हैं, वे पुद्गल कर्मके सम्पर्कका निमित्त पाकर हुए हैं। यदि ये अनैमित्तक भाव हों विभाव, तो अरहंत सिद्धमें भी आ बैठे। ये स्वभाव भाव नहीं है। स्वभाव भाव ही जीवका आनन्दमय भाव है, मोक्ष कहते ही हैं स्वभावके अनुरूप विकासको। तो यदि स्वभाव विकास चाहिए तो स्वभावकी जानकारी श्रद्धा और स्वभावमें रमणका प्रयत्न आवश्यक होता है। तो स्वभाव भावकी सिद्धिमें कारण हैं सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र। जिसका मूल सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शनके होते ही ज्ञान सम्यग्ज्ञान बनता है और चारित्र सम्यक्चारित्र बनेगा, सो ये तो हैं मोक्षके हेतुभूत। विभाव हैं संसारके कारण। विभावोंसे हटना है, स्वभावमें आना है, इसका पूरक इस भावपाहुड ग्रन्थमें स्वभावभाव रूप भावलिंगका वर्णन चलेगा।

भावविसुद्धिणिमित्तं बहिरंथस्स कीरए चावो।

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

बाहिरचाओ बिहलो अब्भंतरगंथजुतस्स ॥३॥

(१०) **भावविशुद्धिके लिए वाह्य परिग्रहका त्याग**—आत्मकल्याणमें प्रगति पानेके लिए अथवा मोक्ष लाभके लिए जो निर्ग्रन्थ दिगम्बर दीक्षा धारण की जाती है याने समस्त वाह्य परिग्रहोंका त्याग किया जाता है वह भावकी निर्मलताके लिए किया जाता है, यदि किसी जीवके भीतरी परिग्रह तो छूटा नहीं, मोह रागद्वेषादिकमें तो लिप्त है और बाह्य परिग्रहोंका त्याग करे तो उसका बाह्य पदार्थोंका त्याग करना निष्फल है। अंतरंग परिग्रह है मोह राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा आदिक याने जितने जितने विकारभाव हैं, जो पुद्गल कर्मके उदयका निमित्त पाकर हुए हैं ऐसे इन जीवविकारोंमें ममता होना, यह ही मैं हूं, इसमें ही मैं हूं, इसमें ही मेरा महत्त्व है ऐसे अपने आपके विकारमें ही रमना, उसे छोड़नेका भाव न होना, उससे उपेक्षा न करना, हटना नहीं विकारोंसे ये ही सब कहलाते हैं अतरंग परिग्रह। जिनके यह अंतरंग परिग्रह लगा हुआ है उनके लिए बाह्य परिग्रहका त्याग क्या फल दे सकता है ? बल्कि वह बाह्य परिग्रहका त्याग करके जो भेष बना है, जो स्थिति हुई है उसमें अहंबुद्धि करके और भी तीव्र पाप बंध किए जाते हैं। तो बाह्य परिग्रहों का त्याग तो अन्तरङ्ग परिग्रहके त्यागके लिए है। भावोंकी निर्मलताके लिए है। यदि कोई भावोंकी निर्मलता तो पाये नहीं, भीतर परिग्रहसे युक्त रहे और बाह्य परिग्रहोंका त्याग करे तो उसका वह त्याग निष्फल है।

भावरहिओ ण सिज्झइ जइ वि तवं चरइ कोडिकोडीओ।
जम्मंतराइ बहुसो लंबियहत्थो गलियवत्थो ॥४॥

(११) **भावरहित पुरुषके क्ररोड़ों जन्मों तक तपश्चरण करनेपर भी असिद्धि**—जो साधु भावरहित होता है याने अनन्तानुबंधी अप्रयाख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण ये १२ कषायें जिसके नहीं हैं, मात्र संज्वलन कषाय है सो भी मंद, और ऐसी स्थितिमें सम्यग्दर्शनके कारण आत्माकी ओर जो दृष्टि रहती है उससे जो अविकार ज्ञानानन्द स्वभाव का अनुभवन चलता रहता है, अलौकिक आनन्द मिलता रहता है, ऐसी निर्मलता जिसके प्रकट ही नहीं हुई ऐसा भावरहित साधु कोड़ाकोड़ी जन्मों तक बड़ा तेज तपश्चरण करके अपने शरीरको सुखाये तो सुखा ले, मगर मुक्ति प्राप्त नहीं कर सकता। वह जन्म जन्मान्तर पाता ही रहेगा। चाहे बाह्य तप कितने ही कठिन हों। एक कायोत्सर्गसे खड़ा है, रात्रिभर खड़ा है, लम्बे हाथ करके खड़ा है, वस्त्र त्याग दिया है, कैसा ही कठिनसे कठिन तप करे कोई, पर भावरहित मुनि मुक्ति नहीं पा सकता। इसका कारण यह है

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

कि मिथ्यादर्शन, ज्ञान और मिथ्याचारित्र इनमें वह पग रहा है, जो बाह्य नग्न भेष है उसमें जो अहंकार है। यह मैं हूं, मैं मुनि हूं, मैं इतना बड़ा हूं, ऐसा मुनिपना तो अहंकार है और उसके अनुकूल फिर मिथ्याज्ञान चलता रहता है। ये भक्त हैं, ये मुझसे छोटे हैं, मैं पूज्य हूं, ये पुजारी हैं। इन्होंने यह क्यों नहीं किया आदिक बहुत सी अटपट बुद्धियां चलती रहती हैं और आत्मस्वरूपमें मग्नता तो हो ही नहीं सकती मिथ्यादृष्टि जीव के। सो वह मग्न होता है बाह्य इन्द्रिय और मनके विषयोंमें, तो ऐसे मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्रके विभावोंमें जो पग रहा है और इसी कारण रत्नत्रयमें जिसकी प्रवृत्ति संभव नहीं है वह कोड़ाकोड़ी भवों तक कायोत्सर्ग करके नग्न मुद्रामें खड़ा रहेगा, तो भी मुक्ति प्राप्त नहीं होती, बल्कि अनेक जन्म मरण करता ही रहता है। तो सम्यग्दर्शन एक ऐसा मौलिक उपाय हैं कि जिस उपायके पाये बिना यह जीव धर्मके नाम पर कितने ही परिश्रम कर डाले, सब व्यर्थ है।

परिणामम्मि असुद्धे गंथे मुञ्चेइ बाहरे य जई।
बाहिरगंथच्चाओ भावविहूणस्स किं कुणइ ॥५॥

(११) **अशुद्ध परिणामके होनेपर बाह्यपरिग्रहत्यागसे सिद्धिकी असंभवता**—कोई मनुष्य साधु तो हो गया, मगर परिणाम उसके अशुद्ध ही चल रहे हैं व ऐसे भावके होनेपर वह परिग्रहको छोड़ता है, धन धान्य मकान आदिक बाह्यपरिग्रहोंका त्याग करता हैं, सो यह बाह्य परिग्रहका त्याग भावरहित मुनिका क्या लाभ कर सकता है? परिग्रह तो वास्तवमें मूर्छाको कहते हैं। कहा भी तो है—मूर्छा परिग्रहः। प्रमाद और कषायके वश किन्हीं भी बाह्यपदार्थोंमें अहंकार, ममकार होनेके कारण जो आत्माकी एक बेहोशी होती है, जिसमें आत्मस्वरूपका कुछ भी भान नहीं रहता, मात्र बाह्य परिग्रहकी ओर ही आकर्षण रहता है, ऐसी स्थितिको कहते हैं मूर्छा। मूर्छा ही परिग्रह है। किसीने बाहरी परिग्रह तो त्यागा, मगर देहका परिग्रह विकट बांध लिया। देह यद्यपि छोड़ने योग्य वस्तु नहीं है उस समय, लेकिन देहमें ममता हो, देहमें आत्मबुद्धि हो, यह तो होती है अज्ञानकी स्थितिमें और देहको पुद्गल आदिका प्रचय समझे और आत्माको अत्यन्त भिन्न स्वभाव वाला देखे, ऐसा देखनेसे जो देहके प्रति उपेक्षा है यह ज्ञानीके होती है। तो देह छोड़ा नहीं जा सकता, फिर भी इस देहको देह ही जानें। अमूर्त चिदानन्द स्वरूप आत्मासे भिन्न जानें व जड़ मूर्तिक, रूप, रस, गंध, स्पर्शका पिण्ड समझें। इसे तो किया जा सकता है, पर अज्ञानी जीव जिसने बाह्य परिग्रहको त्याग दिया, पर देहमें विकट आत्मबुद्धि है। धर्मका आयतन है दिगम्बरी मुद्रा, उसको धारण करके भी जिसके

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

ममता बन रही हो देहमें, भेषमें, यह ही मैं सब कुछ हूं, वह तो विकट मूर्छा है। तो ऐसे अन्तरंग परिग्रहको जब यह जीव छोड़ता नही, तो बाह्य परिग्रहोंका कैसा ही त्याग किया हो उसको फल याने कल्याणकी बात नहीं मिल सकती। सम्यग्दर्शन आदिक परिणाम हुए बिना कर्मनिर्जरा हो ही नहीं सकती, फिर कल्याण कहांसे हो ? इससे भावों की निर्मलता बढ़े, उसके लिए ज्ञानाभ्यास व अविकार ज्ञानस्वरूप अंतस्तत्त्वकी उपासना बढ़ावें।

जाणहि भावं पढमं किं ते लिंगेण भावरहिएण।
पंथिय सिवपुरिपंथं जिणउवइट्ठं पयत्तेण ॥६॥

(१३) शिवपुरपंथ प्रथमलिङ्ग परमार्थ भावसे रहित पुरुषोंके द्रव्यलिङ्गकी व्यर्थता—

हे मुने, शिवपुरीका जो पंथ है वह तो भाव ही है, ऐसा जिनेन्द्र देवने बताया है याने मोक्षमार्ग भाव है, जिस भावमें समस्त बाह्य पदार्थोंकी उपेक्षा है और अपने निज अंतस्तत्त्वमें उपयोग है, तो यह भावस्थिति मोक्षमार्ग है, इस कारण हे मोक्षपुरीके पथिक अर्थात् मोक्षमार्गमें चलने वाले पुरुष ! तू भावकी ही प्रथम बातको जान। परमार्थभूत बात जान। जीव हैं केवल भावस्वरूप। तो भावोंकी विशुद्धिसे ही जीवकी शुद्धि हो सकती है। भावरहित मुनि द्रव्यलिंग मात्र धारण करे, उससे उसको कुछ सिद्धि नहीं। इससे हे कल्याणार्थी जनो मोक्षमार्ग जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र है उसकी आराधना करना, क्योंकि केवल द्रव्यलिंगसे कुछ भी सिद्धि नहीं। यद्यपि द्रव्यलिंग कल्याणमार्गमें चलने वालेके आता ही है, क्योंकि वह बाह्य पदार्थका सम्बंध रखता, संयोग रखता तो यह विकट विकल्पका ही कारण बनता है और मोक्षमार्गमें चलनेकी कोशिश करने वाला निकट भव्य विकल्प मात्रको हेय मान रहा। सारे विकल्प छूटें और अपने आपमें अपना ज्ञानस्वरूप ही समाया रहे ऐसी स्थिति चाहने वाला भव्य पुरुष द्रव्यलिंगमें आयगा ही, मगर जो लोग इस द्रव्यलिंगमें ममता रखते हैं, इसको ही साधन जानकर इन वचन कायकी क्रियावोंमें ही लगे रहते हैं और उस ही के अनुरूप मनको जुटाये रहते हैं उनको सिद्धि नहीं होती।

भावरहिएण सपुरिस अणाइकालं अणंतसंसारे।
गहि उज्झियाइं बहुसो बाहिरणिग्गंथरूवाइं ॥७॥

(१४) भावरहित पुरुषोंद्वारा बाह्यनिर्ग्रन्थमुद्रावोंका अनगिनतेवार ग्रहण कर डालनेकी निष्फलता

हे सत्पुरुष, आत्मभावना बिना इस जीवने अनादिकालसे अब तक इस अनंत संसारमें निर्ग्रन्थ मुद्रायें बहुत बार धारण की हैं और छोड़ी भी हैं। अगर द्रव्यलिंगसे सिद्ध होती तो उन्हें कभीके मोक्ष चले जाना चाहिए था। यह बताया जाता कि इस जीवने इतनी

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

बार मुनिपद धारण किया, द्रव्यलिंग धारण किया कि यदि प्रत्येक भवका एक एक कमण्डल जोड़ा जाय तो मेरु पर्वत जैसे अनेक पहाड़ खड़े हो जायेंगे। तो यह तो एक मनकी हबस है, इच्छा है, शौक है। किसीने इसी तरहसे मन का विषय जोड़ा कि इस तरह रहना चाहिए, दुनियामें बड़प्पन इसी भेषसे है। तो अपने मनके विषयोंके पोषणके लिए द्रव्यलिंग धारण किया, पर भावरहित होनेके कारण इसने असंख्याते बार द्रव्यलिंग धारण किया हो तो भी भावरहित होनेके कारण कुछ लाभ नहीं होता। इससे अपने आपमें शान्ति चाहिए तो एक इस ज्ञानस्वभावका आदर करिये। यह मैं स्वयं आनंदमय हूं, किसी भी बाह्य पदार्थसे आनन्द नहीं आया करता। यह तो जीवका भ्रम है कि अमुक बाह्य पदार्थ मिले तो आनन्द आये। आनन्द तो आत्मा का स्वयं गुण है और आनन्दमय अन्तस्तत्त्वका कोई आश्रय करे तो उसके आनंद प्रकट होगा। तो हे सत्पुरुष, उस भावका आदर करो जिस भावके कारण ही मोक्षमार्ग मिलता है।

भीसणणरयगईए तिरियगईए कुदेव मणुगइए।
पत्तोसि तिव्वदुक्खं भावहि जिणभावणा जीव ।।८।।

(१३) **चतुर्गतिदुःखका स्मरण करा कर जिनभावना भानेका उपदेश**—हे आत्मन्! अब तक शुद्ध आत्माकी पहिचान बिना भीषण भयकारी नरकगति, तिर्यञ्चगति, कुदेव, कुमनुष्यगतिमें जन्म ले लेकर तीव्र दुःख पाये। नरकगति तो कुगति है ही, पूरी तिर्यञ्चगति भी दुर्गति ही है। देवगतिमें कुछ विवेकी देव होते, सम्यग्दृष्टि देव होते। तो ज्ञानी देव का भव नहीं पाया इस जीवने। पाया होता तो यह भी कुछ ही भव पाकर मोक्ष चला जाता, इसलिए कुदेवकी बात कही है। यहांके कुदेवोंमें तीव्र दुःख पाये। इसी तरह कुमानुष। भले मानुष होना, सम्यग्दृष्टि होना, भाव तपस्वी होना, ऐसे भव नहीं पाये। खोटे मनुष्य ही बने। जो अज्ञानी जीव हैं वे सब खोटे ही तो हैं। तो ऐसी दुर्गतियोंमें तीव्र दुःख प्राप्त किया है। उन दुःखोंसे छूटना है तो इस शुद्ध आत्मतत्त्वकी भावना भावो, इससे ही संसार मिटेगा। आत्माके स्वरूपको देखो तो यह संसाररहित है। यह जीव संसारसे अलग नहीं है। अभी संसारभावका आक्रमण चल रहा है, मगर स्वरूप संसाररहित है। यदि आत्माका स्वरूप ही संसारी हो जाय तो कभी मुक्त नहीं हो सकती। तो ऐसे निःसंसार ज्ञानस्वरूप आत्मतत्त्वकी उपासनामें यह माहात्म्य है कि इसका संसार टलेगा। यह ही है आत्मतत्त्वकी भावना और आत्मतत्त्वकी भावनामें अपनी सही पहुंच रहे, उसके लिए जब जब आत्ममग्नता न हो तो परमात्मस्वरूपका

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

स्मरण करो, भक्ति करो और और प्रकारसे भी ध्यान तपश्चरण करो, मगर प्रतीति आत्मतत्त्वकी रहे कि मैं तो केवल ज्ञानानन्द स्वभावमात्र परम पदार्थ हूं। तो संसार संकटोंसे छुटकारा पानेके लिए हे भव्य जीव ! तू शुद्ध अंतस्तत्त्वकी भावना कर।

सत्तसुणरयावासे दारुण भीसाइं असहणीयाइं।
भुत्ताइं सुइरकालं दुःखाइं णिरंतरं सहियं ॥६॥

(१६) **सप्तसुनरकावास**—आत्मतत्त्वकी भावनाके बिना इस जीवने कैसे-कैसे दुःख सहे हैं। उनमें से नरकगति संबंधी दुःख बताये जा रहे हैं। नरकके आवास ७ जगह हैं, ७ पृथ्वियोंमें ७ नरकके आवास हैं। जिसपर हम बैठे हैं, चलते फिरते हैं, यह पहली भूमि है, यह भूमि बहुत मोटी है और इस भूमिके नीचे तीन खण्ड विभाग हैं। तीन जगह तीन तरहकी रचनायें हैं। ऊपरके दो भागोंमें भवनवासी और व्यन्तर देवोंके भवन हैं, इन देवोंका वहां निवास है और नीचेके तीसरे खण्डमें पहला नरक है। उसमें भी १३ पटल हैं, याने ऊपरसे नीचे १३ पटलोंमें उन नरकोंके बिल हैं, जो बिल बहुत लम्बे चौड़े हैं, आजके परिचित विश्वसे भी बड़े हैं, ये वैज्ञानिक लोग जितनी भी बड़ी दुनिया कहते हैं उससे भी बड़े-बड़े बिल हैं। दुनिया इतनी ही नहीं है। ३४३ घनराजू प्रमाण लोक है। जितना आज पता है वैज्ञानिकोंको यह तो समुद्रके एक बूंद बराबर है, ऐसे नरकोंमें ये नारकी जीव रहते हैं। इस पहली भूमिसे नीचे कुछ आकाशके बाद दूसरी भूमि है, उसमें ११ पटल हैं याने ११ जगह ऊपरसे नीचे नारकियोंके बिल हैं, उनमें नारकी बड़े कठिन दुःख सहते हैं, ऐसे ही आकाश छोड़कर नीचे तीसरी भूमिमें वीसरा नरक है, उसमें ९ पटल हैं, उससे आकाश छोड़कर फिर एक भूमि है, फिर छोड़कर एक भूमि हैं। इस तरह ७ भूमियां हैं और दो दो कम हो हो कर पटल है। उन नरकोंमें रहने वाले नारकी जीव बहुत कठिन दुःख सहते हैं।

(१७) **नरकोंमें प्राकृतिक दुःख**—नरकोंमें भूमिके छूनेसे ही इतने दुःख होते हैं कि हजार बिच्छुवोंके काटनेसे भी नहीं होते। वहां फिर अन्य दुःखोंका तो अनुमान ही क्या किया जा सकता है। ये पुद्गल परमाणुओके स्कंधोंके इस तरहके परिणमन हुआ करते हैं। बिजली भी तो पुद्गल स्कंध है, यहां ठीक अगर बिजलीका करेन्ट फर्शपर आ जाय तो उस फर्शपर पैर रखते ही कितनी झनझनाहट आ जाती है। भींतमें यदि करेन्ट आ गया तो उसपर हाथ पैर नहीं रखे जा सकते, क्योंकि करेन्ट मार देता है। तो वह भी पौद्गलिक है, नरकोंकी सारी भूमि इस तरह है कि मानो बिजली जैसी करेन्ट चल रही हो। वहां जो नारकी पहुंचता है सो पहुंचते समय ही घोर दुःख सहता है और देखिये

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

पापका उदय देवोंके नहीं सो जहां नरक भूमिपर कोई देव जाता है समझानेके लिए उस देवको दुःख नहीं होता। जैसे कहींपर करेन्ट लगा हो भींतपर या फर्शपर और कोई रबड़के जूता पहने हुए खड़ा रहे तो उसको करेन्ट तो नहीं लगता। तो यह भी सब जुदे-जुदे पुद्गलोंके स्कंधोंकी परिणतिकी बात है। जिनके पापका उदय है उनको सब दुःखरूप हो जाता है। ये नारकी उत्पन्न होते हैं तो इस तरह जैसे कि छतमें से कोई चीज गिरी हो। नारकियोंका उत्पत्ति स्थान ऊपरी भाग है, समझिये छत जैसा। जहांसे उत्पन्न होते ही जमीन पर गिरते हैं और गिरकर कई सौ बार गेंदकी तरह उछलते रहते हूं। ऐसे नरकोंके दुःख इस जीवने आत्माकी सुध बिना, बाह्यपदार्थोंकी आसक्तिके कारण सहे।

(१८) **नरकोंमें आघातकृत प्रतीघात**—उनके वहां भूखप्यास अत्यन्त तीव्र है, इतनी है कि कितना ही खायें पियें फिर भी तृप्त नहीं हो सकते। खानेको न तो एक दाना है और न एक बूंद पानी, और ठंड इतनी है नरकोंमें कि वहां मेरूपर्वत बराबर लोहा भी गल जाय। जिन नरकोंमें गर्मी है, सो इतनी तीव्र है कि मेरुके बराबर लोहा गल जाय। इसके अतिरिक्त नारकी एक दूसरेको देखकर हमला करते हैं। इनका शरीर ऐसी खोटी विक्रिया वाला है कि जो नारकी चाहे कि मैं इसे कुल्हाड़ा मारूं तो उसका हाथ ही कुल्हाड़ा बन जायगा और इसके अतिरिक्त वहां भिड़ानेकी प्रकृति वाले असुर जातिके देव उन नारकियोंको भिड़ाते हैं। जैसे किया था, तू खड़ा क्यों है ? वह दुश्मन सामने तो आ गया। कहीं वह कुछ चैन सी माने, तेरा उस भवमें इसने ऐसा माना खूब लड़-लड़कर थक जाता है तो वह थोड़ा गम खाता है। ऐसे ही नारकी भी आपसमें लड़-लड़कर कुछ थक जाते हैं तो बैठ भी जाते हैं, पर वहां असुर जातिके देव जाते हैं और भिड़ाते हैं। मतलब यह है कि नरकोंमें अनेक तरहसे दुःख हैं और वे दुःख ३३ सागर पर्यन्त हैं। १ सागरमें अनगिनते अरब खरब वर्ष आजाते हैं, बहुत काल पर्यन्त जीव नरकमें दुःख सहते हैं, इसका कारण है कि उन्हें आत्माकी सुध नहीं रहती।

खणणुत्ताकणवालणवेयणविच्छेयणाणिरोहं च।
पत्तोसि भावरहिओ तिरियगईए चिरं कालं ॥१०॥

(१९) **तिर्यंचगतिके छहो कायमें नाना प्रकारके दुःख**—भावरहित मुनि दुर्गतिको प्राप्त होता है। इस प्रकरणमें नरकगतिके दुःखोंका वर्णन किया गया था। अब इस गाथामें तिर्यञ्च गतिके दुःखोंका वर्णन कर रहे हैं। तिर्यञ्चगतिके जीव छहों कायमें मिलते हैं। पृथ्वीकाय, जलकाय, अग्निकाय, वायुकाय, वनस्पतिकाय और त्रसकाय। त्रसकायमें

Version 1

 http://sahjanandvarnishastra.org/

विकलत्रय अर्थात् दोइन्द्रिय तीनइन्द्रिय चारइन्द्रिय और पशु पक्षी, ये सब तिर्यञ्च कहलाते हैं। तो इसमें जब यह जीव पृथ्वीकायिक हुआ तो उसका खोदना, नीचे पत्थरोंमें सुरंग लगाना, फोड़ना आदि ये सब दुःख सहे गए हैं, एकेन्द्रिय जीव है, उसके रसना आदिक नहीं हैं। वह किसी तरह अपना दुःख किसीके सामने प्रकट नहीं कर सकता। चेतना वहां भी है, स्पर्शन इन्द्रिय केवल है, तो स्पर्शनइन्द्रियके होते सन्ते जैसी संज्ञा होती है उस संज्ञाके माफिक उनको कष्टका अनुभव चलता है, तो जब पृथ्वीकायिक हुआ तो कुदाल आदिकसे खोदनेका दुःख इसने पाया। जब यह जीव जलकायिक हुआ तो अग्निको तपाना, ज्यादह पानी ढोलना, किसी शीशी आदिकमें पानीको बंद कर देना आदिक नाना प्रकारके दुःख उस जलकायके जीवोंको है। अग्निकाय हुए तब यह जीव उस अग्निको फूंकना, जलाना, बुझाना, बंद कर देना, आदिक दुःख उस अग्निकायिक जीवने सहे। जब यह वायुकायिक हुआ तो पंखेसे चलना, बिजलीके पंखोंसे चलना, हवाको फाड़ देना, रबड़ आदिकमें रोक देना, नाना प्रकारके कष्ट वायुकायिक जीवने सहे। जब यह जीव वनस्पतिकायिक हुआ तो फूल पत्ता, फल आदिकको विदारना, करना, फाड़ देना फोड़ देना, रांधना, साग भाजीके ढंगसे काटना आदिक दुःख वनस्पतिकायिक जीवने सहे, जब यह जीव विकलत्रयमें आया। दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चारइन्द्रिय जीव हुआ तो किसीको गर्मीमें पानीमें छोड़ देना, मार देना, जला देना आदि कितने ही कष्ट सहे। कितने ही हिंसक लोग तो मछली पकड़नेके लिए बंशीके डोरके कोनेपर केचुवा बांध देते हैं, जलमें डाल देते हैं इसलिए कि मच्छी आये और उन केचुओं को खाये। कैसी वेदनामें वे कीड़े रहते हैं। तो नाना प्रकारमें कष्ट इस जीवने सहे। कुछ लोग तो इन जीवोंको रोंध कर मार करके इन्जेक्शन बनाते या अन्य प्रयोग करते हैं तो अनेक प्रकारसे इन विकलत्रयोंकी हिंसा होती है। कभी यह जीव पशु पक्षी जलचर हुआ तो वहां पर दुःख तो परस्परके घातका है। एक दूसरेको मार डालते हैं। छिपकली कितने ही कीड़ोंको खा जाती। और वे जीव एक दूसरेको मार डालते। तो ऐसे इन पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्चोंमें एक तो परस्पर घात करनेका दुःख है, दूसरे—मनुष्यादिक इनको वेदना पहुंचाते हैं। भूखा रखें, प्यासा रखें, बांध दें, रोक दें, बहुत बोझा लाद दें, कितनी ही तरहके दुःख पहुंचाये जाते हैं, शिकारी लोग अपना मन बहलानेके लिए या मांस खानेके लिए शिकार करते हैं। निरपराध जीवोंकी निर्मम हत्यायें करते हैं। तो कितने कठिन दुःख तिर्यञ्चगतिमें होते हैं। तो ऐसे नाना प्रकारके दुःख इस जीवने तिर्यञ्चगतिमें जन्म ले करके पाये सो यह सब किसका परिणाम है ? भावरहित होकर

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

प्रवृत्ति करनेका परिणाम है। इस भावपाहुड़में मुख्यतया मुनियोंको समझाया गया है कि अविकार सहज ज्ञानस्वभावका बोध, अनुभव हुए बिना द्रव्यलिंगसे पार नहीं हो सकते। बल्कि जब अपने आपके स्वरूपमें यह मैं हूं ऐसी भावना नहीं बनती तो इसकी तो प्रकृति है कि किसी न किसीमें मैं का अनुभव करके रहेगा। जब निज स्वभावमें मैं का अनुभव नहीं बनता तो कर्मोदयज विभावोंमें मैं का अनुभव चलेगा और उस ही को व्यक्त करनेके लिए देहमें मैं का अनुभव चलेगा। तो जहां देहात्मबुद्धि है और धर्मकी मुद्रा रखकर निर्ग्रन्थ दिगम्बर मुद्रा धारण करके उसमें अहंकार करे, उसमें मैं का अनुभव करे तो वह तो घोर मिथ्यात्वका अनुभव करता। ऐसे जीव खोटी गतियोंमें दुःख पाते हैं, सो हे भव्य जीव एक अपने भावको विशुद्ध करो और फिर जिस तरह उसमें प्रगति हो, अभ्यास बने, संयम बने उस तरह आगे आचरण पालन करें।

आगंतुक माणसियं सहजं सारीरियं च चत्तारि।
दुक्खाइं मणुयजम्मे पत्तोसि अणंतयं कालं ॥११॥

(२०) **मनुष्यगतिमें नाना प्रकारके दुःख**—भावरहित क्रियावोंके अहंकारसे दुर्गतियों में जन्म होता है और कष्ट होता है उन कष्टोंके बतानेके इस प्रकरणमें नरकगति और तिर्यञ्चगतिके कष्टोंका निरूपण तो कर चुके। अब इस गाथामें मनुष्यगतिके दुःख बतला रहे हैं। मनुष्यगतिमें नाना प्रकारके कष्ट हैं और उन कष्टोंका यदि कुछ बंटवारा किया जाय तो चार भागोंमें मिलेगा। (१) आगंतुक (२) मानसिक (३) सहज और (४) साधारण। आगंतुक दुःख वह कहलाता है जो इस जीवमें किसी कारणसे हो जाता है, चलते जा रहे हैं, कारसे एक्सीडेन्ट हो गया, किसी मोटरसे साइकिलका एक्सीडेंट हो गया, चलते-चलते किसी भीड़में किसी भागते हुए पुरुषके द्वारा चोट पा ले या कहीं लड़ाई छिड़ रही है उसमें फंस जानेसे कहीं कोई छुरा लग गया या लाठी लग गई या अचानक कहीं बिजली गिर गई, कोई करेन्ट आ गया आदिक नाना प्रकारके आगंतुक दुःख होते हैं, जिसके बारेमें कोई हिसाब नहीं है कि अब ऐसा होगा, न किसीको विदित हो पाता है, ऐसा अकस्मात् जो कष्ट आता है वह सब आगंतुक दुःख कहलाता है। मनुष्यको ऐसा चिन्तन करके धीर रहना चाहिए कि इस मनुष्य पर न जाने कब कैसा आगंतुक दुःख आ सकता है। थोड़ी यदि मौज है या थोड़ी कुछ लोकमें प्रतिष्ठा है तो उसमें भूलें नहीं, क्योंकि यह मनुष्य और यह संसार तो सब दुःखोंका घर है। कोई भी आगंतुक दुःख आ सकता है, अचानक ही कोई लकवेका रोग हो गया, अचानक ही कोई आंखका अंधापन आ गया, चलते-चलते कहीं कोई पैरमें मोच आ गई, ऐसा गिरे कि

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

हड्डी टूट गई। कितने ही लोग तो कहो खाटपर पड़े हैं और कोई एक हाथ ऊंचेसे गिर गए और हाथ पैर टूट गए। तो जहां कितने ही आगंतुक दुःख हैं उनको विचारकर कभी अपनेमें विकल्प न लाना चाहिए। उत्तेजना, अधीरता, दूसरोंको अपने आधीन समझना आदिक बातें ये दुर्भाव हैं। ये न आने चाहिए। आगंतुक दुःखों पर ध्यान देने से यह ही तो जीवोंको सद्बुद्धि जगती है। इस मनुष्यगतिमें अनगिनते आगंतुक दुःख हैं।

(२१) **मनुष्योंके मानसिक दुःख**—दूसरे दुःख मानसिक ढंगके हैं, कोई भी कष्ट नहीं, बस मनने विचार लिया। बड़े दुःखी हो रहे हैं। ये पुरुष मेरेसे उल्टे क्यों चल रहे ? अरे उल्टे चलें चाहे बिल्कुल टेढ़े चलें हमारा उसमें क्या गया या ये पुरुष मेरी तरफ सीधो नजर क्यों नहीं रखते ? हाथ जोड़ कर क्यों नहीं मेरे पास आते, आदिक कुछ भी व्यर्थ विचार लें तो उससे मानसिक दुःख ही बढ़ा लिया और जब एक मानसिक दुःखका वेग आता है और अपनी एक कल्पना बनाता है तो उस कल्पनामें भली भी बात हो तो वह पूरे रूपमें दुःख करती है। तो इस मनुष्यको मानसिक दुःख भी अनेक प्रकारके लगे हैं, जिससे कुछ मतलब आनन्दका नहीं रहता। यदि अपने ज्ञानस्वभावको निरखकर आनन्दघन हूं, ज्ञानमात्र हूं, समस्त परसे निराला हूं, केवल मुझमें मैं ही हूं और इसका महत्त्व समझ कर स्व स्व ही रहे, इसमें कल्पनायें न जगें तो इसको कष्टका क्या काम ? मगर यह बात तो नहीं विचार कर पाता यह संसारी जीव, किन्तु ऐसा सोचकर कि इन पर जीवोंपर मेरा तो प्रभुत्व है, अधिकार है, सो जरा जरा सी बात पर इसको मानसिक दुःख होता है। मानसिक दुःखका कारण है अज्ञान। अज्ञानमें वृत्ति विरुद्ध होती है। जहां ऐसा अज्ञान चलता है—मैं इनमें बड़ा हूं, इनका मैं मालिक हूं इनको मेरी पूरी आज्ञामें चलना चाहिए जब ऐसा चित्तमें भाव दौड़ आता है तो इसको बौखलाहट होती, मानसिक कष्ट होता और यह दुःखी होता। वह पुरुष यह नहीं सोच पाता कि ऐसे बेढंगे भावोंके कारणसे जो मेरे पुण्यका नाश होगा और पापका रस बढ़ेगा उस पापरसके उदयकालमें जो मुझपर विपदा पड़ेगी वह तो कई गुना दुःख वाली विपदा होगी। वह आगा पीछा कुछ नहीं देखता, न वस्तुके स्वरूपका ध्यान रखता। किन्तु अन्य जीवोंपर अपना कुछ अधिकारसा मानता है और उस विपत्तिमें रहनेके कारण नाना ढंगका मानसिक दुःख बना बनाकर बढ़ाता है। इसके अतिरिक्त विषयों की वाञ्छा वाली वेदना तो यह मोही निरन्तर बनाये रहता है। परवस्तुकी आशा रखना, निदान करना यह निरन्तर इसके बसी रहती है। तो विषयोंकी इच्छा और पर जीवोंपर प्रभुत्व माननेसे अनुकूल बात न होनेके कारण वेदना, ये सारे दुःख, मानसिक

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

दुःख इस मनुष्यको अभिभूत कर डालते हैं। तो यह सब क्यों हुआ ? हे मुने ! आत्मा का जो स्वभावभाव है, शाश्वत स्वरूप है उस रूपमें अपनेको न निरखा इस कारण स्वरूपसे चिगकर ऐसे कष्टमें आना पड़ा। तीसरे प्रकारका दुःख है सहज दुःख। दुःख तो सहज नहीं होता, सहज तो आनन्द हुआ करता है क्योंकि आत्मीय आनन्द अनैमित्तिक होता, मगर सहजका यहां अर्थ बिना विशेष खटपटके साधारण बातोंमें जो दुःख होता है उनको बताया गया है। माता पिता आदिकको जो सहज उत्पन्न हुआ है। जैसे बच्चे को माता पिता जरा जरासी बातमें डांट दे, बुरा बोल दें, ललकार दें, झंकोर दें यह उनका सहज दुःख है, ऐसे ही जो कुटुम्बमें या किसी संघमें रहता है तो जब निरन्तर रहता है तो परस्परका ऐसा कोई व्यवहार हो ही जाता कि जिसमें कोई न कोई तरह का कष्ट अनुभवा जाता है। वहां कोई खास घटना नहीं हुई, न कोई लड़ाई होती है, न कोई बात हुई किन्तु अनेक दुःख ऐसे सहज मान लिए जाते हैं। तो अनेक दुःख तो साधारण रूपसे होते ही रहते हैं। चौथे प्रकारका कष्ट है शारीरिक कष्ट। शरीरमें कोई रोग हो गया, बुखार हो गया या खून खराब हुआ, फोड़ा फुंसी हुआ करोड़ों प्रकार के रोग हुआ करते हैं। कोई बड़े रोगका वेग हो गया तो वहां शारीरिक दुःख हो गया। कोई लोग तो इसमें ही दुःख मान लेते कि हमको भूख कम लगती। तो भूख कम लगना अच्छा ही तो हुआ। भगवानके तो बिल्कुल ही भूख लगनेकी बात खतम हो जाती। भूख कम लगनेका अर्थ तो यह समझिये कि भगवानके निकट पहुंचने लगे। लोग तो अनेक प्रकारके ऐसे उपाय करते हैं कि जिससे भूख लगे। तो कितनी तरहके कष्ट इस मनुष्यगतिमें लगे हुए हैं। इन दुःखोंके अलावा अन्य भी दुःख हैं जिन्हें इस गाथामें च शब्द डालकर निर्दिष्ट किया है। जैसे मेरे रहनेको बढ़िया मकान नही है, अनेक प्रकार के भय भी उत्पन्न होते हैं। जैसे कोई ऐसा कानून न बन जाय कि हमारी सम्पति चुराली जाय। यदि ऐसा हो गया तो फिर हमारी जिन्दगी कैसे चलेगी ? मेरे घरमें कोई रक्षाका साधन नहीं है। कहींसे भी चोर आ सकते हैं। मेरा कहीं मरण न हो जाय। पता नहीं मैं कब तक जीऊंगा। यों कितनी तरहके अटपट दुःख बना डालते हैं वृद्ध हो गए फिर भी किसे पूछेंगे कि अभी मेरी उम्र कितनी है ? कुछ पता ही नहीं पड़ता कि कहता क्या है, मनमें क्या है ? कितनी तरहके जाल हैं इस संसारमें, वे सब दुःखरूपी हैं। तो ये सब दुःख क्यों मिले ? हे मुने, भावरहित होकर जो द्रव्यलिंग धारण कर आजीविकाको बनाये, उस सबका फल है कि ऐसे खोटे दुःख सहने पड़ते हैं, सो परमार्थभूत अंतस्तत्त्वकी उपासनाके विना जो मन, वचन, कायकी वृत्तियां बनाया है

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

उन प्रवृत्तियोंके कारण ऐसे मनुष्यभवमें अनन्त काल तूने दुःख पाया याने अब तक अनन्तकाल व्यतीत हुआ। भले ही वहां मनुष्यभव पानेके बहुत कम बार हैं पर कितने ही कम बार हों, यदि यह जब चाहे मनुष्य होता आया है तो यह अनगिनते बार मनुष्य हो चुका और उनमें कठिन दुःख भोगा है।

सुरणिलयेसु सुरच्छरविओयकाले य माणसं तिव्वं।
संपत्तोसि महाजस दुःखं सुहभावणारहिओ ॥१२॥

(२१) **देवगतिमें मानसिक दुःख**—इस गाथामें देवगतिका दिग्दर्शन कराया गया है। हे मुने, शुभ भावनासे रहित होकर तूने देव बनकर भी कठिन मानसिक दुःख पाये। यहां महाराज कहकर मुनिका यों संबोधन किया है कि तूने साधु परमेष्ठीका बाना रखा था जिसके आदर सत्कारके कारण धर्म बन्धुवोंमें तेरा महान यश फैल गया है, सबने पूज्य दृष्टिसे देखा है। इतना बड़ा यश पाकर भी यदि तू अपनी भावना शुद्ध नहीं रखता और कुछ थोड़ा बहुत बाह्य पापोंसे बचकर उस साधनामें लग रहा है तो उसका फल यह होगा कि तू देवगतिमें उत्पन्न होगा, मगर वहां भी तू पा क्या लेगा? ऐसे ऐसे अनेक बार द्रव्यलिंग धारण करके भावशून्य होनेके कारण अनेक बार देवगतिमें उत्पन्न हुए, वहां भी बहुत प्रकारके मानसिक दुःख हैं। जैसे यहां जो गरीब पुरुष हैं दिन भर मेहनत करें तेज, तब आधा पौन पेट भोजन पा सकें ऐसे पुरुषोंको शारीरिक दुःख ही विशेष है अगर कोई ऐसा रईस हो, जिसे कुछ कमाना भी नहीं पड़ता, स्वयं सब मुनीम लगे हैं, कमा रहे हैं, वह कहीं एक गद्दीपर पड़ा मौज कर रहा है, ऐसा कोई रईस रह रहा है, उस रईसको मानसिक दुःख इतने हैं कि तुलना अगर की जाय तो उस गरीबके शारीरिक दुःखोंमें जो वेदना है उससे कई गुनी वेदना है। मानसिक दुःख बहुत बेतुका दुःख है। अरे तुझे खानेकी तकलीफ नहीं, रहनेकी तकलीफ नहीं, मौजसे सब कुछ बात बन रही है अब मनको बढ़ा बढ़ाकर, मनके अनुकूल कुछ न देखकर कष्ट मानना, यह बहुत बेतुका दुःख है अर्थात् देवगतिमें सारे बेतुके दुःख हुए। वहां मुख्य दुःख है देव और देवोंके उपयोगके सम्बंधका। बाकी दुःख तो सारे ऊट पटाँग हैं, मानसिक हैं, किसीके ऋद्धि, विहार बहुत अधिक देखे तो उसीमें मानसिक दुःख हो जाता कि हाय मैं ऐसा क्यों न हुआ? इसके बहुत वैभव हैं, वहां जो बड़े देव हैं, इन्द्र प्रतीन्द्र हैं और इस प्रकारके जो प्रधान देव हैं वे तो दूसरोंको आज्ञा दे देकर दुःखी रहते हैं और जो छोटे प्रकारके देव हैं वे आज्ञा मानकर दुःखी रहते हैं। आज्ञा माननेमें, आज्ञा मानकर चलनेमें जितने कष्ट अनुभवे जाते हैं, भैया, उससे कई गुना कष्ट आज्ञा देने वालेके रहता है, क्योंकि

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

उसके बहुत विबूचन, बहुत उल्झन पापारम्भ, बहुत बड़ा काम, और उसमें दूसरोंपर हुकूमत करनेका संकल्प उसमें कठिन दुःख होता है। तो इस देवगतिमें यद्यपि शारीरिक कोई दुःख नहीं है लेकिन ढाली बैठे रहनेके कारण मन जो बेढंगा चलता रहता है उससे यह मानसिक कष्ट बढ़ जाता है। उन देवी देवताओंका वैक्रियक शरीर है, क्षुधा, तृषा आदिककी कोई वेदना होती नहीं है। हजारों वर्षमें क्षुधा, तृषा आदिककी वेदना होती है सो उनके कंठसे ही अमृत झड़ता है और वेदना शान्त हो जाती है। जहां खाने पीनेका कोई कष्ट नहीं वहां कमानेकी क्या आवश्यकता? वस्त्राभूषण उनको कल्पवृक्षोंसे प्राप्त हो जाते हैं। जब उनको कमाई करनेका कोई कष्ट नहीं करना पड़ता तो अब सोच लीजिए कि वे २४ घंटे ठलुवा ही तो रहा करते हैं और जो ठलुवा रहेगा उसके मन नाना प्रकारके चलते रहेंगे और वह अपनेमें कष्टका अनुभव करेगा। तो देवगतिमें नाना प्रकारके मानसिक तीव्र दुःख प्राप्त होते हैं। वियोगकालमें तो कठिन ही दुःख है। खुदके मरनेका कठिन दुःख। ६ महीना पहलेसे माला मुरझा जाती है और वह जान जाता है कि अब मैं मरूंगा। मनुष्योंको तो कुछ पता नहीं रहता अचानक ही अगले सेकेण्डमें मरण हो सकता। यदि विदित हो जाय कि ६ माह बाद हम मर जायेंगे तो उसे तो रोज रोज कष्ट बढ़ता ही रहता है। तो एक तो खुदके मरणका दुःख, दूसरे देवीके रहते हुए देव गुजर गया या देवके रहते हुए देवी गुजर गई तो बहुत समय के व्यवहारके फलमें वियोगके समय कष्ट तो होगा ही। तो हे मुने, शुद्ध भावोंसे रहित होकर तूने कुछ अकाम निर्जराके बलसे देवगतिको प्राप्त कर लिया तो ऐसे भी वहां नाना प्रकारके दुःख भोगे हैं।

कंदप्पमाइयाओ पंच वि असुहादिभावणाई य।
भाऊण दव्वलिंगी पहीणदेवो दिवे जाओ ॥१३॥

(२३) भावरहित द्रव्यलिंगी मुनिकी अशुभ भावनाओंके कारण हीन देवोंमें उत्पत्ति— भावरहित द्रव्यलिंग मुनि कंदर्पी आदिक अशुभ भावनाओंके कारण हीन देवोंमें उत्पन्न होते हैं। चूंकि वह द्रव्यलिंगी है, कुछ तो व्रत तपश्चरण आदिक करता ही है। प्रतिक्रमण आदि भी करता है मगर परमार्थभाव नहीं है, याने अविकार सहज ज्ञानस्वभाव में दृष्टि नहीं है इस कारण वह अपना समय खोटी भावना, खोटे शब्दोंके प्रयोग करता रहता है, जिसका फल है कि वह भवनवासी व्यंतर ज्योतिषी, ऐसे खोटे देवभवमें उत्पन्न होता है, और यह ही नहीं, किल्विष जातिके जैसे देवोंमें उत्पन्न होता है, वे खोटी भावनायें हैं—कन्दर्पी, किल्विषी, सम्मोही, दानवी, अभियोगी। इन भावनाओंमें ऐसे खोटे

Version 1

http://jainamantra.tripod.com/vishastra.org/

शब्दोंका प्रयोग होता है जो एक धर्मात्मा गृहस्थके भी उचित नहीं है ज्ञानविषयक दूसरों का सम्मोहन आकर्षण करने वाले अथवा किसीके प्रति द्वेष भाव वाले किसीको किसी प्रकारका कलंक लगाने वाले ऐसे अनेक प्रकारके खोटे शब्दोंका प्रयोग करता है। वह द्रव्यलिंगी मुनि किल्विष आदिकके देवोंमें उत्पन्न होता है, और खोटे देवोंमें उत्पन्न होकर मानसिक दुःखोंको सहता रहता है। जब यह खोटा देव देखता है कि मुझे ये लोग निरादरसे देखते हैं तो उसके मानसिक दुःख बहुत बढ़ जाते हैं। देवोंमें १० जातियां होती हैं—१. इन्द्र, २. सामानिक, ३. त्रायस्त्रिंश, ४. पारिषद, ५. आत्मरक्ष ६. लोकपाल, ७. अनीक, ८. प्रकीर्णक, ९. आभियोग्य और १०. किल्विष। जिनमें इन्द्र तो जैसे यहांका राजा होता उस तरह प्रताप प्रभाव आज्ञा आदेश देनेवाला होता है, सामानिक देवोंका राजाके कुटुम्बकी तरह आराम आदि सब एक समान हैं, पर आज्ञा नहीं चलाते। त्रायस्त्रिंश उनकी सलाह करने वाले मन्त्रियोंकी तरह हैं। ये ३३ होते होंगे इसलिए त्रायस्त्रिंश नाम रखा है। तो ३३ होना भला है। जिसमें कोरम भी ११ मंगल संख्यापर पड़ता है। आत्मरक्ष, जैसे यहां अंगरक्षक होते हैं ऐसे ही इन्द्रोंके अंग-रक्षक होते हैं। यद्यपि इन्द्रको कोई मार नहीं सकता, आयु बीचमें किसी भी कारण छिदने वाली नहीं होती मगर ऐश्वर्य ऐसा है कि जिसमें एक प्रभाव बनता है। लोक-पाल कोतवालकी तरह होता है। कोतवालका पद बहुत ऊंचा है क्योंकि वह प्रजाका पिता तुल्य है। प्रजामें कोई अनीति न हो, कोई दुःखी न हो, उनके संकट दूर किए जायें, यह सब कर्तव्य है कोतवालका और इसी कारण लोकपाल एकभवावतारी होता हैं। यहां ऐसा निरखा जाता कि जिसका हृदय क्रूर हो सो ही कोतवाली निभा सकता। वास्तवमें कोतवाल तो प्रजाका पिता तुल्य है। अनीक सेवककी तरह, प्रकीर्णक जनता की तरह, आभियोग्य जो हुक्म पाते ही हाथी घोड़े आदिक सवारीका रूप रख लेते, जिनपर बैठकर बड़े देव चलें वे आभियोग्य हैं और किल्विष जैसे यहां चाण्डाल अथवा सफाई करने वाले लोग गांवके अन्तमें रहते हैं ऐसे ही ये देव उस देवलोकमें आखिरी सेवाओंमें रहा करते हैं। तो जो मुनि जिन मुद्रा धारण करके खोटी भावनाओंका आदर करते हैं, वे देव होवें तो किल्विष आभियोग्य जैसे खोटे देवोंमें उत्पन्न होते हैं और जहां बड़े देवोंके द्वारा कोई अपमानकी बात सुनी जाती है अथवा स्वयं ही ऐसा महसूस करते हैं कि इन सबसे पतित हूं। तो उनको मनका बहुत बड़ा कष्ट होता है। यह सब भाव-रहित द्रव्यलिंग धारण करनेका प्रभाव है।

पासत्थभावणाओ अणाइकालं अणेयवाराओ।

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

भाऊण दुहं पत्तो कुभावणा भाववीएहिं ।।१४।।

(२४) **मुनि वेष धारण कर, खोटी क्रिया करनेसे दुर्गति**—हे आत्मन् ! तूने पार्श्वस्थ आदिक भावनाओंके कारण अनादि कालसे अनेक बार खोटी भावना भानेके कारण दुःखको प्राप्त किया है। जो लोग दिगम्बर मुद्रा तो धारण कर लेवें, लोकमें अपनेको साधुपरमेष्ठी कहनेका प्रचार करावे और ऐसी ही खोटी क्रियायें करें तो वे जीव भव-भवमें दुःख प्राप्त करते हैं। कोई मुनि द्रव्यलिंगी ज्ञानी पार्श्वस्थ भेषधारी होते हैं जो वसतिका बनाकर आजीविका करें वे पार्श्वस्थ भेषधारी हैं। जो कोई द्रव्यलिंगी अज्ञानी मोही कुशील हुआ करते हैं जो कषायवान हों और व्रतादिकसे भ्रष्ट रहें, सघका अविनय करें वे मुनि कुशील कहलाते हैं पद-पद पर कषाय करें, गुस्सा आये, अपनेमें उच्चता जनावें, अपनी प्रशंसाके लिए नाना प्रकारके मायाचार करें और आरामका लाभ करें, व्रतादिक को निभायें ही नहीं और बात-बातमें संघके किसी भी मुनिका अविनय करें या समस्त संघका अविनय करने वाले शब्द कहें वे कुशील साधु कहलाते हैं। कोई अज्ञानी द्रव्यलिंगी संसक्त साधु होते हैं जो वैभवके प्रयोग द्वारा अपनी आजीविका बनावें, भोजनपान खूब मिले, आराम सत्कार भी मिले। प्रभोजनसे दवायें बताकर एक यह ही मुख्य प्रोग्राम रख लिया और उससे फिर अपनी आजीविका करे याने भोजनपान सुन्दर प्राप्त करने का प्रयत्न करें या जीवनकी आवश्यक बातोंकी प्राप्तिका उपाय करें तो वे संसक्त साधु हैं। इसी प्रकार ज्योतिषकी बातें बताकर कुण्डली बनाना, गृहफल बताना आदिक ज्योतिषकी बातों द्वारा अपने आपकी प्रतिष्ठा करायें, भोजन पान आदिककी सुगमता प्राप्त करें तो वे हैं संसक्त साधु। ऐसे ही विद्या मंत्रों द्वारा मंत्र प्रयोग करके तंत्र गंडा ताबीज आदिक करके जो अपना महत्व बढ़ायें, भोजन पानकी सुविधा बनायें वे संसक्त साधु हैं, इसी प्रकार राजा धनिक आदिक पर पुरुषोंका प्रशंसक बनकर याने शब्दों द्वारा उनकी प्रशंसा करके जो अपने जीवनकी महिमा बढ़ायें वे संसक्त साधु हैं। कोई अज्ञानी मोही द्रव्यलिंगी अवसन्न साधु कहलाते हैं, याने जिनागमके वचनोंसे प्रतिकूल चलें, चारित्रसे भ्रष्ट रहें, अपने कर्तव्योंमें आलसी रहें ऐसे भेषधारी साधु अवसन्न साधु कहलाते हैं। कोई मोही अज्ञानी मृगचारी साधु कहलाते हैं। मृगकी तरह अकेले स्वच्छन्द फिरना, गुरुका आश्रय संग तज देना, जिनेन्द्रदेवकी आज्ञाका लोप करना, ऐसे भेषधारी अकेले ही रहना पसंद करने वाले मोही साधु मृगचारी कहलाते हैं। जो इस प्रकारकी वृत्तिमें रहें और ऐसी ही भ्रष्ट भावना रखें सो अनेकों बार इस संसारमें जन्म ले लेकर घोर दुःख प्राप्त करते हैं। कोई अज्ञानी मोही द्रव्यलिंगी अवसन्न साधु कहलाते हैं। याने

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

जिनागमके वचनोंसे प्रतिकूल चलें, चारित्रसे भ्रष्ट रहें, अपने कर्तव्योंमें आलसी रहें ऐसे भेषधारी साधु अवसन्न साधु कहलाते हैं। कोई मोही अज्ञानी मृगचारी साधु कहलाते हैं। मृगकी तरह अकेले स्वच्छंद फिरना, गुरुका आश्रय संग तज देना, जिनेन्द्र देवकी आज्ञाका लोप करना, ऐसे भेषधारी अकेले ही रहना पसन्द करने वाले मोही साधु मृग-चारी कहलाते हैं। जो इस प्रकारकी वृत्तिमें रहें और ऐसी ही भ्रष्ट भावना रखें सो अनेकबार इस संसारमें जन्म ले लेकर घोर दुःख प्राप्त करते हैं।

देवाण गुण विहूई इड्ढो माहप्प बहुविहं दट्ठुं।
होऊण हीणदेवो पत्तो बहुमाणसं दुक्खं ॥१५॥

(२५) **द्रव्यलिंग धारण करहीन देवोंमें उत्पत्ति**—हे आत्मन्! तूने अनेक बार द्रव्य-लिंग धारण किया, किन्तु परमार्थ जो ज्ञानभाव है, जो आत्माका सहज स्वरूप है उसकी दृष्टिके बिना कुछ तपश्चरण व्रत आदिके प्रतापसे अकाम निर्जराके प्रभावसे तू इन देवों में उत्पन्न हुआ तो ऐसे हीन देवोंमें उत्पन्न हुआ कि जहां यह अहर्निश कष्ट ही कष्ट मानता रहता है। अपनेसे महान ऋद्धिधारक देवोंकी विभूति देखकर, उनके ऋद्धि ऐश्व-र्यको देखकर यह मनमें जलता ही रहा। तो ऐसे हीन देव बनकर अनेक मानसिक कष्टों को सहता रहा। सो हे आत्मन्! तू आत्मस्वभावका आदर कर जिस भावके प्रतापसे उत्तम वस्तुकी प्राप्ति होती है, अन्यथा भावरहित द्रव्यलिंगके प्रभावसे स्वर्गमें हीन देव होगा और वहाँ देखेगा दूसरे देवोंकी ऋद्धियां कि इसमें अणिमा महिमा आदि अनेक ऋद्धियां हैं। इसके आज्ञाकारिणी देवांगनाओंका बहुत बड़ा परिवार है। इसकी आज्ञा अन्य देवोंपर चलती है। इसका ऐश्वर्य महान है मैं पुण्यरहित हूं, यह बड़ा पुण्यवान है, मेरी तो बड़ी तुच्छता है, ऐसा निरखकर तू मानसिक दुखोंसे संतप्त रहेगा।

चउविहविकहासत्तो मयमत्तो असुहभावपयडत्थो।
होऊण कुदेवत्तं पत्तोसि अणेयवाराओ ॥१६॥

(२६) **बाह्य परिग्रहके त्यागका लक्ष्य**—हे मुने, जहां बाह्य परिग्रहका त्याग किया है। अनेक प्रकारके सुलभ आरामोंको छोड़ दिया है तो अब अपने विशुद्ध भावोंकी भावनामें निरन्तर बढ़ते रहनेका उद्यम कर। अन्यथा तू खोटे देवोंमें उत्पन्न होकर अनेक मानसिक दुःख पायगा और अब तक ऐसी खोटी भावनाओंके ही कारण द्रव्यलिंग धारण करके भी हीन देवोंमें उत्पन्न होकर अनेक दुःख प्राप्त करता रहा। चार प्रकार की विकथाओंमें आसक्त होकर यह जीव अनेक बार द्रव्यलिंगमें होने वाले कुछ व्रतके प्रतापसे देव तो हुआ मगर कुदेव हुआ। इन विकथाओंके कहनेमें या तो कोई रागका

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

प्रयोजन है या द्वेषका प्रयोजन है या अपने आपकी महिमा जतानेका प्रयोजन है। सो ये तीनों ही प्रयोजन इस जीवके विकट अशुभ भाव हैं सो ऐसी स्त्रीकथा, भोजनकथा, देश-कथा, राजकथा, इन चार कथाओंके कहनेमें आसक्त परिणाम वाले हुए और जाति आदिक आठ मदोंकर उन्मत्त हुए क्योंकि उस भेषमें अनेक भक्तोंके द्वारा विनय प्राप्त हुई, पूजा प्राप्त हुई, तो यह मदसे उद्धत हो गया और विकल्पोंका भाव आनेमें जाति कुल आदिक आश्रयभूत बन गए। पूजा हुई तो उसका तो अभिमान हुआ ही मगर साथ ही अपने आपका यह भी ख्याल किया कि मैं ऊंची जातिमें उत्पन्न हुआ, ऊंचे कुलमें उत्पन्न हुआ ऐसा अपना मूलभाव रखकर वहां अभिमानका भाव करता है। इसी प्रकार रूप, ज्ञान, पूजा, शारीरिक बल ऋद्धि तपश्चरण आदिकके ख्याल कर करके अपने विकल्पोंको पोषता है तो ऐसे शुभ भाव रखकर यह जीव अनेक बार नीच देवपनेको प्राप्त हुआ इस कारण हे भव्य निर्ग्रन्थ भेष धारण कर भीतरमें निर्ग्रन्थता प्राप्त कर। यह आत्मस्वरूप समस्त बाह्य पदार्थोंसे रहित है। समस्त परभावोंसे विविक्त है। मात्र अपने आपमें अपने आपके स्वरूपका अनुभवने वाला जीव समस्त संकटोंको दूर करता है और स्वभाव भावनासे रहित परभावोंके लगावमें आये हुए सारे संकटोंको सहता है। इस तरह मन, वचन, कायको सम्भालकर अपने आपके स्वरूपकी भावनामें अपना उपयोग कर।

असुईबीहत्थेहिं य कलिमल वहुलाहि गब्भवसहीहिं।
वसिओसि चिरं कालं अणेयजणणीण मुणिपवर ।।१७।।

(२७) **कुयोनियोंसे निकलकर अनेक बार गर्भमें आया**—हे मुनि श्रेष्ठ, पहले अनेक बार भावरहित मुनिलिंग धारण करके खोटे देव, खोटी योनियोंमें अनेक बार उत्पन्न हुआ अथवा अब तक अनन्तानन्त काल अनन्तानन्त भवोंमें व्यतीत हो गया। सो उन कुयोनियोंसे निकलकर अनेक बार तू गर्भमें आया और मनुष्य बनकर अनेक बार ऐसे ही द्रव्यलिंगमें भावरहित बनकर कुयोनियां प्राप्त करता रहा, इतनी बार तूने यह मनुष्यभव पाया जिसमें द्रव्यलिंग धारण कर अपनी खोटी भावनाओंसे संसारमें रुलता रहा, सो बतलाते हैं।

पीओसि थणच्छीरं अणंतजम्मंतराइं जणणीणं।
अण्णाण्णाण महाजस ! सायरसलिलादु अहिययरं ।।१८।।

(२८) **कल्याणका उपाय अपने सहज स्वरूपकी जानकारी**—हे महायश मुनि, तूने अनन्त गर्भवासोंमें, अन्य अन्य जन्मोंमें अन्य अन्य माताके स्तनका इतना दूध पिया जो

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

समुद्रके जलसे भी अधिक सञ्चय हो सकता है अर्थात् तू ने अनेक बार जन्म लिया। माताके दूध पीनेका मतलब जन्म लेना है। जैसे कि कहते हैं कि हे प्रभो अब मुझे माता का दूध न पीना पड़े अर्थात् निर्वाण हो जाय। यहां बतला रहे कि तू ने ऐसे ऐसे इतने मनुष्य जन्म पाये अनादि कालसे अब तक कि एक एक भवका माताके दूध पीनेका बूंद-बूंद भी जोड़ा जाय तो समुद्रसे भी अधिक वह संचय होगा। तो ऐसा अनेक बार मनुष्य हुआ और द्रव्यलिंग भी धारण किया मुक्ति पानेकी इच्छासे मगर वह परमार्थभाव न पासका, इस कारण संसारमें रुलता ही रहा। वह परमार्थ भाव क्या है ? अपने आपका सहज ज्ञानस्वरूप। यह आत्मा ज्ञानमय है, ज्ञान ही ज्ञानसे रचा हुआ है। तो जो स्वयं ज्ञानमय है उसकी सहज वृत्ति केवल प्रतिभास स्वरूप ही होती रहती है, किन्तु पर और परभावोंके सम्बन्धसे इसके ज्ञान दर्पणमें कलुषताओंका प्रतिबिम्ब इतने समूचेमें पड़ गया है कि अब तक अपने स्वरूपकी सुध नहीं रहती और जहां स्वरूपकी सुध नहीं है वहां किन्हीं न किन्हीं बाह्य पदार्थोंमें ही चित्त जाता है। कल्याणका उपाय तो अपने सहज स्वरूपकी सुध रहना है और जहां स्वरूपकी सुध नहीं है वहां किन्हीं न किन्हीं बाह्य पदार्थोंमें ही चित्त जाता है। कल्याणका उपाय मात्र तो अपने सहजस्वरूपकी सुध लेना है, मैं ज्ञानमात्र हूं, अन्य कुछ नहीं हूं, यह अभ्यास इतना दृढ़ होना चाहिए कि अन्य कुछ समझनेके लिए कुछ परिश्रम न करना पड़े और अपनेको ज्ञानमात्र अनुभवनेके लिए अनवरत वृत्ति जगे, ऐसा अपनेको ज्ञानमात्रपना अनुभवनेका दृढ़ अभ्यास होना चाहिए। मेरा सर्वस्व ज्ञानस्वरूप है, अन्य कुछ नहीं है। इसका इतना दृढ़ अभ्यास बने कि अन्य स्वरूप माननेमें अपनेको कुछ विशेष कोशिश करनी पड़े और मैं ज्ञानस्वरूप ही हूं यह प्रतिभास ज्ञान ही मेरा सर्वस्व है, ऐसी अनुभवना अत्यन्त सुगम हो जाय। मैं ज्ञानमात्र तत्त्वको ही करता हूं। परिणमनेवाला ही करने वाला कहलाता है। मैं हूं ज्ञानस्वरूप और निरन्तर परिणमता रहता हूं सो ज्ञान ज्ञानरूप ही परिणमता रहता हूं, ज्ञानके परिणमनके सिवाय कुछ नहीं करता और न अब तक ज्ञानपरिणामके सिवाय कुछ किया, किन्तु फर्क यह रहा कि विकल्परूपसे ज्ञानको परिणमाया। ज्ञानकी जैसी सहज वृत्ति है जाननमात्र, केवल जाननमात्रके रूपसे ही यह ज्ञान परिणमता रहता, तब तो इसका भला था, किन्तु यह विकल्परूपसे परिणमता रहा, पर तब भी ज्ञानके परिणमन सिवाय और कुछ नहीं कर सका। यह बात चित्तमें दृढ़तासे समायी हो कि अन्य बातके करनेके लिए बड़ा श्रम और यत्न करना पड़े और ज्ञानभावका ही करने वाला होऊं, इस प्रकारकी समझ इसके स्पष्ट रहे। मैं ज्ञानमात्र भावको ही भोगता हूं। प्रत्येक पदार्थ अपनी ही पर्याय

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

को अनुभवते हैं, कोई भी वस्तु किसी दूसरे पदार्थकी पर्यायको नहीं अनुभव सकती। मैं हूं ज्ञान स्वरूप, यहां ज्ञानका ही परिणमन चलता है। तो मैं भोगता हूं मात्र ज्ञानके परिणमनको। अन्तर यह पड़ा कि मैंने इस ज्ञानको ऐसा अनुभवा कि जिसमें सुख दुःख के विकल्प जगे। यह पदार्थ इष्ट है, यह अनिष्ट है इस तरहके विकल्प रूपसे उसने ज्ञान को अनुभवा। यदि इन कलुषताओंसे रहित होकर केवल ज्ञानवृत्तिको ही निरखकर उस रूपसे अनुभवनेका ही उसका अनुभव बनता तो यह उसके लिए भला था। कैसा ही अनुभवना किन्तु ज्ञानको ही अनुभवना। सो हे आत्मन्! तू यही श्रद्धा रख, ऐसा ही अपना उपयोग कर कि सिर्फ ज्ञानको ही अनुभवता हूं, अन्य किसी पदार्थको नहीं अनुभवता। यदि ऐसा अपने सहज ज्ञानस्वरूपका भाव रखा तो संसारसे तिरकर निर्वाण पायगा और फिर पुनः माताके दूध पीनेका अवसर न आयगा, अर्थात् संसारमें न रुलेगा।

तुह मरणे दुक्खेण अण्णाणाणं अणेयजणणीणं।
रुण्णाण णयणणीरं सायरसलिलाहु अहिययरं ॥१६॥

(२८) **भावके बिना क्या झूठ है**—इस भावपाहुड़ ग्रन्थमें यह सिद्ध किया जा रहा है कि भावके बिना क्या झूठ है। वह भाव कौन सा? अपने आपका जो सहज स्वरूप है, अपनी ही सत्ताके कारण जो अपने आपका स्वभाव है उस स्वभावमें यह मैं हूं, इस प्रकारका निर्णय जिसके है उसे कहते हैं कि भाव ठीक बना है और अपने स्वभाव भावको छोड़कर अन्य परवस्तुओंमें ये मेरे हैं, परभावमें यह मैं हूं, इस प्रकारका जिसके निर्णय बना हो उसके अज्ञान कहा जाता है। जिस ज्ञानसे मोक्ष मिलता है उसे कहते हैं ज्ञान और जिस ज्ञानसे संसार बढ़ता है उसे कहते हैं अज्ञान। तो एक भावके बिना द्रव्यलिंग भी धारण किया मुनि भी बने, किन्तु भावरहित होनेसे यह चारों गतियोंमें जन्म मरणके दुःख पाता रहा। इसका वर्णन पहले आ चुका है। अब जन्म सामान्यको चित्तमें लेकर कह रहे हैं कि हे मुने! तूने भावके बिना बड़े-बड़े तपश्चरण भी किये फिर भी इतने जन्म धारण करने पड़े कि यदि इस तरह निरखा जाय कि माताके गर्भमें बसकर तूने जन्म ले लेकर इतने जन्म मरण किये कि तेरे मरनेसे अन्य अन्य माताओंका जो रुदन हुआ है, ऐसा एक-एक भवका उन माताओंका एक-एक आंसू जोड़ा जाय तो रुदन करके उस रोनेके जलसे समुद्र बराबर जल भर जायगा, इतने जन्म मरण किया। कोई मरता है तो लोग रोते हैं, मातायें रोती हैं, तो उन माताओंके एक भवके रोनेका अगर एक एक आंसू रखा जाय तो इतने भवोंमें तूने मातासे जन्म लिया कि एक-एक बूंद जोड़ा जानेपर भी समुद्र भर जाय। इतनी बार तेरा जन्म हुआ, मरण हुआ। अब

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/
इस वर्तमान पर्यायमें मोह करके तू पर्यायबुद्धि कर रहा है कि मैं मुनि हूं, मैं तपस्वी हूं, इस लिंगसे मोक्ष जाऊंगा। यहां यहां ही रम रहा और तू उस ज्ञानमात्र भावकी सुध नहीं लेता कि जिस ज्ञानमात्र अनुभूतिके बलसे कर्म कटते हैं, मुक्ति मिलती है। यह निमित्तनैमित्तिक भाव अटल है। अगर भाव रागद्वेषमयी रखेंगे तो कर्मका बन्ध होगा। भावसे रहित होकर उपयोगमें केवल ज्ञानस्वरूपको ही बसायेगा। अपने आप कर्म बिदा होंगे। धर्मके लिए जहां अनेक परिश्रम करते हैं लोग, उन्हें यह ध्यानमें रखना चाहिए कि इस भावके बिना ये सारे परिश्रम करना, नहाना धोना, मन्दिर जाना, पूजा पाठ करना, व्रत तप उपवास आदिक करना ये सब व्यर्थ हैं। अपने अविकार ज्ञानस्वभावकी दृष्टि जगे बिना कर्म नहीं कट सकते यदि एक यह कुञ्जी प्राप्त कर ले कोई, अपने सहज ज्ञानस्वरूपका अनुभव पा ले कोई, तो उन प्रत्येक क्रियावोंमें रहकर यह जीव अपनेको सुरक्षित समझेगा। अतः इस ज्ञानस्वरूपकी आराधना बिना इतने जन्म मरण होते हैं कि जिसकी कोई गिनती नहीं।

भवसायरे अणंते छिण्णुज्झिय केसणहरणालट्ठी।
पुंजइ जइ को वि जए हवदि य गिरिसमधिया रासी ॥२०॥

(२९) मुनिभेषसे ही मुक्ति न होनेसे मुक्तिके वास्तविक उपायका कुन्दकुन्दाचार्य द्वारा वर्णन—हे मुने, कुन्दकुन्दाचार्य समझा रहे हैं अपने संघ वाले अन्य अनेक मुनिराजोंको कि मुक्ति के मार्गमें जो बढ़ता है सो यह मुनिभेष तो आता है, मगर मुनिभेषसे मोक्ष नहीं मिलता। मुनिभेष आये बिना कर्म नहीं कटते, पर मुनिभेषसे कर्म नहीं कटते। कर्म कटते हैं ज्ञान-स्वरूपका ज्ञानमें ज्ञान रखनेसे। सो एक इस भावके बिना हे मुने इस अनन्त संसारमें तूने इतने जन्म लिये कि एक एक भवका केश, नख, नाल और अस्थि, इनका अगर कोई ढेर करे तो मेरुपर्वतसे भी कितना ही अधिक ढेर बन जायगा। मेरुपर्वत एक लाख योजनका ऊंचा है। और एक योजन होता है दो हजार कोशका। कितना महान ढेर है? वह मेरु पर्वत, फिर उसकी मोटाई, लो उतनेसे भी बड़ा ढेर बन जायगी यदि उन नख केशोंके एक एक भवके नख केश जोड़े जायें लो, इतने जन्ममरण तूने किये हैं। क्यों हुए कि ज्ञानस्वरूप पर दृष्टिपात नहीं हुवा। कितना सुगम उपाय है धर्मका। बैठे हैं, तबियत ठीक नहीं, बिस्तरसे उठा नहीं जाता तिसपर भी वह धर्म कर सकता है। एक अन्दर ही उपयोग दिया और ज्ञानस्वरूप आत्मापर उपयोग जमाया, मैं यह ज्ञानमात्र हूं, शारीरिक वेदना भी उसकी घट जायगी, महसूस न होगी और आत्मामें अलौकिक आनन्द जगेगा। कोई मनुष्य अच्छे शरीर वाला है, कोई दुर्गन्धित शरीर वाला है, किसी

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

को कैसा ही शरीर मिला है। यह किसकी महिमा है ? यह किसका प्रताप है ? तो सीधा कहो कि कर्मका प्रभाव है। अच्छा तो ऐसे कर्म बने कि जिस कर्मोदयसे ऐसा शरीर मिलता है तो वह तो कर्मोदय तो कर्म बंधनेसे ही हुआ। तो ऐसे कर्म बधे यह किसका प्रभाव है ? यह है आत्माके भावोंका प्रभाव। तो भावोंमें वह सामर्थ्य है कि शरीरमें भी अनेक खटपट दिखा दे और संसारसे तिरा भी दे। सब भावोंकी ही महिमा है। तो ऐसे मुक्ति योग्य भावोंको त्यागकर जो संसारमें रुलनेका भाव बनाये तों उसने कितने जन्म मरण किये कि एक एक जन्मके नख केश जोड़े जायें तो मेरुपर्वतसे भी कितने ही गुने राशिके ढेर बन जायेंगे। तो एक भावोंका माहात्म्य जान। हे आत्मन् ! तू अपने भावोंका आदर कर। कोई ज्यादह व्याकरण नहीं जानता, साहित्य नहीं जानता, गद्य पद्य नहीं जानता और केवल एक अपने आपके इस सहज ज्ञानस्वरूपको जानता है, इसका अनुभव करता है, यह तो खुदकी चीज है, खुदको देखना है, तो ऐसी सुगम स्वाधीन बात कोई खुद कर सके और नहीं जाना उसने व्याकरण तर्क वगैरह तो भी वह ज्ञानी है, संसारसे पार है। और एक अपने स्वरूपका दर्शन न कर सका तो वह चाहे कितना ही बड़ा तपश्चरण करले, लेकिन वह ससारमें ही रुलता है, तपश्चरणकी विधि क्या है और उसकी आवश्यकता क्यों बताई गई ? ग्रन्थोंमें तपश्चरण धारण करनेका उपदेश क्यों किया गया ? उसका कारण यह नहीं है कि तपश्चरण करनेसे मोक्ष मिल जायगा। उसके कारण तपश्चरणके द्वारा ऐसा वातावरण बनाना है कि जिससे इसका चित्त पापमें न जाय, अशुभ भावमें न जाय। इतना ही प्रयोजन है। इन बाहरी तपश्चरणसे यह जीव सुरक्षित हो गया याने इसका मन पापमें नहीं जाता। दुर्भावना नहीं जगती। तो यह आत्मा उन पापकार्योंसे तो सुरक्षित हो गया। अब ऐसी सुरक्षित स्थिति में यदि कोई अपने ज्ञान द्वारा अपने ज्ञानस्वरूपको निहारता रहे तो उसका संसार पार हो जाता है, और बाह्यतपश्चरण किया और एकअंतरंगकी सावधानी नहीं की, तो वहां यह नियम भी नहीं है कि वह सुरक्षित हो जायेगा। वह वासनामें भी चल सकता है। तो बाह्य तपश्चरणका प्रयोजन है कि पापकी वासनासे इसका चित्त हट जाय, मोक्षमें चले। यह तपस्या नहीं कर सकता मगर ज्ञान तो कर सकता है। अपना ज्ञान अपने ज्ञानमें मग्न रह रहा है तो यह अपना मोक्षमार्ग बनता है, मगर जो अनादि कालसे पापकी वासनामें लगा है तो कितना ही वह ज्ञानमें बढ़े, मगर बार बार उसको वह वासना सताती है, दुर्भावना आती है और यह अनेक बार पतित हो जाता है। तो इसके दिए उपाय बताया है कि यह तपश्चरण करे यह उपदेश निरर्थक नही है। मगर श्रद्धा

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

उनको बनाना है कि जिन्होंने परमार्थ भावको तो छोड़ दिया और देहकी क्रिया, और तपश्चरणसे ही मोक्ष माना उनके लिए अनर्थक नहीं है। जैसे कोई योद्धा ढाल लेकर तलवारके बिना खाली ढाल लेकर युद्धमें जाय और सोच ले कि मेरे पास तो यह ढाल है, मैं शत्रुका संहार करूंगा तो क्या कोई शत्रुपर विजय प्राप्त कर सकता है ? नहीं कर सकता और कोई पुरुष खाली तलवार लेकर जाय कि मैं आज शत्रुका संहार करूंगा और ढाल उसके पास नहीं है तो वह एक विकट युद्धकी जगह है। सैंकड़ों योद्धा उसपर टूटेंगे तो कोई कहींसे वार करेगा कोई कहींसे। तो प्रायः यह सम्भव है कि वह अपना कार्य न कर सके और प्राण भी गमा दे। तो जैसे किसी योद्धाको युद्धमें दोनोंकी आवश्यकता होती है, ढालकी और तलवारकी, मगर ढालसे लड़नेकी श्रद्धा तो नहीं होती सुभटकी। वह जानता है कि ढालका काम और है, तलवारका काम और है। ढालका काम दूसरेका वार रोकना है और तलवारका काम शत्रुका संहार करना है। तो ऐसे ही जो ज्ञानीसंत मुनिजन होते हैं वे जानते हैं कि ये व्रत तपश्चरण आदिक तो ढालका काम कर सकते हैं और यह ज्ञान अपने लक्ष्यमें पहुंचे, ज्ञानस्वरूपका ज्ञान बनाये तो यह शस्त्र का काम कर सकता है कर्मके नाश करनेके लिए। आवश्यकता दोनोंकी है मगर जिसने प्रयोजन विपरीत समझ लिया उसके लिए अनर्थक है। तो समझा रहे मुने तूने अपने अपकार्य भावको त्यागकर जो अनेक बार वह व्रत तपश्चरण किया, दिगम्बर मुद्रा धारण की तो भी तेरा जन्म मरण नहीं कट सका। इतने जन्म मरण पाये कि एक एक भवके नख केश इकट्ठे किए जायें तो मेरूपर्वतसे भी महान उनकी राशि बन जायगी।

जलथलसिहिपवणंबरगिरिसरिदरितरुवणाइ सव्वत्थ।
वसिओसि चिरं कालं तिहुवणमज्झे अणप्पवसो ॥२१॥

(३०) **अज्ञानवश तीनों लोकोंमें सर्वत्र जन्मका तांता**—हे मुने, इन तीनों लोकोंमें तूने न जाने कहां कहां जन्म मरण नहीं किया। मध्य लोकमें जलका स्थान अधिक है, क्यों कि जहां असंख्यात द्वीप समुद्र हैं और सबके बीचमें जम्बू द्वीप है, उसका एक लाख योजन प्रमाण है और उसको घेरे हुए समुद्र है। उसके एक ओर ही दो लाख योजन प्रमाण है, फिर ऐसा चारों ओर है। उसे घेरकर द्वीप है और समुद्र है, और दूने-दूने विस्तार वाले चले गए हैं, और अन्तमें है समुद्र। तो उस आखिरी समुद्रका जितना विस्तार है, सारे द्वीप समुद्रका भी मिलकर उतना विस्तार नही है। जैसे यही घेरा लेकर देख लो, आखिरी घेरेका विस्तार सारे क्षेत्रसे अधिक है, नाप तौलकी बांटमें ही देखलो मानो सबसे छोटा बाट छटांक है तो उससे दूना आधपाव है, उससे दूना एक पाव है,

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

उससे दूना आधसेर और उससे दूना सेर। तो एक सेर बराबर भी वे सारे बांट नहीं हो जाते। तो ऐसे ही दूने दूने विस्तारमें असंख्याते द्वीप समुद्र है, उसमें जलका स्थान सर्वाधिक है। तो इस जलके मध्य अनेक बार तू ने जन्म मरण किया।

(३१) **पृथ्वीकायादिमें अनन्तोंबार मोही जीवके जन्ममरणोंकी संतति**— पृथ्वीकायमें अनेक बार जन्ममरण किया, अग्नि बीच अनेक बार जन्म मरण किया। अग्निमें जीव आया तो अग्निमें जन्म मरण अथवा कुछ जीव ऐसे मूल ढंगके हैं कि जिनको गर्मी ही प्रिय होती है, ऐसा अनेक बार अग्निमें जन्म लिया, पवनमें जन्म लिया। हवा खुद जीव है, आकाशमें जन्म लिया। जहां यह पोल दिख रही है यहां अनन्तानन्त निगोद जीव भरे पड़े हैं आकाशमें ही उनका जन्म है, पर्वतमें जन्म लिया, पेड़ हुए, पौधा हुए, स्थावर मिट्टी पर्वतमें भी जन्म लिया। नदियोंमें जन्म लिया, नदी खुद जलका समूह है और जलकायिक जीव है। पर्वतकी गुफावोंमें जन्म लिया, वृक्षोंमें जन्म लिया। तीन लोकमें कोई ऐसा स्थान नहीं जहां अनन्त बार जन्म मरण न किया हो। और इस ढाई द्वीपके अन्दर जहां हम आप रह रहे हैं कोई ऐसा स्थान नहीं जिस जगहसे अनन्त जीव मोक्ष न गए हों जहां आप बैठे हैं वहांसे भी अनन्तानंत जीव मोक्ष गए। सारा ढाई द्वीप सिद्ध तीर्थस्थान है, सिद्ध क्षेत्र है। तीन लोकमें कोई भी प्रदेश ऐसा नहीं है कि जहां जीवने अनन्तबार जन्म मरण न किया हो।

(३२) **जन्म और मरणोंका कारण अपने स्वरूपकी बेसुधी**—ये जन्ममरण क्यों हुए कि जन्मरहित सहज जो ज्ञानस्वरूप है उस रूप अपनेको नहीं मान पाया। जीवपर सबसे बड़ी विपत्ति मोहकी है। तो मोहमें बाधा हो, परद्रव्यको अपना मान ले, ये ही मेरे सब कुछ हैं और वह विपत्ति सुहाती नहीं है, दुःख सुहाये नहीं तो दुःखसे छूटनेका उपाय भी जीव कर रहा, ऐसा अंधा है प्राणी कि मोहकी बड़ी विपत्ति सह रहा है ओर उस विपत्ति को सुख मान रहा। जैसे अपने कुटुम्बके लोग, मित्र लोग बड़े सुहावने लगते कि ये मेरे हैं, ममता भी रहती है कि मेरे ही तो हैं ये। ऐसा भाव बनता है और वे सुहाते हैं, देखकर अच्छे लगते हैं मगर इस मोहभावमें कितना पाप चल रहा है, कितना कर्मबंध हो रहा है यह इस जीवकी दृष्टिमें नहीं है, तो सबसे बड़ी सुरक्षा यह है कि भीतरमें शंका न रहनी चाहिए। मेरा मात्र मैं ही हूं, मैं अकेला हूं। अब भी अकेला हूं, आगे भी अकेला रहूंगा और ऐसा अकेला हूं कि कर्मसे भी निराला हूं। पर विकारसे भी निराला हूं, ऐसा यह मैं एकाकी ज्ञानमात्र मैं आत्मा हूं, अगर इस बातपर अड़े रह गए, यह बात चित्तमें समायी रहेगी, ऐसा भीतरमें ज्ञानप्रकाश जगता रहेगा तब तो इसके क्षण सफल

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

हैं और एक यह ही ज्ञान न मिल पाया और पुण्योदयमें चाहे कितने ही ठाठ मिल गए उनका कोई अर्थ नहीं। तो यह जीव अपने शुद्ध आत्माकी भावना न होनेसे कर्मके आधीन रहा और कर्मवश होकर तीनों लोकोंमें सर्वत्र जन्म मरण करता चला आया।

गसियाइं पुग्गलाइं भुवणोदरपत्तियाइं सव्वाइं।
पत्तोसि तो ण तित्तिं पुणरुत्तं ताइं भुंजंतो ॥२२॥

(३३) **अनन्तबार ग्रसकर उज्झित भोगोंका मोही द्वारा ग्रसण**—अभी यह बताते आये थे कि एक भावके बिना, निजस्वरूपके ज्ञानके बिना द्रव्यलिंग धारण किया, बड़े व्रत तपश्चरण भी किया तो भी यह जन्ममरणकी परम्परा न टूटी। अब यहां यह बतला रहे हैं कि उन जन्मोंमें उस जीवने क्या किया? जन्म हुआ जीवन चला, मरण हुआ और उसकी प्रथामें जन्ममरण चल रहा तो इसको क्यों बुरा कहा जा रहा, इसमें इस जीवने क्या किया तो बुरा तो स्पष्ट यह है कि जन्ममें भी दुःख, मरणमें भी दुःख, रह गया यह जीवनका सम्बन्ध सो जीवनमें इस जीवने भोगोंको भोगा और दूसरी कोई धुन न रही। स्पर्शन इन्द्रियके विषय मिले तो उसमें आनन्द माना। रसना इन्द्रियका विषय रहा, अच्छे भोजन पकवान मिले, उसमें मौज माना। घ्राण, चक्षु, कर्णके विषय मिले, उनमें यह रमा। एक रसना इन्द्रियकी ही बात सुनो। इन पुद्गल स्कंधोंमें जो लोकमें रह रहे हैं उन सबको तूने अनेक बार तो खाया, भोगा और बार बार छोड़ा तो छोड़ छोड़कर फिर भोगा। अगर कोई इसी समय कोई चीज खा ले और खाकर उगल दे तो उस उगले हुए भोजनको फिर नहीं खाया जा सकता। मगर भव भवमें तूने इन सब भोगोंको भोगा, छोड़ा तो उगाल तो हो ही गया। तूने उन उगालोंको बड़ी रुचिसे खाया, खाता जा रहा। वह ही तो उगाल है जो पहले विकल्पोंसे भोगा था, फिर भोगा फिर छोड़ा। यह जो एक परभावकी चक्की चल रही है, जिसमें विषय कषायोंके परिणमन चल रहे, यह ही इस जीवको जगतमें रुलाने वाली करतूत है। तो इस जगतके सर्वपदार्थोंसे उपेक्षा रखकर अपने आपके सहज ज्ञानस्वरूपमें रमो।

(३४) **इन्द्रियविषयोंमें आसक्त न होनेका अनुरोध**—भले ही खाये बिना नहीं चलता, खा ले, पर उस खायेमें ऐसा अनुभव तो नहीं करना कि अहो मेरी जिंदगी आज सफल हो गई। बहुत मीठा खा लिया, बड़ा मौज मिला, बड़ा मधुर भोजन मिला, इस प्रकार का विकल्प और आशक्ति बनती। तो यह तेरे लिए भयंकर परिणाम देने वाला है। खाते हुए में भी यह समझो कि यह खाना पड़ रहा है, पर मेरा स्वरूप खानेसे रहित है। भोजन ग्रहण करनेसे पहले और भोजन कर चुकनेके बाद सिद्धभक्ति क्यों की जाती

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

है ? अनेक गृहस्थ भी तो णमोकार मंत्र पढ़कर भोजन शुरू करते हैं और भोजन करने के बाद कुल्ला करके फिर णमोकार मंत्र पढ़ते हैं, ऐसा तो बहुतसे साधारण गृहस्थ भी करते हैं, फिर मुनि त्यागी तो सिद्ध भक्तिसे पाठ पढ़कर णमोकार मंत्र पढ़ते हैं, फिर भोजन करते हैं, ऐसा क्यों किया जाता है कि यह ज्ञानी गृहस्थ यह एक त्यागी मुनि यह जानकर प्रभुका स्मरण करता कि हे प्रभु मैं अब ऐसा काम करने जा रहा हूं कि जिससे मैं अपनी सुध भी भूल सकता हूं और उन भोगोंमें आसक्त होकर बिकट कर्मबंध कर लूंगा, ऐसा काम मैं शुरू करने वाला हूं, तो इस बिकट काममें मैं अपनी सुध न खो दूं इस लिए प्रभुका पहले स्मरण किया। खाते भी रहें और क्षुधा शान्ति बिना निर्वाह न होगा, अतः मुझको मेरी सुध रहे कि मैं ज्ञानस्वरूप हूं, अमूर्त हूं। मेरा काम भागनेका नहीं है, खानेका नहीं है। यह समय समय पर इस बीच भी सुध आती रहे, इसके लिए णमोकार मंत्र पढ़ते हैं और भोजन कर चुकनेके बाद फिर क्यों पढ़ते हैं कि उस समय फिर पूरी सुध आती है भोजन कर चुकनेके बाद कि मैंने इस तरहके भावमें इतना समय गुजार दिया, स्वाद लिया, मौज भी माना, लेकिन उसमें मैंने अपनेको खो दिया था। हे सिद्ध प्रभो तुम तो इस रागसे दूर हो, निर्लेप हो, ज्ञानस्वरूप हो, वही मेरा स्वरूप है। इस स्वरूपकी जो सुध लेता है वह भोजन समाप्तिके बाद सिद्ध प्रभुकी स्मृति करता है। तो यह भोग भोगना भी बहुत ही भयंकर परिणाम वाली बात है। तूने इन भोगों को अनन्त बार भोगा। अब उन छोड़े हुए झूठे भोगोंको क्यों बार-बार भोगता है ? अपने ज्ञानमात्र आत्माकी सुध ले, इससे ही संसार संकट कटेंगे।

तिहुयणसलिलं सयलं पीयं तिण्हाइ पीडिएण तुमे।
तो वि ण तण्हाछेओ जाओ चिंतेह भवमहणं ॥२३॥

(३५) **त्रिभुवनसलिलपानसे भी संसारीके तृषाच्छेदका अभाव**—हे जीव संसारमें तू कभी तृप्त न हो सका। जहां भोग मिले वहां तृष्णाके कारण तू तृप्त न हो सका और जहां भोग न मिले वहां भी तू तड़फ तड़फ कर अतृप्त रहा, औरकी तो बात क्या है। बाहरमें पानी मिलनेसे तृप्ति मानी जाती है मगर नरकोंमें इतनी तेज प्यास लगी कि तीनों लोकोंका सारा पानी भी पी लेवें तो भी प्यास नहीं बुझ सकती। इतनी तेज तृषा के होने पर भी एक बूंद भी प्राप्त नहीं हुआ अथवा अन्य अन्य भवोंमें भी तृषा तृष्णा करके तू व्याकुल रहा। किसी भी प्रकार शान्त न रहा। तो अब तू इन बाह्यपदार्थ-विषयक विकल्पोंको छोड़ दे, किसी भी प्रकार बाह्य समागमोंमें तृप्ति नहीं हो सकती। तो तेरा जैसा संसारका भव होवे वैसा ही तू चिंतन कर याने निश्चय सम्यग्दर्शन, निश्चय

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

सम्यग्ज्ञान और निश्चय सम्यक्चारित्र ये परमार्थ रत्नत्रयभाव संसारका मंथन करने वाले हैं अर्थात् जन्ममरणरूप संसार दूर हो जाता है इस कारण अब बाह्य पदार्थोंमें तू तृप्तिकी बात मत ढूंढ, किन्तु अपने आपके स्वरूपमें परम आनन्ददायक जो परमार्थ रत्नत्रय भाव है उसकी ही उपासना कर।

गहिउज्झियाइं मुणिवर कलेवराइं तुमे अणेयाइं।
ताणं णत्थि पमाणं अणंतभवसायरे धीर ॥२४॥

(३६) **देहममत्व छोड़नेके लिये मुनिवरोंको सम्बोधन**—हे मुनिश्रेष्ठ, हे धीर वीर तुमने इस अनन्त भवसागरमें इतने शरीर ग्रहण किये और छोड़े जिनका कोई परिमाण नहीं है, मगर जिस शरीरमें गया उस ही शरीरसे तूने स्नेह किया। इस भवसे पहले जो शरीर था, जिसे छोड़कर यहां आये तो इसके लिए उस शरीरका कोई महत्त्व भी है क्या? कुछ भी महत्त्व नहीं है, तो ऐसे ही जो वर्तमानमें शरीर है इसे भी छोड़कर जायगा तो इस शरीरका भी कोई महत्त्व है क्या? कुछ भी महत्त्व नहीं, मगर मोहका अंधेरा ऐसा विकट छाया है कि जिस शरीरमें पहुंचता है उस ही शरीरको तू अपना सर्वस्व मान लेता है। तो जिस शरीरसे तू स्नेह करना चाह रहा है ऐसा शरीर तो तूने अनन्त बार छोड़ा और अनन्त बार ग्रहण किया। इस अनन्त भवसागरमें याने जब कालकी कोई आदि नहीं कि कबसे समय लग रहा है और जीवकी सत्ताकी भी आदि नहीं कि अमुक क्षणसे यह जीव बना है। अनादिकालसे जीव है, आदिकालसे यह संबंध है और अनादिकालसे भवभ्रमण है। तो अब समझ लीजिए कि कितने भव इस जीवने पाये। अनन्तानन्त भव इस जीवने पाये। तो अनन्तानन्त भवोंमें अनन्तानन्त शरीर पाये और छोड़ा तो उस शरीरसे अब क्या ममत्त्व करना? क्या स्नेह करना? यह शरीर तेरा कुछ नहीं है। शरीरसे निराला जो ज्ञानमात्र अंतः पदार्थ है उसकी ही उपासनामें रहना है।

विसवेयणरत्तक्खयभयनत्थग्गहणसंकिलेसेणं।
आहारुस्सासाणं णिरोहणा खिज्जए आऊ ॥२५॥
हिमजलणसलिल गुरुयर पव्वयतरुरुहणपडणभगेहिं।
रसविज्जजोयधारण अणयपसंगेहिं विविहेहिं ॥२६॥

इय तिरिय मणुय जम्मे सुइरं उववज्जिऊण बहुवारं।
अवमिच्चुमहादुक्खं तिव्वं पत्तोसि तं मित्त ॥२७॥

(३७) **अपमृत्युका परिचय**—इन तीन गाथाओंसे पहलेकी गाथामें यह बताया गया

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

कि हे जीव तूने इस अनन्त संसार सागरमें अनन्त बार अनन्ते शरीर ग्रहण किया और उन शरीरोंको छोड़ा और ग्रहण करता चला आ रहा है। तो उन शरीरोंमें यह जीव अपने उस भवकी आयुपर्यन्त रहता है, पर अनेक अनन्तभव ऐसे गुजरे कि जिन भवोंमें यह जीव अपनी आयुप्रमाण पूरा न रह सका, बीचमें ही मरण हो गया याने अपमृत्यु हो गई, अकालमृत्यु हो गई। इस सम्बन्धमें कुछ लोग ऐसा ख्याल करते हैं कि जिस समय सर्वज्ञदेवने जाना उस समय वही होता है। मृत्यु भी ज्ञात हुई तो जिस समयमें मृत्यु हुई ज्ञात है उस समय हुई, अकाल मौत कैसे ? तो समाधान यह है कि अकाल मौतका यह अर्थ नहीं है कि भगवानने जिस ससय जाना है उससे पहले मृत्यु हो जाय। जब मृत्यु होनी है तब ही तो ज्ञात हुआ है मगर जो ऐसी मृत्यु होती है कि जहां आयु-कर्मके निषेक तो इतने होते कि १०० वर्ष तक निकलते जाये। आयुके निषेक एक-एक समयमें एक-एक खिरते हैं और जैसे मानो किसीकी १०० वर्षकी आयु है तो १०० वर्ष में जितना समय लगता है उतने निषेक बंधे होते हैं। तो एक-एक समयके एक-एक निषेक खिरनेका नाम आयुका खिरना है। अब किसी जीवके निषेक तो इतने भरे कि १०० वर्ष तक निकलेंगे मगर ४० वर्षकी उम्रमें ही कोई टक्कर लगी, किसीने शस्त्र मारा या खुद जहर खा लिया, कोई ऐसे कारण बन गए तो उसकी मृत्यु तुरन्त हो जाती है। तो तुरन्त होनेके समय होता क्या है कि शेष जो ६० वर्षके निषेक हैं, बची आयुके निषेक हैं वे सब अन्तर्मुहूर्तमें खिर जाते हैं। तो शेष निषेकोंका अन्तमुहूर्तमें खिर जानेका नाम अकालमृत्यु है, क्योंकि आयुके निषेक तो बहुत थे, पर वे ४० वर्ष ही व्यतीत हो पाये कि शेष ६० वर्षके निषेक खिर गए तो यह कहलाती है अकालमृत्यु। अब यह बात रही कि भगवानने जाना है, जैसा होना था सो जाना है। सो जो जाना है सो ही तो हुआ है। तो इसके मायने हैं कि भगवानने यह जाना है कि इस ढंगमें इसकी मृत्यु इस समय हो जायगी। उन्होंने अकालमृत्युका उस समय होना जाना है, सो मृत्यु तो हुई मगर वह अपमृत्यु ही कहलाती ? तो ऐसी अकाल मौत, अपमृत्यु अनेक घटनाओंके कारण हो जाया करती है।

विष, वेदन, रक्तक्षय, भय, शस्त्रग्रहण द्वारा अपमृत्यु—हे जीव तुझे जीवनका लाभ क्या रहा ? अनन्त तो भव धारण किये और उन भवोंमें भी आयु प्रमाण ही रह ले सो नियम रहा नहीं। अनेक बार आयु बीचमें ही नष्ट हो गई, किन कारणोंसे ? विषका भक्षण करनेसे। विष खा लिया बस मर गए। होते होंगे कोई विष। सुनते हैं कि कोई अफीम भी अधिक खा ले तो वह भी विषका ही काम करता है। और भी अनेक चीजें विष

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

वाली होती हैं जिनका भक्षण कर लेनेके कुछ ही क्षणमें यह जीव शरीरसे निकल जाता है, तो विषके भक्षणसे आयु क्षीण हो गई। किसीके कोई कठिन वेदना हुई, शारीरिक रोग हुआ, जैसे हार्टफेल हुआ या वायुगोला बड़ा तेज उठा या लकवा बना या कोई नस फट गई, ऐसी कोई वेदनाके कारणसे आयु क्षीण हो जाया करती है। रक्तक्षयसे आयु क्षीण हो जाती है। रक्त गिरने लगा अथवा रक्त किसी अन्यरूप परिणमने लगा, जलोदर आदिक रोग हो गए, रक्त अब नहीं बन पा रहा, तो इस कारणसे भी आयु क्षीण हो जाती है। किसीकी भयके ही कारण आयु क्षीण हो जाती है कोई तेज आवाज आये, कोई कठिन भयकी बात सुननेमें आये, मानो किसीके इष्ट वियोगकी बात एकदम सुनने में आयी तो उस भयसे भी आयु क्षीण हो जाती है, शस्त्रके प्रहारसे, विघातसे, किसीने तलवार मार दी, बरछी छुरी आदिक घुसेड़ दी, और और नाना प्रकारके प्रहार किये, उन प्रहारोंसे आयु क्षीण हो जाती है, जीव शरीर छोड़कर चला जाता है। ऐसे-ऐसे अपमृत्यु होती है इस भवमें भी होती और अनेक भवोंमें भी होती। तो हे जीव, तूने संसारमें शान्ति और आनन्द पाया ही कहां है ?

(३६) **संक्लेश आहारनिरोध व श्वासनिरोधसे अपमृत्यु**—कभी संक्लेश परिणामसे आयु नष्ट हो जाती है। कोई तीव्र दुःख आया, कठिन संक्लेश परिणाम हुआ तो उस संक्लेश परिणामके कारण आयुका क्षय हो जाता है। श्वासके निरोधसे भी आयुका क्षय हो जाता जैसे पशु पक्षियोंको बंद कर देना, अब उनको आहारका निरोध हो गया, नहीं मिल सका तो उनका प्राणघात हो जाता है। किसी पर धर्मका बहाना लेकर कि हमने अब दूध छोड़ दिया अब पानी छोड़ दिया यों छोड़ता जाय तो उसमें भी संभव है, होता ही है कि जितनी आयु है उससे पहले आयु क्षीण हो जाय। तो यों आहारके निरोधसे भी आयु क्षीण हो जाती है। एक बारकी ऐसी घटना हुई कि कोई छोटासा ४-५ वर्ष का बालक किसी विद्यालयमें पढ़ता था। वह बड़ा ऊधमी था, सो उसे यों ही किसी अध्यापिकाने कुछ भय देनेके लिए ऐसा दण्ड दिया कि एक कमरेमें बंद कर दिया और बाकी बच्चोंको पढ़ाना शुरु कर दिया। इसी प्रसंगमें उसे कमरेसे निकालनेका ध्यान न रहा और छुट्टी हो गई कोई तीन चार दिनकी। वह बालक कुछ लिखना पढ़ना भी सीख गया था। सो जब उसको तेज भूख लगी तो वह बहुत बहुत चिल्लाने लगा, आवाज देने लगा सर हमें निकाल लो, हमको भूख लगी है, अब ऊधम नहीं करेंगे···। पर उसकी उस आवाजको सुनने वाला वहां कौन था ? वह इन्हीं बातोंको दीवारपर लिखता भी गया, पर उसे कौन देखने वाला था ? आखिर वह बालक उसी कमरेके अन्दर मर गया।

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

तीन चार दिन बाद जब विद्यालय खुला तब उसका पता पड़ा। तो यों कितनी ही अपमृत्यु अनेक कारणोंसे हो जाया करती हैं। जैसे कहीं बंद कर दिया गया, श्वांस लेनेको जगह न रही तो वह वहीं घुट घुटकर मर जाता है। सो इन अनेक कारणोंसे आयुका पहले ही विनाश हो जाता है। तो अनन्त तो जन्म मरण किया और वहां भी ऐसी वेदनामें मरण हुए तो हे जीव! अब इस शरीरका क्या मोह करता, मोह छोड़कर आत्मा के सहज स्वभावकी उपासना कर।

(४०) **हिम, अग्नि व जलके मध्यमें अपमृत्यु**—अन्य भी अनेक कारण हैं जिन कारणों से आयु बीचमें ही नष्ट हो जाती है। जैसे बड़ी तेज ठंड पड़ रही है, शीत लहर चल रही है तो प्रायः अनेकों जीव उसमें मरण कर जाते हैं। भैया, ठंडकी वेदना गर्मीकी वेदनासे भी कठिन वेदना होती है। यद्यपि जब गर्मी आती है तो लोग कहते हैं कि गर्मीसे ठंड अच्छी होती है, मगर जब ठंडी होती तो कहते कि ठंडसे तो गर्मी अच्छी होती है। अगर कोई तुलनात्मक अध्ययन करे तो वह जान सकता है कि गर्मीके समय के दुःखसे ठंडके समयका दुःख अधिक कठिन होता है। उसका एक सैद्धान्तिक प्रमाण यह है कि ऊपरके ३-४ नरकोंमें वह गर्मीकी वेदना बतायी गई और नीचेके नरकोंमें उतरोत्तर कठिन कठिन शीतकी वेदना बतायी गई है। ७वें नरकमें जो कुछ नारकी रहते हैं वे महा शीत वेदनायें सहते रहते हैं। ७वें नरकमें प्रकृत्या ही दुःख सबसे अधिक हैं, तो उससे यह ज्ञात हुआ कि शीतकी वेदना कठिन वेदना होती है, तो अनेक लोग शीत, पाला पड़नेसे मर जाया करते हैं, अनेक लोग अग्निसे मर जाया करते हैं। घरमें अग्नि लग गई, निकलनेका कोई रास्ता ही नहीं है, निकल ही नहीं सकता है, अथवा रास्ता भी है, देखते भी हैं मगर अग्नि तो लगी पड़ी है, उसमें निकल ही नहीं सकता है। जंगलमें अग्नि लग गई, उसमें फंस गए, इस तरहसे मर जाते हैं, अनेक पशुपक्षी मर जाते हैं। मनुष्य भी फंसे हों तो मर जाते हैं, तो कोई अग्निदाहसे भी मरण कर जाते हैं। कितने ही लोग तो स्त्री या पतिके वियोगपर दाह संस्कारमें कूदकर मर जाते हैं, इस प्रकारके मरणको सती होना कहते हैं, तो यह बात गलत है, क्योंकि इस तरहके मरणसे आत्माका कुछ भी कल्याण नहीं है, अकल्याण है, खोटी गति मिलती है। और इतना मोह किस कामका पर जीवसे कि अपने आत्माका भी घात कर लिया जाय। सब परद्रव्य हैं, कोई जीव किसीका नहीं है। ज्ञानमें, ध्यानमें, विवेकमें आना चाहिए, मगर कुबुद्धि होनेसे ऐसी पृथा थी, तो वह भी अपघात है, अपमृत्यु है। तो अग्निसे आयु बीच में ही नष्ट हो जाती है, जलमें पड़नेसे भी आयु नष्ट हो जाती है। किसीको समुद्रमें

Vetangi

http://sahjanandvarnishastra.org/
गिरा दिया या नदीमें जा रहे थे तो एकदमसे बाढ़ आ गई, तो उस बाढ़में मर गए। तो जलमें पड़नेसे भी अपमृत्यु हो जाती है।

(४१) **पर्वतारोहण, गिरिपतन, वृक्षपतन अंगभंग आदिसे अपमृत्यु**—किसीकी अपमृत्यु पर्वतपर चढ़नेसे हो जाती है, चढ़ रहे हैं, हांफते जा रहे हैं, कहीं श्वांस चलते-चलते ही रुक गया तो वहीं अपमृत्यु हो जाती है। कितने ही लोग पर्वतसे गिरते समय मर जाते हैं, गिरतेमें भी श्वांस तेज चली और दम टूट गई, अथवा अनेक लोग पर्वतसे गिरनेमें धर्म मानते हैं। जैसे काशी करवट कुछ दिन बहुत प्रसिद्ध रहा याने ऊंचे पहाड़ पर चढ़ गए और नीचे कूद गए, जहां नीचे कूदते ही शरीरके टुकड़े-टुकड़े हो जाते हैं, तो पर्वतसे गिरनेमें आयुका बीचमें विनाश हो जाता है। वृक्षपर चढ़ने और गिरनेसे आयुका बीचमें ही विनाश हो जाता है। शरीर भंग हो जानेसे आयुका विनाश हो जाता। किसी तरह शरीरका भंग हो गया तो प्राण भी निकल जाते हैं। कभी रस-संयोगसे पारा या कोई रस खा लिया तो उससे ही मरण हो जाता है। किसीका अन्याय कार्य व्यभिचार चोरी आदिकके निमित्तसे आयुका विच्छेद हो जाता है, लड़ाई हुई अथवा चिंता ही चिंता कर रहा तो दिल धड़क गया या रक्त बंद हो गया या किसीने मार डाला तो ऐसे इन कारणोंसे बीचमें आयुका विच्छेद हो जाता है और इस तरह कुमरण हो जाता। इस संसारमें भ्रमण करके अनन्त जन्म तो पाये, मरण किया और वह भी खोटे मरणसे मरे तो अब उस शरीरमें अब तू स्नेह क्यों करता? जो शरीर रहनेका नहीं, जो शरीर तेरे स्वरूपसे अत्यन्त विरुद्ध है उस शरीरके प्रति ऐसी ममता करके तू शरीरको पाता रहता है और अपनी मृत्यु करता रहता है बुरी तरहसे। इस कारण हे मित्र, ऐसे तिर्यञ्च मनुष्य जन्ममें तू बहुत काल उत्पन्न हो होकर कुमरणको प्राप्त किया सो अब इस शरीरमें ममत्वबुद्धि न कर।

(४२) **देहके ममत्वमें शान्तिकी असंभवता**—अपमृत्यु होती है दो भवोंमें मनुष्य और तिर्यञ्चमें। मनुष्योंमें भी भोगभूमिके मनुष्योंकी अपमृत्यु नहीं होती जो ऊंचे शलाका पुरुष हैं उनकी अपमृत्यु नहीं होती। जो मोक्ष जाने वाले पुरुष हैं उनकी अपमृत्यु नहीं होती। और तिर्यञ्चोंमें भोगभूमिया तिर्यञ्चोंकी अपमृत्यु नहीं होती। इसके अतिरिक्त सभी मनुष्योंकी और सभी तिर्यञ्चोंकी अपमृत्यु संभव है। हां देव और नरकभवमें अपमृत्यु कभी नहीं होती। वे पूर्ण आयुको भोगकर ही मरण करेंगे। सो वहां भी देखो नारकी तो यह चाहते हैं कि हम जल्दी मर जायें क्योंकि उनसे वहांका दुःख सहा नहीं जाता। वे मरण चाहते हुए भी नहीं मर पाते अंतिम आयुसे पहले। वे यों देख रहे और

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

देव लोग चाहते हैं कि मेरी कभी मृत्यु न हो, देवोंके कितना सुखसाधन है कि जहां विक्रियाका शरीर है खान पानका कोई कष्ट नहीं। भोजन करते नहीं। हजारों वर्षोंमें कभी भूख लगती है तो कंठसे अमृत झड़ जाता है। शारीरिक कोई वेदना होती नहीं, तो ऐसे सुन्दर जीवनको देव क्यों छोड़ना चाहेगा ? तो वे देव चाहते हैं कि मेरी मृत्यु न हो, लेकिन समय उनका आ जाता है, बीचमें वे नहीं मरते, फिर भी समय तो आ ही जाता है और उस समय जब मृत्यु होती है तो उससे पहले से ही इनके बड़ी वेदना चलती है कि हाय अब हम मरने वाले हैं और मर करके हमको मनुष्य या तिर्यञ्चोंके खोटे शरीर में जन्म लेना पड़ेगा। वे जानते हैं कि खून, पीप, मल, मूत्र आदिक महा अपवित्र चीजों से भरे देहमें रहना पड़ेगा। वे इस तृष्णासे दुःखी रहा करते हैं। तो चारों ही गतियोंमें कोई भी जीव अपनेको सुखी शान्त अनुभव नहीं कर पाता। इन सबका कारण क्या है कि जो शरीर पाया है उस शरीरमें ममता बसायी है, यह मैं हूं, सो यह आत्मा तो स्वयं परमेश्वर है, तो अपने उस ऐश्वर्यके प्रतापसे जब यह शरीर चाहता है तो इसको शरीर मिलते रहते हैं।

(४३) **आत्मीय ऐश्वर्यके दुरुपयोगमें शाश्वत आनन्दकी अनुपलब्धि**—इस जीवने अपने ऐश्वर्यका दुरुपयोग किया। यदि यह शरीरसे निराले ज्ञानमात्र अंतस्तत्त्वकी सुध लेता और इस ही सहज ज्ञानस्वरूमें यह मैं हूं ऐसा अनुभव करता तो इसको फिर शरीर न मिलते, मुक्त हो जाता। सदाके लिए आत्मीय आनन्दका अनुभव करता। तो यह अपराध किस का है जो संसारके अनेक शरीरोंका ग्रहण करना पड़ता और उन शरीरोंसे बिदा होना पड़ता वह अपराध मूलमें जीवका है, सो इस संसारमें इस प्राणीकी आयु तिर्यंच और मनुष्य पर्यायमें अनेक कारणोंसे बीचमें ही छिद जाय, कुमरण हो जाय तो उस मरणसे जीवको तीव्र दुःख होता है। खोटे परिणामसे मरा तो दुर्गतिमें जायगा। तो ऐसे यह जीव जन्म लेता, मरण करता, बारबार दुःख पाता रहता है। इसी कारण से तो दयाके वश होकर आचार्यदेव बार बार यह समझाते हैं कि तू संसारसे रत्नत्रयके प्रताप द्वारा मोक्ष जायगा, सो अपने आपके उस सहज सम्यक्त्व, ज्ञान चारित्रभावको अपना और अपने स्वरूपमें मैं यह हूं, यह ही मेरा सर्वस्व है, यह ही मात्र अनुभव कर। इस अनुभवके प्रतापसे तेरे कर्म अपने आप ही खिरेंगे और जन्म मरण भी कटेंगे। सर्वकर्मविमुक्त होकर अनन्तकालके लिए तू सिद्ध प्रभु रहेगा जहां किसी भी प्रकारका कष्ट नहीं हो सकता। तो संसारसे मुक्त होनेका उपाय है भावोंकी विशुद्धि। उसीका ही भावपाहुड़ ग्रन्थमें वर्णन किया जा रहा है।

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

छत्तीस तिण्णि सया छावट्ठिसहस्सवारमरणाणि ।
अंतोमुहुत्तमज्झे पत्तोसि निगोयवासम्मि ॥२८॥

(४४) **परमार्थभावके अग्रहणमें निगोदवासके जन्ममरणके कष्ट**—पहले कुछ गाथाओंमें कुमरणका वर्णन चला था। जो जीव परमार्थ ज्ञायकस्वभावसे अनभिज्ञ हैं और बाह्य देहादिकमें आत्मत्वका अहंकार रखकर व्रत तप आदिक भी करते हैं वे जीव नरक निगोद आदिक चतुर्गतियोंके दुःखको भोगते हैं। अब यहां उस निगोदिया जीवके जन्ममरणके दुःखका वर्णन किया जा रहा है। हे आत्मन्! निगोदवासमें एक अंतर्मुहूर्तमें ६६३३६ बार जन्म मरण किया है। इस गाथामें निगोद शब्द दिया है और जिसकी संस्कृत छाया निगोत शब्द बताया है। उस से ही सिद्ध होता है। निगोद तो साधारण वनस्पतिका नाम है और निगोत कहनेसे जितने भी लब्ध्यपर्याप्तक जीव हैं दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चारइन्द्रिय, ओर पञ्चेन्द्रियमें, वे सब निगोतमें आ जाते हैं। तो निगोदमें एक श्वांसमें १८ भाग प्रमाण आयु पाते हैं और ऐसी ही आयु सभी लब्ध्यपर्याप्तकोंकी होती है। इससे इस गाथाके अर्थमें निगोत शब्द कहकर सिर्फ साधारण वनस्पति लिया जाय तो वह भी युक्त है और निगोत शब्द कहकर सभी लब्ध्यपर्याप्तकोंको लिया जाय तो वह भी युक्त है। तब साधारण वनस्पतिमें कितने ही वर्ष रह सकते हैं। रहेंगे वे एक श्वांस में १८ बार जन्ममरण करने वाले, मगर उसकी परम्परा चले तो अनन्त काल तक चलती है। अनादिसे अब तक कितने ही जीव साधारण वनस्पतिमें रहकर निगोदका दुःख पा रहे हैं। तो निगोदमें एक श्वांसके १८वें भाग प्रमाण आयु है। तो एक मुहूर्तमें कितने कहलाये? ६६३३६ बार क्योंकि एक मुहूर्तमें ३७७३ श्वांस निकलते हैं। ये श्वांस मुखसे लिए जाने वाले नहीं हैं किन्तु नाड़ीके एक बारके फड़कनेको एक श्वांस बोलते हैं, अब उन ३७७३ श्वांसोंमें जो एक अन्तर्मुहूर्त बनता है उनमें ३६८५ श्वांस निकलते हैं और एक श्वांसका तीसरे भागसे ३६३३६ बार निगोदमें जन्म मरण होता याने ये जो जन्म मरण बतलाया है सो पूरे मुहूर्तके नहीं हैं, किन्तु एक श्वासमें कुछ कम रह जाते हैं उतने बार यह जीव सम्यग्दर्शनका भाव पाये बिना मिथ्यात्वके उदयवश दुःख सह रहा है। यहां जो ३६३३६ बार एक अन्तर्मुहूर्तमें जन्ममरण कहा है सो पूरा अन्तर्मुहूर्त लेकर सिर्फ ८८ श्वांस घटाकर मुहूर्त लेना। ऐसी सूक्ष्म अन्तरकी भी तो बात है इसलिए यह बात प्रसिद्ध है कि एक अन्तर्मुहूर्तमें निगोदका ६६३३६ बार जन्म मरण होता है।

वियलिदए असीदी सट्ठी चालीसमेव जाणेह।

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

पंचिंदिय चउवीसं खुद्दभवंतो मुहूत्तस्स ॥२६॥

(४५) **निगोतके अन्यजातिक जन्ममरणोंका विवरण**—ऊपरकी गाथामें निगोद शब्द कहा है, उसका अर्थ निगोत लिया जाता है, तो उसमें सभी लब्ध्यपर्याप्तकोंके जन्ममरण शामिल किए जाने चाहिए और इस तरह एकेन्द्रियके कितने और दो इन्द्रिय आदिकके कितने जन्म मरण है उस हिसाबसे गणना बतलाते हैं। अन्तर्मुहूर्तके इन भवोंमें जो ६६३३६ कहा गया है उनमें दो इन्द्रियके क्षुद्रभव ८०, तीनइन्द्रियके क्षुद्रभव ६० और चार इन्द्रियके छुद्रभव ४० और पञ्चेन्द्रियके क्षुद्रभव २४ शामिल हैं। शेष साधारण वनस्पतिके हैं। तो अब सिद्धान्तके अनुसार यह बात रही कि क्षुद्रभव एकेन्द्रियमें ६६१३२ होते हैं और वे ११ स्थानोंमें एक एकके ६-६ हजार भव हैं। ११ स्थान बताये गए हैं—(१) वादर पृथ्वी (२) सूक्ष्मपृथ्वी (३) वादर जल (४) सूक्ष्मजल (५) वादर तेज (अग्नि) और (६) सूक्ष्म अग्नि। (७) वादर वायु (८) सूक्ष्म वायु (९) वादर साधारण निगोद अथवा साधारण वनस्पति और (१०) सूक्ष्म साधारण निगोद और (११) सप्रतिष्ठित वनस्पति। तात्पर्य यह है कि लब्ध्यपर्याप्तककी दृष्टिसे यह प्रकरण चल रहा है। केवल निगोदकी बात कही जाय तो वह तो सिर्फ साधारण वनस्पतिमें मिलती है। साधारण निगोद है, पर लब्ध्यपर्याप्तककी दृष्टिसे इस वर्णनको करें तो उसकी व्यवस्था इस प्रकार है। केवल साधारण वनस्पतिकी दृष्टिसे भी ऐसी ही व्यवस्था चलती है। क्योंकि उसमें यदि अनन्तकाल व्यतीत हो जानेपर सभीको मिलाया जाय और इस तरह अनेक भव बदल जायें तो किस तरहसे ये जन्म मरण होते हैं उसका संकेत यहां दिया गया है।

रमणत्तये अलद्धे एवं भमिओसि दीहसंसारे।
इय जिणवरेहिं भणियं तं रयणत्तं समायरह ॥३०॥

(४६) **रत्नत्रयकी अप्राप्तिसे दीर्घसंसारमें संसरण**—हे आत्मन्, ऐसे ऐसे खोटे भवोंको इस जीवने क्यों धारण किया, क्यों इतना कठिन दुःख भोगा? तो उसका कारण है सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र रूप रनत्रयका अलाभ। उस रत्नत्रयके न पानेसे इस दीर्घ अनादि संसारमें यह जीव ऐसा कुमरण करके भ्रमण करता है। सो अब हे विवेकीजनो, उस रत्नत्रयका आचरण करो जिसके प्रसादसे, ये कुमरण सब दूर हो जाते हैं। जीव है उपयोग मात्र तब यह उपयोग जब अपने आपके स्वरूपके अभिमुख चलता है, मैं हूं यह और उस ही को जानना और उस ही ओर उपयुक्त रहना, ऐसे रत्नत्रयकी विधिसे उपयोगकी प्रवृत्ति होती है तब यह कुमरणसे दूर होता है और जब यह उपयोग

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

बेहोश हो जाता देहादिक बाह्य पदार्थोंमें ही यह मैं हूं ऐसा ही अनुभव करता है तब यह जीव दुःखी रहता है और नाना कुमरण करता रहता है। सो हे भव्य जीव अब उस रत्नत्रयको धारण कर जिस रत्नत्रयके पाये बिना ऐसे खोटे मरणोंसे मरण कर जन्म लेकर अनन्तकाल दुःखमें व्यतीत किया सो वह रत्नत्रयका स्वरूप क्या है और उसके पालनेकी विधि क्या है सो यह सब जिनवर देवके आगममें समझ लेना क्योंकि प्रभुने जो कुछ दिव्यध्वनिमें बताया, जिसे गणधरोंने गूंथा और जो गणधरोंने गूंथा उसी परम्परा का अब तक आचार्यदेवने वर्णन किया सो उससे स्वपर स्वरूप समझकर, परसे उपेक्षाकर स्वके अभिमुख होना यह ही रत्नत्रयका पालन है।

अप्पा अप्पम्मि रओ सम्माइट्ठी हवेइ फुडु जीवो।
जाणइ तं सण्णाणं चरदिहं चारित्तमग्गो त्ति ॥३१॥

(४७) **निश्चयरत्नत्रयका निर्देशन**—इस गाथामें रत्नत्रयका स्वरूप बताया है। रत्नत्रय मायने सारभूत तीन बातें, आत्माके लिए सारभूत अपना आत्मा ही हो सकता है, क्योंकि इसका जितना भी भविष्य है, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र अथवा किसी भी प्रकारका दर्शन, ज्ञान, चारित्र हो, उसपर निर्भर है। यदि मिथ्यादर्शन, ज्ञान, चारित्ररूप प्रवर्तन हो तो उसका खोटा भविष्य है और सही प्रवर्तन हो तो उसका समीचीन भविष्य है। तो यहां इस रत्नत्रयका स्वरूप बतला रहे कि जिस तरहसे जीवके जन्म-मरणके संकट टल जाते हैं। जो आत्मा आत्मामें रत होकर यथार्थ स्वरूपका अनुभव कर आत्मरूप होता है याने आत्मस्वरूपकी श्रद्धा करता है, ज्ञानमात्र ही अपनेको अनुभवता है वह जीव सम्यग्दृष्टि है। और उसकी इस आत्माभिमुख दृष्टिको सम्यग्दर्शन कहते हैं, इस आत्माके जाननेको सम्यग्ज्ञान कहते हैं व ज्ञानमात्र आत्माको जानकर ज्ञानमात्र ही आचरण चलना, रागद्वेष न समा सकें, किन्तु केवल जाननहार ही रहे, इसे कहते हैं सम्यक्चारित्र। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र परमार्थतः क्या है, इसका वर्णन इस गाथामें किया है। यह है निश्चयरत्नत्रय।

(४८) **निश्चयरत्नत्रय व उसका कारणरूप व्यवहाररत्नत्रय**—निश्चयरत्नत्रय जीव को सहसा प्राप्त नहीं हो पाता। उससे पहले कैसी योग्यता बनती है, क्या भूमिका होती है जिससे कि निश्चय रत्नत्रय पाया जा सके? तो उस भूमिकाको कहते हैं व्यवहाररत्नत्रय। व्यवहाररत्नत्रय आये बिना निश्चयरत्नत्रय न हो सकेगा। ऐसा प्रत्येक जीवको क्यों होता है क्योंकि सभी जीव मिथ्यादृष्टि होते हैं, उनकी दृष्टि बाह्य पदार्थोंकी ओर गड़ी हुई है। तो कुछ तो भाव उनके बदलेंगे। पौरुष करें, ज्ञानाभ्यास करें, चिंतन मनन करें,

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

पर उपदेश सुनें, ये बातें तो आती ही हैं। अशुभोपयोगके बाद रत्नत्रय किसीको नहीं हुआ। जिसको रत्नत्रयका लाभ हुआ है तो शुभोपयोगके बाद हुआ। यद्यपि शुभोपयोग ही रत्नत्रय नहीं है, किन्तु शुभोपयोगसे गुजरे बिना रत्नत्रयका लाभ भी किसीको नहीं हुआ है। तो इसी कारण व्यवहार रत्नत्रय होता है और वह निश्चयरत्नत्रयका कारण है। निश्चयरत्नत्रय होनेपर जो प्रवृत्ति होती है उसे भी व्यवहार कहते हैं। किन्तु यहां व्यवहाररत्नत्रयके कारणत्वमें उस व्यवहार रत्नत्रयकी चर्चा नहीं की जा रही है। जो प्रवृत्ति श्रद्धान, ज्ञान, आचरणरूप निश्चयरत्नत्रय होनेसे पहले हुआ करता है उसे व्यवहाररत्नत्रय कहते हैं। तो व्यवहाररत्नत्रय कारण है और निश्चयरत्नत्रय कार्य है। कारण और कार्य उपादान कारणमें कहा गया है उसके सद्भावरूपसे शुद्धोपयोग न होगा, किन्तु उसके अभावरूपसे शुद्धोपयोग होगा, भैया, ऐसी वार्ता सभी जगह की जा सकती है। घड़ेका उपादान कारण वह मिट्टी है। तो कोई कहे कि मिट्टीका परिणमन तो और तरहका है, घड़ेका परिणमन और तरहका है, उसका मिट्टी कारण कैसे बन जायगा? तो जो उपादान कारण होता है उसकी जो विशिष्ट पर्याय है उसका अभाव होकर नवीन पर्याय हुआ करती है, इसीको कहते हैं गुजरना। शुभोपयोगमें गुजरे बिना रत्नत्रय नहीं मिलता है। रत्नत्रय भाव शुद्धभाव है। शुभोपयोग भाव अन्य भाव है, मगर जो अनेक ज्ञानवासनामें लगे हुए जीव हैं उनकी प्रगति ही उस ढंगसे होती है। उसमें कुछ बड़प्पन बताकर आग्रह करना उचित नहीं है। यह तो एक विधि बतायी जा रही है कि जो जीव अज्ञानी है और अनेक वासनाओंमें रह रहा है वह किस-किस प्रकारसे निश्चयरत्नत्रयमें पहुंचता है। तो व्यवहाररत्नत्रय होता है कारण और निश्चयरत्नत्रय हुआ आगेका कदम।

(४६) **कार्यरूप व्यवहाररत्नत्रय व कारणरूप व्यवहाररत्नत्रय**—जीवादिक ७ तत्त्वोंके सम्बन्धमें श्रद्धान होना, देव, शास्त्र, गुरुके बारेमें श्रद्धान होना, यह सब व्यवहारसम्यग्दर्शन है, और जीवादिक पदार्थोंका ज्ञान होना व्यवहारसम्यग्ज्ञान है और ६ कायके जीवोंकी हिंसा टालना, विषय कषायके साधनोंको दूर करना यह व्यवहार सम्यक्चारित्र है। यह व्यवहार रत्नत्रय है। निश्चयरत्नत्रय होनेपर भी इस जीवका मन, वचन, काय कुछ न कुछ तो चलता ही है, सो इस निश्चय रत्नत्रयधारीका जो मन वचन कायका परिवर्तन है वह भी व्यवहार रत्नत्रय है। मगर कारणभूत व्यवहाररत्नत्रयका कार्यभूत अथवा उसके होने वाली प्रवृत्तिरूप व्यवहाररत्नत्रय अन्य। सो यहां पूर्वभावी व्यवहाररत्नत्रयकी चर्चा लेकर समझना कि निश्चयरत्नत्रय तो प्रधान है और व्यवहाररत्नत्रय

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

उस निश्चयरत्नत्रयको पानेके उपायका प्रयत्न है। यह व्यवहाररत्नत्र जब तक है तब तक उसके सम्यक्त्व नहीं, निश्चय सम्यक्त्व नहीं। वह भाव भी अभी संसारस्वरूप भाव है और इसलिए वह व्यवहार है, लेकिन वह निश्चयरत्नत्रयका साधन स्वरूप है। जैसे निश्चयरत्नत्रयके बिना व्यवहाररत्नत्रय संसारस्वरूप है, ऐसे ही यह भी समझ लीजिए कि व्यवहाररत्नत्रय पाये बिना निश्चयरत्नत्रयकी व्यक्ति होती नहीं है। और निश्चय-रत्नत्रय पा लेनेसे फिर व्यवहार रत्नत्रयमें जो कुछ वृत्ति चलती थी वह वृत्ति रहती नहीं है।

अण्णे कुमरणमरणं अणेयजम्मंतराइं मरिओसि।
भावहि सुमरणमरणं जरमरणविणासणं जीव! ॥३२॥

(५०) **परमार्थज्ञानभावके अभावमें कुमरणोंकी उपलब्धियां**—परमार्थस्वरूप भाव है आत्माका ज्ञानभाव। अपने आपके स्वरूपमें बस यह मैं ज्ञानमात्र हूं। ज्ञान सिवाय इसका कुछ स्वरूप नहीं है, ऐसा समझकर ज्ञानरूपमें ही अपने आपको समझता है यह है परमार्थ ज्ञानभावकी पकड़ है। यह परमार्थ ज्ञानभाव न रहा जिसके, उसके कैसे-कैसे जन्ममरण चलते हैं इसका वर्णन किया जा रहा था। तो बताया गया था कि परमार्थ ज्ञानस्वरूप भावके माने बिना इस जीवके निगोद जैसे दुःख होते रहते हैं और इस तरहसे अनेक जन्म जन्मान्तर पाकर अनेक कुमरण प्राप्त करते रहते हैं। तो हे जीव, परमार्थ ज्ञानभाव के पाये बिना अनेक जन्ममरण कर रहा। अब उस भावको प्राप्त कर जिस भावके पा लेनेसे जन्ममरण नहीं हुआ करते। वह भाव क्या है? वह भाव है शाश्वत जन्ममरण-रहित याने न था और हो गया ऐसा वह भाव नहीं अथवा है और मिटा ऐसा वह भाव नहीं है। उस भावका आश्रय करके जीवके जन्म मरणके संकट दूर होते हैं। ज्ञानशक्ति ज्ञानस्वभाव सदा है, उसपर जिसकी दृष्टि है उसका जन्म मरण अब भी न समझिये, भले ही जन्ममरण चल रहे हैं, मगर जन्ममरण रहित मात्र एक ज्ञानस्वभावका ही जिनके बोध चल रहा है उनको अमरपनेका अनुभव चल रहा है। सो इस अजर अमर परमार्थ ज्ञानभावके पाये बिना अनेक कुमरण किया।

(५१) **सप्तवश मरणोंमें से कुमरणको त्याग कर जन्मजरामरणविनाशक सुमरण-मरणकी भावनाका अनुरोध**—हे मुने! अब उस परमार्थभावको प्राप्त कर जिसके प्रतापसे कुमरण दूर होता है और सही मरण प्राप्त होता है। सम्यक् मरण है याने समाधिमरण और असमाधिमरण है कुमरण। तो असमाधिमरण हटे, समाधिमरण बने जिससे यह जीव सदा जन्म-मरण रहित हो जाय, यह बात समझनेके लिए सभी मरणोंका ज्ञान करना

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

होगा। तब उसमें यह छंटनी बनेगी कि यह मरण तो समाधिमरण है और यह मरण खोटा मरण है। तो भगवती आराधना सार आदिक ग्रन्थोंमें मरण १७ प्रकारके बताये गए हैं। उन मरणोंमें प्रथम मरण तो आवीचिका मरण कहा है, समुद्रके लहर जैसा मरण। याने प्रति समय जो आयुके निषेक गल रहे, जिसे लोग बड़े मौजसे कहते हैं कि अब हमारी इतनी बड़ी उम्र हो गई है, ऐसा जो प्रतिसमय आयुका गलना हो रहा, वह है आवीचिका मरण अर्थात् जीवका प्रतिसमय मरण चल रहा है। चाहे ऐसा कहा जाय कि यह १८ वर्षका बालक हो गया या यों कहा जाय कि यह १८ वर्ष मर चुका है, इन दोनोंका एक ही अर्थ है। तो ऐसा आवीचिका मरण सभी जीवोंके चल रहा। ऐसा ज्ञान करनेसे भी लाभ है कि मुझे प्रति समय समाधि चाहिए क्योंकि मेरा प्रतिसमय मरण हो रहा है। अब इस आवीचिका मरणके सिवाय जो और मरण कहे जायेंगे वे सब तद्भव मरणसे सम्बन्ध रखेंगे। प्रसंग यह चल रहा है कि इस संसारमें जीवने अनेक बार जन्म मरण किया, अनेक कुमरण किया। अब इस गाथामें कुमरण और सुमरण दोनों का संकेत किया गया है और मरणके १७ भेद बताये, तो आवीचिका मरण तो सर्व जीवोंके प्रतिसमय होता रहता है। जो आयुके निषेक खिर रहे हैं, प्रतिसमय एक एक निषेक खिरते हैं तो जो खिरा वह उस कालमें मरण है। इस तरह प्रत्येक जीव चाहे देवगतिका जीव हो, चाहे नरकगतिका जीव हो, चाहे मनुष्य या तिर्यंच हो सबके आवीचिका मरण चल रहा है।

(५२) **तद्भवमरण, अवधिमरण, आद्यन्तमरण व बालमरण**—दूसरा मरण है तद्भव मरण, उस भवका मरण। मनुष्यभवमें है तो इस शरीरसे जीवका निकल जाना यह मनुष्यभवका मरण है। जिस भवमें जीव है उस भवके देहको छोड़कर जीवके चले जाने को तद्भव मरण कहते हैं। तीसरा मरण है अवधिमरण। जैसे वर्तमान पर्यायका मरण हुआ ऐसे ही अगली पर्यायका मरण होवे तो अगले भवके मरणसे अवधि मरण होता है। वह यदि वर्तमान भवके बराबर है तो वह कहलाता है सर्वावधिमरण और यदि वर्तमान भवमरण कुछ कम बेशी ढंगका है तो वह कहलाता है देशावधि मरण। चौथे मरणका नाम है आद्यंत मरण, याने वर्तमान पर्यायका आयुकर्मका जैसी स्थिति आदिक थी वैसी अगली पर्यायें न आवें तो वह आद्यन्त मरण है। ५वां मरण है बालमरण। इन मरणोंका विवेक बालमरण और पंडित मरणमें चलता है। बालमरण ५ प्रकारके हैं—(१) अव्यक्त बालमरण, (२) व्यवहार बालमरण, (३) ज्ञान बालमरण, (४) दर्शन बालमरण और (५) चारित्र बालमरण। बालमरण नाम है बालकका, और बालकका अर्थ

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

शरीरकी अपेक्षा भी होता है, तथा ज्ञानदर्शन आदिककी अपेक्षा भी होता है।

(५३) **बालमरणके प्रकार**—बालक कहते हैं अपूर्णको। जिसका शरीर मामूली है, जवान न हो, अपूर्ण है तो वह शरीरसे बालक है, मगर ज्ञान नहीं है तो वह ज्ञानसे बालक है। इसी प्रकार जो-जो गुण नहीं हैं वै वे उस गुणकी अपेक्षा बालक हैं। व्यवहार बालमरणका अर्थ है कि धर्म, अर्थ, काम इन कार्योंको जो न जान सके और इनका आचरण करनेको जो समर्थ न हो ऐसा शरीर वाला जीव अव्यक्त बाल कहलाता है और अव्यक्त बालके मरणको अव्यक्त बालमरण कहते हैं। व्यवहार बालमरण किसे कहते हैं? जो लोकको नहीं जानता, लोकव्यवहारको नहीं जानता, तथा बालक अवस्था हो तो वह व्यवहार बाल है। यह बालक अवस्था न सही, किन्तु लोकव्यवहारमें अथवा शास्त्र में अज्ञान है तो वह कहलाता है व्यवहार बाल और ऐसे प्राणीके मरणको व्यवहार बालमरण कहते हैं। बालमरण क्या है? जो पुरुष ज्ञानमें बच्चा है याने वस्तुके यथार्थ ज्ञान से रहित है वह ज्ञानबाल कहलाता है और ज्ञानबालके मरणको ज्ञानबालमरण कहते हैं। दर्शनबालमरण क्या है? जो जीव मिथ्यादृष्टि हैं, तत्त्वज्ञानसे रहित हैं वे कहलाते हैं दर्शनबाल। याने सम्यक्त्वके बारेमें तो वह बच्चा है, ऐसे दर्शनबालके मरणको दर्शनबालमरण कहते हैं। चारित्र मालमरण क्या है कि जो मनुष्य चारित्रसे रहित है वह चारित्रमें बाल कहलाता है। यों चारित्ररहित प्राणीके मरणको चारित्रबालमरण कहते हैं। तो यहां अवस्थासे बालकके मरणका कोई प्रकरण नहीं है, किन्तु जो इन गुणोंमें बाल है वह बाल कहलाता और उसका मरण बालमरण कहलाता। उक्त इन गुणोंमें भी प्रधानतया दर्शनबालमरणका प्रकरण चलता है। जिसके सम्यग्दर्शन नहीं है वह अज्ञानी पुरुष बाल कहलाता और जिसके सम्यक्त्व नहीं है वह सभी दृष्टियोंसे बाल है। चारित्रका ज्ञानका कोई प्रसंग ही नहीं। तो जो सम्यक्त्वहीन है ऐसे बालके मरणको बालमरण, दर्शन बालमरण कहते हैं। बालमरण मायने अज्ञानी जीवका मरण दो तरह से होता है—(१) अनिच्छाप्रवृत्त और (२) इच्छाप्रवृत्त। कोई उपद्रव ही आ गया—अग्निका, शास्त्रका, विषका, जलका, कहींसे गिर पड़नेका या बड़ी तेज सर्दी गर्मीका कि जिसमें मरण करना पड़ रहा तो उस मरणको चाह नहीं रहा यह जीव, फिर भी कर रहा है तो यह कहलाता अनिच्छाप्रवृत्त मरण। और कभी अज्ञानी जीव इच्छा करके मरे तो वह कहलाता है इच्छाप्रवृत्तमरण।

(५४) **पंडितमरण व पंडितमरणके प्रकार**—छठवें मरणका नाम है पंडितमरण। पंडितमरण चार प्रकारका है—(१) व्यवहारपंडितमरण, (२) सम्यक्त्वपंडितमरण, (३)

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

ज्ञानपंडितमरण और (४) चारित्रपंडितमरण। जो पुरुष लोकव्यवहारमें प्रवीण है अथवा दर्शनशास्त्रमें प्रवीण हैं वे हैं व्यवहारपंडित, और व्यवहार पंडितके मरणको व्यवहार पंडितमरण कहते हैं। यहां अज्ञानी और ज्ञानीका कोई भेद नहीं है। व्यवहारपंडित है चाहे वह ज्ञानवान हो अथवा ज्ञानरहित हो, जो लोकव्यवहार और शास्त्रव्यवहारमें चतुर है उसके मरणका नाम है व्यवहारपंडितमरण। सम्यक्त्वपंडितमरण क्या है कि जो जीव सम्यक्त्व सहित है, विवेकी ज्ञानी सम्यग्दृष्टि है उसके मरणको सम्यक्त्व पंडितमरण कहते हैं। जो जीव सम्यग्ज्ञान सहित हो वह ज्ञान पंडित हैं और ज्ञानपंडितके मरणको ज्ञानपंडित मरण कहते हैं। जो सम्यक्चारित्रसे युक्त है वह चारित्रपंडित है, चारित्रपंडित के मरणको चारित्रपंडित मरण कहते हैं। यहां पंडितमरणके चार भेद किए हैं जिनमें व्यवहार पंडितमरण तो बालमरणमें भी शामिल हो सकता है। एक तो था लोकव्यवहार और शास्त्रव्यवहारमें अनभिज्ञ और यह है लोकव्यवहार और शास्त्रव्यवहारमें कुशल, किन्तु यदि सम्यक्त्व नहीं है व्यवहार पंडितके तो इसमें और बालमरणमें कोई अन्तर नहीं आया, सो व्यवहारपंडितमरणको यहां प्रकरणमें नहीं लेना है। शेष तीन प्रकारके पंडितमरण प्रकृत पंडितमरणमें अभीष्ट हैं।

(५५) आसन्नमरण, बालपंडितमरण, सशल्यमरण, पलायमरण व वशार्तमरण—

७वें मरणका नाम है आसन्न मरण। जो मुनिसंघसे छूट गया, संघभ्रष्ट हो गया और स्वच्छंद अवसन्न स्वेच्छाचारी भी हो गया जिसके कि पार्श्वस्थ स्वछंद कुशील और संसक्त भी भेद हैं। ऐसे ५ प्रकारके भ्रष्ट मुनिका जो मरण है उसे आसन्नमरण कहते हैं। ८वें मरणका नाम है बालपंडित मरण। जो श्रावक सम्यग्दृष्टि हैं और व्रतवान है उसके मरणको बालपंडित मरण कहते हैं। ९वां मरण है सशल्यमरण। जहां मिथ्यादर्शन मायाचार और निदान इन शल्यों सहित मरण होता है उसे कहते हैं सशल्य मरण। १०वें मरणका नाम है पलाय मरण। जो मनुष्य शुभ क्रियावोंमें आलसी हो, व्रत तप आदिक क्रियावोंमें शक्तिको छिपाये अर्थात् उनका पालन न करे और ध्यानादिकसे दूर भागे तो मोक्षमार्गके रास्तेसे वह दूर भागा, इसे पलायमरण कहते हैं। ११वें मरणका नाम है वशार्तमरण, जो इन्द्रियके वश होकर मरण करे अर्थात् रागद्वेषके भावोंमें मरण बने तो वह है इन्द्रियवशार्तमरण। और जो साता असाताकी वेदनाके वश होकर मरण करे तो वह है वेदनावशार्तमरण। जो क्रोध, मान, माया, लोभ इन चार कषायोंके वश होकर मरण करे तो वह है कषायवशार्त मरण ओर हास्य विनोद कषायके वश होकर मरण करे तो वह है नोकषाय वशार्तमरण। पराधीन होकर विषय कषायके भावोंके व बाह्य

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

परिग्रहोंके आधीन बनकर ऐसा वशीभूत बनकर मरण करनेको वशार्तमरण कहते हैं।

(५६) **विप्राणमरण व गृद्धपृष्टमरण**—१२वें मरणका नाम है विप्राणमरण। जो पुरुष ऐसे समय जब कि अपने व्रत क्रिया चारित्रमें उपसर्ग आये, विघ्न आये और वहां भ्रष्ट होनेकी शंका आये ऐसे समयमें भ्रष्टता हो सकती है। तब विवश होकर अशक्त होकर अन्न जलका त्याग कर दिया तो वह विप्राणमरण है। अचानक कठिन उपसर्ग आ गया, ऐसी स्थितिमें अन्न जलका त्याग करके जो मरण किया जाता है उसे विप्राण-समरण कहते हैं। १३वें मरणका नाम है गृद्धपृष्टमरण। शस्त्र ग्रहण करके जो मरण होता है वह गृद्धपृष्ट मरण है। जैसे शस्त्र लेकर चल रहे हैं, किसीको मारनेके इरादेसे चल रहे हैं, शस्त्र बांधे हैं, किसीने इसपर हमला बोला या स्वयंका हार्टफेल हो गया व वह मर गया शस्त्रको ग्रहण करनेकी ही स्थितिमें, तो उस मरणको गृद्धपृष्टमरण कहते हैं।

(५७) **भक्तप्रत्याख्यानमरण, इंगिनीमरण प्रायोपगमनमरण व केवलिमरण**—१४वें मरण का नाम है भक्तप्रत्याख्यानमरण। यह संन्यास मरणमें शामिल है। क्रम क्रमसे विधि सहित अन्नका, जलका त्याग कर देनेको भक्तप्रत्याख्यानमरण कहते हैं। भक्त मायने भोजन आहार उसका प्रत्याख्यान मायने त्याग करना। जैसे पहले अन्नका त्याग, फिर दूधका त्याग फिर छांछका त्याग फिर जलका भी त्याग, इस तरह क्रमसे विधिवत् आत्म-ध्यानकी वृद्धिके लिए जो आहार जलका त्याग किया जाता है उसे भक्तप्रत्याख्यानमरण कहते हैं। १५वें मरणका नाम है इंगिनीमरण। जो संन्यासमरण धारण करे याने संन्यास से मरण करनेका नियम ले, उस त्याग पूर्वक भी चले, पर दूसरोंसे वैयावृत्य कराये ऐसे मरणको इंगिनीमरण कहते हैं। १६वां मरण है प्रायोपगमनमरण। जो जीव प्रायोपग-मन संन्यास लेता है और किसीसे वैयावृत्य नहीं कराता है और स्वयंकी वैयावृत्ति नहीं करता बताया गया है कि वहां काष्ठ लक्कड़की तरह देह पड़ा रहता है, उसके लिए कोई भाव भी नहीं करता। भाव है आत्मस्वरूपमें, तो ऐसे पुरुषके मरणको प्रायोपगमन-मरण कहते हैं। १७वें मरणका नाम है केवलिमरण। केवलज्ञान जिसे उत्पन्न हुआ, ऐसे अरहंत भगवानके चार अघातिया कर्म नष्ट होते ही मुक्ति प्राप्त होती है। उस मरणको कहते हैं केवलिमरण अर्थात् निर्वाण। ऐसे ये १७ प्रकारके मरण बताये गए हैं।

(५८) **सर्व मरणप्रकारोंका पञ्च प्रकारोंमें गर्भितपना**—इन मरणप्रकारोंको और भी सुगम विधिसे समझना है तो ५ प्रकारके मरणोंको समझ लेना, वे ५ प्रकार क्या हैं—(१) बालबालमरण, (२) बालमरण, (३) बालपंडितमरण, (४) पंडितमरण और (५)

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

पंडितपंडितमरण। बालबालमरण तो अज्ञानी मिथ्यादृष्टि जीवोंके मरणका नाम है। पहले जो १७ मरण बताये गए, उनमें कई मरण बालबालमरणमें आते हैं। जो अज्ञानी जन हैं, मिथ्यादृष्टि हैं उनके मरणको बालबालमरण कहते हैं। निपट बाल। बिल्कुल अज्ञानी मिथ्यादृष्टि जीवोंको बालबाल कहा गया है। बालमरण जो सम्यग्दृष्टि तो है, ज्ञानी है, विवेकी है, मगर किसी भी प्रकारका संयम नहीं ले सका है तो ऐसे पुरुषको कहते हैं। बालबाल तो न रहा, क्योंकि उसके मिथ्यात्वभाव नहीं है, पर संयम न होने से वह पंडित भी नहीं कहलाता। तो उसे कहते हैं बालमरण। बालपंडितमरण जिसके संयम पूर्ण नहीं है इस कारण तो वह बाल है, पर संयमासंयम हो गया है, इस कारण वह पंडित है। तो जो सम्यग्दृष्टि श्रावक गृहस्थ है वह कहलाता है बालपंडित और उसके मरणका नाम है बालपंडितमरण। पंडितमरण जो विद्वान् है जिसको सम्यक्त्व भी हुआ है। ज्ञानके प्रकाशको भी सम्हाले हुए है, ऐसे पुरुषको पंडित कहते हैं। और उसके मरणको पंडितमरण कहते हैं। पंडितपंडितमरण केवली भगवानके आयुक्षयको कहते हैं। पंडितमरण—जो सकल संयमी मुनि है वह पंडित कहलाता है। वहां बालकपन जरा भी नहीं रहा याने व्रत अधूरा कुछ नहीं है इसलिए संयमी मुनिको पंडित कहते हैं और उस पंडितके मरणको पंडितमरण कहते हैं। पंडितपंडितमरण केवली भगवानके आयुक्षयको कहते हैं। वह पूर्ण पंडित हैं, चारित्रमें भी पंडित हैं और केवलज्ञान हो जानेसे वह पूर्ण पंडित है, समस्त विद्याओंमें विशारद है, ऐसे केवली भगवानके आयुक्षयको याने निर्वाण को पंडितपंडितमरण कहते हैं। इन ५ मरणोंमें बालबालमरण तो अत्यन्त हेय है। वह अज्ञानका मरण है। शेष चार ज्ञानियोंके मरण हैं। सो उसमें भी बालमरण अव्रती सम्यग्दृष्टिके है। बालपंडितमरण पंचम गुणस्थान वाले श्रावकके है। पंडितमरण छठवें गुणस्थानसे लेकर ११वें गुणस्थान तकके जीवके हैं और पंडितपंडितमरण केवली भगवान के निर्वाण पहुंचनेका नाम है।

सो णत्थि दव्वसवणो परमाणुपमाणमेत्तओ णिलओ।
जत्थ ण जाओ ण मओ तियलोयपमाणिओ सव्वो ॥३३॥

(५९) भावलिङ्गकी प्राप्तिके बिना त्रिलोकमें सर्वत्र अनन्ते जन्ममरणोंका क्लेश—जैसे कि लोकभावनामें कहते हैं कि ज्ञान बिना यह जीव लोकके सर्वप्रदेशोंमें जन्ममरण कर चुका, वही बात यहां दर्शाते हैं कि जिसने परमार्थ भाव नहीं पाया, अपने अविकार सहज ज्ञानस्वभावका परिचय जिसको नहीं मिला, ऐसा जीव व्रत तप आदिक भी बहुत कठिन कर ले, लेकिन शरीर और वचनकी क्रियाका निरोध नहीं होता, किन्तु ज्ञान-

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

स्वरूपसे ज्ञानमें ही बस जाय, ऐसी स्थितिको परमार्थभाव कहते हैं। तो परमार्थ भावके बिना द्रव्यलिङ्गको धारण करके मुनिपना अपना प्रकट करते रहनेपर भी वह तीनों लोक के सर्वस्थानोंमें जन्ममरण करता है। ३४३ घनराजू प्रमाण लोकमें कोई ऐसा प्रदेश नहीं बचा जहां इस जीवने अनन्त बार जन्ममरण न किया हो। सो यहां यह बात दर्शायी गई है कि कोई जीव द्रव्यलिङ्गको भी धारण कर ले और भावलिङ्ग नहीं है अर्थात् अविकार ज्ञानस्वभावमें आत्मतत्वकी स्वीकारता नहीं है, परपदार्थ और परभाव में ही जिसको आत्मत्व जच रहा है वह पुरुष द्रव्यलिङ्गको, मुनिभेषको धारण करके भी भावलिङ्ग न होनेके कारण द्रव्यलिङ्गसे भी मुक्तिको प्राप्त न कर सका। सो यहां यह अपनेमें प्रयोग करना और समझना है कि चाहे धर्मके नामपर कितने ही पूजन, विधान उत्सव कर लिए जायें, पर यदि भावलिंग पाप्त नहीं हुआ है अर्थात् अपने अविकार सहजस्वरूपमें आत्मत्वका परिचय नहीं बना है तो लोकमें सर्वस्थानोंपर इसका जैसा जन्म मरण चलता रहा, वैसा ही भविष्यमें भी चलता रहेगा। खुद-खुदको न समझ सके तो वहां बड़ी विपत्तियोंका साधन जुट जाता है। तो हे आत्मकल्याणके इच्छुक जनो, अपने आपके स्वरूपकी समझ अवश्य ही बना लेना चाहिए, जिसके प्रतापसे जो भी व्रत तप आदिक आचरणमें आये तो वे सरल रीतिसे सुगम विधानतया पालन किए जा सकें।

कालमणंतं जीवो जम्मजरामरणपीडिओ दुक्खं।
जिणलिंगेण वि पत्तो परंपराभावरहिएण ॥३४॥

(६०) **भावलिङ्गकी प्राप्ति बिना जन्मजरामरणपीडाओंमें अनन्तकालयापन**—इस संसार में इस जीवके परम्परया भावलिंग न रहा अर्थात् जैसे अनेक निकट भव्य जीव इस परमार्थ ज्ञानस्वभावको पाकर सिद्ध हुए उस ज्ञानस्वभावकी दृष्टि नहीं हुई, इसे अनन्त काल पर्यन्त जन्म जरा मरणसे पीड़ित होता हुआ दुःखी ही अब तक चला आया है। द्रव्यलिंग तो धारण किया, पर वहां भावलिंगकी प्राप्ति न हुई, इस कारण द्रव्यलिंग धारण करने का, व्रत तप आदिक क्लेशोंका श्रम करनेका व्यर्थ ही समय गंया। यद्यपि द्रव्यलिंग भावलिंगका साधन है याने निर्ग्रन्थ निष्परिग्रह दशामें ही आत्माके ज्ञानमात्रभावकी दृष्टि और अनुभूति बनती है तो भावलिंगका साधन है द्रव्यलिंग। तो भी काललब्धि पाये बिना, आत्माके विशुद्ध परिणामोंकी लब्धि हुए बिना भावलिंगकी प्राप्ति नहीं हुई तो द्रव्यलिंग निष्फल ही तो रहा। इससे यह समझना चाहिए कि मोक्षमार्ग तो भावलिंग ही है, कभी ऐसा नहीं हुआ कि द्रव्यलिंग रखकर भावलिंगके बिना कोई कुछ भी मोक्षमार्गमें कदम रख सका हो। तो होता यही है, द्रव्यलिंग पहले धारण हो वहां भावलिंग

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainelibrary.org

आता है। कोई प्रश्न कर सकता कि द्रव्यलिंग पहले किस कारण धारण किया जाता ? उसका उत्तर यह है कि द्रव्यलिंग धारण न हो तो व्यवहारका लोप होगा। और द्रव्यलिंगसे ही सिद्धि नहीं है यह भी समझना जरूरी है इसलिए भावलिंगको प्रधान मानकर उस प्रधानभावकी ओर ही दृष्टि रखकर द्रव्यलिंगको सफल करनेका संदेश दिया गया है। अनेक मुनिजन द्रव्यलिंग धारण कर भी अज्ञानी हैं, पर किसी समय उनके ज्ञानदृष्टि जगे तो भावलिङ्ग बन जाता है। कितने ही बहुतसे सम्यग्दृष्टि ज्ञानी पुरुष हैं ऐसे जिनके वैराग्य जगा और उस भावलिंगके बाद जो कुछ वैराग्य आदि के वेगके कारण गुरुके पास जाना, उनसे निवेदन करना, इस प्रकारकी जो वृत्ति जगी वह हो रही है और गुरु महाराज भी कृपा करके उसे दीक्षा दे रहे हैं तो जहां वस्त्र उतारे, केशलोंच किया उस क्रियाके अन्दर ही वहां भावलिंग हो जाता है अर्थात् ७वें गुणस्थानके परिणाम हो जाते हैं। तो इस प्रकार द्रव्यलिंग वीतरागताका स्थान है और भावलिंग प्रधान मोक्षमार्गका अमोघ स्थान है, इससे द्रव्यलिंगकी भी आवश्यकता है और भावलिंगकी तो अनिवार्य आवश्यकता है ही।

पडिदेससमयपुग्गलआउगपरिणामणामकालट्ठं।
गहिउज्झियाइ बहुसो अणतभवसायरे जीवो ॥३५॥

(६१) भावलिङ्गकी प्राप्तिके बिना अनन्तभवसागरमें अनन्त पुद्गलढेरोंका अनन्तेदार गृहीतोज्झितपना—इस जीवने इस अपार संसार समुद्रविषे अनन्तकाल अनन्तानन्त परमाणुओं को अनन्तबार ग्रहण कर-करके छोड़ा है, याने भावलिंग पाये बिना जितने जगतमें पुद्गल स्कंध हैं उन सबको अनन्त बार ग्रहण किया और छोड़ा। कितने ही श्रम कर डाले तो भी दुःखोंसे मुक्ति प्राप्त न हुई। कितने हैं ये पुद्गलस्कंध, जिनका कोई परिमाण नहीं। लोकाकाशके जितने प्रदेश हैं उन प्रत्येक प्रदेशोंपर और पर्यायोंके आयुप्रमाण व कालके सब समयोंमें परिवर्तनसे जैसा योग और कषायके परिणमनका परिणाम मिला वैसी ही गति जाति आदिकमें नामकर्मके उदयसे इसने अवस्था पायी और ऐसा भ्रमण करते करते अनन्त अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी काल व्यतीत हुआ। इतने समयमें परमाणु स्कंधोंको अनन्तबार ग्रहण किया और छोड़ा, लेकिन अब तक भी इसको मुक्ति प्राप्त न हो सकी। इसका कारण यह है कि अपना अविकार जो सहज ज्ञानस्वरूप है उसपर इसकी दृष्टि नहीं हुई। उसको अपने रूपमें अपनाया नहीं।

तेयाला तिण्णि सया रज्जूणं लोयखेत्तपरिमाणं।
मुत्तूणट्ठपएसा जत्थ ण दुरुदुल्लिओ जीवो ॥३६॥

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

(६२) **भावलिङ्गकी प्राप्ति बिना समस्त लोकके समस्तप्रदेशोंपर अनन्तशः जन्ममरण**—यह लोक ३४३ घनराजू प्रमाण क्षेत्र वाला है। इस समस्त लोकके बीचमें गोस्तनके आकार याने गायमें थनोंके ढंगके ८ प्रदेश मध्यके बैठते हैं याने सर्व युगल दिशाओंसे दो प्रदेश बीचमें बैठते हैं। यों इन ८ प्रदेशोंको छोड़कर कोई प्रदेश ऐसा नहीं रहा जिसमें यह जीव अनंत बार नहीं जन्मा, नहीं मरा। उन ८ प्रदेशोंपर बीचके ८ प्रदेश अवगाह-कर उत्पन्न हुए हैं। तो परिवर्तनमें अन्य-अन्य प्रदेशोंकी बात निरखी जाती है। तो यहां कहा गया है कि सर्व प्रदेशोंमें यह जीव अनन्तबार जन्मा और मरा। उसका कारण यह है कि भावलिङ्ग उत्पन्न न हो सका। भावलिंगमें प्रधानता है इस स्थितिकी कि जहां उपयोगमें अविकार सहज ज्ञानमात्र अन्तस्तत्त्वमें यह मैं हूं यह प्रतीति रहे, और इस प्रकृतिकी दृढ़तासे, अनुभवसे समस्त बाह्य पदार्थोंका ख्याल दूर हुआ, विकल्प दूर हुआ, ऐसी निर्विकल्प समाधि नहीं प्राप्त की इस जीवने, इस कारण ३४३ घनराजू प्रमाण लोकमें यह अनन्त बार उन प्रदेशोपर जन्म मरण करता रहा। इस कथनमें क्षेत्र परि-वर्तनका संकेत मिलता है। क्षेत्र परिवर्तनमें लोकके मध्यके ८ प्रदेशोंपर जघन्य अवगाहना में आत्माके मध्यके ८ प्रदेश रहते हैं और उस प्रकार फिर क्षेत्र परिवर्तनमें आगे आगे बढ़ाया जाता है तो क्षेत्र परिवर्तनकी याद दिलानेके लिए यहां यह कहा गया है कि लोक के मध्यके ८ प्रदेशोंको छोड़ सभी प्रदेशोंपर इस जीवने अनन्तबार जन्म मरण किया। परिवर्तनमें भी पुनरुक्त अन्य सब प्रदेशोंकी गणना नहीं बतायी गई है।

एक्केक्कंगुलि वाही छण्णवदी होंति जाणमणुयाणं।
अवसेसे य सरीरे रोया भण कित्तिया भणिया ॥३७॥

(६३) **भावलिङ्गकी प्राप्तिके बिना अनन्ते व्याधिमन्दिर देहोंकी उपलब्धियां**—इस जीवने भावलिङ्ग नहीं पाया इससे अनन्त शरीर धारण करता रहा और इस शरीरमें बड़ी व्याधियां सही। एक मनुष्यके शरीरमें कितने घनांगुल प्रमाण क्षेत्र है। सो एक साढ़े तीन हाथका ही शरीर लीजिए, जैसा कि आजकल होता है। तो एक हाथमें २४ अंगुल होते हैं और २४×३=७२+१२=८४ अंगुल हुए। यह तो एक ओरकी लम्बाई है, और शरीर की चौड़ाई २४ अंगुल ही मानो तो ८४ | २४=२०१६ अंगुल हुए और उसकी मोटाई नापी जाय तो मानो १० अंगुल भी रखा तो करीब बीसजार अंगुल प्रमाण शरीर रहा और एक एक अंगुलमें ९६-९६ रोग होते हैं तो सारे शरीरमें कितने रोग होते हैं? करोड़ोंकी संख्यामें रोग निकलेंगे। ऐसे करोड़ों रोगोंसे भरा हुआ यह शरीर है, जिस शरीरको लोग अनन्त बार ढोते फिरे। यह जीव स्वभावतः विशुद्ध ज्ञानमात्र परमात्म-

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

तत्त्व है। पर अपने आपके स्वरूपको न जाननेके कारण निमित्तनैमित्तिक भाववश ये सारे उपद्रव बन गए हैं। तो इन उपद्रवोंसे मुक्त होना है तो उसका उपाय मात्र आत्म-स्वरूपका परिज्ञान है।

ते रोया वि य सयला सहियाते परवसेण पुव्वभवे।
एवं सहसि महाजस किं वा बहुएहिं लविएहिं ॥३८॥

(६४) **परवश मोही जीवों द्वारा अमित रोगोंके दुःखोंका सहन**—शरीरमें करोड़ोंकी संख्यामें रोग हैं। वे समस्त रोग पूर्वभवमें परवश होकर तूने सहे। आज जो भी छोटासा रोग आता है उसे यह जीव पहाड़सा समझ लेता है, पर इससे भी भयानक कठिन-कठिन रोग कितने भवोंमें इस जीवने सहे। उनके सामने यह क्या रोग है अथवा रोग क्या है आत्मामें ? शरीर पाया है, पुद्गल स्कंध है, उस ही का यह सब परिवर्तन है। आत्मा तो उससे निराला ज्ञानमूर्ति है, पर ऐसी बात कहना गप्प क्यों कहलाने लगती कि श्रद्धा नहीं है निजके ज्ञानमात्र स्वरूपकी उस तरहकी बुद्धि नहीं बनती, उपयोग भी नहीं बनता, इस कारण अनुभूति रहित, उपयोगरहित आत्माके स्वरूपकी बात कहना कि छलसे विषयभोगोंको भोगनेकी उमंग रखना सो उसकी बात गप्प कहलाती है। तो इस शरीरमें करोड़ों रोग हैं। उन रोगोंको हे मुने ! तूने पूर्वभवमें परवश होकर सहे हैं। जैसे मुनिको कोई रोग हुआ हो, कठिन वेदना हुई हो तो उसको याद दिलाया जा रहा है कि यदि शरीरमें अहंबुद्धि की, शारीरिक रोगोंसे घबड़ाया, संक्लेश परिणाम हुआ तो ऐसे ही रोग तू फिर सहेगा। बार-बार सहेगा, इस कारण तू शरीरसे दृष्टि हटाकर ज्ञानमात्र निज अन्तस्तत्त्वमें यह मैं हूं, ऐसा अनुभव कर। पराधीन होकर तो तू सारे दुःख सह लेता है, और यदि ज्ञानभावना करेगा, जो दुःख आया है उससे चिगेगा नहीं तथा आये हुए दुःखको स्ववश सह लेगा तो कर्मोंका नाश करके मुक्त हो जावेगा। इससे कोई दुःख आये, रोग आवे तो उसमें घबड़ा जाना यह बिल्कुल ही अनुचित है। कितने ही कठिन दुःख हों, कितने ही कठिन रोग हों, जिस कालमें देहरहित ज्ञानमात्र इस परमात्मतत्त्व को देख ले कोई तो उसकी सारी व्याधियां उपयोगसे तो तत्काल खतम हुई और पाप-रस खिर जानेसे उनमें भी खोटापन मिटकर भलाई आ जायगी। इससे हे मुने, रोग आनेपर तू इन नाना रोगोंके आधारभूत देहसे भी निराले अपने आपको देख ले।

पित्तंतमुत्तफेफसकालिज्जयरुहिरखरिसकिमि जाले।
उयरे वसिओसि चिरं णवदसमासेहिं पत्तेहिं ॥३९॥

(६५) **जीवोंका अशुचि गर्भमें आवास**—हे मुने ! तू ऐसे अशुचि उदरमें ९-१० महीने

Version 1

http://digambarjanandvarnishastra.org/

बसकर रहा है। मां के पेटसे निकला तो यह तो निकलना कहलाया, मगर जन्म तो तब ही से कहलाया जबसे मां के उदरमें यह जीव आया। सो कोई ८ माह, कोई ९ माह, कोई १० माह, इस प्रकार गर्भमें रहता है, सो वहां कैसी जगह रहा, जो कि सुननेमें भी एक रोमांच करता है। फिर रहनेकी बातका तो कहा ही क्या जाय ? वह उदर मलिन अपवित्र है जिसमें चित्तकी मलिनता, आंतड़ियोंसे भरा हुआ जहां मूत्रका झरना, रुधिर का झरना है, रुधिर न हो, मेद फूल जाये, ऐसा फेफसका होना है और जिस पेटमें कलेजा रहता है याने दक्षिण भागमें जलका आधारभूत जो मांसकी थैली है सो उस कलेजेमें यह जीव बसा। रुधिर और बहुतसा अपक्व मैला उससे मिला रहा और कफ रुधिर आदिक, लट आदिक जीवोंके समूह ये सब जहां पाये जायें, ऐसे पेटमें तू ८-९ माह बसा। तो इस देहसे तू क्या मोह रखता है ? यह देह ही दुखरूप है। इसके ही कारण नाना जन्ममरण करने पड़ते हैं, सो ये ही सब कष्ट हैं, उन कष्टोंसे तू हट और अपने अविकार ज्ञानस्वरूपको निरख।

दियसंगट्ठियमसणं आहारिय मायभुत्तमण्णांते।
छद्दिखरिसाण मज्झे जठरे वसिओसि जणणीए ॥४०॥

(६६) **उदरवासमें अशुचिताका पुनः दिग्दर्शन**—हे आत्मन् ! तू माताके पेटमें गर्भ-विषे रहा, सो माताका और पिताका जो मल है वमनका अन्न, अपक्व मल, रुधिरसे मिला ऐसे, पेटमें तू बसा। सो माताने अपने दांतोंसे चबाया और उन दांतोंमें लगा ठहरा जो जूठा भोजन था वह मांके उदरमें गया। उसका ही तूने रसास्वाद किया। याने गर्भमें रहकर तू ने खाया क्या ? वह चीज केवल उच्छिष्ट है। कुछ खानेको नहीं मिल रहा, मुखसे भी नही खाया गया। बाहरसे अशुद्ध अपवित्र वस्तु है, वही इसके नशाजाल से इसका प्रवाह होता गया तो उदरमें रहकर तेरा जो आहार रहा वह ऐसा अशुचि अपवित्र आहार रहा। परवश होकर कुछ भी जीवको सहना पड़ता है तो सह लेता है। आज बड़ी उम्र होने पर शरीरका बल प्राप्त होनेपर ऐसी बातको कोई नहीं सहन कर सकता। अभी जरा सा कूड़ा पड़ा हो कमरेमें तो झट नाक भौं सिकोड़कर अपना मन मलिन कर लेते हैं, और परवश उस माताके पेटमें कैसा अपवित्र स्थान फिर भी बैठा रहा और वहांके दुःख सहा। सो जो देहमें ममता रखता है वह पुरुष ऐसे शरीरोंको पाने मिटानेका सिलसिला बनाये रहता है और उस जन्ममरणमें ऐसे कठिन कठिन दुःख भोगने पड़ते हैं, इस कारण हे मुने तू सर्व दुःखोंके आधारभूत इस देह से ममता तज। यह देह तुझसे प्रकट भिन्न है, तू ज्ञानमात्र है, यह देह मूर्त है, इस मूर्त पदार्थसे हटकर तू

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

ज्ञानमात्र अंतस्तत्त्वमें आ और अपना यह दुर्लभ मानवजीवन सफल कर।

सिसुकाले य अयाणे असुईमज्झम्मि लोलिओसि तुमं।
असुई असिया बहुसो मुणिवर! बालत्तपत्तेण ॥४१॥

(६७) **शिशुपनके क्लेशोंका दिग्दर्शन**—हे मुनिवर! बहुत कठिनाईसे बड़े दुःखके साथ तू मांके पेटसे निकला, छोटी शिशु अवस्था पायी तो उस शिशु अवस्थामें, उस अज्ञानदशामें तेरेमें कुछ विवेक ही न रहता था। अगर सामने कोई अशुचि अपवित्र चीज मिले तो उसी को उठाकर खा लेता था या उस अशुचि चीज पर लेट जाया करता था, इससे और अज्ञानताकी बात क्या दिखाई जाय? बिल्कुल आसक्त था, कुछ भी कार्य न कर सकता था, अत्यन्त पराधीन था। तेरा ही कुछ पुण्यका उदय हुआ तो लोग तेरी संभाल करने लगे, अगर नहीं है पुण्योदय तो पड़े-पड़े चिल्लाता रहा और खोटी मौतसे मरण हो जाय तो तूने इस भवमें भी कौन सा आनन्द प्राप्त किया? जब शिशु रहा तो शिशु अवस्थामें भी तू ने कठिन दुःख पाया। यहां मुनिवर करके सम्बोधन किया गया है, सो उपदेश मुनिराजको प्रधानतया दिया जा रहा। जो लोग भावलिंगको छोड़कर भावलिनकी सुध ही न रखकर द्रव्यलिंगमें ममता रखते हैं और द्रव्यलिंगके नातेसे व्रत तपकी साधना करते हैं उन मुनिराजोंको यहां सम्बोधा गया है कि हे मुनिजन, तू बाह्य आचरण कर रहा है सो यह कौनसा बड़ा कार्य है, क्योंकि भाव बिना ये बाह्य आचरण सब निष्फल होते हैं और भावलिंग न पानेसे अनेक बार द्रव्यलिंग धारण करके भी ये ऐसे निष्फल रहे कि जिससे जन्ममरण रंच भी न कट सके और जन्ममरणका तांता बराबर चलता रहा। और वह कैसा जन्ममरण था सो एक इस मनुष्यभवके जन्ममरण से ही बताया जा रहा कि देखो—इस भवका ही जन्म कैसा रहा? जब मांके पेटमें आया तो चारों ओर अपवित्र घिनावना स्पर्श रहा। वह होता ही इस प्रकार है, पर बताया जा रहा है कि संसारमें भ्रमण करते हुए कैसी घटनायें घटती हैं। और यह भ्रमण बना है भावलिंगके पाये बिना, सो द्रव्यलिंगमें ममताको तज। यद्यपि द्रव्यलिंग पाये बिना भावलिंगका ग्रहण नहीं बन पाता। उपयोगमें अविकार सहज शुद्ध ज्ञानस्वरूपकी अनुभूति नहीं बन पाती, लेकिन द्रव्यलिंग तो एकदम परद्रव्य है। मूर्तिक शरीर है, पुद्गल स्कंध है, उसको अपनानेसे, उसकी ममता रखनेसे तो कुछ भी सिद्धि नहीं होती है। इससे द्रव्यलिंग एक बाह्य साधन मात्र जान और अपने आपके अन्तःस्वरूपका ग्रहण करनेमें उपयोगको जुटा। इस ज्ञानस्वरूपके ध्यानसे ही ये कर्म सब टूट जायेंगे। यह देह भी सदाके लिए विमुक्त हो जायगा और अनन्तकालके लिए यह जीव सहज परम आनन्दका

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

भोगने वाला बनेगा। इससे एक ही निर्णय रखना कि यह देह तो मेरे लिए कलंक है। इस देहमें फंस गया हूं। छोड़ा जा सकता नहीं। तो अब अन्य सर्व बातोंको त्यागकर इस देहसे भी ममता त्यागकर अपने सहज अविकार ज्ञानस्वरूपमें उपयोगी होना चाहिए।

मंसट्ठिसुक्कसोणियपित्तंतसवत्तकुणिमदुग्गंधं।
खरिसवसापुयखिब्भिस भरियं चिंतेहि देहउडं ॥४२॥

(६८) **अतिदुर्गन्धमय देहमें प्रीतिकी निरर्थकताका उपदेश**—हे मुने, तू इस देहरूपी घरको ऐसा विचार कि यह देह घर, यह देह कुटी अत्यन्त अपवित्र है। मांस, हाड़, वीर्य, खून, पित्त उष्ण विकार आंतड़ियां उतरना आदिक कर मृतक पुरुषकी तरह दुर्गन्ध वाला देह है। जैसे देहमें खूनसे मिला हुआ कच्चा मल है। पीप और मेंदासे भिड़ा हुआ लोहू और खून है, ऐसी इन मलिन वस्तुओंसे भरा हुआ यह देह है, ऐसे इस दुर्गन्धित देहसे ममताको छोड़ दो। संवेग और वैराग्यके लिए संसारका स्वभाव और शरीरका स्वभाव विचारा जाता है। संवेगके लिए, संसारसे हटनेके लिए और धर्ममें लगनेके लिए जगत का स्वरूप विचारना होता है और वैराग्यके लिए शरीरका स्वरूप, विचारा जाता है यह शरीरकी बात कही जा रही। जो शरीर बड़ा सुन्दर रूपवान दिखता है वह शरीर अत्यन्त ग्लानियुक्त वस्तुओंसे भरा हुआ है। सर्वप्रथम तो इसमें हड्डियां हैं, जैसी श्मशान में हड्डियां दिखती हैं वे ही हड्डियां इस शरीरमें हैं और उन हड्डियोंपर मांस लिपटा हुआ है, खून आदिक लिपटा है और ऊपरसे चाम ढका है। यदि चामसे यह देह मढ़ा हुआ न होता तो यह तो प्रकट भयावना लगता और इन सब वस्तुओंमें बुरी दुर्गंध होती। तो ऐसे दुर्गन्धित पदार्थसे भरा हुआ यह देह रूपी कूट है और जिसमें आतें उतर जायें, अनेक प्रकारके रोग हो जायें, कठिन रोग, जो ग्लानि करने वाले रोग हैं वे भी इसमें होते हैं। ऐसा यह दुर्गन्धमय देह है। मनुष्य खाता है तो वह खाना कम कच्चा रहा या कम पक्का रहा, उससे मिला हुआ सारा देह है अतः उससे दुर्गन्ध और भी बढ़ जाती है। ऐसे दुर्गन्धमय वस्तुओंसे भरे हुए इस देहमें हे मुनि तू क्या ममता करता है? जो मुनि साधु होकर अपने देसमें ममता करें कि मैं साधु हूं इस देहको निरखकर अपने में साधुपन सोचकर मौज मानना, भला समझना यह देहकी ममता है। और जीव भी तो इसी तरह ममता करते हैं देहको देखकर मैं इसका पिता हूं, मैं इस घर वाला हूं, मैं इस पदका हूं, मैं इतने धन वाला हूं, यह देहको देख कर ही तो सोचा जाता। यही तो देहको ममता है। तो कोई साधु हो जाय और उस देहमें ऐसी बुद्धि रखे कि यह मैं साधु बन गया तो वह देहकी ममता ही कर रहा है, सो जब तक देहमें ममता है तब तक

Report any errors at kkjain@gmail.com

http://www.jainkosh.org

मोक्षकी सिद्धि नहीं होती इससे हे मुने तू इस द्रव्यलिंगसे ममत्वको त्याग दे और अपने अविकार ज्ञानस्वरूप भावलिंगकी सम्हाल कर।

भावविमुत्तो मुत्तो ण य मुत्तो बंधवाइमित्तेण।
इय भाविऊण उज्झसु गंथं अब्भंतरं धीर ।।४३।।

(६९) **भावसहित परिग्रहत्यागकी सार्थकता**—जो मुनि भावके विकारसे अन्यविकार आदिकसे मुक्त हुआ है उसे ही मुक्त समझना चाहिए और जो मात्र बाह्य बान्धव परिवार मित्रादिकसे मुक्त हुआ तो वह वास्तवमें मुक्त नहीं है। यदि तद्विषयक मूर्छा त्याग दी तो वह मुक्त कहलायगा। वह बाह्य बांधव कुटुम्ब मित्रादिकको छोड़नेसे और निर्ग्रन्थपद धारण करनेसे मोक्षमार्गी न कहलायेंगे किन्तु अपने भीतरका ममत्वभाव न रहे, खोटी वासना न रहे तो उसे निर्ग्रन्थ कहियेगा और अगर रागद्वेष नहीं छूटा तो वह साधु नहीं, निर्ग्रन्थ नहीं, भीतरकी वासना छूटनेसे ही निर्ग्रन्थ कहलाता। इस कारण हे मुने द्रव्यलिंग तो धारण किया ही है याने सब परिग्रहोंको त्याग करके इस मुनिभेषको धारण किया ही है। अब भीतरमें रागद्वेषका परिहार करके तू वास्तविक मुनि बन।

देहादिचत्तसंगो माणकसाएण कलुसिओ धीर।
अत्तावणेण जादो बाहुबली कित्तियं कालं ।।४४।।

(७०) **महंतपुरुषोंके भी ज्ञान बिना कषायविघ्नका अनुपशमन**—अब यही उदाहरण देखे जा रहे हैं कि जिसने समस्त बाह्य पदार्थोंका तो त्याग कर दिया किन्तु भीतरमें विषय कषायोंकी वासना नहीं मिटी तो कितना ही काल व्यर्थ गया और वह ही यदि कोई सम्हल गया तो उसने अपना सुधार कर लिया और यदि कोई सम्हला ही नहीं, तो उसने अपना बिगाड़ कर लिया। यहां पौराणिक उदाहरण दे रहे हैं बाहुबलि स्वामीका, इस क्षेत्रका नाम है भरतक्षेत्र या भारतदेश। इसका भारत नाम क्यों पड़ा? तो ऋषभदेवके पुत्र भरतचक्रवर्ती हुए उनके नामपर भारतदेश या भारतवर्ष नाम पड़ा। उस समय भरतचक्रवर्तीका इस भारत क्षेत्रमें छहों खण्डोंपर राज्य था। ऋषभदेवके पुत्र भरत और बाहुबलि थे। भरत तो बड़े थे और बाहुबलि छोटे थे। भरत दूसरी रानीसे थे और बाहुबलि दूसरी रानीसे थे। वे दोनों अलग-अलग अपने देशका राज्य करते थे। अब भरतको चक्रवर्तीपना सिद्ध हुआ? उनके आयुधमें चक्ररत्न पैदा हुआ। यह महान सम्राट होनेकी पहिचान हुई। जब उन्होंने अपनी सेना सहित छहों खण्डोंमें बिहार किया और जो शत्रु वशमें न हुए थे उन्हें वश किया। छहों खण्डमें विजय प्राप्त करके जब वह अयोध्यामें आये तो उनका चक्ररत्न अयोध्यानगरीमें प्रवेश ही नहीं कर रहा था। वहां

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

पूछा गया कि अभी कौन सा राजा जीतनेके लिए बचा है क्योंकि चक्ररत्न अयोध्या नगरी में प्रवेश नहीं कर रहा तो वहां बताया गया कि अभी आपके भाई बाहुबलि शेष रह गए हैं जिनको आपने जीता नहीं। तब भरतने बाहुबलिके पास पत्र भेजा कि तुम मेरी शरणमें आवो। तो बाहुबलिने उत्तर दिया कि हम भी ऋषभदेवके पुत्र हैं ओर तुम भी। इसमें एक दूसरेके आधीन होनेकी बात ही क्या है? हां बड़े भाई होनेके नातेसे हम आपके सामने नम्रीभूत हैं, मगर राज्यपदके नातेसे हम आपके आगे नहीं झुकेंगे। बस दोनोंमें युद्धकी तैयारी हो गई। उस समय दोनों राजाओंके मंत्रियोंने मिलकर विचार किया कि इस युद्धमें तो हजारोंकी जान जायगी सो कोई ऐसा उपाय बनाया जाय कि इन दोनोंके बीचमें युद्ध भी सिद्ध हो जाय और लोगोंका खून भी न बहे। तो एक उपाय सोचा कि भरत बाहुबलि ये दोनों परस्परमें युद्ध करें और उस युद्धमें जो विजय प्राप्त करे बस उसके विजयका निर्णय सुनाया जाय। आखिर यह बात तय हो गई और तीन तरहके युद्ध रखे गए—(१) दृष्टियुद्ध (२) मल्लयुद्ध और (३) जलयुद्ध। मानो पहले जल-युद्ध किया, तो भरतचक्रवर्ती उम्रमें बड़े होकर भी शरीर छोटा था और बाहुबलिका शरीर उम्रमें छोटे होकर भी भरतसे कुछ ऊंचा था। तो जब जलयुद्ध करने चले मानो सरोवर में प्रवेश करके पानीके छींटे एक दूसरेकी आंखोंमें फेंकने लगे तो बाहुबलिके छींटे भरत की आंखोंमें तेज पड़ते और चूंकि बाहुबलि कुछ ऊंचे थे सो भरतके छींटे बाहुबलिकी आंखोंमें कम पड़ते। तो उस जल युद्धमें बाहुबलिकी जीत हुई। फिर हुआ दृष्टियुद्ध। एक दूसरेकी दृष्टिमें दृष्टि मिलाये जिसकी पलक पहले झप जाय वह हारा माना जायगा तो बाहुबलि बड़े थे तो उनको आंखें बहुत ऊंचे नहीं उठानी पड़ती थी। उनकी दृष्टि नीचेकी ओर रहती थी और भरतको अपनी दृष्टि ऊंचे उठानी पड़ती थी छोटा बड़ा होनेसे तो यह प्राकृतिक बात है कि ऊंचा मुख उठाकर पलक उठाये तो वह बहुत देर तक स्थिर न रहेगा आखिर उसमें भी बाहुबलिकी जीत हुई। तीसरा युद्ध हुआ मल्ल-युद्ध। तो उस मल्लयुद्धमें भी बाहुबलि लम्बे थे, पुष्ट भी थे सो झट भरत चक्रवर्तीको अपने दोनों हाथोंसे उठा लिया और कंधेपर रख लिया और एक दो चक्र घुमा करके दुनियाको बता दिया कि बाहुबलिकी विजय हुई उस समय भरत बहुत शर्मिन्दा हुए और क्रोधमें आकर जो उनको चक्ररत्नकी सिद्धि हुई थी सो वह चक्र बाहुबलिपर घुमा दिया। चक्रकी ऐसी नीति रीति होती है कि जिसपर घुमाया जाय उसका सिर कट जाता है, मगर कुटुम्बपर जाय तो वह चक्ररत्न तीन प्रदक्षिणा देकर वापिस हो जाता है। बाहुबलि की तीन प्रदक्षिणा देकर वह चक्र भरतके हाथमें आया। भरतका बड़ा

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainelibrary.org

अपमान हुआ।

(७१) **बाहुबलिका वैराग्य व तपश्चरण एवं कषायविघ्नकी हैरानी**—कषायके समस्त दृश्य देखकर बाहुबलिको बड़ा वैराग्य जगा कि एक इस भिन्न असार पौद्गलिक ठाट बाटके लिए भाई भाईमें भी ऐसा जंग छिड़ जाता है। यह राज्यपद बेकार है, इस प्रकार के विरक्तिके भावमें वह बढ़े हुए थे। आखिर सारा राज्य छोड़कर बनमें जाकर निर्ग्रन्थ दीक्षा लेकर मुनि हो गए। बाहुबलि मुनि होकर एक वर्ष तक अडिग तप करते रहे, जहां खड़े वहीं खड़े रहे। वहीं बरसात बीती, ठंड बीती, गर्मी बीती। वहां बामी लग गई, बेल चढ़ गई बामीसे सर्प भी निकलकर उनके शरीरपर चढ़ गए। एक वर्षमें जो हालत हो सकती है सो हुई और बाहुबलि चूंकि वज्रवृषभ नाराचसंहननके धारी थे सो जरा भी डिगे नहीं। मगर एक वर्ष तक तप करते हुए भी उन्हें केवलज्ञान न जगा। इसका कारण तो एक कविने यह बतलाया है कि बाहुबलिके चित्तमें ऐसा अभिमान था कि भरतकी भूमिपर खड़ा हुआ तप कर रहा हूं। क्योंकि उस समय भरत चक्रवर्ती थे, भूमि उनकी ही थी, जैसा कि लोकव्यवहारमें माना जाता है और बाहुबली उस घटनाके कारण विरक्त हुए थे। यह ध्यानमें रहा। इस ध्यानके कारण उनको केवलज्ञान उत्पन्न नहीं हुआ। दूसरा कवि यह कहता है कि बाहुबलिको यह अफसोस रहा कि मेरे द्वारा मेरे बड़े भाईका अपमान हुआ है। इस अफसोसके कारण उनको केवलज्ञान नहीं जगा।

(७२) **ज्ञानद्वारा कषायविघ्नका प्रलय और बाहुबलिजीको कैवल्यलाभ**—खैर बाहुबलिजी के आत्मविकासमें बाधक कारण कुछ भी हो। जब भरतचक्रवर्ती बाहुबलिके सामने आये और भरत सम्राटने अपना मुकुट नीचे रखकर बाहुबलिके चरणोंमें नमस्कार करके स्तवन किया और कहा कि हे प्रभु यह भूमि किसकी है? जो आया सो छोड़कर चला गया। भूमि भूमिकी है और यह मैं आपका सेवक हूं और गुणोंकी स्तुति की तो वहां बाहुबलि-स्वामीका शल्य दूर हुआ। यदि अभिमानका शल्य रहा हो कि मैं भरतकी भूमिपर तप कर रहा हूं तो वह भी शल्य दूर हो गया और यदि अपमानका शल्य रहा हो तो भाई को सामने नम्रीभूत होते देखकर वह भी शल्य दूर हुआ। उस समय उनको केवलज्ञान हुआ। मगर यह तो देखो कि जब तक सही भाव नहीं बना एक वर्ष तक तप करनेपर भी, जब तक कषाय भाव नहीं गया तब तक उनको कैवल्यकी प्राप्ति न हुई। जब कलुषता मिटी तब केवलज्ञान जगा, इस कारण आचार्य संत उपदेश करते हैं कि बड़ी शक्तिका धारक भी कोई महान पुरुष हो तो भावकी शुद्धिके बिना सिद्धि नहीं प्राप्त कर सकता, तब अन्य छोटे लोगोंकी तो कथा ही क्या करना? इस कारण अपने भावोंको

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

शुद्ध कीजिए।

(७३) **भावलिङ्ग बिना सिद्धिकी असम्भवता**—भावोंकी शुद्धि हुए बिना तन, मन, वचनकी कुछ भी क्रिया हो क्रोधादि वाली क्रियासे मुक्ति नहीं प्राप्त होती और मुक्तिका लाभ करनेके लिए क्या करना सो देखो, अपने आपको ऐसी मुक्ति चाहिए कि मुक्त होने पर भी मैं ऐसा अकेला रहूंगा, सो वह अकेला आत्मा अब भी अकेला ही है। भले ही कुछ कर्मका संयोग है, कुछ अन्य जीवोंका संयोग है, शरीरका संयोग है तो रहो, यह भी कोई घटना है मगर स्वरूपदृष्टिसे देखा जाय तो यह आत्मा अपनेमें स्वतंत्र केवल ज्ञान-वृत्ति वाला वह स्वयं परमात्मस्वरूप है। सो जो अपनेमें अनादि अनन्त काल तक प्रकाशमान विशुद्ध ज्ञानमात्र अपने आपको देखता है उसे कैवल्यकी प्राप्ति होती है और मुक्तिका लाभ होता है। और जो अपनेको ऐसा केवल नहीं निरख पाता किन्तु कोई परसंयोगी मानता है, मैं अमुक हूं बाह्यपदार्थमें, तो वह पुरुष संसारमें भटकता है। मुक्ति में रहता है यह जीव अकेला सो यहां भी अकेला स्वरूप देख पाये तो यह अकेला बन सकेगा। और जब दुकेला देखता है। अपनेको शरीर वाला देखता है यह दुकेला ही रहता चला जायगा याने इसका जन्म मरण होता ही चला जायगा इससे इन बाहरी वस्तुओंको गौण कर अन्य पदार्थोंके संयोगको गौण करके अपनेमें केवल सहज ज्ञानमात्र ही अपनेको निरखना चाहिये और ऐसा ही ज्ञानमात्र अपनेको अनुभवना चाहिये। मैं ज्ञानमात्र हूं, अन्य कुछ नहीं हूं, अन्य कुछ मेरा है नहीं। अन्य किसी घटनासे मेरा सुधार बिगाड़ है नहीं। अपने स्वरूपको देखूं तो अपना सब सुधार ही है। ऐसा निरखनेसे द्रव्य-लिंग भी सार्थक हो जाता है और एक भावसे विमुख होनेसे यह द्रव्यलिंग भी निरर्थक हो जाता है, सो एक भावसे विमुख होनेसे यह द्रव्यलिंग धारण करना केवल परि-श्रम ही है।

महुपिंगो णाम मुणी देहाहारादिचत्तवावारो।
सवणत्तणं ण पत्तो णियाणमित्तेण भवियणुय ॥४५॥

(७४) **कषायावेशमें मधुपिंगल मुनि द्वारा निदानबन्ध**—प्रसंग यह चल रहा है कि भावलिंगके बिना द्रव्यलिंगसे कोई सिद्धि नहीं है। उसके विषयमें यहां एक उदाहरण दिया गया है मधुपिंगल नामक मुनिका। मधुपिंगल नामक मुनिकी कथा पुराणोंमें है, जिसका संक्षेप यह है कि इस ही जम्बूद्वीपके भरत क्षेत्रमें सुरम्य स्थान पोदनापुर नगर का राजा तृण पिंगलका पुत्र मधुपिंगल था। वह मधुपिंगल एक बार चारणपुगल नगर के राजा सुयोधनकी पुत्री सुलसाके स्वयंवरमें गया था। स्वयंवर एक ऐसा विवाह निर्णय

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainelibrary.org

की सभा होती है कि जहां किसी राजपुत्रीका स्वयंवर रचा हुआ होता है, वहां सब राजपुत्र एकत्रित होते हैं और वह पुत्री जिसको पसंद करे, वर चुने उसके साथ सम्बन्ध निर्णीत होता है। तो ऐसी स्वयंवर सभामें यह मधुपिंगल गया था और उस स्वयंवरकी सभामें सभी देशोंके राजपुत्र जाया करते हैं सो वहां साकेतपुरीका राजा सगर भी आया था और वहां सभी राजपुत्र ऐसा सोचते हैं कि कोई उपाय बनावें कि दूसरोंसे इस पुत्री का चित्त हट जाय और मेरेको ही पसंद करे। सो वहां राजा सगरके मंत्रियोंने और सगरने मिलकर विचार किया कि इस मधुपिंगलसे इस पुत्रीकी दृष्टि हट जानी चाहिए। सो इस षड्यंत्रमें जल्दी ही एक सकुनशास्त्र बना डाला, सामुद्रिक शास्त्र बना दिया जिसमें यह भी लिख दिया कि जिसके पीले नेत्र हों, पिंगलकी तरह हों, और उसे यदि कोई कन्या बरे अर्थात् अपना पति बनाये तो वह कन्या विधवा होगी, यह भी उसमें स्पष्ट लिख दिया। मधुपिंगलके नेत्र पिंगल थे, सो ऐसी ही बात लिखी जिससे मधु-पिंगलकी निन्दा चले। जब यह बात प्रसिद्ध की, तो उस कन्या सुलसाने मधुपिंगलके गले में जयमाला न डालकर सगरके गलेमें जयमाला डाल दिया। खैर यहां तक कुछ भी पता न चला। मधुपिंगलको वैराग्य जगा और विरक्त होकर मुनि हो गए। अब मुनि हुए बाद सगरके मंत्रियोंके कपटका पता पड़ गया। तब तक कुछ भी पता न था। सही ढंगसे दीक्षा हुई थी, किन्तु जब सगरके मंत्रियोंके कपटका पता पड़ गया तो उसे बड़ा क्रोध आया। उस मधुपिङ्गल मुनिने उस क्रोधमें निदान बांधा कि मेरी तपस्याका फल यह हो कि अन्य जन्ममें मैं सगरके कुलको निर्मूल कर दूं अर्थात् इसके कुलका कोई न बचे, सबका संहार करूं।

(७५) **भावलिङ्ग बिना मधुपिंगल मुनिकी बरबादी**—वह मधुपिंगल मरकर महा-कालासुर नामका देव हुआ। तब उस असुरने सगरका और मंत्रीका सबका मरणका उपाय सोचा और उपाय यह मिला कि जिसके प्रयोगसे उनकी बरबादी तो हुई मगर आगे परम्परा चलकर लोगोंकी भी बरबादी होती आ रही है। उस असुरने क्षीर कदम्ब ब्राह्मणके पुत्र पर्वतको देखा कि यह पापी भी है और यह अर्थ भी ऐसा ही कर रहा है वेद मंत्रका कि बकरा आदिकसे यज्ञ होमना चाहिए, तब उस यज्ञका सहाई बन गया वह देव, जिस यज्ञमें पशु होमे जाते थे। उस यज्ञमें सहाई किस तरह बना कि पहले तो सगर राजाको यज्ञका उपदेश दिया और देख राजन् तेरे यज्ञका मैं सहाई होऊंगा, फिर पर्वत सगर राजाके पास गया और वहां यज्ञ होम करवाया और उस यज्ञमें इस असुर देवने अपनी मायासे उन पशुओंको स्वर्गमें जाते हुए दिखाया। यह सब षड्यंत्र ही था।

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

उससे सगरका उस पशुहिंसाके काममें बड़ा मन रमा। तीव्र रौद्रध्यान बनाया जिस पापके कारण सगर ७वें नरक गया और इसी तरह उसके कुटुम्बका भी विध्वंस हुआ। तो तात्पर्य कहनेका यह है कि मधुपिंगल नामक मुनिने निदान करके महाकालासुर कुदेव बनकर महापाप उत्पन्न किया। मुनि हो गया, पहले ढंगसे मुनि हुआ था किन्तु पीछे भाव बिगड़े और वह खोटी लाइनमें पड़ गया। उसने सिद्धि प्राप्त न की। तो द्रव्यलिंग धारण करने से क्या होता यदि भावलिङ्ग न हो तो। मोक्षमार्गमें भावलिङ्गकी ही प्रधानता है और भावलिङ्गकी सिद्धि सम्पूर्णतया द्रव्यलिङ्ग पाये बिना होती नहीं है, इसलिए द्रव्यलिङ्ग तो बाह्य साधन है और भावलिङ्ग कर्मोंके प्रक्षय करनेका मूल साधन है।

अण्णं च वसिट्ठमुणि पत्तो दुक्खं णियाणदोसेण।
सो णत्थि वासठाणो जत्थ ण ढुरुढुल्लिओ जीवो ॥४६॥

(७६) **परमार्थभाव विना वशिष्ट मुनिकी अवगतिमूलक प्रगति**—आत्माका अविकार सहज ज्ञानस्वरूप ही इस जीवका सारभूत तत्त्व है, जिसके आश्रयसे कर्मोंका विध्वंस होता है, मुक्ति प्राप्त होती है। इस अविकार सहज ज्ञानस्वभावकी दृष्टि पाये बिना यह जीव मुनिव्रत धारण करके मुनिमुद्रा द्रव्यलिङ्ग अंगीकार करके कितने ही तपश्चरण करले, किन्तु परमार्थ भावके बिना मोक्षमार्ग नहीं बनता। इसके लिए एक यह उदाहरण दिया गया है वशिष्ठ मुनिका। वशिष्ठ मुनिने निदान बांधकर दुःख ही पाया सो ऐसा एक ही क्या अनेकों उदाहरण है जिससे यह सिद्ध है कि इस जीवने भावलिङ्ग पाये बिना इस संसारमें सर्व प्रदेशोंपर अनन्त बार जन्म मरण किया। वशिष्ठ मुनिकी कथा इस प्रकार है कि गंगा और गंधवती इन दो नदियोंका जिस जगह संगम है वहां एक जठर कौशिक नामका तपस्वी रहता था। उसके सघमें एक वशिष्ठ नामका भी तापसी था। वह पंचाग्नि तप तप रहा था। वहां गुणभद्र और वीरभद्र ऐसे दो चारण मुनि आये। उन चारण मुनियोंने वशिष्ठ तापससे कहा कि तू अज्ञानसे कुतप तप रहा है, इससे कोई सिद्धि नहीं है, इसमें जीवोंकी प्रत्यक्ष हिंसा है। तब तापसीने प्रत्यक्ष हिंसा देखकर विरक्त होकर जैनीदीक्षा अंगीकार की और उस वशिष्ट तापसीने एक माहका उपवास लेकर आतापन योग अंगीकार किया, जिसके माहात्म्यसे ७ व्यन्तर देव आये और बोले कि हम तुम्हारी तपस्यासे तुम पर बहुत प्रसन्न हैं और जो आज्ञा हो सो तुम कहो। तब वशिष्ट मुनिने कहा कि इस समय तो हमें कुछ प्रयोजन नहीं है, पर किसी जन्ममें यदि मैं तुमको याद करूं तो वहां हमारी सहायता करना।

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

(७७) **परमार्थज्ञानके अभावमें वशिष्ट मुनिका निदानबन्ध**—कुछ सिद्धिलाभके बाद वशिष्ट मुनि मथुरापुरीमें आये और एक माहका उपवास लेकर आतापन योग धारण किया। उसे मथुरापुरीके राजा उग्रसेनने देखा, उसकी बड़ी भक्ति उमड़ी और यह सोचा कि मैं इनको आहार कराऊंगा, सो अपने आहार करानेकी दृष्टिसे उस उग्रसेन राजाने नगरमें ऐसी घोषणा करायी कि इस मुनिराजको दूसरा कोई आहार न देवे। और खुद राजा आहारकी विधि लगा लेता था ताकि कहीं रुकावट न हो और मेरे यहां ही आहार हो जाय। सो मासोपवास जब पूर्ण हुआ तो पारणाके दिन वह वशिष्ट मुनि नगरमें आये तो वहां एक दिन अग्निका उपद्रव देखा। कहीं अग्नि लगी हुई थी। उसे देखकर अंतराय मानकर वह उल्टा फिर गया। इसके बाद फिर मासोपवास धारण किया। फिर पारणामें आये सो नगरमें जैसे ही आये तो वहां हाथीका क्षोभ देखा। हाथी मस्त लड़ रहे थे, प्रजामें कुछ क्षोभ उत्पन्न हुआ तो अन्तराय जानकर लौट गए। इसके बाद फिर मासोपवास किया, फिर पारणाके दिन नगरमें आये तो वहां राजा जरासंधका एक पत्र आया था जिसमें कोई कड़ी बात लिखी थी। उसे पढ़कर राजा व्यग्र चित्त था। सो राजा मुनिको पड़गाह न सका सो वह अंतराय हो गई। ऐसे तीन बार मासोपवास किया, बीचमें पाड़नाके दिन आये सो प्रजाको मना कर दिया था कि कोई चौका न लगाये, और राजाके यहां आहार हो न सका, इसलिए तीन माह तक आहार न हो सका। अन्तराय जानकर उल्टा बनमें जा रहे थे कि लोग यह कह रहे थे कि यह राजा कैसा है कि खुद मुनि महाराजको आहार देता भी नहीं और दूसरोंको आहार देनेके लिए मना कर देता। ऐसे जब लोगोंके मुखसे वचन सुने तो वशिष्ठ मुनिको राजापर क्रोध उमड़ा और निदान किया कि मैं यहांसे मरकर इसी राजाका पुत्र होकर इस राजाका विनाश करूं और मैं राज्य करूं, मेरी तपस्याका यह फल प्राप्त होवे।

(२८) **वशिष्ठ मुनिकी कसभवमें क्रूरदृष्टिता**—वह वशिष्ठ मुनि निदानसे मरकर राजा उग्रसैनकी रानी पद्मावतीके गर्भमें आया और जन्म लिया। उग्रसैनका यह बालक बड़ा क्रूर प्रकृतिका था। पहले भवमें तो मुनि था और मासोपवासका बड़ा घोर तप कर रहा था और उग्रसैनको मारनेके लिए क्रोधमें आकर यह निदान बांधा था, सो वह भाव कहां जाता? जैसे ही वह बालक कुछ सयाना हुआ तो उसकी दृष्टि बड़ी क्रूर थी। तो उस राजाने इसकी क्रूर दृष्टिको देखकर कांसीकी मंजूषामें रखकर और इसका वृत्तान्त लेख लिखकर इसे यमुना नदीमें बहा दिया था। अब यमुना नदीमें बहती-बहती वह मंजूषा कौशांबीपुरमें एक मंदोदरी नामकी कलालिनीको प्राप्त हुई। उस कलालीने

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

उस पुत्रको अपना पुत्र मानकर पाला पोषा और उसका नाम कंस रखा। जब वह कंस बड़ा हुआ तो जिसमें जैसी प्रकृति है वह कहां जायगी ? पूर्व भवका वह मुनि था, राजा उग्रसैनका ध्वंस करनेके लिए निदान बांधा था सो क्रूरता उसमें प्राकृतिक थी। जब वह बालक बड़ा हुआ और अन्य बालकोंके साथ खेला करे तो सभी बालकोंको वह कहीं पीटता, कहीं झकझोरता, कहीं घसीटता। तो उस मंदोदरीके पास बड़े उलहने आने लगे कि हमारे बालकको तुम्हारा बालक पीटता है। बहुत उलाहने सुन सुनकर मंदोदरी हैरान हो गई और उस कंस बालकको अपने घरसे बाहर निकाल दिया।

(७९) **वशिष्ठ मुनिका कंसभवमें अतिरोद्रपना और आत्मविघात**—यह कंस शौर्यपुर पहुंचा और वहां वसुदेव राजाके यहां पयादा बनकर रहने लगा, एक मुख्य चपरासी बनकर रहने लगा। यह वसुदेव कृष्णके पिता थे। कुछ दिन बाद जरासंध प्रतिनारायण हुए। उसका पत्र आया कि पोदनपुरका राजा सिंहरत्न उद्दण्ड हो गया उसको जो बांधकर लायगा उसको आधा राज्य दिया जायगा और पुत्री भी पारिणा दी जायगी। यह पत्र वसुदेवके पास आया तो वसुदेव कंस सहित वहां युद्धमें गया और सिंहरथको बांधकर जरासंधको सोंप दिया जरासंधने अपनी पुत्री जीवयशा और आधा राज्य वसुदेवको देना चाहा, किन्यु वसुदेवने यह बताकर कि यह सब करामात इस कंस पयादेकी है, सो जरासंधने उस कंसके कुलकी थोड़ी जानकारी करके अपनी जीवयशा पुत्रीको कंससे ब्याहा और कंसको आधा राज्य दिया। अब तो कंसकी खूब बन बैठी। अपने राज्यका विस्तार भी बढ़ाया। तो यह कंस मथुराका राज्य लेकर एक समर्थ राजा बना और अपने पिता उग्रसैनको व पद्मावती माताको बंदीखानेमें डाल दिया। इसके बाद फिर बहुत वृत्तान्त है। कृष्ण पैदा हुए, उनके द्वारा यह कंस मृत्युको प्राप्त हुआ। तो यह कंस वशिष्ट मुनिका ही तो जीव था, जिसने बड़े उपद्रव किये और अन्तमें बुरी मौत मारा गया। तो यह सब ज्ञानस्वरूप आत्मीय भावोंके पाये बिना व्रत, तप आदिकमें बढ़नेका और सामर्थ्य मिलनेका यह परिणाम है। तो वशिष्ट मुनिने निदान बंध करके आत्माकी कोई सिद्धि नहीं पायी। इससे यह जानें कि भावलिङ्गसे सिद्धि होती है।

(८०) **भावलिंग बिना द्रव्यलिंगकी अप्रयोजकता**—भावलिंगका अर्थ है आत्माके ज्ञानस्वभावकी आराधना। जहां किसी भी प्रकारका अंतरंग परिग्रह नहीं है और उपयोगमें यह ज्ञानस्वरूप ही समाया है। ऐसी आराधनाको भावलिङ्गकी साधना कहते हैं। और द्रव्यलिंग है शरीरकी साधनारूप। किसी भी प्रकारका परिग्रह शरीरपर नहीं है। न शस्त्र है, न वस्त्र है और न किसी प्रकारका शृंगार है, न भष्म है न कोई शंख

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

आदिक आडम्बर हैं। केवल शरीरमात्र है। शरीर कहां छोड़ा जा सकता था ? जो जो कुछ छोड़ा जा सकता था वह सब कुछ छोड़ दिया गया। केवल शरीर ही रह गया। सो अब शरीरको रखना भी आवश्यक हो गया। सो जीवन रहे, परिणाम ढंगसे रहे तो यह रत्नत्रयकी साधना भी बन सकेगी, तो जीवनरक्षाके लिए आहार करना भी आवश्यक हो गया। सो आहार एषणा समितिसे किया जाता है। जब शरीर साथ है तो एक जगह रहकर भी अनेक पदार्थोंसे राग होना सम्भव है इसलिए साधकको किसी भी जगह बहुत समय न रहना चाहिए। तो विहार करनेके लिए ईर्यासमितिकी साधना बनी। जब यह शरीर है तो बोलचाल करना भी आवश्यक हो गया। तो जो कुछ बोला जायगा वह भाषासमितिसे बोला जायगा। जब शरीर साथ लिए हुए हैं, अन्य अन्य साधनायें करना आवश्यक है तो वहां स्वाध्याय करना भी आवश्यक है। तो स्वाध्याय करनेके प्रसंगमें बिहार करनेके प्रसंगमें कमण्डल उठाना, शास्त्र उठाना धरना यह भी आवश्यक है। सो पीछीसे यत्न पूर्वक शोधकर स्वाध्याय आदिक करना होता है। उसमें आदान निक्षेपण समिति बनती है। जब आहार किया तो शरीरमें मलमूत्र भी होते हैं तो उनका फेंकना भी आवश्यक है तो उनका प्रतिष्ठापन निक्षेपण किसी निर्जन्तु भूमिपर करना चाहिए। उसके लिए प्रतिष्ठापना समितिका पालन होता है। तो द्रव्यलिंगमें इस निर्ग्रन्थ मुद्रामें ५ महाव्रत, ५ समितियोंका पालन, आवश्यक कार्योंका पालन और शरीरका शृंगार रहित रखना, स्नानका भी त्याग, दंतमंजनका भी त्याग, एक बार आहार लेनेका ही प्रयोजन, वह भी खड़े खड़े और थोड़ा सा ही भोजन, भूमिपर सोना, केश लोच करना आदिक क्रियावोंसे आसन्न रहते हैं। तो ये सब द्रव्यलिंगसे सम्बंधित बातें हैं। कोई पुरुष द्रव्यलिंगकी साधनासे तो बड़ा संतोष बनाये और उसमें अहंभाव होनेसे कोई गल्ती न होने दे, ऐसा अपना खूब परिश्रम बनाये और आत्माके सहज ज्ञान स्वरूपकी कोई सुध ही न हो, उस ओर दृष्टि ही न जाय, उसका अनुभव ही न बने तो ऐसे भावलिंग रहित द्रव्यलिंगमें तेज गमन करने वाले पुरुषोंको कुछ भी सिद्धि नहीं होती। इस भावपाहुड़ ग्रन्थमें आत्माके सहज ज्ञानभावकी उपासनाका महत्त्व बताया जा रहा है। उसके बिना व्रत तप आदिक धारण पालन सभी निरर्थक होते हैं।

सो णत्थि तं पएसो चउरासीलक्खजोणिवासम्मि।
भावविरओ वि सवणो जत्थ ण दुरुदुल्लिओ जीवो ॥४७॥

(८१) **पदार्थपरिणमनविधि**—इस लोकमें जो कुछ भी विशिष्ट विशिष्ट परिणमन होते हैं वहां निमित्तनैमित्तिक भाव अवश्य है। जो परिणमन पहले न था वह परिणमन

Version 1

 http://sahjanandvarnishastra.org/

अब हुआ है तो इसमें कोई निमित्त अवश्य है। हां समान परिणमन चलता रहे तो उसमें निमित्त नहीं होता। जैसे धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य, कालद्रव्य शुद्ध जीव और शुद्ध परमाणु, इनमें समान समान परिणमन चलते हैं, उसमें कोई विषम परिणमन नहीं है, पर विषम परिणमन हुआ, मायने पहले और भांति है अब और भांति परिणमा है तो वहां कोई निमित्त अवश्य होता है। यही पद्धति जगतके सब पदार्थोंमें घटित कर लीजिए। ऐसे ही आत्माके सम्बंधमें बात है, आत्माकी जो सृष्टि चल रही है, जो रचना बन रही है, कभी नारकी हुए, कभी पशु बने, पक्षी बने, मनुष्य बने, देव बने, ये जो नाना प्रकारके परिणमन चल रहे हैं और भावोंमें क्रोध मान माया लोभ शान्ति अशान्ति जो भी परिणमन चल रहे सो ये परिणमन कोई बाह्य निमित्त पाकर हो रहे हैं, जिसमें बाह्य निमित्तका अभाव होनेपर जो परिणमन है वह तो स्वभाव परिणमन है और दूसरे निमित्तके सद्भाव होनेपर जो परिणमन है वह विभाव परिणमन है। तो इस जीवने अब तक क्रोध मान, माया लोभ मोह, अज्ञान इन भावोंको ही किया जिसका फल यह है कि यह संसारमें डोलता रहा। यदि यह अपने उपयोगमें परमार्थ ज्ञानस्वरूपको ग्रहण कर लेता कि मैं यह हूं तो इसका सब कुछ बदल जाता, मुक्तिकी सम्मुखता होती, शान्त जीवन रहता, और शान्त होनेका एक यह ही उपाय है। अपने आपमें आपको समझ लें कि वास्तवमें अपनी सत्तासे अपने आपमें यह हूं ज्ञानज्योति मात्र। बाकी जो हो रहा है सो निमित्तनैमित्तिक भावसे हो रहा है।

(८२) **निज व अन्य सभी पदार्थोंके परिणमनकी सबकी समान रीति व उसके जाननेसे शिक्षाकी उपलब्धता**—जो बात हम बाहरके पदार्थोंमें निरखते हैं वही विधि तो हमारी दृष्टिमें है। बाहर सर्वत्र निमित्तनैमित्तिक योग देख रहे हैं, दीपक जल रहा है। बाती वहां निमित्त है, तेल वहां निमित्त है या तेलकी बूंद ही उपादान है, वही दीपक रूप बन रहा। दीपक उसका आधार है बाहरमें, और निरखते जाइये महिलाका जैसा हस्तादिक का व्यापार होता वैसी ही रोटी बनती, लड्डूकी शक्ल बनती। अग्निका सम्बंध पाकर कड़ाही गर्म हो गई। उस गरम कड़ाहीका सम्बंध पाकर तेल गरम हुआ। उसका निमित्त पाकर पूड़ी सिकी। यह सब निमित्तनैमित्तिक भाव दिख रहा। यह ही बात तो अपनेमें है। हम जैसा परिणाम करते हैं उस प्रकारका कर्मबंध होता है और उस कर्ममें जैसी आदत बन गई उसका उदय होने पर मुझमें वैसा विकार छा जाता है। अब यह जीव अज्ञानी है। उसने विकारको अपना स्वरूप मान लिया। अब वह अपनी सुध छोड़कर विकार रूप अपनेको अनुभवता, और यह ही कारण है कि इसके रागादिक होते रहते

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.vitragvani.com

हैं। किसीने दुर्वचन बोल दिया तो यह अपनेमें यह बात लाता कि इसने मुझे बोल दिया, अब तो मैं गया। अरे ज्ञानमात्र अमूर्त मैं हूं सो उसे तो दूसरेने पहिचाना ही नहीं, इसे बोलेगा कैसे ? जो जिसको जानता नहीं वह उसको कहेगा क्या ? ये जगतके लोग इस अमूर्त ज्ञानमात्र मुझको जानते ही नहीं हैं तो मुझको ये खोटे बोल बोल ही कैसे सकते हैं, और जिसको देखकर यह खोटा खरा बोला है वह मैं हूं नहीं, तो मुझे बोला ही क्या है ? मैं हूं सहज ज्ञानज्योति मात्र। यदि इसका दृढ़तासे अभ्यास बन जाय तो आनन्दके लिए फिर किसीकी पूछना नहीं। आनन्द हो ही गया।

(८३) **सहज आनन्दको जगाते हुए ही परमार्थज्ञानका उद्भव**—समयसारमें बताया है-एदम्हि रदो णिच्चं संतट्ठो होहि णिच्चमेदम्हि, एदेण होहु तित्तो होहिदि तुह उत्तमं सोक्खं ।। एक ज्ञानमात्र तू है, इसके अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है, तू इस ज्ञानमात्र आत्मा में ही रत हो जा। यह ज्ञानमात्र आत्मा ही आशीश है। इसमें ही तू शान्त हो जा, इसमें ही तू लीन हो जा। फिर तुझको अलौकिक आनन्द तुरन्त ही मिलेगा। फिर किसीसे पूछनेकी जरूरत नहीं कि मैंने धर्म तो किया पर आनन्द नहीं मिल रहा। न जाने कब मिलेगा ? जो लोग धर्मके काम करते हुए भी दुःखी रहते हैं और शंका करते हैं कि मुझको धर्म करते इतने वर्ष हो गए पर दुःख ही मुझपर आ रहे हैं तो उन्होंने दोनों ही बातें नहीं समझीं। एक तो धर्म क्या चीज है इसे समझा ही नहीं और दूसरे—दुःख क्या चीज कहलाती यह भी उन्होंने नहीं समझा। जो लोग यह शंका रखते हैं कि १० वर्ष मंदिर आते रहे, पूजा करते रहे, हमने खूब धर्म किया, मगर न तो कोई विशेष संतान हुई न धनिक बने, न हम राजा बन सके और कोई परिवारमें गुजर गया, दरिद्र भी हो गए तो कहने लगते कि यह कैसा धर्म है। धर्म करनेसे तो कष्ट होता है ऐसी शंका रखते हैं, पर उन्होंने न धर्मको समझा न दुःखको समझा। धर्म क्या है ? आत्मा का जो सहज अविकार ज्ञानस्वरूप है उस मात्र अपनेको अनुभवना यह है धर्म। ऐसा धर्म किया क्या उन्होंने, जो यह शंका रखते ? अगर किसी क्षण अपनेको अविकार ज्ञान-मात्र ही निरखते कि मैं यह ही हूं, इतना ही हूं और इसकी जो सहज वृत्ति चलती है वही मेरा काम है इस तरहसे अगर कोई अनुभवे तो उसे तत्काल शान्ति है।

(८४) **सहजात्मस्वरूपके अनुभवीको तत्काल सहज आनन्दका लाभ**—सहजात्मरूप के अनुभवीको क्यों तत्काल शान्ति है ? अशान्तिका कारण है परपदार्थका लगाव, वह उस क्षणमें है नहीं, तो शान्ति कैसे न आयगी ? यह सहज शान्त स्वरूप है, ज्ञानानन्दमय है, परमार्थ धर्मस्वरूप है, तो जिन्होंने धर्मका स्वरूप समझा है उनको कभी अशान्ति नहीं

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

हो सकती। अच्छा उन धर्मका श्रम करने वालोंने आत्माका स्वरूप भी नहीं समझा। दुःख क्या है? यह उपयोग अपने ज्ञानस्वरूपसे हटकर बाह्यपदार्थोंमें लगे यह है दुःख। यह उन्होंने समझा क्या? उन्होंने तो यह समझा कि रोज अच्छी आमदनी नहीं होती इसका बड़ा दुःख है, या अमुक बीमार है यह बड़ा दुःख है। यों बाहरकी बातोंमें उन्होंने दुःख समझा। परन्तु दुःख है वह जो कि अपने स्वरूपसे चिगकर बाह्य पदार्थोंकी ओर उपयोग लगा है। धर्म करने वालेको यह दुःख नहीं है। उसका तो अपने स्वरूपमें ही रमण है। उसको आनन्द तत्काल है। ज्ञान आनन्दको जगाता हुआ ही उत्पन्न होता है। ज्ञान सही बने और आनन्द न आये ऐसा हो नहीं सकता। जहां झूठा ज्ञान चलता है वहां कष्ट हुआ करता है। सत्य आनन्दमें कष्टका नाम नहीं। गुरूजी सुनाते थे कि वेदान्तकी जागदीशी टीकामें एक कथा आयी है कि किसी नई बहूके गर्भ रह गया। उसके बच्चा होना था, तो वह अपनी साससे बोली—मां जी मेरे जब बच्चा पैदा हो तो मुझे जगा देना, कहीं ऐसा न हो कि हमारे सोते हुएमें ही बच्चा पैदा हो जाय तो वहां सासने उत्तर दिया कि बेटी तू घबड़ा मत, बच्चा जब भी पैदा होगा तो तुझे जगाता हुआ ही पैदा होगा, सोते हुएमें बच्चा न होगा। तो इस दृष्टान्तको यहां घटाया था कि तू किसीसे आनन्दके लिए पूछ मत, ज्ञान तू सही किए जा, तो वह ज्ञान आनन्दको जगाता हुआ ही पैदा होगा। ऐसा नहीं हो सकता कि ज्ञान तो हो गया और आनन्द जगे ही नहीं।

(८५) **संकटोंसे मुक्ति पानेके लिये सहजात्मस्वरूपका ज्ञान करनेका कर्तव्य**—यदि अपने जीवनको पवित्र, आनन्दमय बनाना है तो एक आत्माके सहज स्वरूपका ज्ञान करो। सैकड़ों प्रकारके व्यापारादिक, धन कमानेके तरीके ये सब झंझट हैं। ये तो जीवन चलाने के लिए करने पड़ते हैं, मगर इनसे आत्माका पूरा तो न पड़ेगा। कुछ समयको भला हो गया लौकिक दृष्टिसे तो उससे आत्माका पूरा न पड़ेगा। आत्माका पूरा पड़ेगा अपने सहजस्वरूपमें अपनेको अनुभवनेसे इसके अतिरिक्त कोई अन्य चेष्टायें धर्म नहीं है, जो कि धर्मके रूपक अनेक रख लिये गये हैं। हालाँकि वे सब क्रियायें हैं पूजा आदि और वे हमारे इस धर्ममार्गमें सहायक हैं, मगर सीधा धर्म, जिसके होते ही तुरन्त शान्ति हो वह धर्म है अपनेको सहज ज्ञानस्वरूपमें अनुभवनेमें। यह कार्य कीजिए, इसका उद्यम बनाइये। इसकी ओर उद्यम उसका बन सकता है जिसको यह श्रद्धा है कि इसके अतिरिक्त अन्य जो भी समागम हैं वे तृणवत् असार हैं। दो बातें एक साथ नहीं हो सकती कि धन वैभवका लोभ भी बनाये रहें, इन बाहरी पौद्गलिक ढेरोंको सारभूत मानते

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

रहें और यहां धर्मका स्वाद भी मिले। ये दो बातें एक साथ नहीं हो सकतीं। श्रद्धान सही होना चाहिए।

(८६) **परमार्थभावके परिचय बिना चौरासी लक्षयोनियोंमें जन्ममरण करते रहनेका कष्ट**— मेरे आत्माके अतिरिक्त अन्य कुछ भी मेरेको सारभूत नहीं है, ऐसा अनुभूत भाव जिस के नहीं हुआ वह जीव चाहे दिगम्बर मुद्रा धारण करके बहुत कठिन तपश्चरण भी कर ले तो भी उसका जन्म मरण कटता नहीं है। भावरहित होकर नाना भेषोंमें रहकर इस जीवने सर्वत्र जन्म लिया है। इस संसारमें ८४ लाख योनियोंके निवासमें ऐसा कोई पद नहीं रहा, कोई योनि नहीं रही, कोई स्थान नहीं रहा जिसमें किसी जीवने द्रव्यलिंगी मुनि बनकर भावरहित होकर जन्म मरण न किया हो। योनियां कहते किसे हैं ? उत्पत्ति के स्थानको योनि कहते हैं। जैसे गेहूं पैदा हुआ तो वहांकी खाद जगह जमीन वह उसका योनिभूत है और मुख्य तो गेहूंका दाना यह उसका योनिभूत है। अब वह सचित्त है, अचित्त है, पका है, अधपका है, शीत है, गर्म है आदिक जो विशेषतायें होंगी, इन इन विशेषताओंकी अनेक डिग्रियां बन गईं तो वे सब मिलकर केवल वनस्पतिकी ही नहीं, सब जीवोंको मिलकर ८४ लाख योनियां होती हैं। उनमें यह जीव अनन्त बार जन्मा और मरा। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, नित्यनिगोद, इतर निगोद, इनकी तो ७-७ लाख योनियां हैं। वनस्पतिकायकी १० लाख, दोइन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चारइन्द्रिय इन जीवों की दो-दो लाख, पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च पशु पक्षी इनकी ४ लाख, देवगतिके जीवोंकी ४ लाख, नारकी जीवोंकी ४ लाख, और मनुष्योंकी १४ लाख, ये सब मिलकर ८४ लाख योनियां हैं। बहुतसे लोग इस बातको बोला करते हैं कि यह जीव अज्ञानसे ८४ लाख योनियोंमें भ्रमण कर रहा, अपना स्वरूप नहीं तक रहा। अपनी ही सत्तासे मैं स्वयं सहज क्या हूं यह अनुभव नहीं हो पाया उसका फल है संसारकी इन योनियोंमें भ्रमण करना।

भावेण होइ लिंगी ण हु लिंगी होइ दव्वमित्तेण।
तम्हा कुणिज्ज भावं किं कीरइ दव्वलिंगेण ॥४८॥

(८७) **भावलिङ्गसे ही वास्तविक साधुता**—भावलिङ्गसे मुक्ति है और वही वास्तवमें एक पूज्य पदवी है। द्रव्यलिंगसे लिंग नहीं कहलाता मायने साधुमुद्रा नहीं कहलाती इस कारण भावलिंगको धारण करना। केवल द्रव्यलिंगको धारण करनेसे क्या प्रयोजन ? उसमेंसे गुजरना और भावलिंगसे कर्मत्वका हटाना। जैसे कोई पुरुष बम्बई जाना चाह रहा रेलगाड़ीसे तो रास्तेके बहुतसे स्टेशनोंसे गुजरते जाते हैं। सारे स्टेशन गुजरे बिना बम्बई न आयगा। अगर किसी स्टेशनको सजी-सजाई देखकर वहीं उतर जाय,

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

उसीमें मस्त हो जाय तो फिर बम्बई नहीं पहुंच सकते, ऐसे ही जिनके भाव बढ़ते हैं वे निष्परिग्रह हुए बिना नहीं बढ़ पाते। निष्परिग्रह होनेका नाम ही द्रव्यलिंग याने नग्न शरीर है। सर्व परिग्रहोंसे रहित ऐसी शरीरकी मुद्रा बने, ऐसी मुद्रा आये बिना भावोंमें उच्चपन नहीं बढ़ता। अगर कोई इस शरीरके भेषको ही, इस साधु सन्यासीकी मुद्राको ही सब कुछ मानकर उसमें ही तृप्त रहे तो वह तो उस मूर्खकी तरह है जो किसी स्टेशन को सजा हुआ देखकर वहां उतर जाय और गाड़ीसे हट जाय, लाइनसे हट जाय। तो द्रव्यलिंग याने शरीरका भेष, साधु सन्यासीका भेष, इससे प्रयोजन नहीं बनता, किन्तु भावमें ज्ञानज्योति, ज्ञानस्वभावकी दृष्टि रहे और उस ही में उपयुक्त रहे उससे मोक्षमार्ग बनता, लेकिन जो ऐसा करना चाहेगा उसकी उल्टी मुद्रा न रहेगी कि खूब घर भी बनाये, खूब वस्त्रसे भी लदा रहे, मित्र परिजनसे भी लदा रहे और भावोंमें उच्चता बढ़ जाय, यह नहीं होता। इससे भावलिंग ही प्रधान है। अपने ज्ञानस्वरूपमें उपयोगको लगावें।

दंडयणयरं सयलं डहिओ अब्भंतरेण दोसेण।
जिणलिंगेण वि बाहू पडिओ सो रउरवे णरए ॥४६॥

(८८) **परमार्थज्ञानभावके आश्रय बिना अटपट वृत्तियोंसे आत्माका दौर्गत्य**—जिस पुरुष को अपने भावमें लगाव नहीं है, अपने अविकार ज्ञानस्वरूपकी सुध नहीं है, परिचय भी नहीं है और किसी भावुकतामें बन गया साधु तो वहां यह साधुपनेके अहंकारमें तपश्चरण भी बहुत-बहुत करे, तो भी वह मोक्षका मार्ग नहीं पाता। बल्कि अपने स्वरूपका परिचय न रहा तो उसका उपयोग कहीं बाहर ही तो घूमेगा। आत्मस्वरूपमें कैसे रम सकता ? और जब बाहर ही उपयोग घूमा तो वहां नाना तरहकी चेष्टायें करेगा। यही कारण है कि जहां भावलिंग नहीं है, किन्तु दिगम्बर मुद्रा बाहरी वेशभूषा ही है तो उन जीवोंके अटपट वृत्तियां हो जाती हैं। द्रव्यभेष धारण कर कुछ व्रत करे और तपश्चरण के बलसे कुछ सामर्थ्य बढ़ जाय और कोई कारण पाकर क्रोध जग जाय तो वह उस क्रोधमें अपना और परका उपद्रव करनेका कारण बना लेता है। तब उस द्रव्यलिंगसे लाभ क्या मिला ? साधु बननेपर तो वह अपनी बुद्धि माफिक उस साधुकी क्रियाको निभा रहा है। तो कुछ विशेषता तो आ ही जायगी। कुछ प्रताप, कुछ थोड़ासा पुण्य या थोड़ी कुछ महिमा, कुछ चमत्कार थोड़ा बहुत जग ही जायगा। कुछ थोड़ा चमत्कार जग तो गया, मगर भीतरमें बसा हुआ है अज्ञान तो ऐसी घटना बन बैठेगी कोई कि जब इसको क्रोध जग जायगा तो अपनेको भी भस्म करेगा और दूसरोंको भी भस्म

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

कर डालेगा।

(८६) **कषायवश बाहुमुनिकी दुर्दशाका कथानक**—एक उदाहरण बाहु मुनिका है। एक कुंभकार कटकनगर था वहां दंडक नामका राजा था और उसके मंत्रीका नाम था बालक, वहांपर अभिनन्दन आदिक ५०० मुनिराज आये। उस दंडक बनकी एक घटना सुनाई जा रही है, वह वही दंडक बन था जिसमें एक बार रामचन्द्रजी भी अपने बनवासके समयमें घूमते हुए आये थे और उनके आगमनसे कुछ वहां शोभा सी बन गई थी। मगर था वह सब ऊजड़ देश, उसमें घासका नाम नहीं था। तो ऐसे दंडक बनकी घटना बतायी जा रही है। उस दंडक बनमें अभिनन्दन आदिक मुनि आये, उनमें एक दंडक नामके मुनि थे। मुनियोंके नाम एक साधारण चलते थे। जो नाम पहले था सो ही चलता था। अमुक सागर, अमुकनंद, ऐसे नाम न चलते थे। जो है सो चलता रहता था। अब देखो दंडक नाम कहीं अलगसे रखा हुआ थोड़े ही था। पहलेका ही गांवमें रखा हुआ नाम था। जैसे कुन्दकुन्द, उनके ग्रामका नाम था कुन्डकुन्ड सो उनका नाम पड़ गया कुन्दकुन्द। नामके लिए क्या है, कुछ भी नाम रख दो, नामकी क्या सम्भाल करना? एक दंडक नामके उनमें मुनि थे सो उन मुनिने उस राजाके बालक मंत्रीको वादविवादमें जीत लिया। कोई शास्त्रार्थ बन गया मंत्रीसे, तो मंत्री हार गया, तो मंत्री को क्रोध आ गया और उसने एक ऐसा ढंग रचा कि जिससे यह राजा गुस्सा हो जाय मुनियोंपर और उनपर उपद्रव ढा दे। उस मंत्रीने एक भांडको मुनिका रूप रखा दिया। तो भांडोंको कोई विवेक तो नहीं होता। सो राजाकी रानी जिसका नाम सुव्रता था उस सहित मायने रानीके साथ उठने बैठने लगा अथवा एक दिन बैठाल दिया और राजाको दिखा दिया कि ये मुनि ऐसे दुष्ट होते हैं। उस मंत्रीको था बड़ा भारी क्रोध कि मैं किस तरह इन मुनियोंसे बदला चुकाऊं, इसने मुझे शास्त्रार्थमें जीत लिया। उसे बड़ा घमंड था। तो यह रूपक बनाया। कितना कठिन रूपक बनाया कि जो विवेकी है वह ऐसी घटना देख कर भी शंकामें नहीं आ सकता। मुनि ऐसे होते ही नहीं। मुनि तो शील स्वभावी शुद्धस्वभावके होते हैं। उनको शंका न जगेगी, मगर यहां क्या हुआ कि उस राजाको दिखाया और कहा कि देखो राजाकी ऐसी भक्ति है कि जो राजाने अपनी स्त्री (रानी) भी दिगम्बर मुनिको रमा दी है और ऐसा जब राजाने देखा तो उसे बड़ा क्रोध उमड़ा और उस समय उस राजाने वहां ठहरे हुए ५०० मुनियोंको कोल्हू में पिलवा दिया। मुनि तो मुनि हैं, उन्हें तो आत्मतत्त्वसे प्रयोजन है। वह तो भांड था, जिसने मुनिका भेष रखकर राजाको ऐसा भिड़ाया। खैर राजाने उन मुनियोंको घानीमें

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

पिलवाया। मुनियोंने उपसर्ग सहा, समाधिभाव धारण किया और वे मुक्ति पधारे। अब उसी नगरमें एक बाहु नामका मुनि आया सो उसको लोगोंने मना किया कि यहांका राजा दुष्ट है, तुम नगरमें मत आवो। इस राजाने तो अभी अभी जल्दी ही ५०० मुनियोंको घानीमें पेल दिया है, तुमको भी घानीमें पेल देगा। तो लोगोंकेऐसे वचन सुनकर बाहुमुनिको क्रोध उत्पन्न हुआ। वह तपस्वी थे, ऋद्धिधारी थे, तो इतना क्रोध उत्पन्न हुआ कि उनके बांयें कंधेसे अशुभ तैजस पुतला निकला, अग्निकी ज्वाला निकली सो उसने राजाको भस्म किया, मंत्रियोंको भस्म किया, सब नगरको भस्म किया और खुद भी भस्म होकर ७वें नरकमें उत्पन्न हुआ। तो यहां यह बात दिखाई जा रही है कि बाहु नामक मुनिने अपना भाव छोड़ दिया और द्रव्यलिंगमें ही उसे सिद्धि जो हुई उसने उसके प्रयोगमें सब नगरको भस्म कर दिया, उस समयसे दंडक बन भस्म हुआ होगा। उसमें कहीं अंकुर न थे, ऐसा ही दण्डक बन था जहां एक बार श्रीरामचन्द्रजी भी पधारे थे, उनके आगमनसे वह दंडक बन भी हरा भरा हो गया, मगर यहां बताया जा रहा कि यदि भाव सही नहीं है तो मुनिभेष धारण करनेसे कोई लाभ नहीं होता।

अवरो वि दव्वसवणो दंसणवरणाणचरणपब्भट्ठो।
दीवायणो त्ति णामो अणंतसंसारिओ जाओ ॥५०॥

(९०) **कषायवश द्वीपायन मुनिकी दुर्दशा**—इस भावपाहुड ग्रन्थमें प्रसंग यह चल रहा है कि परमार्थभूत ज्ञानस्वभावके ज्ञानभाव बिना द्रव्यलिङ्ग धारण करना कार्यकारी नहीं है। इस विषयमें अनेक दृष्टान्त दिए गए। और अभी गत गाथामें बाहु मुनिका दृष्टान्त दिया। इसी तरह द्वीपायन मुनि भी हुए हैं जो द्रव्यश्रमण थे। सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्रसे भ्रष्ट हुए थे वे भी अनन्त संसारी हुए। ये द्वीपायन नेमिनाथ स्वमीके तीर्थमें हुए हैं। एक समय ९वें बलभद्र श्रीकृष्णके भाई बलदेवने श्री नेमिनाथ तीर्थंकरसे पूछा कि हे स्वामी यह द्वारिकापुरी समुद्रमें है, उस समय द्वारिकापुरी समुद्रमें एक टापू जैसी थी। तो इस द्वारिकापुरीकी स्थिति कितने समय तक रहेगी। वहां समवशरणमें उत्तर मिला कि रोहिणीका भाई जो द्वीपायन है, जो कि तेरे मामा हैं वह १२ वर्ष बाद मद्यपायियों का निमित्त पाकर क्रोधमें आकर इस नगरीको जला देगा। ये वचन सभीने सुन लिये। तो वह द्वीपायन मुनि दीक्षा लेकर पूर्व देशमें चला गया यह विचारकर कि हम १२ वर्ष व्यतीत करनेके लिए उसने तप करना शुरू कर दिया, और यहां बलभद्रने और नारायण श्रीकृष्णने द्वारिकानगरीमें मद्यनिषेधकी घोषणा करा दी कि यहां कोई मद्य न रख सकेगा, न पी सकेगा। उस समय मद्यके बर्तन, मद्यकी सामग्री सब कुछ दूर पर्वत आदिक

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

पर फिकवा दिया जस वक्त जो बर्तनमें पड़ी हुई मदिरा थी या मद्यकी सामग्री थी वह वहांके जलनिवासमें फैल गई। कहीं द्वीपायन मुनि होकर १२ वर्ष तक तपश्चरण करते रहे। जब द्वीपायनने समझा कि अब १२ वर्ष पूरे हो चुके तब वहांसे खुश होता हुआ द्वारिकानगरीमें आया। उसको इस बातकी खुशी थी कि मेरे यहां न रहनेसे द्वारिकापुरी बच गई। उस वर्ष १३ माहका साल था, वह गिननेमें भूल गया था, सो बिना १२ वर्ष बीते ही द्वारिकापुरीमें आ गया। उसने भगवानके वचनोंपर विश्वास न रखा और बड़ा खुश होता हुआ द्वारिकानगरीमें विराजा। उस समय क्या घटना घटी कि सम्भवकुमार आदिक अनेकों बालक क्रीड़ा करते हुए वनमें पहुंचे, वहां उनको प्यास बहुत लगी, सो पानीकीमें तलाश इधर-उधर भटकने लगे। तो वहां एक कुण्डमें पानी पीने लगे। उस मदिराके निमित्तसे वे कुमार उन्मत्त हो गए। उस समय उन कुमारोंने द्वीपायन मुनिको देखा और देखकर कहा—अरे यह बैठा है द्वीपायन जो द्वारिकानगरीको भस्म करने वाला है। सो क्रोधमें आकर उस द्वीपायन मुनिपर पत्थर, डले आदिक बरसाये। द्वीपायन मुनिको इतने पत्थर लगे कि वह वहीं भूमिपर गिर गया। उस समय द्वीपायन मुनिके इतना कठिन तेज क्रोध उमड़ा कि उनके बायें कंधेसे अशुभ तैजस शरीर निकला और वह चारों ओर फैला जिससे द्वारिकापुरी जलकर भस्म हो गई। और खुद भी भस्म हो गया। तो देखिये भावोंकी शुद्धि न होनेसे द्रव्यलिंग धारकर अपना व सारे नगरका विघात किया और असार संसारमें जन्ममरणकी परम्परा बांध ली। तो भावों की शुद्धि ही प्रधान है जिससे कर्म कटते हैं और शान्ति मिलती है।

भावसमणो य धीरो जुवईजणवेढ्ढिओ विसुद्धमई।
णामेण सिवकुमारो परीतसंसारिओ जादो ॥५१॥

(९१) **भावश्रमणतामें शिवकुमारकी प्रगतिका आरम्भ**—इस गाथामें यह बतला रहे कि अनेक निर्ग्रन्थ द्रव्यलिंगी मुनियोंने भावलिंग पाये बिना, बहुत अध्ययन करके भी बहुत अधिक तपश्चरण करके भी मोक्षमार्ग नहीं पाया। अब इस गाथामें यह बतला रहे हैं कि बहुत अधिक न जानकर भी अविकार ज्ञानस्वभावकी पहिचान पा लेनेसे शिवकुमार नामक मुनिने अपना कल्याण किया। शिवकुमारकी कहानी इस प्रकार है कि इस जम्बूद्वीपके पूर्व विदेहमें कलावतीदेश है जहां बीतशोकपुर नामक नगर है, वहां महापद्म नाम का राजा था, जिसके बनमाला नामकी रानी थी। उसके शिवकुमार नामका पुत्र हुआ। वह शिवकुमार एक दिन मंत्रीसहित बनक्रीड़ा करके नगरमें आ रहा था, सो रास्तेमें लोगोंको देखा कि वे पूजाकी सामग्री लिए हुए जा रहे थे। तो उसने अपने मित्रोंसे

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

पूछा कि मित्रो, ये लोग कहां जा रहे हैं ? तो मित्रोंने बताया कि सागरदत्त नामके मुनि ऋद्धिधारी इस वनमें विराजे हैं, उनकी पूजा करनेके लिए ये सब लोग जा रहे हैं। तो वह शिवकुमार भी मुनिके पास गया और वहां अपने पूर्वभव सुना। पूर्वभव सुनकर उसको वैराग्य जगा और जैनेन्द्री दीक्षा ली और दृढ़धर नामके श्रावकके घर इसने प्रासुक आहार लिया। तत्पश्चात् स्त्रियोंके निकट रहकर भी परम ब्रह्मचर्य पालते हुए असिधाराव्रत पालते हुए उसने १२ वर्ष तक तप किया और अन्तमें सन्यास मरण किया व्रत एवं समाधिमरणके प्रतापसे वह ब्रह्मकल्पमें विद्युन्माली देव हुआ। यही विद्युन्माली देव स्वर्गसे चयकर जम्बूस्वामी केवली हुए। जम्बूस्वामीकी कथामें बताया है कि उनके माता पिताने अत्यन्त आग्रह करके इनका विवाह किया। ८ रानियां थीं, लेकिन ये रानियोंके बीच रहकर भी विरक्त रहे और दो एक दिनमें ही जम्बूस्वामीने वैराग्य ले लिया। ये सब पूर्वभवकी विशुद्धियोंको बताने वाले संकेत हैं, तो यहां यह बतलाया जा रहा है कि भावशुद्धि होनेसे शिवकुमारने स्त्रीजनोंके बीच रहकर भी असिधारा व्रत, परम ब्रह्मचर्य व्रत निभाकर संसारसे पार पा लिया।

केवलिजिणपण्णत्तं एयादसअंग सयलसुयणाणं।
पढिओ अभव्वसेणो ण भावसवणत्तणं पत्तो ॥५२॥

(९२) **आत्मप्रतीतिरहित पुरुषके भावश्रमणताका अलाभ**—इस गाथामें यह बतला रहे हैं कि कोई पुरुष कितने ही शास्त्र पढ़ ले, किन्तु सम्यग्दर्शनरूप विशुद्ध परिणाम न हो, आत्माकी स्वच्छ दृष्टि न बने तो वह मोक्षको नहीं पा सकता। इसके लिए उदाहरण दिया गया है भव्यसेनका। भव्यसेन मुनि थे और उन्होंने केवली भगवानके प्ररूपे हुए ११ अंगोंको पढ़ डाला, इतने महान श्रुतका ज्ञान कर लिया, फिर भी भव्यसेन परम ज्ञानभावको प्राप्त न कर सका। भावलिंगी न हो सका। कोई ऐसा अगर जाने कि बाह्य आचरण करने मात्रसे सिद्धि होगी सो यह भी बात नहीं, और कोई यह समझे कि बाह्य क्रियामात्रसे तो सिद्धि नहीं है, किन्तु शास्त्रके पढ़ लेनेसे ही सिद्धि है तो यह भी सत्य नहीं। भव्यसेन द्रव्यमुनिने कितने ही शास्त्रोंका अध्ययन कर लिया, ११ अंग भी पढ़ लिया, परन्तु जिन वचनमें प्रतीति न हुई, आत्मस्वरूपमें श्रद्धा न जगी, उसने भावलिंग नहीं पाया। तो भाव पाये बिना, अविकार ज्ञान स्वरूपका अर्थ समझे बिना शास्त्र भी कोई पढ़ ले, क्रियायें भी कितनी ही कर डाले तो भी उसको सिद्धि नहीं होती।

तुसमासं घोसंतो भावविसुद्धो महाणुभावो य।
णामेण य सिवभूई केवलणाणी फुडं जाओ ॥५३॥

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

(९३) **भावविशुद्ध श्रमणकी केवलज्ञानपात्रता**—इस गाथामें यह बतला रहे हैं कि कोई शास्त्र भी न पढ़ पाये और उसके सहज अविकार ज्ञानस्वभावमें आत्मत्वकी प्रतीति हो जाय तो वह भी मोक्ष पा लेता है। ऐसी एक शिवभूति नामक मुनिकी घटना हुई है। शिवभूति मुनिने गुरुसे केवल इतना ही पढ़ा था, मा तुष मा रुष। वे इतने शब्द भी भूल गये और रट डाला तुषमाष। उसका उस समय कुछ अर्थ भी नहीं भासा, लेकिन एक घटनासे उनको अपने ज्ञानस्वरूपकी दृष्टि हुई तो उस मुनिने फिर केवलज्ञान प्राप्त किया कोई ऐसा समझे कि शास्त्र पढ़नेसे ही सिद्धि होती है सो ऐसी बात नहीं। देखो शिवभूतिकी कहानी, शिवभूति नामक मुनि गुरुके पास शास्त्र पढ़ते थे, पर उन्हें कुछ याद न रहता था, उनको कुछ धारणा न हो सकती थी तो गुरुने ये शब्द पढ़ाये थे मा तुष मा रुष इसका अर्थ है कि न राग करो न द्वेष करो संस्कृतमें ये शब्द हैं, ये शब्द उसे याद न होते थे तो मुनिने ये ही शब्द याद करनेको कहा। तो इतना तो उसे याद न रहा सो वह बोलने लगा तुष माष। और तुषमाष बड़ी प्रसिद्ध बात है। तुष कहते हैं छिलकाको। और माष कहते हैं उड़दकी दालको। तुष माष तुषमाष, ऐसा ही वह रटने लगा। वहां मा रुष मा तुष, ये शब्द विस्मरण हो गए, तुषमाष, इतना ही याद रहा। अब वह मुनि एक बार नगरमें जा रहा था तो दरवाजेके आगे एक महिला उड़द की दालको धो रही थी। शामको भिगो रखा था और सुबह धो रही थी तो धोनेमें छिलके अलग हो रहे थे और दाल अलग हो रही थी। तो उस महिलासे किसीने पूछा कि तुम यह क्या कर रही हो? तो उस महिलाने कहा कि तुष और माषको अलग-अलग कर रही हूं। जब यह बात मुनिने सुनी और देखा भी, तो तुषमाष शब्दका भाव यह जाना उस मुनिने कि यह शरीर तो है तुषकी तरह और आत्मा है माषकी तरह। उड़द और छिलके की तरह ये दोनों न्यारे न्यारे हैं। देह और जीव एक नहीं है। मैं देहसे निराला ज्ञानमात्र आत्मा हूं, सो वह आत्माका अनुभव करने लगा और चैतन्यमात्र शुद्ध आत्माका खूब परिचय बना और इस ही में लीन होकर इस ही शुद्ध आत्माके ध्यानके प्रतापसे घातिया कर्मोंका नाशकर केवलज्ञान प्राप्त किया। तो देखो भावोंकी निर्मलता कि जिसके प्रतापसे कोई शास्त्र भी न पढ़े, अन्य कुछ याद भी न रहे, लेकिन जो लक्ष्यभूत शुद्ध आत्मा है वह दृष्टिमें आ गया तो उसका भला हो गया।

भावेण होइ णग्गो बाहिरलिंगेण किं च णग्गेण।
कम्मपयडीय णियरं णासइ भावेण दव्वेण ॥५४॥

(९४) **भावनग्नके ही वास्तविक नग्नपना**—इस गाथामें कह रहे हैं कि जो भावसे

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

नग्न हो सो वास्तविक नग्न है। शरीरसे नग्न होनेका क्या अर्थ है ? शरीरसे नग्न होने के मायने वस्त्र त्याग दिया कोई पदार्थ शरीर पर न रखे, मुनि हो गए, यह तो बाह्य नग्न कहलाया और भावनग्न यह कहलाता कि भीतरमें किसी पदार्थमें ममता न रह सके किसी बाह्यपदार्थमें लगाव नहीं है, केवल चैतन्यमात्र आत्मतत्त्व ही दृष्टिमें रहे, आभ्यंतर १४ प्रकारके परिग्रहोंका त्याग हो वह भावसे मुनि हुआ। तो जो भावनग्न हुआ अर्थात् ज्ञानस्वभावकी दृष्टि सहित हो वही द्रव्यलिगमें रहकर कर्मप्रकृतिके समूहको नष्ट करता है। यदि भावलिंग न रहा तो द्रव्यलिंगसे लाभ क्या ? मोक्ष मिलता है निर्जरासे। कर्मोंकी निर्जरा हो तो मोक्ष मिलेगा। अभी थोड़े कर्म झड़े, अब ये झड़े, भव भवके सर्व कर्म झड़ चुके उसीका नाम मोक्ष है। तो कर्मकी निर्जरा द्वारा ही मोक्ष होता है और कर्मकी निर्जरा द्रव्यलिंगसे नहीं होती, किन्तु भावलिंगसे होती है। याने शरीरसे नग्न हो गए उससे कर्म नहीं खिरते, वह तो देहकी स्थिति है। आत्माके भाव बनें, ज्ञान में ज्ञान रहे, ज्ञानसे ज्ञानमें ज्ञान ही हो, कल्पनाओंका इकदम विलय हो, ऐसी स्थिति बने तो इस शुद्ध ध्यानके प्रतापसे कर्मोंकी निर्जरा होती है और कर्मनिर्जरा होनेपर ही मोक्ष होता है। सो भावसहित द्रव्यलिंग हो तो कर्मोंकी निर्जराका कार्य बने। सिर्फ द्रव्यलिंगसे कर्मनिर्जरा नहीं होती, इस कारण भावसहित द्रव्यलिंगको धारण करो, यह जिनेन्द्रदेवका उपदेश है।

णग्गत्तणं अकज्जं भावणरहियं जिणेहिं पण्णत्तं।
इय णाऊण य णिच्चं भाविज्जहि अप्पयं धीर ॥५५॥

(५५) **आत्मभावनारहित साधुकी नग्नताकी अकार्यता**—यदि भावशुद्धि नहीं है तो शरीरसे नग्न रहना निरर्थक है, उससे मोक्षमार्गके कार्यकी सिद्धि नहीं होती। ऐसा जिनेन्द्रदेवने बताया है। सो हे भव्य जीव, धीर बनकर हे मुने, तू निरन्तर आत्माकी दृष्टिका ही उद्यम कर। मुनि होनेपर बाह्यपरिग्रह कोई रहा नहीं, इस कारण झंझट का तो कोई काम ही नहीं। झंझट होते हैं कार्य आरम्भ करनेमें। जहां भिक्षावृत्ति बताई गई है और भिक्षाको अमृत बताया है याने जब मुनिको क्षुधाकी पीड़ा हुई तो एषणा-समिति पूर्वक वह भिक्षा चर्याके लिए भ्रमण करता है, वहां किसी श्रावकने भक्तिपूर्वक पड़-गाहा व आदर पूर्वक शुद्ध आहार दे दिया सो ले लिया। इस तरहसे आहार लेनेको अमृत कहा है क्योंकि वहां न पहले चिन्ता, न बादमें चिन्ता, न कोई कषाय और आहार करके २४ घंटे अपने ध्यानमें रहते हैं। उपबास करें तो महीनों आत्मध्यानमें रहते हैं। तो निर्ग्रन्थ दिगम्बर दीक्षा लेकर झंझट रंच भी नहीं रखते। उस समय आत्माका ध्यान

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

करनेका ही मुख्य काम रह जाता है। सो हे मुने, धीर बन और आत्माका ध्यान करने का ही अपना कार्य बना। आत्माका ध्यान ज्ञानस्वरूपमें कर। मैं सिर्फ ज्ञानमात्र हूं। यहां पुद्गल जैसा कोई पिण्डरूप नहीं है। सिर्फ ज्ञान ज्योति प्रकाश हूं। सद्भूत हूं। जैसे आकाश भी तो सत् है और वहां कोई पिण्ड नहीं है वास्तविक पदार्थ हैं, यह आत्मा भी वास्तविक पदार्थ है। आकाश तो परद्रव्य है, इस कारण उसका अनुभव तो हो नहीं सकता, किन्तु आत्मा तो स्वद्रव्य है। आत्माका जो यथार्थस्वरूप है उसका अनुभव करना कठिन नहीं है। सो अपनेको ज्ञानमात्र रूपसे तकना और इस ही प्रकार अपने ज्ञानमें ज्ञानको विषय बनाकर एकरस होकर इस ज्ञानरसका स्वाद लेना, ऐसी ज्ञानानुभूतिसे आत्माका यथार्थ परिचय होता है। जिसने एक बार भी ज्ञानस्वभावकी अनुभूति प्राप्त की, उसे इसमें उत्पन्न हुए सहज आनन्दकी स्मृति निराकुल रखती है और फिर यह ज्ञानी पुरुष बारबार इस ज्ञानानुभवका ही उद्यम करता है। अब जैसे यह ज्ञानानुभूतिमें ही स्थिर होता वैसे ही ज्ञानप्रकाश बढ़ता है और यह मोक्षके निकट पहुंच जाता है। तो कर्मोंके क्षयका साधन, मोक्षमार्गमें बढ़नेका साधन परमार्थ ज्ञानस्वभावकी भावनामें बढ़नेका साधन परमार्थ ज्ञानस्वभावकी भावना रखना है। यह मैं ज्ञानमात्र हूं। ज्ञान-रूप परिणमूं, बस इस ही को करता हूं। ज्ञानरूप अनुभवूं इस ही को भोगता हूं। यह सहज ज्ञानस्वरूप, यह ही मेरा सर्वस्व है, ऐसे ज्ञानभावमें निरन्तर बने रहना यह है मोक्षका उपाय।

देहादिसंगरहिओ माणकसाएहिं सयलपरिचत्तो।
अप्पा अप्पम्मि रओ स भावलिंगी हवे साहू ॥५६॥

(९६) **निःसंग आत्माभिमुख साधुकी भावलिंगिता**—भावपाहुड़ ग्रन्थमें यह प्रसंग चल रहा है कि परमार्थ ज्ञानस्वरूप भावलिंगके पाये बिना द्रव्यलिंगका आश्रय अनर्थक है, तो वह भावलिंग क्या है उसका वर्णन अब चल रहा है। देहादिक परिग्रहोंसे जो रहित है वह भावलिंग है। परिग्रह मूर्छाको कहते हैं, शरीरमें, विभावोंमें अन्य पदार्थोंमें ममत्व न होना, निजको निज परको पर जान, यह ज्ञान स्थिति होना यह है भावलिंग। अनेक अज्ञानी द्रव्यलिंग धारण कर लेते हैं, सर्वपरिग्रहोंका त्याग कर दिया, बाहरी परिग्रहोंका केवल शरीरमात्र रह गया मगर उस नग्न भेषमें उस दिगम्बर मुद्रामें ऐसा भाव रखना कि यह मैं साधु हूं तो उसने अभी देहका परिग्रह छोड़ा नहीं। बड़े-बड़े मुनिराज मंद-कषाय घानीमें पिलकर शत्रुपर क्रोध भी न करें और कहो अज्ञानी हों उसका कारण क्या है कि पर्यायमें साधुपनका भाव बना हुआ है, यह मैं साधु हूं, मुझको कषाय न

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

करना चाहिए। सबमें समता परिणाम रखना चाहिए। विरोधीपर क्रोध न करना चाहिए, ऐसा वह देहमें साधुपर्यायकी बुद्धि बना कर उस ही में अहंकी बुद्धि करके कर रहा है चेष्टा, वह अज्ञानी ही तो है। जब तक स्वतः सिद्ध सहज अविकार ज्ञानमात्ररूप अपने आपको न अनुभवे तब तक देहादिकके आश्रय की जाने वाली बुद्धि यह सब अज्ञान है। तो जो देहादिक परिग्रहसे रहित है वह है भावलिंगी।

(६७) **निर्मान आत्माभिमुख साधुकी भावलिंगिता**—भावलिंगी साधु मान कषायसे पूर्णतया रहित होता है, अगर साधु किसी असंयमी पुरुषसे वार्तालाप न करे तो यह अभिमानमें सामिल नहीं किया गया, किन्तु उस असंयमीसे कोई काम नहीं पड़ रहा इसलिए उस ओरसे मध्यस्थ है। कितनी ही ऐसी वृत्तियां होती हैं कि जिससे यह बात झलकती है कि लोग साधु होकर भी ऐसा मान रखते हैं कि छोटे लोगोंसे नहीं बोलते, अथवा सबके लिए समय नहीं देते, सबके बीच नहीं रहते, आदिक अनेक शंकायें हो सकती, मगर जिनको केवल अपने आत्मज्ञानसे प्रयोजन है उनका संबंध आत्मज्ञानमें सहायक लोगोंसे होता है अन्य जीवोंसे सम्बंध नहीं होता, तो यह अभिमान नहीं कहलाता, किन्तु यह तो उस आराधककी सम्पन्नता है। जहां रत्नत्रयकी साधनामें सहयोग होता है। वहाँतो साधुताका सम्बंध होता है और अन्य पदार्थोंमें अन्य जीवोंमें सम्बंध नहीं होता। हां उपदेशके समय सबके लिए उपदेश है, मगर अपने आपकी चर्चाका सम्बंध संयमी जनोंके बीच होता है। साधुजन अभिमानसे रहित हैं। अभिमानका कोई कहां तक निरख करे कि है या नहीं, कोई नम्रताके बड़े ढीले शब्द बोले, बड़ी कलासे बात करे और चित्तमें यह बात हो कि इस ढंगसे बात करनेमें हमारी इज्जत बढ़ती है तो वह उसका मान हुआ कि नहीं हुआ ? देखनेमें तो यह लग रहा कि यह तो बड़ा सरल है और अपने मुखसे अपने आपको हल्का कह रहा है, पर इन वचनोंसे क्या यह नियम बनता है कि उसके चित्तमें भी यही बात समायी हो ? वस्तुतः अभिमानसे रहित वही हो सकता है जिसने मान रहित ज्ञानमूर्ति अंतस्तत्त्वका अनुभव किया है। तो जो मानकषायसे पूर्ण अलग है वह भावलिङ्गी मुनि है।

(६८) **आत्मरत साधुकी भावलिङ्गिता**—भावलिङ्गी मुनीका तीसरा लक्षण इस गाथामें कह रहे हैं कि आत्मा आत्मामें रत हो वह भावलिंगी है, आत्माकी प्रवृत्ति है कहीं न कहीं रमण करना और इसे कहते हैं चारित्र स्वभाव। अब यह जीव कहां रमण करे ? बाह्यमें रमण करे तो इसको बाह्यमें हितकी आस्था है, मिथ्यात्व है, तब बाह्यमें रमण कर रहा, जिसको अपने स्वरूपमें श्रद्धा है कि यह मैं ज्ञानमात्र आत्मा

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

स्वयं हितमय हूं उसकी लगन आत्मामें बनेगी, सो जो आत्मा अपने आत्मामें रत हो वह साधु भावलिंगी कहलाता है। भावलिंगका अर्थ क्या है? आत्माका जो स्वभाव परिणाम है वह तो है भाव और इस ही भावरूप उपयोग रहे वह कहलाया भावलिंग। आत्मा अमूर्तिक और चैतन्यस्वरूप है। और उसका परिणमन जानना और देखना है। सो यह निरन्तर जानता और देखता है, किन्तु जब बाह्य निमित्तनैमित्तिकका सम्बंध है, शरीरादिक मूर्तिक पदार्थोंका सम्बंध है और उनका निमित्त पाकर अंतरंगमें मिथ्यात्व रागादिक कषायभावोंका सम्बंध है तो कल्याणके लिए क्या आवश्यक है अब? कि यह सब सम्बंध छूटे, ये औपाधिक भाव दूर होवें, और इसीलिए कहा जा रहा है कि बाहर में तो देहादिक परिग्रहोंसे रहित है भावलिंगी मुनि और अन्तरंगमें रागादिक परिणामसे रहित है। क्रोध, मान, माया, लोभादिक कषायें जहां नहीं हो और अपना जो शुद्ध ज्ञान चारित्ररूप चैतन्यभाव है उसमें लीन होता है, ऐसा निकटभव्य साधु भावलिंगी कहलाता है।

ममत्तिं परिवज्जामि णिम्ममत्तिमुवट्ठिदो।
आलंबणं च मे आदा अवसेसाइं वोसरे ॥५७॥

(६६) **भावलिङ्गी साधुका ममत्वपरिहार**—भावलिंगी साधुका कैसा अन्दरमें पौरुष होता है उसका निरूपण इस गाथामें है। इस ज्ञानी आत्माने निजको निज और परको पर खूब परख लिया है और निजके ही कारण जो स्वरूप है, स्वभाव है उसे स्वरूपसे जान लिया, और परपदार्थका उदय होनेपर, निमित्त होनेपर जो आत्मामें छाया, माया, विकार, प्रतिबिम्ब प्रतिफलन जो कुछ भी प्रभाव होता है उसको परभावरूपसे पहिचान लिया तो ऐसा स्वपरका परिचय करने वाला ज्ञानी अपने आपमें यह निर्णय किए हुए है कि मैं परद्रव्य और परभावसे ममत्व करना छोड़ता हूं। भिन्न-भिन्न जान लेना यह ही ममत्वका त्यागना है। यदि सही मायनेमें निज सहज स्वभावको परभावसे भिन्न परख लिया तो उसका ममत्व तो छूट ही गया। उसका दृढ़ निर्णय है कि मैं सर्व देहादिक परिग्रहोंसे ममताको छोड़ता हूं और निर्ममत्व जो अपना ज्ञानमात्र स्वरूप है उस स्वरूप में प्रसिद्ध होता हुआ मैं अपने भावोंका ही आलम्बन करता हूं। अब मेरे आत्माका ही आलम्बन रहे, शेष समस्त पदार्थोंका आलम्बन त्यागता हूं। इस जीवने परपदार्थका आलम्बन किया इसको यह सर्वस्व अनुभव रहा है, चित्तमें परपदार्थ ही बसाये, मेरा शरण अमुक पदार्थ है ऐसा निर्णय रखा और किसी परके वियोग होनेपर इष्टवियोगज नामक आर्तध्यान इसने किया। उनमें अशान्ति ही पायी, सो उन सब करतूतोंसे ऊबकर

Version 1

 http://sahjanandvarnishastra.org/

विवेकबलसे ज्ञान पाकर यह ज्ञानी अन्तरात्मा अपना यह निर्णय बनाये है कि मेरा तो एक आत्माका ही आलम्बन रहे, शेष समस्त परपदार्थोंके आलम्बनको मैं त्यागता हूं।

आदा खु मज्झ णाणे आदा मे दंसणे चरित्ते य।
आदा पच्चक्खाणे आदा मे संवरे जोगे ॥५८॥

(१००) **भावलिङ्गी मुनिकी आत्माभिमुखता**—यह भावलिंगी मुनि विचार करता है कि मेरे जो ज्ञानभाव प्रकट हो रहा है यह आत्मा ही तो है, ज्ञानमय आत्मा ही तो है। यह कुछ नहीं है। आत्माका स्वरूप ज्ञानमात्र है। ज्ञान ही अनन्यभाव है। उस ज्ञानके नाना परिणमनोंमें नाना बातें कही जाती हैं। पर मूलमें सहज यह ज्ञानस्वभावमात्र है, तो ऐसा ज्ञानमय मेरा आत्मा है। ज्ञान कुछ निराली चीज नहीं। ज्ञान है सो आत्मा ही है। ऐसा अपने ज्ञानस्वरूपमें आत्मत्वका श्रद्धान है इस निकट भव्यका। आत्मा ही दर्शन है, दर्शनमें भी आत्मा ही है। दर्शन कहते हैं सामान्यप्रतिभासको। स्वका परका, वस्तुका जो भेदरहित सामान्य प्रतिभास है, जो प्रतिभास आत्मप्रतिभासके रूपमें ही होता है वह दर्शन है। इस जीवके दर्शनपूर्वक ज्ञान हुआ करता है। जब तक केवलज्ञान नहीं हुआ तो पहले दर्शन याने जिस पदार्थको जाननेका यह उद्यम करता उसके लिए पहले यह आत्मबलरूपमें आत्मदर्शन करता, बादमें बाह्य पदार्थोंको जानता। तो इसका दर्शन ज्ञान क्रमपूर्वक चलता, यों सबके दर्शन चलते। जितने भी जीव हैं, दर्शन बिना कोई नहीं है और उस दर्शनमें अपने आत्माका ही प्रतिभास है, मगर अज्ञानी जीव क्षण क्षणमें आत्मदर्शन करता हुआ भी यह मैं आत्मा हूं ऐसा निर्णय नहीं बन पाता और जिसके यह निर्णय बन गया कि यह हूं मैं दर्शन मात्र प्रतिभास स्वरूप, उसको सम्यक्त्व हुआ। तो इस जीवके दर्शन पल पलमें होते रहते हैं। दर्शन हुआ, फिर ज्ञान हुआ। ज्ञान होनेमें तो वस्तुकी पकड़ दिखती है। इसे जाना मायने उपयोगमें ग्रहण किया, पर दर्शन में वस्तुकी पकड़ नहीं दिखती किन्तु अपने स्वरूपका स्पर्श होता है। फिर भी बाह्य ज्ञेय की आसक्तिमें यह तथ्य नहीं जान पाता। उसे कोई जानले कि इस दर्शनमें हमने यह आत्मस्वरूप स्पर्श किया तो उसही परिचयको तो सम्यग्दर्शन कहते हैं।

(१०१) **आत्मप्रतिभासका निरन्तर होते रहनेके पक्षकी उदाहरण पूर्वक सिद्धि**—जैसे कोई मनुष्य धनी बनना चाहता है। किसीने कहा कि अमुक समुद्रके किनारे जावो, वहां पर उस पहाड़में पारस पत्थर है उसे उठा लावो, फिर मनमाना लोहासे सोना बनाकर धनिक बन जावो। अब वहां पत्थर तो ढेरों थे और उनमेंसे पारस पत्थर एक दो ही थे, कैसे उसकी पहिचान हो, सो एक उपाय समझमें आगया। क्या, कि समुद्रके

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.vitragvani.com

किनारे सारे पत्थर इकट्ठे करवा लिये, समुद्रके जलके अतिनिकट एक जगह लोहेका खूंटा गाड़ दिया। उस खूंटे पर पत्थर मारना, उस खूंटेको देखना कि सोना बना या नहीं, नहीं तो उस पत्थरको समुद्रमें फेंकना। बस यही क्रिया उसने जारी कर दी। पत्थर उठाना, खूंटेपर मारना, खूंटेको देखना और समुद्रमें पत्थरको फैंकना। उसने हजारों पत्थर उठाये, मारे फैंके। कोई पारस न निकला, लोहा सोना न हुआ, परीक्षा करता गया। सो एक उसकी तेज धुन बन गई—उठाया, मारा, फेंका। इसी बीच एक पारस पत्थरको भी उठाया, मारा, फेंका। अब खूंटा तो स्वर्ण बन गया, मगर यह पारस पत्थर तो समुद्रमें चला गया। यह अपना माथा धुनने लगा—हाय मैंने हाथ लग जाने पर भी पारस पत्थरको व्यर्थ ही खोया, तो ऐसे ही समझिये कि हम आप लोगोंको दर्शन बराबर हो रहा, दर्शनपूर्वक ज्ञान होता, मगर ज्ञानने जिन विषयोंको जाना उन ज्ञेय पदार्थोंकी ओर वह ऐसा आसक्त रहा कि दर्शन आता, निकल जाता और पकड़ नहीं पाता कि यह है दर्शन। तो वह दर्शन जो सामान्यप्रतिभास है उसमें आत्मा है अर्थात् आत्मा दर्शनस्वरूप है।

एगो मे सस्सदो अप्पा णाण दंसणलक्खणो।
सेसा मे बाहिरा भावा सव्वे संजोगलक्खणा ॥५९॥

(१०३) **आत्माका स्वरूप सामान्यविशेषात्मक**—भावलिङ्गी साधु ज्ञानी अन्तरात्मा अपने आपमें ऐसा निरख रहा है कि मैं एक शाश्वत ज्ञानमात्र आत्मपदार्थ हूं। ज्ञान-दर्शनरूप हूं। आत्माका स्वरूप चेतना है। यह चेतना सामान्यविशेषात्मक है। आत्म-पदार्थ है ना ? जितने भी पदार्थ होते वे सब सामान्यविशेषरूप होते। तो आत्माका जो स्वभाव है, चैतन्य, तन्मय ही तो आत्मा है। तो आत्मा सामान्यविशेषात्मक है। इसका अर्थ यह ही तो हुआ कि चेतना सामान्यविशेषात्मक है। अब इस चेतनामें बाह्यपदार्थ का भेद न करके जो प्रतिभास हुआ है, वह तो है दर्शन और बाह्यपदार्थको जाना है विशेष रूपसे निर्णय किया है, वह सब है ज्ञान।

(१०४) **परपदार्थ व औपाधिकभावोंकी बाह्यरूपता**—आत्मा ज्ञानदर्शन स्वरूप है और बाकी जितने भी बाह्यभाव हैं सब संयोग लक्षणवाले हैं। बाह्य भावोंमें धन वैभव परि-जन मित्रजन ये सब आये। और बाह्यभावोंमें कर्म व कर्मविपाक तथा कर्मविपाकरस जो झलका है वह माया छाया प्रतिफलन विकल्प, वह भी अन्य भाव है। तो एक ज्ञानस्वभाव भावको छोड़कर अन्य जितने भी परिणमन हैं वे सब बाह्य भाव कहलाते हैं। वे सभीके सभी संयोग लक्षण वाले हैं। जैसे विषय कषायके भाव, ये जीवमें क्या अनादि अनन्त व

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

एक समान रहते हैं ? नहीं रहते। जैसा इनका अनुभाग उदयमें होता है उस रूप यह क्षण क्षणमें बदलता हुआ चलता है। तो यह संयोगरूप भाव है जिसकी आत्मामें प्रतिष्ठा नहीं है, जैसे दर्पणके सामने हाथ किया तो वह हाथ परभाव है और हाथका सामना पाकर जो दर्पणमें प्रतिविम्ब आया है, हाथ जैसा ही वह प्रतिबिम्ब भी दर्पणका बाह्य भाव है, संयोगरूप भाव है। जो भाव तन्मय होता है वह शाश्वत होता है, समान-समान होता है और जो भाव परपदार्थका निमित्त पाकर होता है वह असमान भाव है, विषम-भाव है। यहां सब संयोग रूप भाव है। तो जो संयोगरूप भाव है वह मैं नहीं हूं। और जो मैं सहजभाव हूं सो मैं हूं ऐसा विवेक जिनके बनता है वे अपने अंतस्तत्त्वको प्राप्त करते हैं। इस जीवनमें बाहर कहीं कुछ सार नहीं रखा। कुटुम्बका संयोग, मित्रका संयोग अथवा कहो मनुष्योंका संयोग यह एक अटपट विकल्पका कारण है और वहां स्थिरता नहीं होती। ऐसे अटपट विकल्पोंसे इस जीवको चतुर्गति भ्रमण करना पड़ता है। वहां यह पहिचानना चाहिए कि मेरा तो भाव वह है जो मेरे केवलसे ही उत्पन्न हुआ। किसी भी परपदार्थका निमित्त न हो, केवल एक आत्मा ही हो तो उसका जो प्रकाश है वह है स्वभाव और बाह्य पदार्थका सम्बन्ध पाकर जो विभाव बना है वह है विकार। विकार है दुःखका घर, और स्वभाव विकास है आनन्दका धाम।

(१०५) **आत्मत्वचिन्तनका महत्त्व**—भैया ! अपनेको तो अपनी रक्षा करनी है और अपने ही आत्मापर अपना वश चलता है। अन्यपर वश नहीं चलता। संसारी जीव सभी अपना-अपना कषायभाव लिए हुए हैं, ये हम आप भी अपना अपना कषायभाव लिए हुए हैं, तो किसीकी कषायके अनुसार बाह्यमें कोई बात नहीं बनती तो वह अपनेमें खेद मानता है। तो आनन्द तो तब हो कि जैसा चाहें, वैसे सब पदार्थ तुरन्त मिलें, यह बात बने। या यह बात बने कि किसी भी बाह्य पदार्थकी मेरेको चाह ही न रहे। इन दो में से कुछ हो सके, उसको तो वहां आनन्द प्राप्त हो सकता है। अब यह तो बड़ा कठिन है, असम्भव है कि जैसा मैं चाहूं वैसा ही बाहरमें परिणमन हो। ऐसा पुण्यवान कोई नहीं है कि जिसने जो चाहा उसको तुरन्त वह चीज प्राप्त हो। बड़े बड़े तीर्थंकर भी हुए, उन्होंने भी जिस समय चाहा उस समय वह पदार्थ हाजिर नहीं रहा। भले ही देव देवेन्द्र उनके सेवक रहे, वे परपदार्थोंको हाजिर करते रहे, पर सिद्धान्ततया तो विचारो कि जिस समय चाहका परिणाम है उस समय उस पदार्थका उपभोग कहां है।

यदि उस पदार्थका उपभोग होता तो उस विषयको भोगनेकी चाह ही क्यों जगती ? तो जब चाह है तब उपभोग नहीं और जब उपभोग मिला तब

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

वह पहली चाह रही नहीं, तो इस जगतमें आनन्द कहां कब आ सकता है ? जैसे कोई इतना गरीब है कि जब तक जवानी है, दांत मजबूत हैं तब तक उसे चने नहीं नसीब हुए और जब दांत टूट गए तब कुछ धनिक बने और चने सुलभ हुए, तो बताओ वह उन चनोंको कब खाये ? जब चाहा तब उस योग्य नहीं और जब उस योग्य हुआ तो वहां चाह नहीं। तो ऐसे ही जीवको जो परपदार्थविषयक इच्छा चलती है तो इच्छाके समय भोग उपभोग नहीं है। चाहे तीर्थंकर भी क्यों न हों, गृहस्थ तीर्थंकरकी बात कह रहे, वीतरागमें तो चाहका सवाल ही नहीं। तो बाह्यपदार्थकी चाह करना बिल्कुल व्यर्थ है। ये बाहरी पदार्थ व इन बाहरी पदार्थोंका निमित्त पाकर होने वाले अपनेमें जो विकारभाव हैं, ये सब संयोगरूप हैं। जो संयोगरूप हैं वे सब बाह्य भाव कहलाते हैं। जो ज्ञानी पुरुष हैं वे सब इन बाह्य पदार्थोंसे हटते हैं और अपने परमार्थ ज्ञानस्वरूपमें लगते हैं।

भावेह भावसुद्धं अप्पा सुविसुद्धणिम्मलं चेव।
लहु चउगइ चइऊणं जइ इच्छहि सासयं सुक्खं ॥६०॥

(१०६) **शाश्वतसुखलाभके लिये निर्मल अन्तस्तत्त्वकी भावना करनेका उपदेश**—हे मुनिजनो, यदि चार गतिरूपी संसार भ्रमणसे छूटकर शीघ्र शाश्वत सुखमय मोक्षको प्राप्त करना चाहते हो तो भावोंसे जैसे शुद्धि बने वैसे अतिशयकर विशुद्ध निर्मल आत्माकी भावना करो। संसारसे निवृत्त होनेका उपाय आत्माके अविकार सहज ज्ञानज्योति स्वरूपकी आराधना है और आराधना भी किस तरह ? कि यह मैं हूं, इस तरहकी दृढ़ भावना करके उसमें मग्न हो जाने रूप है, याने अभेद आराधना है। देखो ज्ञान वहां अभेद है, अभेद ही आत्माका ज्ञान करने वाला है उपयोग और जिसकी आराधना की जा रही है वह है अभेद उपयोगमय, सो यों जब ज्ञान ज्ञाता ज्ञेय तीनोंका अभेद बनता है तब ऐसी निर्विकल्प स्थितिमें उत्तम ध्यान बनता है, जिसका निमित्त पाकर भव भव के बांधे हुए सब कर्म कट जाते हैं और समस्त कर्मोंके दूर हो जानेसे आत्मामें कैवल्य प्रकट होता है। तो अपने आत्माको सुखी शान्त बनाये रहनेका उपाय अविकार निर्मल सहज ज्ञानज्योति स्वरूप अंतस्तत्त्वकी भावना है। यह जीव अपने आपमें अपनी रचना को निहारता है। मैं हूं, दर्शन ज्ञान आदिक अनन्त गुणोंका पिण्ड हूं, इस ज्ञानदर्शन स्वरूप आत्मामें किसी परपदार्थका प्रवेश नहीं होता। सो ज्ञानी अपने स्वरूपसे अपने आपके प्रतिभासका आनन्द लेता रहता है। इस प्रतिभासमें पवित्रता है, एकाकीपन है, निराकुलता है। तो ऐसे निराकुल स्वरूप अंतस्तत्त्वके ध्यानसे शाश्वत सुखरूप मोक्षकी प्राप्ति

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

होती है, इस कारण हे भव्य जीव, सहज शुद्ध अत्यन्त पवित्र अपने आपके सत्त्वसे अपने स्वभावरूप इस उपयोगमय अंतस्तत्त्वकी भावना भावो।

जो जीवो भावंतो जीवसहावं सुभावसंजुत्तो।
सो जरमरणविणासं कुणइ फुडं लहइ णिव्वाणं ॥६१॥

(१०७) **आत्मस्वभावभावनायुक्त श्रमणके निर्वाणका लाभ**—जो भव्य जीव तत्त्वकी भावना करता है, ज्ञानमय तिज स्वरूपको निरखता हुआ जीवके स्वभावको जानता है और उसकी आराधना करता है वह जन्म जरा मरणका विनाश कर प्रकट मोक्षको प्राप्त होता है। जीवके बारेमें कुछ न कुछ ज्ञान अनुमान सबको हो रहा है। जीव है, यह लोकमें प्रसिद्ध बात है और जीव शब्द कहकर लोग उसका व्यवहार भी किया करते हैं, पर यह जीव वास्तवमें क्या है, यह जीवके स्वभावका ज्ञान करनेपर ही ज्ञात हो सकता है। जिसको आत्माके स्वभावका यथार्थ ज्ञान नहीं है, बल्कि अन्य ऐकान्तिक दार्शनिकोंके उपदेश सुनकर विपरीत स्वरूपमें आत्माको परख रहा है वह पुरुष संसारमें परिभ्रमण करता, जन्म जरा मरणके दुःख सहता रहता है, किन्तु जो जीव आत्माके यथार्थ स्वरूपको जानता है और जानकर उस रूप उपयोग करके अनुभवता है वह पुरुष इन समस्त परिभ्रमणोंको दूर कर देता है। यह बात कुछ एकदम परोक्षमें नहीं है, तो स्पष्ट है, ऐसा ही निमित्तनैमित्तिक योग है। सारा जगतका परिणमन निमित्तनैमित्तिक योगपूर्वक चल रहा है। स्वतंत्रता तो यह है कि उपादान अपने आपमें ही परिणमता है। दूसरे पदार्थमें नहीं परिणमता। दूसरा पदार्थ आत्मामें नहीं परिणमन करता। यह तो है वस्तुस्वातंत्र्य, किन्तु परिणमन जो हो रहा है वह सब निमित्त पाकर हो रहा। निमित्त पाकर होनेमें कुछ निमित्तकी क्रिया नहीं पहुंच जाती। निमित्त तो केवल उपस्थित मात्र रहता है, वह अन्यमें परिणमन नहीं करता, किन्तु परिणमने वाले पदार्थमें कला ही ऐसी होती है कि वह कैसे पदार्थका सान्निध्य पाकर किस रूप परिणम जाय? ऐसी योग्यता, ऐसी कला यह उपादानमें होती है, पर वह कला निमित्त पाकर प्रकट होती है, इतना भर निमित्तनैमित्तिक योग है।

(१०८) **आत्मस्वभावके आश्रयका प्रभाव**—जब जीव अपने शाश्वत ज्ञानस्वभावकी सुध लेता है तब तो कर्मबन्धनसे यह छूटता है और स्वरूपको भूलकर बाह्य पदार्थोंमें उपयोगको लगाता है तो कर्मबंधनसे आक्रान्त हो जाता है। यह भी सब निमित्तनैमित्तिक योगकी बात है। यहां कोई निमित्त सद्भावरूप होता है, कोई अभावरूप होता है। तो सद्भावरूप निमित्तका सन्निधान पाकर उपादानमें विषम परिणमन होता है,

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

यह तो प्रत्यक्षसिद्ध बात है, पर अभावरूप निमित्त होनेपर जो पदार्थमें विशुद्ध परिणमन होता है सो वह यदि सूक्ष्म दृष्टिसे विचारा जाय तो उसका यह अर्थ है कि पहले निमित्त का सान्निध्य पाकर जीवमें विकाररूप परिणमन होता था। अब उस निमित्तका अभाव हो जानेपर विकाररूप परिणमन नहीं हो पाता है। और विकाररूप परिणमन नहीं हो रहा तो कुछ तो परिणमन है। तो वही कहलाता है शुद्ध परिणमन। जो पुरुष आत्माके सहज यथार्थ स्वरूपको जान जाय जैसा कि निर्विकार स्वभावानुरूप यथार्थ पर्यायके होनेपर वहां सहजस्वरूप जल्दी जान जाता है ऐसे इस अनादि अनन्त शाश्वत ज्ञान-स्वरूपकी जो भावना करता है वह पुरुष जन्म, जरा, मरणका नाश करके शीघ्र निर्वाण को प्राप्त होता है।

जीवो जिणपण्णत्तो णाणसहावो य चेयणासहिओ।
सो जीवो णायव्वो कम्मक्खयकरणणिमित्तो ॥६२॥

(१०९) **कर्मक्षयका कारणभूत आराधन**—जिनेन्द्र सर्वज्ञदेवने जीवका स्वरूप ऐसा बताया है कि वह ज्ञानस्वभाव वाला है, हम आप जब अन्तर्दृष्टि करके कुछ निहारने चलते हैं तो ज्ञानज्योति जाननस्वरूप, यह कला विदित होती है, सो वह ज्ञानस्वभावपने को प्रकट करता है। जीव ज्ञानस्वभावरूप है। तब ही तो उससे ज्ञानकी वृत्तियां प्रकट होती हैं। ज्ञानस्वभावरूप क्यों है कि यह चेतन है, चैतन्यस्वभावमय है और चैतन्य-स्वभाव सामान्य विशेषात्मक है, क्योंकि चैतन्यमात्र ही तो आत्मद्रव्य है और प्रत्येक द्रव्य सामान्यविशेषात्मक होता है। तो आत्मामें जो सामान्य चेतना है वह तो है दर्शन गुण और जो विशेष चेतना है वह है ज्ञान गुण, सो यह जीव ज्ञान दर्शन चेतना सहित है। तो ऐसे जीवकी जब आराधना चलती है अर्थात् मैं यह हूं, मैं यह हूं, इस तरहका जब दृढ़ अभ्यास बनता है तो यह शब्दावलि भी शान्त हो जाती है। यह अन्तर्जल्प भी नहीं रहता है किन्तु अपनेको ज्ञानमात्र निरखकर ज्ञानरूप ही अनुभवन बनता है। तो ऐसा यह अनुभव कर्मोंके क्षयका कारण रूप है।

(११०) **ज्ञानस्वरूप आत्माके स्वरूपकी स्वीकारतामें अद्भुत प्रकाश**—यहां जीवको चेतनासहित बताया। इसमें उन सिद्धान्तोंका निराकरण हो जाता है जो जीवको चेतना-सहित नहीं मानते, किन्तु पृथ्वी जल अग्नि वायुका संयोगरूप मानते हैं। अच्छा, जीवको चेतनासहितसांख्य सिद्धान्त वाले भी मानते हैं, किन्तु वे ज्ञानस्वभावरूप नहीं मानते, ज्ञानको प्रधानका याने प्रकृतिका धर्म कहते हैं। और, जीवनको उदासीनरूप नित्य, अपरिणामी चेतनारूप मानते हैं। सो ज्ञानस्वभाव है आत्मा, ऐसा कहनेसे उस एकान्त-

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

मतका निराकरण हो जाता है। जीव यदि परिणमे नहीं तो जो वस्तु परिणमता नहीं है वह सत् ही नहीं हुआ करता। आखिर किसी न किसी दशामें तो वस्तुका रहना होता ही है। सो आत्मा ज्ञानस्वभावी है, चैतन्य स्वभावी है, परिणमन निरन्तर करते रहने वाला है। सो जो स्वरूप है, स्वभाव है वह तो वही सदा रहता है किन्तु परिणमन भिन्न भिन्न समयमें भिन्न भिन्नरूप होते जाते हैं। सो यह जीव इस स्वभावरूपमें जाना गया होकर कर्मके विनाश करनेमें निमित्त बनता है। यहां एक बात और समझना है कि जीवकी आराधना गुण गुणीके अभेदरूप हुआ करती है। और गुण गुणीका अभेदरूप ध्यान बनना तब ही सम्भव है जबकि एकस्वरूप हो, तो यहां गुण गुणीमें भेद नहीं है, रंच भी भेद नहीं है, किन्तु प्रतिबोधके लिए संज्ञा लक्षण आदिक द्वारा उसमें भेद किया जाता है। तो जो नैयायिक आदिक गुणगुणीमें सर्वथा भेद मानते हैं, गुणको अलग पदार्थ और द्रव्यको अलग पदार्थ मानते हैं तो इस आराधनाके उपदेशमें उस एकान्त मतका निराकरण हो जाता है। तो जो जीवके स्वरूपको अपने स्वभावरूपसे भाते हैं, उनके तो कर्मका क्षय होता है और जो जीवको अन्य विपर्यय रूपसे भाते हैं उनके कर्मक्षय नहीं होता।

जेसिं जीवसहावो णत्थि अभावो य सव्व हा तत्थ।
ते होंति भिन्नदेहा सिद्धा वचिगोयरमदीदा ॥६३॥

(१११) **आत्मस्वभावकी आराधनामें आत्मोपलब्धि**—जिन भव्य जीवोंके जीव नामक पदार्थ सद्भावरूप हैं स्वभावरूप है भेदरूप नहीं है, ऐसी श्रद्धा है और जिस स्वरूपमें जीव है उसी स्वरूपमें जिसकी दृढ़ आराधना बनती है वे भव्य जीव देहसे विमुक्त होकर सिद्ध होते हैं। सिद्धका स्वरूप वचनोंसे नहीं कहा जा सकता। जो कुछ वचनोंसे कहा भी जा रहा तो उसका अर्थ वे ही समझ पाते हैं जिनको शुद्ध स्वरूपके सम्बंधमें अभेद-ज्ञान हुआ है। जीव स्वद्रव्यपर्यायस्वरूप है, सो द्रव्यदृष्टिसे जब निरखते हैं तो वह कथंचित् याने द्रव्यदृष्टिसे अस्तिरूप है, नित्यरूप है और जब इस ही जीवको पर्यायस्वरूपसे देखते हैं तो एक पर्याय दूसरी पर्यायसे बिल्कुल जुदी है और पर्यायका स्वरूप और द्रव्य का स्वरूप जुदा है, तब वह जीवस्वरूप और द्रव्यका स्वरूप जुदा है, तब वह जीव पर्यायस्वरूपकी दृष्टिसे जैसा कि पहले द्रव्यार्थिकनयमें देखा था वह नहीं है, इस कारण नास्तित्वरूप है, तथा अनित्यरूप है। पर्यायका स्वभाव ही यह है कि जो एक समयमें है वह दूसरे समयमें नहीं होता। सो जब जीव द्रव्यपर्यायस्वरूप है, भावकी भी परिणति होती है और प्रदेशके संकोच विस्तारकी भी परिणति होती है तो इस संसार अवस्थामें

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

जीवके कर्मका निमित्त पाकर मनुष्य, तिर्यंच, देव, नारक, पर्याय हुआ करते हैं। जो इन पर्यायोंका अभाव दिखता है, सो अभी तक मनुष्य थे, अब मनुष्य न रहे ऐसा निरखकर कहा करते हैं कि जीव मिट गया, जीवका अभाव हो गया, जीवका नाश हो गया। मगर द्रव्यदृष्टिसे देखिये तो जीव तो नित्य स्वभावरूप है। उसकी पर्यायका अभाव होनेसे कहीं जीवका सर्वथा अभाव नहीं हो गया। वह तो देहसे अलग हुआ अभी, सो संसार में अन्य देहमें चला गया, और मुक्त अगर होना है तो देहसे निराला होकर सिद्ध हो गया है, तो वह सिद्ध वचनके गोचर नहीं है। तीन लोक, तीन कालके समस्त सत् अवश्य होकर वहां ज्ञानमें झलक रहे हैं। सो जो जीव देहको नष्ट होता हुआ देखकर जीवको सर्वथा नष्ट मानते हैं उनकी दृष्टि विपरीत है, वे सिद्ध होनेका मार्ग नहीं पा सकते।

अरसमरूवमगंधं अव्वत्तं चेयणागुणमसद्दं।
जाण अलिंगग्गहणं जीवमणिद्दिट्ठसंठाणं ॥६४॥

(११२) **आत्माका असाधारण लक्षण**—जीवका स्वरूप वचनके अगोचर है। वचन के अगोचर होनेपर भी आत्मा अनुभवगम्य अवश्य है, क्योंकि अनुभव करने वाला स्वयं जीव है। तो जो ज्ञानमय पदार्थ है वह अपने आपके स्वरूपको न जान सके, यह अंधेर न होगा, जानता है। तो वह जीव स्वरूप क्या है उसका निरूपण इस गाथामें किया है—जीव, रूप, रस, गंध, स्पर्श और शब्दसे रहित है। इन ५ बातोंमेंसे रूप, रस, गंध और स्पर्श ये तो गुण हैं और पर्याय हैं। गुण तो यह ही है शक्तिरूप और इसकी जो अवस्था होती है वह है पर्याय, किन्तु शब्द सिर्फ पर्यायरूप है। शब्द गुण नहीं है। हां शब्द जिनसे उत्पन्न होते हैं ऐसे भाषावर्गणाके जो पिण्ड हैं वे द्रव्य हैं और इनमें स्वयं रूप, रस आदिक गुण पाये जाते हैं। तो जीवमें ये ५ ही बातें नहीं, न तो जीवमें रसगुण है, न रूपगुण है, न गंधगुण है, और न स्पर्शगुण है और न जीवमें इन चार गुणोंकी पर्यायें हैं। जैसे रस गुणकी पर्याय है खट्टा मीठा आदि, रूपकी पर्याय है हरा पीला आदिक, गंधकी पर्याय है सुगन्ध दुर्गन्ध आदिक और स्पर्शकी पर्याय है चिकना रूखा आदिक, ये भी जीव में नहीं हैं, शब्द पर्याय भी जीवमें नहीं है, किन्तु क्या है? चैतन्यगुण है। जीव चैतन्य-स्वरूप है, वह किसी भी लिंग लक्षणके द्वारा, परिचय चिन्हके द्वारा ग्रहणमें नहीं आता। जैसे मीठी वस्तुका कोई वर्णन करे तो उस मीठी वस्तुका तथ्य शब्दों द्वारा समझमें नहीं आता, किन्तु जब उसे खाये तो उससे समझमें आता है, तो ऐसे ही अनुभव गम्य है यह जीव पदार्थ। इस जीव पदार्थमें कोई संस्थान निर्दिष्ट नहीं है कि यह जीव चौकोर है,

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

यह गोल है। हां जैसे दीपक मटकेके अन्दर रखा है तो उसका प्रकाश मटका रूप है, अगर कमरेमें रखा है तो वह प्रकाश कमरेरूप है तो ऐसे ही जो जीव जिस देहमें है उसका उतना ही प्रसार है किन्तु स्वयं अपने आप इसका नियत आकार कुछ नहीं है।

(११३) **भावोंपर भविष्यकी निर्भरता**—जीवका सुधार अपने भावोंके सुधारपर निर्भर है। भावोंसे यह जीव सुख दुःख पाता रहा तो भावोंसे ही सुख दुःखसे छूटकर निर्वाणको पायगा। अनादिसे अब तक यह जीव अपने ही भावोंके विकारसे अपनेको अनुभव करता रहा और जन्ममरणके दुःख सहता रहा। इन दुःखोंमें भी किसी दूसरेका हाथ न था। तो अब दुःखोंसे छूटना है तो अपने ही भावोंकी सम्हाल करना है, उससे ही दुःखोंसे छुटकारा प्राप्त हो जायगा। अपने भावोंकी सम्हालसे मौलिक सम्हाल है आत्माका ज्ञान। आत्माका अपने आप सहज जो भी स्वरूप है, अपनी ही सत्ताके कारण स्वयं का जो स्वभाव है, उस स्वरूपमात्र अपनेको जानना, अनुभवना, यह संसारके दुःखों से छूटनेका उपाय है। तो अपनेको वैसा समझना चाहिये, वास्तविकता क्या है इसीका वर्णन इस गाथामें चल रहा हैं। अपनेको अनुभव करो कि मुझमें क्या है और क्या नहीं है, इस तरहका ज्ञान बनाओ और उस द्वारसे फिर अपने आपके अन्तः प्रवेश कीजिये।

(११४) **आत्माकी स्वरूपमात्रता व अमूर्तता**—मैं रसरहित हूं, रस पुद्गल द्रव्यका गुण है, पुद्गल द्रव्यकी परिणति है, पुद्गलका भाव है, उससे इस मुझ जीवका क्या सम्बंध ? मैं न रस वाला हूं, न स्वयं रस हूं और न रसको यों व्यक्त समझनेका वर्तमान बाह्य साधन द्रव्येन्द्रिय मैं हूं। द्रव्येन्द्रिय याने स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु आदिक, ये रंच भी कुछ नहीं जानते, किन्तु ये सब जाननेके साधन हैं। जानने वाला यह आत्मा है। सो इस विषयका जो ज्ञान है वह भावेन्द्रिय कहलाता है। उस भावेन्द्रियसे भी मेरा तादात्म्य नहीं अर्थात् भावेन्द्रिय क्षायोपशमिक भाव है। मैं रसको ही जानता हूं, पर केवल रसको ही नहीं जानता, सबको जानता। जाननेका मेरा स्वभाव ही है। तो केवल रसको जाननेसे क्या मैं रसरूप हो जाऊंगा ? नहीं, मैं तो उससे अत्यन्त भिन्न हूं। मुझमें रस नहीं, रूप नहीं, गंध नहीं, स्पर्श नहीं, शब्द नहीं। पञ्चेन्द्रियके विषयभूत इन ५ बातोंसे मैं अत्यन्त निराला हूं। ये पौद्गलिक हैं। प्रायः लोग इस देहको देखकर इस देहरूप अपनेको अनुभवते हैं सो ऐसा समझते हैं कि मैं काला हूं, गोरा हूं आदि, अनेकरूप अपनेको मानते हैं, पर यह मैं आत्मा आकाशवत निर्लेप हूं, अमूर्त हूं, अपनेको ऐसा ही अनुभव करो कि जैसे आकाश अमूर्त है वैसे ही मैं भी अमूर्त हूं। आकाश तो अनन्तप्रदेशी सर्वव्यापक है, मैं अनादिसे बंधनमें चला आया, ऐसा मैं जिस शरीरमें पहुंचता हूं

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

उस शरीरके ही आकार रहता हूं। रहूं किसी भी आकारमें, यह तो एक कारणकी बात है, मगर मैं अमूर्त हूं, मुझमें रूप, रस, गंध, स्पर्श नहीं हैं, शब्द तो पुद्गल द्रव्यके संयोग वियोगसे होने वाली एक पर्याय है और रूप, रस, गंध, स्पर्श आदिक ये शक्ति भी हैं और पर्याय भी हैं। परिणमनपर दृष्टि दें तो पर्याय हैं और सदा रहने वाली शक्तियोंपर दृष्टि दें तो गुण हैं। मैं इन रूप नहीं हूं।

(११५) आत्माकी चैतन्यगुणमयता—मैं रसादि नहीं हूं तो फिर क्या हूं? चेतना गुण हूं, अमूर्त होनेपर भी जिसमें चेतना है, जानन है, ज्ञान है, प्रतिभास है, ऐसा एक अद्भुत पदार्थ मैं जीव हूं। अब समझ लीजिए कि ऐसे चेतना गुण वाले मुझ जीवका किसी भी अन्य द्रव्यके साथ क्या सम्बंध है? एक द्रव्यका दूसरा द्रव्य कुछ नहीं होता। न स्वामी है, न कर्ता है, न भोक्ता है। प्रत्येक द्रव्य अन्य समस्त द्रव्योंसे पृथक् स्वतंत्र सत्ता वाला है। मैं भी अपने ही स्वरूपमें अपनी स्वतंत्र सत्ता रखता हूं, अनन्त हूं। इसका किसी दूसरे पदार्थसे कोई सम्बंध नहीं। एक तो जीवको साधारण घटना रूपसे देखना और एक अपने आत्माको अपने सहज स्वरूपमें निरखना। घटनारूपसे भी देखें तो यह जीव किसी दूसरे पदार्थका कुछ नहीं करता। हां उसका योग और उपयोग निमित्तमात्र होता है। सो वहां निमित्तपनेसे बढ़कर यह जीव कर्तारूपमें मानने लगता है, मैं कर्ता हूं ऐसा मानता है। मैं आत्मा भी भावोंके सिवाय अन्य कुछ कर ही नहीं सकता। हाथ पैरका उठाना, चलना फिरना आदिक इन क्रियावोंको भी यह जीव नहीं करता। जिस जीवकी चर्चा चल रही है उस स्वरूपमात्र जीव इन क्रियावोंका निमित्त भी नहीं है, पर उस जीवमें कुछ योग और उपयोग होता है। मायने चेतना गुणके परिणमनमें तो उपयोग बना और आत्माके प्रदेशोंसे योग बना। मायने भीतर हलन-चलन होना, प्रदेशोंमें परिस्पंद होना यह तो है योग और किसी पदार्थमें अपना दिल जाना, उपयोग लगना यह हुआ उपयोग। सो ये योग और उपयोग ये भी उठने बैठनेकी क्रियावोंके कर्ता नहीं है, किन्तु ये निमित्तमात्र हैं। जीवमें योग हुआ, उपयोग हुआ, इच्छा हुई, भावना जगी, इन बातोंका निमित्त पाकर शरीरमें वायुका संचरण हुआ और चूंकि जिस प्रकारकी इच्छा की थी उसके अनुरूप वायुका संचरण हुआ, तो उसीके अनुरूप हाथ पैर चले। वस्तुतः मैं जिसमें आत्माका अनुभव करूं या जो सहजस्वरूप है, वह इन क्रियावोंका करने वाला नहीं है। योग उपयोग निमित्त हैं। तो जब मैं सिवाय अपने भावोंके कुछ कर ही नहीं सकता तो फिर अन्य द्रव्योंसे मेरा क्या सम्बन्ध रहा और फिर क्यों मैं अन्य पदार्थोंको विकल्पोंमें इतना छाकर रहूं? यह सब भ्रम रूप है जिससे यह जीव

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

बड़ा परेशान है। लोग तो सोचते हैं कि मेरा अच्छा घर हैं, मेरा परिवार अच्छा है, मुझको बड़ा सुख है और वे अपनेमें संतोषकी श्वांस लेते हैं, मगर यह सब एक अज्ञान भरी बात है। अज्ञानी जीवको पता क्या कि ये सब विपत्तिरूप हैं। जिसे यह ज्ञान जग गया कि मैं आत्मा चैतन्यस्वरूपमात्र हूं उसे ये सब विपत्तिरूप लगते हैं।

(११६) **चैतन्यमयताके साक्षात् परिचयका उपायभूत मनन**—जीवका बाहरी बातोंमें उपयोग जगना यह तो जीवके लिए कलंक है और यह उसके लिए बड़ी भारी विपत्ति है। इस जीवका यह कलंक तब मिटेगा जब कि यह मोक्षमार्गमें बढ़ेगा, चलेगा और अरहंत सिद्ध अवस्था पायगा। मैं चेतनागुण मात्र हूं, यह अनुभव करना। और भैया सीधे सादे रूपसे इन शब्दोमें अनुभव कीजिए कि मैं अमूर्त हूं, ज्ञानमात्र हूं। अमूर्त हूं, ऐसा सोचनेके साथ ही आकाशवत् जिसे कहो शून्य, कुछ भी पिण्ड नजर न आये, इस तरहका अपनेको अनुभवना और ज्ञानमात्र कहते ही केवल ज्ञानस्वरूप, जो जान रहा है उस ही जाननका स्वरूप अपनेमें अनुभवना, ऐसी मुख्य ये दो बातें आनेपर याने अपनेको अमूर्त और ज्ञानमात्र अनुभवनेपर इसके भीतर आत्मदृष्टि जगती है और ऐसा अलौकिक अनुभव आता है कि सारे संकटोंका बोझ दूर हो जाता है। तो यह मैं परमार्थतः चैतन्य-गुण स्वरूप हूं।

(११७) **अलिङ्ग अन्तस्तत्त्वकी अलिंगग्रहणता**—इस अपने अंतस्तत्त्वको, अपने ज्ञान-स्वरूपको हम किसी लिङ्गसे पहिचान नहीं सकते। जिसकी यह श्रद्धा और दृष्टि बनी है कि मैं पुरुष हूं वह कभी आत्मदर्शन नहीं कर सकता। जिसमें यह सत्य श्रद्धा बनी है कि मैं स्त्री हूं अथवा पुरुष हूं अथवा नपुंसक हूं, वह आत्मदर्शन नहीं कर सकता। आत्म-दर्शनकी तैयारी पर जब आये तो इन सब पर्यायोंरूप अपनेको भूलना होगा। में इन सब रूप नहीं हूं ऐसा निर्णय करना होगा। मैं यह देह ही नहीं हूं, फिर स्त्री पुरुष आदिक की तो कथा ही क्या है? शरीर से ही जब मैं न्यारा हूं तो वे तो सब एक समान हैं। आत्मा चाहे पुरुष रूप हो चाहे स्त्री रूप हो, वह सब पूर्णतया एक समान स्वरूप वाला है, इसमें पुरुष स्त्रीका कोई फर्क नहीं है, बल्कि जो अपनेको पुरुष माने अथवा स्त्री माने वह अपना विघात कर रहा है। वह अपने आपका दर्शन नहीं कर सकता। इन चिन्हों को, इन लिङ्गोंको बिल्कुल भूल जाना होगा। ये मैं कुछ नहीं हूं। मैं तो एक अमूर्त चेतनामात्र हूं। जब मैं ये पुरुष, स्त्री आदिक रूप वाला भी नहीं हूं तो फिर इन धन वैभव आदिक वाला अथवा इन रूप तो मैं हो ही कैसे सकता हूं? इस कुटुम्ब परिवार वाला भी मैं नहीं हूं। ये कुछ भी मेरे नहीं हैं फिर भी जिनको बड़ा मोह है धन वैभव

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

कुटुम्ब परिजन आदिकमें वे तो अनन्त संसारी प्राणी हैं। उनमें और पशु-पक्षियोंमें कोई अन्तर नहीं है; बल्कि उनसे कोई कोई पशु पक्षी अच्छे हैं, क्योंकि उनके भी विवेक हो सकता है। होता जिन किन्हीं बिरलोंको है। वह जिन्दगी भी क्या जिन्दगी है जो मोहमें लिपटी हुई जिन्दगी है। वह तो एक मूर्खतापूर्ण जिन्दगी है। सत्य बात ध्यानमें लाइये कि मैं इन सबसे निराला केवल चेतनामात्र हूं। यह किसी लिङ्गसे चिन्हसे परिचयमें नहीं आ सकता। इन लिङ्गोंकी तो अत्यन्त उपेक्षा हो। मानो वे हैं ही नहीं। ऐसी तीव्र उपेक्षा होनेके साथ यह जीव जब स्वरूपमें चले बर्ते, तो इसको पता पड़ सकेगा कि मैं यह आत्मा हूं। अनेक लोग मोहवश मिथ्यात्ववश यह समस्या रख देते हैं कि हमें दिखाओ कि आत्मा कहां है? अरे यह आत्मा इन चर्मइन्द्रियोंसे दिख ही नहीं सकता, बल्कि इन्द्रियोंसे देखनेका कोई प्रयत्न करे तो नियमसे वह अदृश्य रहेगा। यह तो ज्ञानके ही द्वारा ज्ञानस्वरूप अनुभव में आता है। जो अपनी स्थिति यह बना पायगा कि ज्ञानसे ज्ञानमें ज्ञान ही हो, कल्पनाओंका इकदम विलय हो वह पुरुष इस भगवान आत्माका दर्शन कर पायगा। तो यह परमार्थ आत्मतत्त्व अलिङ्गग्रहण है। किसी लिङ्गके द्वारा ग्रहणमें नहीं आता।

(११८) आत्माकी संस्थानरहितता—इस जीवका कोई संस्थान नहीं है, कोई आकार नहीं है। इस जीवका आकार होकर भी उसे निराकार बताना यह तथ्य किन-किन दृष्टियों से है। जीवमें आकार स्वयं सहज नहीं। यदि यह जीव धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्यकी तरह सहज ही पर्यायसे भी निर्मल शुद्ध होता तो इसका आकार नियत रहता। धर्मद्रव्य अधर्म-द्रव्य सहज लोकाकाशमें व्यापक है, मगर ऐसा जीव कभी नहीं हुआ कि जो अनादितः पर्यायसे स्वयं शुद्ध हो। यह जीव अनादि कालसे कर्मोंमें बंधा, अनेक शरीरोंमें आया नाना आकाररूप चल रहा है। कैसा विचित्र निमित्तनैमित्तिक भाव है। कीड़ेमें जीव है तो कीड़ेके शरीरप्रमाण ही तो यह जीव रहा, हाथीमें जीव है तो वहां हाथीके शरीर प्रमाण जीव रहा। आज मनुष्य है तो मनुष्यके शरीरप्रमाण जीव रहा। जिस जिस शरीरमें यह जीव गया उस उस शरीरके आकार यह जीव रहा। यह अन्य तरह कैसे हो? जब शरीरमें यह बद्ध है तो यह कैसे अन्य आकारमें जाय? भले ही समुद्घातकी स्थितियोंमें कुछ स्थितियोंसे अन्य आकार बन जाता है मगर मूल शरीर तो नहीं छोड़ता। तो नाना आकारोंमें जो यह जीव रहा है तो वह देहबंधनके कारण रहा है। यदि इन नाना आकारोंरूपमें कोई अपनेको देखे, जैसे इस पैरमें भी जीव है इस हाथमें भी जीव है, इस अमुक हिस्सेमें भी जीव है, तो उसे इस आत्मा भगवानके दर्शन नहीं होते। भले

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

हो उन सब हिस्सोंमें जीव है मगर इस तरह हिस्सेके निगाहसे उस उस आकारमें जीव को देखे तो उसे भगवान आत्माके दर्शन नही होते। जीवकी नाना परिणतियां बन रही हैं जैसे जीव क्रोधी है घमंडी है, लोभी है, सुखी है, दुःखी है, शान्त है आदिक। इन सब परिणतियोंपर भी दृष्टि दें और इन परिणतियोंकी निगाहसे भी देखें तो वहां इस भगवान आत्माका दर्शन नहीं होता। इस भगवान आत्माका दर्शन होता है भावों रूपसे ही जीवको देखनेपर। इस भावपाहुड़ ग्रन्थमें भावोंकी नाना विशेषतायें बताकर इस दर्शन ज्ञानस्वरूप सामान्य भावमें अपनेको उपयोगी बनाना चाहिये। यहां यह शिक्षा दी जा रही है कि मैं ज्ञानसामान्य हूं। जीवका आकार तो ऐसे बनता है संसारमें देहबंधन के कारण और जब मोक्ष होता है देहको छोड़ता है यह जीव तो वहां फिर यह घटता बढ़ता नहीं क्यों, कि घटे तो बढ़नेके पसंद वाला प्रश्न करेगा कि क्यों घटा और बढ़े तो घटनेके पसंद वाला ऐसा प्रश्न करेगा कि क्यों बढ़ा शरीरमें रहकर तो शरीरके अनुसार घटने बढ़नेका कारण शरीर बंधन है। शरीरसे अलग होनेपर घटने बढ़नेका क्या काम ? कर्मरहित होनेपर, शरीरसे जुदा होनेपर यह जीव उसी आकारमें रहता है। सिद्ध लोक में पहुंचा हुआ जीव उसी आकारमें बना हुआ है जिस आकारमें रहते हुए यह मुक्त हुआ है। उसका स्वयंका अपने सत्त्वके कारण कोई आकार निर्णीत नहीं है और फिर आकार से मतलब क्या ? आकारपर ही दृष्टि दें तो वहां भगवान आत्माके दर्शन नहीं होते, वह तो एक जानकारीसी हुई, परिचयभर हुआ कि आत्मा ऐसा है मगर ज्ञानमें ज्ञान मग्न हो जाय आत्मामें यह उपयोग रम जाय, ऐसी बात भावोंसे विचारनेपर ही बनेगी, पर आकार आदिकसे विचारनेपर न बनेगा। तो जिसका कोई आकार नहीं ऐसा यह जीव परमार्थ है।

(११६) **आत्मानुभवसे कर्मप्रक्षय**—अहा, अमूर्त, ज्ञानमात्र, निराकार आत्माको निरखिये, ऐसा आत्माको निरखनेके लिए प्रथम प्रयत्न यह होगा कि किसी भी बाहरी पदार्थमें उपयोग न जाय, कोई भी पर पदार्थ ख्यालमें न आये। बाह्य पदार्थ ख्यालमें न आयें यह बात इस ज्ञानबलपर हो सकेगी। इन बाह्य वस्तुओंसे मेरा क्या मतलब ? सब अपनी-अपनी सत्ता लिए भिन्न-भिन्न हैं, इनसे मेरा न सुधार, न बिगाड़ न कोई सम्बंध। कुछ भी बात नहीं है, बल्कि इनका ख्याल बनाकर मैं अपने आपको बरबाद कर डालता हूं। तो मेरी ऐसी क्या अटकी है जो इन बाहरी पदार्थोंमें मैं अपना दिल फंसाऊं। ज्ञानी जन अपने ज्ञानके बलपर इन बाहरी पदार्थोंका ख्याल छोड़ देते हैं, और जहां इन समग्र बाह्य पदार्थोंका ख्याल छोड़ा वहां स्वयं ही यह ज्ञान सहज ही अपने ज्ञानस्वरूपमें प्रति-

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainelibrary.org

ष्टित हो जाता है। यह उपयोग हमारे आत्मामें ही रहे, यह ज्ञानस्वरूपको ही देखता रहे, इस स्थितिमें जो आनन्द जगता है वह आनन्द जगतके प्राणियोंको मिलता नहीं इसलिए पञ्चेन्द्रियके विषयोंको भोगने और उनके साधन जुटानेमें ही रात दिन उनका उपयोग लगा है। आत्मानुभवका आनन्द वह आनन्द है कि जिसके प्रतापसे भव भवके बंधे हुए कर्म तड़ तड़ टूट जाते हैं। धर्म यही है बाकी तो ये बहुत बड़े बिगाड़रूप है या यों कहो कि मिटनेके लिए, बरबाद होनेके लिए जो व्यसन हैं उनसे हटनेके साधन हैं। मंदिर आना साधर्मी जनोंकी सेवा करना, शास्त्रस्वाध्याय करना, जप तप, व्रत आदि करना, विधि विधान करना आदिक ये सब उस बिगाड़से बचनेके साधन हैं, कर्म काटने के साधन नहीं हैं। कहीं मन्दिरमें आने या ये सब धार्मिक क्रिया काण्ड कर लेने मात्रसे कर्म नहीं कटा करते। जिन जिन बाहरी बातोंको लोगोंने धर्म माना है उनसे कर्म नहीं कटते, कर्म मैं काटूं ऐसी कर्मपर दृष्टि देनेसे भी कर्म नहीं कटते, अष्टकर्मविध्वंसनाय धूपं ऐसा चिल्लाने और ढेरों धूप खे देनेसे भी कहीं कर्म नहीं कटते, कर्म तो कटते हैं अपने इस सहज ज्ञानस्वरूप अन्तस्तत्त्वके अनुभवसे, दूसरा कोई उपाय नहीं है कर्मोंके मूलतः काटने के लिए, पर यह बात कोई कर सके तो उसके लिए है। अपना ज्ञानस्वरूप अपने ज्ञानमें आवे इसके लिए जो तैयार होता है वह इन स्थितियोंमें आता है। वह मंदिर आयगा, स्वाध्याय करेगा, व्रत, तप, त्याग आदि करेगा, साधर्मी जनोंकी सेवा करेगा, सारे धार्मिक क्रियाकाण्ड करेगा, ये सब साधन हैं? इनमें गुजरते हुए वह अपने ज्ञानस्वरूप आत्माका ध्यान बनायगा। जैसे चावल और चावलका छिलका, तो छिलके के बिना चावल कहां रहेगा, मगर छिलका ही चावल नहीं है, ऐसे ही मंदिर, विधि विधान आदिक बिना यह जीव कहां अपनी साधना बनायगा मगर ये सब धार्मिक क्रिया-काण्ड स्वयं धर्म नहीं हैं। धर्म है, अपने आत्माका ज्ञानमात्र अनुभव, जिसमें कोई विकल्प नहीं उठता उसी आत्माका इस गाथामें वर्णन किया गया है।

भावहि पंचपयारं णाणं अण्णाणणासणं सिग्धं।
भावणभावियसहिओ दिवसिवसुहभायणो होइ ॥६५॥

(१२०) **आत्मशान्ति चाहनेवालोंका मार्ग ज्ञानभावना**—अपने आपकी शान्ति चाहने वाले पुरुष अपने ज्ञानस्वरूपकी भावना करें। देखिये धर्म, ज्ञान जो शान्तिके साधन आचार्योंने बताये है यह केवल एक बताने भरकी बात नहीं, कोई लकीरकी बात नहीं किन्तु प्रेक्टिकल करके देखें तो आत्माको शान्तिका कारण सिवाय ज्ञानभावनाके अन्य कुछ नहीं विदित होगा। ज्ञानी जानता है अपनेको, मैं ज्ञानमात्र हूं, ज्ञान ही मेरा सर्वस्व

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

है, ज्ञानसे ही रचा हुआ हूं, ज्ञानकी वृत्तियां उठें, ज्ञानकी शुद्ध लहरें चलें जाननमात्र परिणमन रहे, यही मेरी कला है, यही मेरा काम है, इसका ही मैं कर्ता हूं। अहा, ज्ञान का जानन परिणमन रहे, इसमें जो अलौकिक आनन्द रहता है, समस्त विकल्प कलंक मिटनेसे जो एक वास्तविक सत्य सहज आनन्द प्रकट होता है इसका ही मैं भोगता हूं। इससे बाहर मेरा कुछ लेन देन नहीं। केवल अज्ञानी बनकर ही यह जीव बाहरमें उपयोग लगाता है, विकल्प करता है।

(१२१) गृहस्थकी नीति—संसारकी रीति और मोक्षकी रीति ये परस्पर बिल्कुल भिन्न-भिन्न है। संसारकी रीतिकी तरफ जब दृष्टि करते हैं तो ऐसा लगता है कि बढ़े चलो धन वैभव प्रतिष्ठा आदिकमें, ये सब ठीक हैं। इसके बिना महत्त्व क्या? ये सब बातें जगती हैं। और, जब मोक्षकी दृष्टिसे बात करें तो वास्तविकता ज्ञानमें आती है कि प्रत्येक पदार्थ अपने प्रदेशोंसे बाहर कुछ कर ही नहीं सकता, बाकी तो सब निमित्त नैमित्तिक भावोंसे होता रहता है। जो कुछ किया जा सकता है सो अपने ही गुणोंमें परिणमन किया जा सकता है। बाह्यसे क्या सम्बन्ध? अरे उस संसार रीतिका फल है —कर्मका बंध होना, जन्म मरणकी परम्परा चलना, ये सब बातें चलती रहती हैं। अब घरमें रहता हुआ गृहस्थ कैसे इसका समन्वय कर सके। साधुवोंका तो ठीक है, स्पष्ट पंथ है, वहां तो कुछ भूला ही नहीं जा सकता है। एक मोक्ष रीति ही है। संसार रीति से वहां कुछ सम्बन्ध नहीं। जो साधु संसार रीतिके वाचनमें चलता है, उसमें अपना उपयोग लगाता है वह संसारके बंधनमें ही है। तो साधुवोंका तो बिल्कुल स्पष्ट निर्णय है कि मोक्षमार्गकी रीतिमें ही चले, पर गृहस्थको क्या होगा? गृहस्थका भी ठीक निर्णय है। जिस गृहस्थके सदाचारका, पुण्यका उदय है सो साधारणतया यत्र तत्र प्रयासमें धन वैभव आदिक सहज ही प्राप्त होते हैं। ज्ञानी गृहस्थ इसके लिए आकुलित नहीं होता। उसकी एक ही धुन है कि आत्मदृष्टि बनी रहे, सदाचार बना रहे। फिर उसका जो कुछ भी प्रयास होता है वह एक साधारण प्रयासमें ही योग्य बातें चलती रहती हैं, पर मुख्य ध्यान तो मोक्षमार्गकी रीतिका है, क्योंकि कदाचित् मान लो एक इस जीवनमें कुछ संसारका वैभव बढ़ा लिया तो उससे इस जीवको क्या लाभ? जो अमूर्त है। ज्ञानस्वरूप है, देहसे निराला है, देहको छोड़कर जायगा उस अमूर्त ज्ञानस्वरूप आत्माको कर्मबंध ही तो मिलेगा, जन्म मरणकी परम्परा ही तो मिलेगी। इसलिए ये सब आत्महितमें बाधक हैं। तो जिनको आत्महित चाहिए, संसारके संकटोंसे सदाके लिए छुटकारा चाहिए, उनका कर्तव्य है कि वे मोक्षमार्गकी रीतिमें चलें। वह रीति है ज्ञानभावना। अपनेको

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainelibrary.org

ज्ञानस्वरूप मानें, अपनी सारी दुनिया इस स्वरूपमें ही माने, अपने स्वरूप सर्वस्वसे बाहर कुछ भी नहीं है ऐसा दृढ़ निर्णय रखें।

(१२२) **ज्ञानभावनाकी रीति**—यहां आचार्य कल्याणार्थी पुरुषोंको उपदेश कर रहे हैं कि अज्ञानताका शीघ्र नाश करने वाले जो ५ प्रकारके ज्ञान हैं उनकी भावना करो। ज्ञान मूलमें एक ही प्रकारका है। उसमें विशेषतायें नहीं हैं। विशेषतायें जहां होती हैं, जीवके ही किसी पर प्रसंगके कारण होती हैं। स्वयं तो वह एक अवक्तव्य है। ज्ञानमें जो ये ५ भेद डाले मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान, सो ५ प्रकारकी, ये परिणतियां हैं, और वे किसी कारणसे बतायी गई हैं। जहां मतिज्ञानावरण का क्षयोपशम है और इन्द्रिय व मन सही है वहां इन इन्द्रिय आदिके द्वारा कुछ ज्ञान जगता है, वह है मतिज्ञान। फिर उस ज्ञानके ज्ञेयमें और ज्ञान बढ़ाया जाता सो है श्रुत-ज्ञान। श्रुतज्ञानावरणका क्षयोपशम होनेपर अवधिज्ञान जगता है। जहां कुछ आगे पीछे की कुछ दूरकी घटनाको वह आत्मज्ञानसे आत्मा द्वारा ही जान लेता है, इन्द्रिय मनकी सहायता वहां नहीं होती। मनःपर्ययज्ञान दूसरेके मनकी बातको जान जाना इसका काम है। यह साधुवोंके ही होता है। मनःपर्ययज्ञानावरणका क्षयोपशम होनेपर यह ज्ञान होता है। जहां समस्त ज्ञानावरण नष्ट हो गया वहां केवलज्ञान जगता है, जिससे तीनों लोक के भूत, भविष्य और वर्तमानके सब सत् व अलोक एक साथ पूर्ण स्पष्ट ज्ञात होते रहते हैं। ये सब ज्ञानके ही तो परिणमन हैं। ज्ञानस्वरूप एक है, उस ही के कारणवश ऐसे ऐसे विकास बने हैं। तो जहां ये ५ प्रकारके विकास बनते हैं, ऐसे उस मूल ज्ञानस्वरूप को देखिये जैसे मनुष्य, बच्चा, जवान और बूढ़ा। तो बच्चा, जवान, बूढ़ा ये तो दशायें हैं, पर इन सब तीनों दशाओंमें रहने वाला जो एक मनुष्य सामान्य है वह ज्ञानमें तो आता है कि मनुष्य यह है, पर आंखोंसे देखेंगे तो मनुष्य न दीखेगा बच्चा दीखेगा, जवान दीखेगा, बूढ़ा दीखेगा, पर मनुष्य किसीको न दीखेगा याने वह मनुष्य सामान्य इन तीन दशाओंरूपमें दिखेगा, पर ज्ञानबलसे जब तर्कसे सोचा जाता है कि बच्चा तो कुछ वर्षों में नहीं रहता, जवान भी नहीं रहता, वृद्ध भी कभी होता, पर मनुष्य तो जन्मसे मरण तक रहता है। वह मनुष्य क्या ? तो जैसे मनुष्य सामान्य और बालक आदिक दशायें जानी जाती हैं, ऐसे ही ज्ञानसामान्य और मतिज्ञानादिक पञ्च दशायें जानी जाती हैं।

भैया, वहां दृष्टि ले जाना है कि जहां बाह्य विकल्प मिट जाते हैं और अपने स्वरूपका अनुभव हो ? तो पहले इन ५ प्रकारके ज्ञानोंके परिचयसे तो कुछ ज्ञान बढ़ायें। अब ज्ञान बढ़ाकर उन पांचोंको ही भूलकर उन पांचोंका श्रोतभूत मूल आधार जो ज्ञान-

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

स्वभाव है उसकी भावना बनाइये, तुरन्त शान्ति मिलेगी, कर्मका क्षय होगा। यह बात तो आप अनुभवसे कभी भी समझ सकते हैं। किसी भी क्षण बैठे हुए, लेटे हुए, खड़े हुए एकाग्र ध्यान बन जाय और इस परिचयके बलसे कि जगतके बाहरी पदार्थोंकी घटनायें, इनसे मेरा कुछ सम्बंध नहीं है, मैं तो ज्ञानमात्र हूं और अपनेको मात्र ज्ञानस्वरूपमें निरखे तो उसे अद्भुत शांति प्राप्त होती है, अपनी निजकी चीज यस है, बाकी सब पर हैं, बेकार है। जिनपर मनुष्योंको गौरव होता है कि ये मेरे हैं, इनसे मैं महान हूं, यह सब कोरा भ्रम है और वे अज्ञान दशामें चल रहे हैं, हालांकि संसारमें यह सब संगम होता है, पर इनके बीच रहते हुए भी जलमें कमलकी भांति निर्लेप रहना चाहिये। जैसे कमल जलसे ही पैदा हुआ, जलमें ही रह रहा, फिर भी वह जलको छू नहीं रहा। वह जलसे ऊपर दो-एक हाथ दूर रहकर वहां प्रफुल्लित रहता है। यदि कमल जलको छू ले तो वह ठीक नहीं रह सकता, ऐसे ही घरमें पैदा हुए घरमें रह रहे, मगर घरको छोड़कर रहे गृहस्थ तो वह सड़ा हुआसा रहेगा याने कर्मबन्धसे लिप्त होगा, संसारमें जन्म मरण के संकट सहेगा। घरमें पैदा हुआ, घरमें रह रहा पर घरसे अलग रहे उपयोग, प्रतीति में श्रद्धामें यह रहे कि मैं तो ज्ञानस्वरूप हूं, मेरा स्वरूप ही मेरा घर है। मैं अपने स्वरूपमें ही बर्तता रहता हूं तो वह गृहस्थ घरमें रहकर भी अपने पदानुसार कर्मोंका क्षय करता रहता है और अलौकिक शान्ति पाता रहता है। तो हे भव्य तू इन ५ प्रकारके ज्ञानोंको भावित कर अर्थात् सम्यग्दर्शन सहित होकर इन ज्ञानोंमें रह।

(१२३) **सम्यक्त्ववासित ज्ञानभावना सौरभ**—जिसके सम्यक्त्व नहीं उसके कुज्ञान कहा गया है। फिर यह ज्ञान ही नहीं कहलाता। जीवका सहारा सम्यग्दर्शन है। संसार में दूसरा कोई सहायक नहीं। यहां गर्व करना एक बहुत बड़ी विपत्तिमें डालने वाली बात है। मेरा यह है, मेरा इतना प्रताप है, मेरा ऐसा यश है, ये सब स्वप्नके समान विकल्प बनाना इस जीवकी दुर्दशा करानेके कारण हैं। जिनको अपने आत्माका सही बोध है, यह ज्ञानस्वरूप अमूर्त है, ज्ञानके द्वारा ही ज्ञानमें आने वाला, किसी इन्द्रिय द्वारा नहीं दिख सकता। बाहरी विकल्प छोड़कर आरामसे रहे तो अपने ही ज्ञान द्वारा अपने ही ज्ञानस्वरूपको कुछ जानता हुआ, स्पर्श करता हुआ यह अपनेमें अद्भुत प्रमोद पाता है। तो सम्यक्त्वका महत्त्व जानें और ऐसा निर्णय करें कि मुझे सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्रके अतिरिक्त कुछ चाहिये ही नहीं। लोकमें ऐसा कह बैठते कि "मनचंगा तो कटौतीमें गंगा"। यहां वास्तविकता यह है कि अपना उपयोग सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्रसे युक्त है तो सर्व उत्तम वैभव पा लिया गया है। बाहरमें इस जीवका कुछ

Report any errors at vikasnd@gmail.com

https://www.jainkosh.org
वैभव नहीं। केवल एक मान लेनेकी चीज है। और उस माननेका फल है नरक निगोद आदिककी दुर्गतियां संसारमें भोगते रहना। आत्माका वैभव रत्नत्रय ही है, सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र ही है। अपने आपके ज्ञानमें यह प्रतीति बन जाय कि मैं ज्ञानस्वरूप हूं, अपने प्रदेशोमें रहता हूं इतना ही मात्र हूं। इसके अतिरिक्त मैं अन्य कुछ नहीं। ऐसा ही विश्वास बने और ऐसा ही रमण करें, अपने आपमें ही ज्ञानको रमाकर संतुष्ट रहें यह है अद्भुत वैभव जीवका। इसको छोड़कर अन्य कुछ भी वैभव नहीं है। सो हे आत्म-कल्याण चाहने वाले पुरुषो ! अपने आपको इस ज्ञान भावनासे युक्त करो।

पढिएण वि किं कीरइ किं वा सुणिएण भावरहिएण।
भावो कारणभूदो सायारणयारभूदाणं ॥६६॥

(१२४) **आत्मरुचिरहित पुरुषके पठन व श्रवणकी निरर्थकता**—सम्यक्त्वभावसे रहित होकर यह जीव अनेक ग्रन्थोंको पढ़े तो उससे भी क्या लाभ पायगा, अनेक ग्रन्थोंको सुने तो उससे भी क्या लाभ पायगा ? चाहे वह गृहस्थ हो अथवा मुनि हो, जिसके सम्यक्त्व नहीं वह अटपट विषयोंमें ही दौड़ लगायगा। गृहस्थोंको प्रकट देखा जाता है विषयोंमें रहनेकी बात। मुनिजनोंमें यह बात प्रकटरूपमें नहीं दिख पाती है, मगर जो सम्यक्त्व-भावसे रहित है वह मुनि गृहस्थसे भी गिरा हुआ है। गृहस्थको तो कभी कभी उपशम हो जाता है। कोई विषयभोग उपभोगकी इच्छायें हैं, मनकी इच्छायें हैं उनको जुटा दिया, विषयोंमें तल्लीन हो गया, अनंतर उपशम हो गया, और कुछ अपना पतन कर लिया, पर जो सम्यक्त्वरहित मुनि है उसके तो सदाचार इच्छाकी ज्वाला ही बनी रहती है और मैं मुनि हूं इस अभिमानके कारण बाह्यमें प्रवृत्ति कुछ कर नहीं सकता, इसीलिए बताया है समंतभद्राचार्यने कि मोही मुनिसे निर्मोही गृहस्थ भला है। मोक्ष एक नग्न भेषको देखकर नहीं मिल जाता। मोक्ष मिलेगा तो सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रकी परिणति में मिलेगा। भले ही जो इस परिणतिमें बढ़ता है वह नग्नमुनिभेषमें रहकर ही बढ़ता है, मगर जो भावोंमें बढ़ता है वही मोक्ष पायगा और जिसे भावोंका पता ही नहीं वह तो अन्य संसारी जीवोंकी भांति संसारमें जन्म मरण करता ही रहेगा। तो भावरहित होकर शास्त्रके पढ़ने और सुननेसे क्या होता है ? इसीलिए शास्त्र भी पढ़ें, सत्संग भी बनायें और कुछ आत्मचिन्तन करें, ये तीन काम करता रहे कोई यदि अपने जीवनमें तो अवश्य ही वह ज्योति प्रकट होगी जिसके प्राप्त होनेसे नियमसे मोक्ष मिलेगा।

(१२५) **स्वाध्याय, सत्संग व आत्मतत्त्वकी लाभकारिता**—स्वाध्याय करें या शास्त्र सुनें और जो धर्मात्माजन हैं उनकी संगति बनानेमें समय लगायें और रात दिनके २४

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

घंटेमें किसी भी समय आधा पौन घंटा आत्ममननके लिए बैठें ये तीन काम प्रतिदिन करें तो वह ज्योति बनेगी कि जिससे यह स्पष्ट हो जायगा कि मेरा मात्र मैं ही हूं। मैं केवल अपनी परिणतिको ही कर सकता हूं। अपने भावोंपर ही मेरा अधिकार है, अपने भावों का ही मैं स्वामी हो सकता हूं। अन्य अणुमात्रका भी मैं कुछ नहीं हूं। और अन्य वस्तुओं के संग प्रसंगसे शान्ति तो मिलना दूर है, प्रत्युत आकुलता ही बनती है। वे मोहमें ऐसा निर्णय नहीं कर पाते। मोही जीवोंके बाह्य पदार्थोंका सम्बन्ध नियमसे आकुलता ही करने वाला है, पर इस मोहको कुछ कम करके जरा विवेकसे सोचें तब यह बात बिल्कुल साफ विदित हो जायगी, पर पदार्थका सम्बन्ध नियमसे आकुलताका ही कारण है। जैसे बड़े जंजाल आ गये, अनेक उलझनें आ गई, विकल्प दनादन परेशान कर रहे हैं। उपयोग क्षण भरको भी आराममें नहीं आता। पर यह बुद्धि पहले क्यों नहीं बनती ? पहले तो कषाय बनी है ना ? ऐसा करेंगे, यों भोगेंगे भोग, यों उपभोग करेंगे, यों सम्पदा जोड़ेंगे, यों अपनी महिमा बढ़ायेंगे। पहले ये कषायें बनी रही, उससे उद्यम किया, मायाजालमें फंस गए। उससे फिर यह अपनेको ऊंचा मानता और इतनेपर भी भीतरमें एक श्रद्धा नहीं बन पाती कि यह सब परसम्पर्क मेरेको विपत्तिमें ही डालने वाला है। यह अगर खूब श्रद्धा बन जाय तो यह अब भी चेत जायगा, विरक्त रहने लगेगा, आत्मा के अभिमुख होने लगेगा, शान्ति पा लेगा। सो भावरहित होकर धर्मके कुछ भी काम करे जो व्यवहारमें बताये हैं, पर उनसे कुछ नहीं होता है। भाव याने आत्मरुचि, यह मैं आत्मा ज्ञानस्वरूप हूं, स्वयं आनन्दमय हूं। मेरा स्वभाव ही ज्ञान और आनन्द है, मेरे में मेरे कारण मेरी ही सत्तासे कोई विकार नहीं है, हो ही नहीं सकता।

(१२६) **विकारोंका आत्मापर छानेकी रीति**—ये विकार हैं कर्मके। ये अनुभाग हैं कर्मके। यही कर्म बंधे हैं, कर्ममें विकार जगता है, अनुभाग जग रहा है और वह मुझपर लद गया है। जैसे फिल्मका अक्स सनीमाके सफेद पर्देपर लग जाता है, वह पर्दा तो बिल्कुल स्वच्छ है, पर ऐसा योग है कि वह सारे क्षेत्रमें सफेद पर्देपर लद जाता है। पर्दा अजीव है इसलिए वह उससे नहीं नचने पाता है, पर यहां यह आत्मा तो जीव है। इस पर कर्मोके चित्र लद गए कर्मोका अनुभाग लद गया, उपयोग आया और चूंकि यह जीव है सो यह भी नचने लगा और इस तरह संसारमें यह अपनी विडम्बना बनाता रहता है। यह सारी विडम्बना भावोंके बिना है, आत्मरुचिके बिना है, आत्माकी रुचि करें तो नियमसे शान्ति मिलेगी, मोक्ष मिलेगा, बड़प्पन बढ़ेगा और जब तक संसार शेष है तब तक इन्द्र चक्रवर्ती जैसे महान पद मिलेंगे। कषायवश होकर बड़े बड़े उद्यम करके तू

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

वैभववान बनना चाहता है। ऐसे नहीं वैभव मिलता, यह सब धोखा है। तू अपने भावों को संभाल और अपनेको ज्ञानभावनामें ला। उसका इतना अद्भुत प्रताप है कि मोक्ष तो होगा ही उसका, पर उससे पहले जब तक वह लोकमें रहता है तब तक ऊंचे ऊंचे वैभवोंके साथ रहता है। यदि यह वैभव प्रयाससे ही मिला करता हो तो जो बालक करोड़पतीके घर पैदा हो गया और बचपनसे ही करोड़पती कहलाने लगा, उसने क्या प्रयास किया? तो एक भावोंके सुधारनेसे ही सब सुधर जायगा। भाव न सुधरे तो संसारमें दुर्गति ही रहेगी। आत्मरुचि करो। अपना जीवन पलटिये अपने जीवनकी दिशा मोड़िये। अपने आत्माको जानें और ऐसा प्रेमसे जानें कि मेरा आत्मा ही मेरा हितकारी है। मेरा यह आत्मस्वरूप, ज्ञानस्वरूप ही मेरा शरण है। यह ज्ञानस्वरूप स्वयं ही आनन्दमय है, मैं इस ही में रहूंगा, इस ही को ज्ञानमें लिए रहूंगा, अन्य कुछ न ज्ञानमें चाहिए। ऐसी दृढ़ता पूर्वक आत्मरुचि तो करें, उससे एक अलौकिक आनन्द और चमत्कार स्वयंमें उत्पन्न होगा।

(१२७) **आत्मरुचिका परिचय**—जिसको आत्मरुचि हो जाती है उसको बाहरी पदार्थ, बाहरी वैभव ये सब असार ओर बेकार लगने लगते हैं। उनमें फिर यह ख्याल ही नही फबता। परिस्थितिवश वे करने पड़ते हैं। उनके करनेकी उमंग नहीं रहती। उमंग रहती है अपनेको ज्ञानस्वरूप भावना भानेमें। कर्मोदयवश ज्ञान भावनामें नहीं रह पाता, मगर धुन इसकी लगी ही रहती है। आत्मरुचि हुई है या नहीं हुई है, इसकी पहिचान यह है कि बाकी सब वैभव इसको बेकार जचें तो समझो कि आत्मरुचि हुई और यदि बाहरी वैभव, घटनायें ये सब सारभूत लगें और उनके लिए ही उमंग बने तो समझिये कि आत्मरुचि नहीं है।

दव्वेण सयल णग्गा णारयतिरिया य सयलसंघाया।
परिणामेण असुद्धा ण भावसवणत्तणं पत्ता ॥६७॥

(१२८) **परिणामसे अशुद्ध नग्न प्राणियोंके भावश्रमणपनेका अभाव**—द्रव्यसे अर्थात् शरीर से सभी नग्न हैं, वस्त्रादिकरहित हैं। नारकी तो वस्त्ररहित होते ही हैं। तिर्यञ्च पशु भी वस्त्ररहित हैं, पक्षी भी नग्न हैं, मगर परिणामसे अशुद्ध हैं तो भावश्रमणताको प्राप्त नहीं होते। जो पुरुष शरीरसे नग्न हो गए, दिगम्बर भेष धारण कर लिया, किन्तु परिणामोंसे अशुद्ध हैं तो वे पुरुष भावश्रमणपनेकोको प्राप्त नहीं होते। शरीरकी अपेक्षा देखा जाय तो अनेकों जीव नग्न हैं। पृथ्वीके नीचे ७ नरकोंके ८४ लाख बिलोंमें रहने वाले नारकी सभी नग्न हैं। पशु कीड़ा मकोड़ा सभी नग्न हैं और ये वस्त्रधारी मनुष्य भी

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

जब कभी नग्न हो जाते हैं परन्तु ये सब परिणामोंसे अशुद्ध हैं, रागद्वेष मोह विकारसे मलिन हैं, इसलिए नग्न होनेपर भी मुनि नहीं कहलाते। एक प्रश्न किया जाय कि एक तो मुनिभेषमें कोई नग्न पुरुष है, एक वहीं पासमें खड़ा हुआ बैल आदि पशु भी है तो उस बैलको मुनि क्यों नहीं कहते, क्योंकि वह परिणामसे अशुद्ध है। यदि परिणामोंसे अशुद्ध वह नग्न भी हो तो क्या उसे मुनि कहेंगे ? नहीं, वह भी वास्तवमें मुनि नहीं है। बात यह बतलायी जा रही है कि परमेष्ठी ५ होते हैं जिनमें ५वां परमेष्ठी मुनि कहलाता है। परमेष्ठीका दर्जा इतना उत्कृष्ट है कि उसका नाम ही परमेष्ठी है, उत्कृष्ट पदमें स्थित है। तो वह उत्कृष्ट पद क्या शरीरसे होता है ? नहीं, परिणामसे होता। यदि बाह्य पदार्थोंमें ममता है, गीत संगीत ज्योतिष गंडा ताबीज आदिकमें रुचि रखते हैं, आत्मतत्त्वका ध्यान नहीं तो ऐसे अशुद्ध परिणाम वाले जीव मुनि नहीं ही पाते। द्रव्यसे भले ही वे नग्न रहें।

(१२९) **प्रकरणका लक्ष्य भावश्रमणत्वकी प्रेरणा**—यह ग्रन्थ है कुन्दकुन्दाचार्य द्वारा रचित भावपाहुड़। कुन्दकुन्दाचार्य देव अपने साथी मुनियोंमें यह उपदेश करते हैं कि अपने सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र भावोंकी वृद्धि करो, उस रत्नत्रयसे पवित्र बनो। यदि रत्नत्रयका अंश नहीं है तो तेरा नग्न होना बेकार है। यहां गृहस्थ लोग जब यह बात सुनते हैं तो उन्हें कभी कभी अटपट सा लगता है सुनना कि आखिर हमसे तो बड़े हैं, घर तो छोड़ा है, नग्न तो रहते हैं..., मगर दृष्टि नहीं जगती कि जिनको हम परमेष्ठी कहते, जिनको हम अपने आत्माका सर्वस्व समर्पण करदें ऐसे जीव तो कोई उत्कृष्ट भाव वाले ही होने चाहिए। दूसरी बात यह है कि मुनियोंकी सभामें कोई मुनि अगर दूसरे मुनिको धिक्कारे कि तेरा नग्न होना बेकार है जब अन्तस्तत्त्वकी दृष्टि नहीं करता तो कुछ नहीं कर सकता, तो क्या यह सुननेमें अटपटा लगेगा ? न लगेगा, पर गृहस्थ जब अपनी ओरसे सोचता है तो अटपटा लगेगा। यहां आचार्य देव मुनिजनोंको समझा रहे हैं कि नग्न तो पेड़ भी रहते, नग्न तो नारकी भी होते, केवल नग्न होनेसे सिद्धि नहीं है, किन्तु परिणामोंमें पवित्रता हो तो सिद्धि है।

(१३०) **पर्यायबुद्धिमें भावश्रमणपनेकी असंभवता**—परिणामोंकी पवित्रताका मूल यह है कि अपने आपको यह तो मानें कि मैं मुनि नहीं हूं, मैं पुरुष नहीं हूं, मैं हूं एक ज्ञानस्वरूप अमूर्त आत्मतत्त्व। जिसने यह नहीं मान पाया और अपनेको माना है कि मैं मुनि हूं वह तो प्रकट मिथ्यादृष्टि ही है, अज्ञानी है, वह देहको ही देखकर कह रहा कि मैं मुनि हूं। जैसे कि अनेक लोग कहते कि मैं नेता हूं, मैं व्यापारी हूं, मैं सर्विस वाला हूं,

Report any errors at vikasnd@gmail.com

https://www.jainelibrary.org

मैं इतने बच्चों का बाप हूं, तो ऐसे ही उसने भी कह दिया कि मैं मुनि हूं। अन्तर कुछ न रहा। देहको देखकर अन्य लोग बात करते हैं, तो देहको देखकर ही तो नग्न पुरुषों ने बात की, तो उसमें मिथ्यात्व ज्योंका त्यों रहा। यह ज्ञानीकी श्रद्धा है कि मैं आत्मा हूं, अमूर्त हूं, ज्ञानस्वरूप हूं इस ज्ञानपर कर्मोदय विपाक के चित्र आते हैं और उससे मैं मलिन हो रहा हूं उससे अपनेको न्यारा समझूं और निरन्तर अपनेको ज्ञानस्वरूप प्रतीति में लूं और ऐसा ही अनुभवूं, यह मेरा काम है जिससे कि संसारके जन्म मरणके संकट दूर हो जायेंगे। बस जो इस धुनमें रहता है तो इस धुनमें होनेके कारण उसने वस्त्र छोड़ा, घर छोड़ा, क्योंकि इन सबका संग जब रहता था तब कोई न कोई व्याकुलता, चिंता, शल्य रहा करती थी और उससे आत्मध्यानमें बाधा थी। तो अविकार ज्ञानस्वभावको निरन्तर ध्यानमें लें इसलिए उसने सब कुछ छोड़ा है। उसकी उस छोड़नेपर दृष्टि नहीं है। छोड़कर भी छोड़नेमें दृष्टि नहीं है सच्ची दृष्टिसे। यदि कोई ऐसा माने कि मैंने घर छोड़ दिया, मैंने परिवार छोड़ दिया ऐसी दृष्टि रखे तो वह भी मिथ्यादृष्टि है। मैंने घर ग्रहण किया, ऐसा माने तो वह भी अज्ञानी है, मैंने घर छोड़ दिया, ऐसा माने वह भी अज्ञानी है, किन्तु आत्माकी धुनमें रहकर आत्मसाधनामें जुड़नेपर घर छूट गया। उसका मात्र ज्ञाता है, न कि घर छोड़नेका अभिमान रखता है। वह तो एक प्रबल कषाय है। जिसके चित्तमें यह अभिमान होता है कि मैं मुनि हुआ हूं, मैंने ऐसी सम्पत्ति छोड़ दी है, ऐसे ऐसे वैभव पर मैंने लात मार दी, उसके प्रकट अभिमान कषाय है और छोड़कर भी न छोड़नेकी तरह है, क्योंकि उस सम्बन्धकी ऐंठ नहीं छोड़ा। अहंकार तो चल ही रहा है। तो यह साधुवृत्ति बड़ी पैनी है। जैसे कहते हैं कि हथियार परसे चलना बड़ा कठिन है, ऐसे ही सही साधुपनसे चलना यह भी कठिन है। इस साधुपदमें आत्माको अत्यन्त सम्हालकर रखना होता है, अपने आपके इस ब्राह्म-स्वरूपका बड़ा ध्यान रखना होता है। जहाँ अपवित्रता न आ सके, ऐसे रत्नत्रयवृत्तिसे जो पवित्र हो वह भावश्रमण है, भावमुनि है। तात्पर्य यह है कि आत्माकी शुद्धिके बिना केवल नग्न हो जाना परिणामों को अशुद्ध बनाये रखना यह कोई जानकारी नहीं है। उससे कोई ऐसा माने कि मुझे स्वर्ग मिले, मोक्ष मिले, सद्गति मिले तो उसकी यह आशा करना व्यर्थ हैं। भावोंपर दृष्टि होनी चाहिये। जो अपने भावों को कठोर रखे, कषाययुक्त रखे, वह अपने आपका घात कर रहा है। जीवका कल्याण तो वीतरागभावमें है। रागद्वेष मोह आदि विकार से सम्पर्क रहनेपर कल्याण नहीं हो सकता।

णग्गो पावई दुक्खं णग्गो संसारसायरे भमइ।

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

णग्गो ण लहइ बोहिं जिणभावणवज्जिओ सुइरं ॥६८॥

१६३—**जिनभावनावर्जित नग्न पुरुषकी दुःखपात्रता**—जो पुरुष जिनभावना से रहित है वह नग्न होकर भी चिरकाल तक दुःख ही पाता है। वह नग्न होकर भी संसार समुद्रमें डूबता रहता है। वह नग्न होकर भी बोधिको प्राप्त नहीं हो पाता। जिनभाव का अर्थ है सम्यक्त्व। जिन नग्नवेषी साधुवोंको अपने आत्मस्वरूपका परिचय नहीं है, यह मैं अमूर्त हूं, ज्ञानमात्र परमार्थ पदार्थ हूं, मेरेमें केवल जाननका स्वभाव है, इस जानन स्वभाव में विकार होते ही नहीं हैं, विकार तो कर्मोदय विपाककी छाया है, उससे मैं निराला विशुद्ध ज्ञानवृत्ति वाला हूं, ऐसा जिसको परिचय नहीं है, जिस अंतस्तत्त्वके परिचयसे जब यह देह ध्यानमें नहीं रहता, तो फिर इस देह सम्बन्धी बातें कैसे ध्यानमें रहेंगी, ऐसे अन्तस्तत्त्व के अनुभव बिना कोई पुरुष नग्न होकर चाहे वह बहुत अच्छी तरह शोधकर चले, शुद्ध आहारले, बड़े मौनसे बैठे, कैसी भी क्रियायें करे, मगर जिसके पास मूल नहीं है, सम्यक्त्व नहीं है वह पुरुष नग्न होकर भी घोर दुःख पाता है। बहुतसे शारीरिक, मानसिक दुःख तो यहां ही वह अज्ञानसे सह रहा है, और मरणकर नारकादिक गतियोंमें गया तो छेदन भेदन आदिक अनेक घोर दुःख सहता है। फिर जन्म लिया फिर मरण किया। यों संसार समुद्रमें गोते लगाता ही रहता है, क्योंकि उसने वह मार्ग नहीं पाया। उपयोग कहां लगाना और उपयोगका क्या लक्ष्य रखना? यह अन्तः उसकी दृष्टिमें नहीं है, इसलिए वह बाहर बाहर ही डोलता है।

(१६४) **सम्यक्त्वरहित द्रव्यलिङ्गियोंकी मोक्षमार्गके लिये अपात्रताका सोदाहरण कथन**—एक घटना है कि ललितपुरके पासके किसी गांवके कुछ बंजारे ललितपुरके बाजारसे अपने गांव जा रहे थे। चलते चलते रास्तेमें रात हो गई, जाड़ेके दिन थे सो वे एक पेड़ के नीचे ठहर गए। ठंड तो काफी थी ही, सो उन्होंने क्या किया कि इधर उधरसे कुछ सूखी लकड़ियां बीन लाये, एक जगह इकट्ठा किया, किसी माचिस या चकमक से लकड़ियोंमें आग लगाया, मुखसे फूंका फिर आरामसे कुड़रू आसनसे याने दोनों घुटनों पर अपने दोनों हाथ रखकर बैठ गए, रात्रिभर खूब ताप कर अपनी ठंड मिटायी और सबेरा होते ही प्रस्थान कर गए। अब शाम हुई तो उस पेड़पर जितने बन्दर बैठे थे, जिन्होंने रात्रिको वह सब हाल देखा था, तो वे बन्दर आपसमें सलाह करते हैं कि देखो हम आप जैसे ही तो हाथ पैर उनके थे जिन्होंने रात्रिभर आरामसे ठंड मिटायी थी, अपन भी वही काम करें। सो कैसे करें? सो एकदम बन्दर चारों ओर गये और खेतोंके चारों ओर जो सूखी लकड़ियोंके बाढ़ लगे थे उन्हें उठा उठाकर ले आये, एक जगह

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

इकट्ठा किया। अब उनमें से कोई बंदर कहता है कि एक काम तो कर लिया मगर ठंड क्यों नहीं मिटी ? तो कोई दूसरा बंदर बोला—अजी इस तरहसे ठंड कैसे मिटे ? उन्होंने तो इसमें लाल लाल चीज डाली थी। अब क्या किया कि वहां जो लाल लाल पटबीजना (जुगनू) उड़ रहे थे उनमें से ५०-६० पटबीजना पकड़कर लकड़ियोंमें डाला, फिर भी ठंड न मिटी। तो कोई तीसरा बंदर बोला—इस तरहसे ठंड कैसे मिटे ? उन्होंने तो इसें मुखसे फूंका था, तब ठंड मिटी थी। मुखसे फूंका फिर भी ठंड न मिटी, तो कोई चौथा बंदर बोला अरे इस तरहसे ठंड न मिटेगी। वे लोग तो कुड़रू आसनसे बैठकर ताप रहे थे तब ठंड मिटी थी। सो वैसा भी किया फिर भी ठंड न मिटी। बताओ सारी क्रियायें कर लीं फिर भी ठंड न मिटी तो क्यों न मिटी ? इसलिए न मिटी कि ठंडके दूर करनेका जो मूल है उसका परिचय न था उन्हें। वह मूल क्या है ? अग्नि। तो जैसे सारे काम कर डाले फिर भी अग्निका परिचय न होनेसे ठंड न मिटी, ऐसे ही मोक्षमार्गका जो मूल तत्त्व है सम्यग्दर्शन, उसका परिचय जिन्हें नहीं है वे ज्ञानी मुनियों की चाहे कितनी ही नकल करें जैसे व्रत तप उपवास आदि करना, ईर्यासमितिसे चलना आदि फिर भी उन सारे क्रियाकाण्डोंको करनेसे उनको मोक्ष मार्ग न मिल सकेगा। उनको अपने आत्मामें शान्ति तो न मिल सकेगी। सो ही बात कह रहे हैं कि जो सम्यक्त्व भावसे रहित पुरुष हैं वे नग्न होकर भी चिरकाल तक दुःख पाते हैं। निर्ग्रन्थ दिगन्थ भेष रखकर भी वे संसार सागरमें डूब रहे हैं और सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्रको नहीं प्राप्त करते।

(१३३) **जिनभक्ति व सम्यक्त्वकी दुर्लभता**—देखिये काल कबसे है, समय कबसे है ? क्या कोई कल्पना कर सकता है कि अमुक दिनसे समय शुरू हुआ ? नहीं, समय तो अनादि कालसे है और यह जीव कबसे है ? क्या इसकी सत्ताके बारेमें भी कोई कल्पना कर सकता है कि जीव इस दिनसे हुआ है ? अगर मानो कल्पना करें कि जीव इस दिन से हुआ है तो जैसे कहते हैं कि घड़ा इस दिन बना है तो वह घड़ा किस चीजसे बना ? मिट्टीसे। इसी तरह बताओ यह जीव बना तो किस चीजसे बना ? जीव भी अनादि है और यह संसार समुद्र यह अनादि है, अनन्त है, यह हमेशा ही रहेगा। यह बहु जीवों की अपेक्षासे कह रहे हैं। तो देखो इस जीवको अनादि कालसे अनन्त दुःख हैं। इस संसार सागरमें भ्रमण करते करते अनन्त काल व्यतीत कर दिया इस जीवने, पर दो बातें नहीं प्राप्त हुई इसको (१) जिनदेव और (२) सम्यक्त्व। जिनदेव भी क्या चीज है ? सम्यक्त्वमूर्ति। खुदका सम्यक्त्व नहीं पाया जिन जीवोंने उनको मुक्तिकी प्राप्ति नहीं

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

हुई। ये दो चीजें जीवने अभी तक नहीं पायीं। यही कारण है कि यह जीव अब तक इस संसारमें रुल रहा है। यद्यपि यह नियमसे नहीं कह सकते कि पहले जिनभक्ति होती है या सम्यक्त्व होता है, तथापि वास्तविक जिनभक्ति याने जिन्होंने सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र पाया है ऐसे रत्नत्रयधारी आत्माओंकी भक्ति और सम्यग्दर्शन इन दोनोंका ऐसा एक संयोग सम्बंध है कि रत्नत्रयधारियोंका स्वरूप चित्तमें रहे तो अपनेमें सम्यक् भावना बढ़ती है, और अपनेको सम्यक भावना हो तब ही तो रत्नत्रयधारीको उसने जान पाया। एक धनी दूसरे धनीकी सब बात समझ लेगा, पर एक भिखारी धनी की बात क्या समझ पायगा। वह तो साधारणरूपसे कहेगा कि बड़ा मालदार है। पर क्या ढंग होता, यह तत्त्व उसकी दृष्टिमें नहीं है। जिसको सम्यग्दर्शन नहीं है वह पुरुष भगवानके स्वरूपकी भी भक्ति नहीं कर सकता, मोटे रूपसे नाम लेता रहेगा, मगर प्रसन्न होकर निर्मल हृदयसे उस प्रभुके स्वरूपमें उपयोग देकर खुश होवे, तृप्त होवे यह बात न बन पायगी सम्यग्दर्शनरहित पुरुषमें। तो ये दोनों बातें अब तक नहीं प्राप्त कीं। दो क्या एक ही समझ लीजिए—सम्यग्दर्शन। जो सम्यग्दर्शन पा चुका वह और भी आगे बढ़ जायगा।

(१३४) **भगवानका अर्थ सर्वज्ञ वीतराग चेतना**—भगवानकी भक्तिमें भी भक्ति क्या भगवान द्रव्यकी है याने प्रभुशरीरकी है? भक्ति है रत्नत्रयकी। आदिनाथ भगवानकी पूजा कर रहे हैं तो क्या नाभिके नन्दनकी पूजा कर रहे हैं? जो भगवान है वह नाभिनन्दन नहीं, जो नाभिनन्दन है वह भगवान नहीं। यद्यपि आदिनाथ भगवान हुए मगर वह नाभिराजके लड़के हैं, ऐसा जब दृष्टिमें है तो आपकी दृष्टिमें भगवानका स्वरूप नही है। और उन्हींके बारेमें यह अमूर्त ज्ञानस्वरूप परम आत्मा है, यह है भगवान। ऐसी दृष्टि जगे तो आपकी दृष्टिमें यह बात न रहेगी कि यह नाभिराजाके लड़के हैं। प्रभुका स्वरूप है सर्वज्ञ वीतराग। उसकी खबर कब पड़ेगी? जब स्वयंमें उपयोग अपने आत्मस्वरूपको पहिचाने। सो सब माहात्म्य सम्यग्दर्शनका है, जिसके आधारपर यह जीव धर्ममार्गमें बढ़ता है और उसकी साधना सच्ची बनती है। इसलिए सम्यग्दर्शनके द्वारा अपने आत्मस्वरूपकी भावना दृढ़ बनाना चाहिए।

अयसाण भायणेण य किं ते णग्गेण पावमलिणेण।
पेसुण्णहासमच्छरमायाबहुलेण सवणेण ॥ ६९ ॥

(१३५) **भावश्रमणताका प्रभाव**—ऐसी नग्न अवस्था जहां अकीर्ति जग रही हो, पाप भावसे मलिनता छा रही हो, निन्दा मजाक मात्सर्य, कपट जहां अधिकाधिक हो

Report any errors at vikasnd@gmail.com

https://www.jainelibrary.org

रहे हों ऐसे इस नग्न लिङ्गसे क्या लाभ है ? अर्थात् उससे आत्माकी सिद्धि नहीं है। ये जो दृश्य सामने आते हैं कि कहीं मुनि विराजे हैं, सिंह और मृग एक साथ खड़े हैं, वंदना कर रहे हैं, उनका परस्परमें विरोध नहीं होता है। ऐसी जो अलौकिक घटना सुनते हैं सो वह है क्या बात ? कहते तो यों हैं कि वह मुनिराजका प्रभाव है, क्योंकि वह वीतराग मुनि हैं, समता भावके पुञ्ज हैं, आत्मध्यानमें रत हैं, सो यह मुनिका प्रभाव है। यह भी एक तथ्य है, पर साथमें यह भी तो सोचें कि वह हिरण और वह शेर भी तो जीव हैं और जैसा भगवानका स्वरूप है वैसा ही तो इन पशुओंके जीवका भी स्वरूप है। पशुपर्यायमें आये हुए इन जीवोंका भी तो यही स्वरूप है। जैसे जो बात मुनिराजको पसंद है—शान्ति, वही बात इन जीवों को भी पसंद है, सो ये जीव जब शान्त मुद्रामें बिराजे समता अमृतका पान करने वाले उस मुनिकी छबिका दर्शन करते हैं तो यही शान्ति उनको भी चाहिए थी। इसलिए उनका भी हृदय निर्मल हो जाता है और जहां हृदयमें निर्मलता जगे, वहाँ बैर विरोध अपने आप छूट जाता ?। यह बात मुनिकी छवि को देखनेसे बनी, इस कारण यह कहा जाता कि यह मुनिका प्रभाव है, पर वास्तवमें तो यह बात है कि वह हिरण और शेरके जीवकी भावनाका प्रताप है कि मुनिराजके समक्ष उनके भी शुद्धभावना जगी और बैर विरोधको छोड़कर शान्तरसमें आये। सो जितना भी चमत्कार है, अभ्युदय हैं, उत्तमसे उत्तम बात है वह सब निर्मल परिणामसे ही बनती है। बाहरी क्रियाकाण्डोंसे अभ्युदय नहीं बनता। बाहरी क्रियाकाण्ड तो करने होते हैं, करने पड़ते हैं, क्योंकि उन व्यवहारकी धार्मिक क्रियाओंमें रहकर ऐसा वातावरण रहता है कि वहां यह चाहे तो अपने भावोंको निर्मल बनानेका वह वातावरण भर है, पर मन, वचन, कायकी ये चेष्टायें ये स्वयं धर्म नहीं हैं। धर्म तो रागरहित ज्ञानकी प्रवृत्ति होना कहलाता है।

अपने आपको ऐसा ध्यानमें लायें कि मैं एक ज्ञानमय पदार्थ हूं, जाननहार हूं। जाननस्वरूपसे ही रचा हुआ हूं। यह स्वयं आनन्दमय है। यह मैं आत्मा केवल एक जो सहज सत् हूं वही रहूं। इसमें परका सम्पर्क न हो तो यह प्रकट आनन्दमय है। ऐसे आनन्दमय आत्माको प्रकट करनेके लिए ही साधना की जाती है। यद्यपि यहां तीन चीजें मिली हुई हैं शरीर कर्म और जीव। कितनी ही चीजें मिल जायें, सत्ता सबकी न्यारी-न्यारी ही रहा करती है। यह वस्तुका स्वरूप है। किसीकी सत्ता किसी अन्य रूप नहीं बन जाया करती है। यदि ऐसा हो सकता तो आज जगत शून्य होता। कुछ दिखता ही नहीं। जगतमें जो ये सब पदार्थ दिख रहे हैं यही एक प्रमाण है कि प्रत्येक पदार्थकी

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

सत्ता उसकी उसमें ही रहती है। तो मैं आत्मा हूं, तीनके सम्पर्कमें हूं, तिस पर भी मेरी सत्ता मेरेमें ही है, मेरा कुछ मेरेसे बाहर नहीं। बाहरका कुछ मेरेमें आता नहीं, ऐसा यह आत्मा अपनेको भूलकर बाह्य पदार्थोंको अपना अपनाकर तृष्णामें आकर अपने को व्याकुल करता रहता है, और संसारमें जन्म मरणके दुःख पाता रहता है। जिसके यह भेदविज्ञान हो जाता है वह समग्र पदार्थोंसे विरक्त रह कर अपने आत्माके सत्यस्वरूपकी धुनमें रहता है और वह इस साधनामें बढ़ता है तो उसका सब कुछ छूट जाता है। घर भी छूटे, वस्त्रादिक भी छूटे, निर्ग्रन्थ दिगम्बर स्वरूप आता है और उस मुद्रामें रह कर अपने आत्माकी साधना करता है। यह तो है ज्ञानी जीवकी कथा। अब कोई अज्ञानी पुरुष उन ज्ञानियोंकी पूजा प्रतिष्ठा देखकर उसकी भी चाह हो जाय कि मैं भी मुनि बनूं, और लो, नग्न हो गया और जैसा शास्त्रमें बताया या ज्ञानी मुनिकी बाह्य क्रियायें देखी, उस तरहकी बाहरमें सब क्रियायें भी कर रहा, लेकिन जहां अज्ञान बसा है वहाँ आत्माकी संभाल कैसे हो सकती है ? उस भेषमें भी अनेक भीतर ऐब बसे हुए हैं, जैसे अपनेको सबसे ऊंचा मानना, दूसरोंको तुच्छ समझना, दूसरोंकी निन्दा करना, दूसरोंका मजाक करना, किसीसे ईर्ष्या रखना, छल कपटके अनेक ढंग रचना, यह बात चित्तमें बसी रहती है। तो उसके प्रति आचार्य कहते हैं कि अरे अकीर्तिके पात्र ! जो पापसे मलिन है, उसके नग्न वेषसे क्या लाभ है ?

(१३६) **पैशून्यादि दोषपूरित द्रव्यलिङ्गकी अकीर्तिपात्रता**—जो दिगम्बर मुद्राका भेष रखकर खुद भीतर पैशून्यादि दोषोसे भरा है, वह दुर्गतिमें जाता है और उसकी सेवा करने वाले लोग भी दुर्गतिमें जाते हैं। जैसा कि आचार्योंने कहा कि ३३ करोड़ मुनि भेषमें रहकर अपने अशुद्ध परिणामके कारण नरक जायेंगे और उनके सेवक भी जायेंगे। यहां यह कहनेका उद्देश्य नहीं है। आचार्यदेव अपने साथके मुनियोंको समझा रहे हैं कि तू आत्मदृष्टि रख। अपने ज्ञानमात्र स्वरूपको उपयोगमें रमाकर संतोष पा ले अन्यथा दुर्गति होगी। केवल भेषसे कुछ लाभ नहीं होता। इस गाथामें इस नग्न भेषको अकीर्ति का पात्र कहा है। अज्ञानी की नग्नताको अकीर्तिका घर कहा है, उससे धर्मकी प्रभावना नहीं होती। लोग उदाहरण दे देकर धर्मकी निन्दा करते हैं, उसीको लक्ष्य करके एक कविने कहा है कि हे चन्द्रमा, तू लांछन वाला हुआ तो क्यों हुआ ? यदि तू साराका सारा काला होता तो किसीकी दृष्टिमें ही न रहता, मगर उज्ज्वल चांदनीका स्वरूप रखकर फिर तेरे भीतर जो थोड़ी कालिमा आयी है, जैसे कोई लोग कहते हैं कि चंद्रमें हिरण है कोई कहता है कि चरखा कातती हुई बुढ़िया है, कोई कुछ कहता है कोई कुछ

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.vitragvani.com

उस चन्द्रमामें, यदि चन्द्रमा सारा काला होता तो किसीकी दृष्टिमें न आता, उसकी निन्दा न होती, चन्द्रमाकी इस तरह अकीर्ति न होती, मगर चन्द्रमा सारा तो है उज्ज्वल और बीचमें है कुछ कलंक, तो उस कलंकके कारण चन्द्रमाका अपयश है। साहित्यकार चन्द्रको कलंकी कहा करते हैं। तो ऐसे ही कोई पुरुष अगर साराका सारा अनेक दुर्गुणोंसे भरा है, अज्ञान है अपने साधारण भेषमें है तो उससे धर्मका अपवाद नहीं होता, क्योंकि वह पूराका पूरा अपने दुर्गुण वाले भेषमें रहता है, किन्तु कोई मुनि-भेष रखकर अज्ञानकी बात करता हो, निन्दाके वचन बोलता हो, दूसरोंसे ईर्ष्या करता हो, अपनी प्रशंसा चाहता हो, तो उससे धर्मका अपवाद है। तो ऐसी नग्नताकी जहां भावमुनिपना नहीं है, सम्यक्त्व नहीं है, आत्मदृष्टि नहीं है ऐसा नग्नपना अकीर्तिका पात्र है, उससे अपयश ही फैलता है।

(१३७) **सम्यक्त्वरहित मुनिवेषकी अनर्थक्रियाकारिता**—यह नग्नपना जहां कि समक्त्व नहीं है तो वह पापभावसे मलिन रहता है। सबसे बड़ा पाप तो मिथ्यात्वभाव है, निज और पर की सुध न रहना, मैं क्या हूं और परपदार्थ क्या है इसका बोध न रहना यह सबसे बड़ा पाप है। और दुःख भी जगतमें हैं सबसे अधिक दुःख मिथ्यात्वभाव में हुआ करता है, क्योंकि उसे कोई रास्ता ही नहीं सूझता। जिसको ज्ञान है उसके सामने शान्तिका मार्ग बराबर रहता है। और कैसी ही विपत्तियां आयें उन सब विपत्तियोंसे अपने को परे रखता है। बड़ा भारी नुक्सान हो गया। बाहरी पदार्थ यह न रहा और कहीं रहा मेरा तो मेरे स्वरूप से बाहर कुछ है ही नहीं। बाहरका कुछ भी मेरे स्वरूपमें आता ही नहीं। उनसे मेरा क्या बिगाड़? जगतमें बाह्य पदार्थोंका कुछ भी परिणमन हो उससे मेरेमें कोई बिगाड़ नहीं होता। मैं अपने स्वरूपमें हूं और अपने स्वरूपमें परिणमता रहता हूं। मेरा कुछ भी बाहर नहीं है। ज्ञानीको धैर्य रहता है, और जो अज्ञानी है, मिथ्यादृष्टि है, कुछ भी बाह्य पदार्थमें बिगाड़ हुआ कि वह अपने को समझता है कि मेरी दुनिया लुट गई। तो सबसे बड़ा पाप, सबसे बड़ा क्लेश मिथ्यात्व है। जिनको सम्यग्दर्शन हुआ, स्वपरका विवेक हुआ, उन्होंने वह वैभव पाया जिसके समक्ष तीन लोकका वैभव भी मिल जाय तो वह तृण समान है। आत्माका ज्ञान आत्माका दर्शन, आत्मामें रमनेकी बुद्धि ये किसी बिरले भव्य पुरुषको ही प्राप्त होते हैं। बाकी बाहरी चीजें तो ये बाहरी पदार्थ हैं, आये तो क्या, गए तो क्या, मगर ये मिथ्यादृष्टि अज्ञानी उससे विह्वल रहते हैं। तो जो अज्ञानी द्रव्यलिङ्गी मुनि हैं, जिन्होंने नग्नताका भेष तो धारण किया, पर मिथ्यात्व भीतरसे नहीं हटा, तो ऐसे पाप मलिन

Version 1

 http://sahjanandvarnishastra.org/

नग्न भेषसे कोई लाभ नहीं है।

(१३८) **परनिन्दा हास्यवचन आदि दुर्गुणोंसे पूरित पुरुषके मुनिव्रतकी अनर्थक्रियाकारिता**—जहां अज्ञान बसा है वहां परनिन्दाकी प्रवृत्ति बनी रहती है, क्योंकि उसने उस भागवत् स्वरूपका दर्शन नहीं किया कि जिसमें वह सन्तुष्ट रहता। संतोष तो उसे मिल नहीं रहा बाह्य दृष्टि ही बनी हुई है तो यह प्रकृत्या मनमें बात आती है कि मैं सबसे बड़ा हूं और इस अभिमानके कारण दूसरोंकी निन्दा करना उसके लिए एक प्रकृतिकी बात बन जाती है। सो जो दूसरोंके दोषोंको निरखता है, दूसरेके दोषोंको ग्रहण करता है वह कभी आत्महित नहीं कर सकता। वह पुरुष धन्य है जिसकी जिह्वा दूसरोंका दोष कहने में मौन व्रत धारण करती है। यह होता है अपने अभिमानके कारण दूसरोंके दोष कह कर। तो जो नग्न भेष रखकर सम्यक्त्वसे हीन है और यों पापसे मलिन है उस भेषसे न उसको लाभ है और न दूसरोंको लाभ है। अपनी उन्नति करना है तो सर्वप्रथम सम्यग्दर्शनका लाभ लीजिए। घरमें भी रह रहा हो कोई और सम्यग्दर्शन है, जान रहा है कि मैं आत्मा अपने आपके स्वरूपमें ही हूं वही मेरा सर्वस्व है, इतना ही था, इतना ही हूं, इतना ही रहूंगा, अन्यसे मेरा कुछ सम्पर्क नहीं, ऐसा जिन्होंने अपने आत्माका परिचय पाया है वे तो पवित्र हैं, निराकुल हैं, कर्मोंका प्रतिक्षण क्षय करने वाले हैं और जिनको सम्यक्त्व नहीं है वे कितने ही भेष धरें, उससे उनका कोई उत्थान नहीं होता। तो मिथ्यात्वसहित जो द्रव्यलिङ्ग है वह अनेक दोषोंसे भरा रहता है। दूसरेका हास्य करना, दूसरोंकी ठगाई करना, छल कपट करना, कहना कुछ करना कुछ। जिसके हृदय का कुछ पता ही न पड़े, सदा कषायोंसे भरा हुआ हो, तो ऐसे नग्न भेषसे उत्थान नहीं होता।

(१३९) **सरल सहज अन्तस्तत्त्वकी दृष्टि पाये बिना जीवनकी निष्फलता**—ध्यान देना चाहिए उस नग्नताका जहां यह आत्मस्वरूप प्रकृत्या नग्न रहता है, याने आत्मस्वरूप समग्र परपदार्थोंसे निराला ही है। कहां है? अपने ज्ञानसे देखो, ज्ञानके स्वरूपको देखो, पर पदार्थोंको माया जानकर उनसे विरक्त हों तो अतः सहज ही भगवानके दर्शन होते हैं। यह तत्त्व जिन्होंने नहीं पाया उनकी प्रवृत्तिमें माया भरी हुई है। मायाचारसे लोगों ने बड़ा अपयश पाया। एक दृष्टान्त प्रसिद्ध है कि युधिष्ठिर कभी असत्य न बोलता था। एक बार जब कौरव पाण्डवोंका महायुद्ध हुआ और उस समय कौरव बहुत बढ़े चले आ रहे थे तो उनके नेता श्रीकृष्ण ने सलाह दी कि देखो इस समय कौरवपक्षका एक हाथी जिसका नाम अश्वत्थामा

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

था वह मर गया है, तुम सिर्फ इतना कहो कि हाय अश्वत्थामा मर गया, किसी पुरुष या हाथीका नाम ही मत लो। आखिर युधिष्ठिरने वैसा ही किया, तो इतनी सी मायाचारीसे युधिष्ठिरका बड़ा अपयश हुआ उनमें स्वयं में बलहीनता हो गई। तो जो परवञ्चनाका भाव रखता है वह मुनि होकर भी मोक्षमार्गसे दूर है, वह अपने आपकी बरबादी करता है।

(१४०) **मिथ्यादृष्टि मायादिबहुल द्रव्यलिङ्गीके बनवासकी भी व्यर्थता**—मिथ्यादृष्टि पुरुष बनमें भी रहे तो भी इस मलिनताको वह कैसे दूर कर सकता है? जब तक ज्ञान नहीं जगा तब तक उसकी बरबादी ही है, जिसको ज्ञान जगा है वह सम्यग्दृष्टि पुरुष घरमें भी रहे तो भी इन्द्रियनिग्रहरूप तप उसके बराबर बना हुआ है। जिसके राग नहीं है उसका घर ही तपोबन है जिसके मिथ्यात्वभाव है वह बनमें रहकर भी क्या पायगा? तो ऐसे अपने एक सही स्वरूपका दर्शन पाने के लिए इस जीवको सारे जीवन प्रयत्न करना चाहिए—सत्संगति, स्वाध्याय, आत्ममनन, एकांतवास इन कर्तव्योंके अधिकाधिक प्रयोगसे अपनेको ज्ञानमें वासित रखना चाहिए। फिर सम्यक्त्वसहित होकर गृहस्थीमें रहे तो वहां पर भी प्रगति है, विशेष प्रगति हो तो मुनि बने, वहां भी प्रगति है। जहां सम्यक्त्व नहीं है तो उसके ऐबको कौन निकाल सकेगा। इससे यहां कुन्दकुन्दाचार्य भावपाहुड ग्रन्थमें अपने सहवासी मुनियोंको उपदेश करते हैं कि तू देहकी दृष्टि छोड़कर आत्माकी दृष्टि कर, अपनेको ज्ञानस्वरूप अनुभव कर, इस ही ज्ञानस्वरूपमें रमनेका पौरुष कर, इससे सिद्धि होगी।

पयडहि जिणवरलिंगं अब्भिंतरभावदोसपरिसुद्धो।
भावमलेण य जीवो बाहिरसंगम्मि मयलियइ॥७०॥

(१४१) **सही उद्देश्यसहित त्यागधर्मधारणका महत्त्व**—कोई प्रमाणित कर दे कि तेरे सम्यग्दर्शन हो गया, फिर मुनि बने, ऐसा कोई प्रक्रियाका नियम नहीं है। सामान्यतया आत्मकल्याणका भाव जगे, विषयोसे विरक्ति बने, मुनि हो जाय, न भी निश्चय सम्यत्व हुआ हो, तो भी कुछ कल्याणभावना तो हुई, हो गया मुनि, पश्चात् आत्मसाधनाके भावमें रहा करे, सम्यक्त्व न छूटे, विषयसे विरक्तिकी बुद्धि रहे, परपदार्थोंका त्याग कर दे तो अब यह भाव तो बना कि मुझे अंतरंगसे समस्त परिग्रहोंका त्यागी रहना है, मुझे अपने आपको अकेला ही अनुभव करना है तो वह मोक्षमार्गमें चलेगा। मगर जिसकी प्रवृत्ति ऐसी ही है कि लोगों से अधिक परिचय बढ़ाये, लोगोंमें बैठकर खूब हर्ष मौज करे, कथा वार्तामें गप्पोंमें अपना समय लगाये, दूसरोंको खुश रखनेका प्रयत्न करे,

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

दूसरोंसे प्रशंसा सुनकर अपनेको मस्त बनाये तो यह तो मोक्षमार्गके विरुद्ध रीति है। सब कुछ छोड़ा तो उसने अपने आपके स्वरूपमें रमने की धुन तो रखी। मेरेको यह करना है। आत्मस्वरूपमें मग्न होनेके लिए मैंने त्याग किया है, दुनिया से पूज्यता बढ़ाने के लिए मैंने त्याग नहीं किया। (१४२) **भावश्रमणका साम्यभाव**—बाह्य वैभव तो मुनिकी दृष्टिमें न कुछ चीज है। जो भाव मुनि है, सम्यग्दृष्टि साधु है उसकी वृत्ति सबमें समताकी रहती है। शत्रु और मित्र दोनों उसकी दृष्टिमें बराबर हैं, इसका कारण क्या है कि उसे अपने आत्माके बारेमें स्पष्ट निर्णय है कि मेरा कोई सुधार बिगाड़ नहीं कर सकता, इसलिये ये दोनों एक समान हैं, बाह्य में स्थित हैं, दूसरे जीव हैं, और फिर जो सुधार करने वाला अथवा बिगाड़ करने वाला मित्र या शत्रु बन रहा वह आत्मा न मित्र है न शत्रु। उसपर कर्मका उदय छाया है, उस प्रकारका विकार झलक रहा है और यह अज्ञानवश विकारसे लिपट रहा है इसलिए इसकी ऐसी परिणति हो रही है, जो आत्मा है वह तो इसका भी सिद्ध समान स्वरूप वाला ज्ञानस्वरूप है। जो मित्र है वह भी मेरा कुछ नहीं कर रहा है, किन्तु उसपर भी कर्मका उदय है, उसको और जातिका उदय है। उस झलकमें वह लिपट रहा है और इस तरहकी परिणति कर रहा है। ज्ञानी संतके लिए दोनों बराबर हैं। जिसके शत्रु और मित्रमें समता बुद्धि हो, महल और श्मसानमें समता बुद्धि हो ऐसा वह पुरुष इन लौकिक गप्पोंमें क्यों रमेगा? श्मशानमें रह रहा तो बड़ा खुश, क्योंकि उसको अपना आत्मारूप महल प्राप्त है और उसीमें वह आराम पा रहा है, ज्ञानानुभूतिका आनन्द एक अलौकिक आनन्द होता है। जहां किसी परपदार्थका ख्याल नहीं, विकल्प नहीं, और ज्ञानमें ज्ञानस्वरूप ही समा रहा हो उससे बढ़कर कोई वैभव नहीं हो सकता। इसको छोड़कर जिन्होंने बाह्य पदार्थोंको वैभव माना वे इस जीवनमें भी दुःखी रहते हैं और मरकर भी परभवमें दुःखी रहेंगे। भावमुनिके तो सर्वत्र समताभाव रहता है, चाहे स्वर्ण हो, चाहे कांच हो, उसके लिए दोनोंमें समता है, यह स्वर्ण है सो भी पर द्रव्य है, यह कांच है सो भी परद्रव्य है। इस ज्ञानस्वरूप आत्माका भला न स्वर्ण कर सकता है और न भला बुरा कांच कर सकता है, मेरी भलाई बुराई मैं ही कर सकता हूं। जैसी दृष्टि बनाऊं वैसी मैं अपनी सृष्टि करता रहता हूं। ज्ञानदृष्टि हो तो आनन्द है, जहां अज्ञानदृष्टि बनी, वहां कष्ट ही कष्ट है। तो जो भावश्रमण मुनि है उसके निरन्तर साम्यभाव है। उसकी कोई निन्दा कर रहा, कोई स्तुति कर रहा, उसके लिए दोनों बराबर हैं, क्योंकि उसकी तो धुन ज्ञानस्वरूप आत्मतत्त्वको निरखकर उसही में बसे रहनेकी है। इसी कारण उसे आकुलता नहीं

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

होती है।

(१४३) निर्ग्रन्थ रहकर ज्ञानस्वभाव अन्तस्तत्त्वकी अभेद उपासनासे मुक्तिलाभ—

यहां यह बात जानना कि द्रव्यलिंग धारण करना आवश्यक है और भाव सुधारना यह परम आवश्यक है। यहां कोई ऐसा एकान्त नहीं है कि अपने भाव सुधारो और घरमें ही रहो, मोक्ष मिल जायगा। यहां ऐसा एकान्त नहीं है कि द्रव्यलिंगी मुनि बन जावो, मोक्ष मिल जायगा। दोनों ही आवश्यक हैं, एकको छोड़कर एकसे सिद्धि नहीं होती। इसी तरह जैसे कि वस्तुस्वरूप बतानेमें स्याद्वादकी प्रक्रिया है ऐसे ही यहां भी स्याद्वाद है। जब यह कहा जाय कि भावोंसे मोक्ष होता है तब यह बात जरूर चित्तमें रखना चाहिए कि मुनिभेषमें रहकर भावोंसे मोक्ष होता है, जब यह कहा जाय कि मुनि पदसे मोक्ष होता है तब यह भाव रखना चाहिए कि शरीरसे मुनि बनकर यदि भाव सही है तो उसके द्वारा मोक्ष होता है। दोनोंसे मोक्ष होता है। वहां भी यह अर्थ आता है कि मुनि भेषमें रहकर एक अवसर मिलता कि अपने ज्ञानस्वरूप आत्मामें खुद रमता रहे, उस रमणसे मोक्ष होता है इस तरह ये तीन बातें समझना, फिर इन तीनके और फैलाव से और भी बातें जानना। कोई पूछे कि फिर एक बात तो बतलाओ—मोक्ष कैसे होता है? तो एक साथ यह बात नहीं बतायी जा सकती है, क्योंकि द्रव्यलिंग बिना वह मोक्ष नहीं होता। भावलिंग बिना भी मोक्ष नहीं होता। जहां दोनों ही चलते हैं वहां दोनों को एक साथ कैसे बोला जायगा? क्रमसे ही तो बोला जायगा, इसलिए अवक्तव्य है यह बात। अवक्तव्य रहते हुए भी द्रव्यलिंगसे मोक्ष हैं, अवक्तव्य रहते हुए भी दोनोंसे मोक्ष है। उसमें भाव यह रखना कि सर्वपरिग्रहोंको त्यागकर मुनिभेषमें आत्मतत्त्वकी साधना करना चाहिए और इस विधिसे ही इस मिलावटमेंसे यह आत्मा अकेला निकल सकेगा और यही एकमात्र कर्तव्य है, इसके लिए सिद्धस्वरूपका ध्यान करें कि सर्वोत्कृष्ट स्थिति आत्माकी यह है, उत्कृष्ट आनन्द आत्माका यह है। मैं ऐसा ही स्वरूप रखता हूं, मुझे ऐसा ही बनना है। ऐसा बने बिना इसके पहलेके जितने भी स्थान हैं वे सब दुःखपूर्ण हैं। ऐसा बनूं कैसे? अकेला आत्मा कैसे रह जाऊं? तो इस समय इस मिलावटके अन्दर ऐसा अकेला आत्मतत्त्वका ध्यान कि मैं यह हूं। मात्र ज्ञानस्वरूपमें ही अपना उपयोग रमाओ। यह भीतरमें तपश्चरण चलता रहेगा तो नियमसे मोक्ष मिलेगा और एक अपने आत्मस्वरूपका परिचय छोड़कर कुछ भी करते रहें चाहे धर्मके नामपर, लेकिन वह रास्ता न मिलेगा कि जिससे कर्म कटते हैं और जिस रास्तेसे आत्माको शान्ति मिलती है।

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

धम्मम्मि णिप्पवासो दोसावासो व उच्छुफुल्लसमो ।
णिप्फलणिग्गुणयारो णडसवणो णग्गरूवेण ॥७१॥

(१४४) **सिद्धि व सिद्धिका उपाय**—अपनेको यह सोचना है कि सिद्ध भगवान हुए बिना हमको शान्ति न मिल सकेगी, क्योंकि भगवानसे पहलेकी याने संसारिक जितनी स्थितियां हैं, अवस्थायें हैं वे सब आत्माको भली नहीं होती हैं। सिद्ध भगवान नाम किसका है ? अकेला आत्मा रह जाना उसका नाम है सिद्ध। जैसे अभी हम आप जो बैठे हैं वे सब तीन चीजोंके पिण्ड हैं, तो जब तक ये तीन चीजें मिली हुई हैं तब तक कष्ट है और जब तक यह आत्मा अकेला रह जाय, देह जुदा हो जाय, कर्म जुदे हो जायें, खाली आत्मा रह जाय तो उसे कहते हैं सिद्ध भगवान। यह आत्मा अकेला रह जाय तो उसे शन्ति है और जब तक शरीर और कर्मका सम्बंध है तब तक कष्ट है। तो अब यह सोचो कि वह कौन सा उपाय है कि शरीर और कर्म से आत्मा न्यारा होगा। वह उपाय है यह कि अभी भी देखें तो शरीर और कर्मसे न्यारा हूं में। जैसे तीन चीजें मिला दें दूध, पानी और तेल, वे सब चीजें एक गिलासमें गड्डमगड्ड हो गई, उनको अलग-अलग अब नहीं निकाल सकते हैं, मगर एकमें मिले हुए भी हर एककी सत्ता न्यारी न्यारी है। दूधमें दूध है, पानीमें पानी है और तैलमें तैल है। ऐसे ही तीन चीजों का सम्बंध है यहां, मगर हैं वे न्यारी न्यारी चीजें। तो जिसने इस आत्माको न्यारा देख लिया उसे कहते हैं सम्यग्दृष्टि, और जो देह और कर्ममें लिपटा हुआ देखता है उसे कहते हैं मिथ्यादृष्टि। सम्यग्दृष्टिको कभी खेद नहीं होता, क्यों खेद नहीं होता कि वह जानता है कि मेरा आत्मा इस देहसे अलग है विभावोसे अलग है, परिजनोंसे अलग है। मेरे आत्माका शरण मेरा आत्मा ही है, दूसरा नहीं है, तो वह आत्माकी सिद्धि कैसे हो ? आत्माको निराला देखते जावो, देहकी खबर छोड़ दो, कर्मके उदयसे जो रागद्वेष सुख दुःख भाव होते हैं, उनसे भी जिसने अपने आत्माको निराला देखा तो वह आत्मा निराला हो जायगा।

(१४५) **बाह्य आभ्यन्तर परिग्रहके त्यागके वातावरणमें सिद्धिके उपायकी संभवता**—देखो सबसे बड़े महत्त्वकी बात यह है कि मनुष्य होकर यदि अन्य-अन्य बाहरी कामोंमें तो लग जाय और अपने आत्मकल्याणकी बातमें न लगे तो उसका सारा जीवन व्यर्थ है, क्योंकि जिस चीजको छोड़कर जाना है उस चीजमें तो लिपटा है यह जीव। जो अपने हाथ रह नहीं सकता उसमें यह लिपट गया और जो अपने साथ सदा रहेगा उसकी खबर नहीं लेते तो यह कितना बड़ा भारी अज्ञान है, मोह है। तो यह आत्मा

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

निर्मल कैसे बने कि इस वक्त भी हम देखें तो जो ज्ञान ज्ञान है सो तो आत्मा है और जो यह पिंड है सो देह है और जो दुःख सुख विकल्प की माया है वह कर्मकी छाया है। इससे मैं ज्ञानस्वरूप न्यारा हूं, ऐसी जो ज्ञानस्वरूपकी निरन्तर आराधना करेगा वह सिद्ध भगवान बनेगा, अन्यथा बताओ एक इस भवमें यदि सांसारिक सुखके बड़े-बड़े साधव बना लिये जैसे अच्छे महल, अच्छा रहना सहना, तो बताओ ये इस आत्माको शान्ति पहुंचाते हैं क्या? अरे ये सब छोड़ने पड़ेंगे। अब इन्हें छोड़कर जो आत्मा जायगा वह कैसा रहेगा, कहां रहेगा, किस गतिमें रहेगा उसकी सुध नहीं लेते। तो जो अपने आत्माकी सुध लेता है और प्रयत्न करता है कि सिद्ध बनूं, तो उसका प्रयत्न है मुनि बनना। गृहस्थीमें भी प्रयत्न चलता है, मगर कम चलता है, क्योंकि गृहस्थीमें दंदफंद अनेक हैं, अनेक शल्य रहते हैं। चिन्तायें रहती हैं, बाधायें रहती हैं, और मुनिको कोई चिन्ता नहीं, कोई शल्य नहीं कोई बाधा नहीं, उसके सामने कोई दंदफंद नहीं, किसीसे उसको कुछ मतलब नहीं। तो मुनि अवस्था एक ऐसी अवस्था है कि जिससे संसारसे पार होनेका उपाय बना सकता है।

(१४६) **धर्मदूरवर्ती जीवके परिणामकी निष्फलता व निर्गुणता**—अब कोई ऊंचा मुनिका भेष तो रखले और काम करे नीचा तो उसके लिए यहां कुन्दकुन्दाचार्य कह रहे हैं कि जिसका धर्ममें चित्त नहीं है, धर्मसे जो दूर रहता है तथा निन्दा, चुगली, हिंसा अहंकार आदि दोष जिसमें रहते हैं, वह ईख फूल के समान है। न उसमें सुगंध आती है न फल। प्रकृत्या ऐसे ही निष्फल और निर्गुण है इक्षुपुष्प कि वहां न सुगन्ध है, न न उसमें फल होते हैं। इसी प्रकार वह मुनि जो निर्ग्रंथ पदको धारण कर ले और उसके परिणाम हों क्रोधादिक विकारों रूप तो वह नटके समान है। जैसे नट अपना खेल दिखाता है इसी प्रकार वह मुनि भी अपना खेल दिखाता है। भीतर आत्मामें उसका चित्त नहीं है, क्योंकि वह धर्मसे दूर है। धर्म नाम किसका है? तो धर्मके चार लक्षण किए गए हैं। वस्तुके स्वभावको धर्म कहते है। जिस पदार्थ का जो स्वभाव है वह उसका धर्म है। आत्माका स्वभाव क्या है? ज्ञान, सिर्फ जनना। जानन सिवाय अन्य कुछ बात नहीं। रागद्वेषादि तो कर्मकी छाया है। इनसे अपनेको निराला समझे, सिर्फ जाननहार रहे तो वह है वस्तुके स्वभावमें आना याने यह जीव अब धर्ममें आया। जिसे धर्म करना है उसे यह यत्न करना पड़ता है कि रागद्वेष न हों और ज्ञाताद्रष्टा रहे। इसके मायने हैं धर्म। जैसे मंदिरमें पूजा करते समय लोग भावना करते कि हे भगवान मैं भी आप जैसा रागद्वेष रहित हो जाऊं और आपके स्वरूपमें मग्न हो जाऊं, तो इसे

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

कहते हैं धर्म करना और केवल मंदिरके अन्दर आये, कुछ थोड़ा सा पूजा पाठ पढ़ लिया और कुछ ऊपरी बातें कर लीं तो उतने से अभी धर्म नहीं हुआ। थोड़ा तो अच्छा हुआ कि अन्य जगह जो पापकी बातें आती थीं वे न आयीं, मगर धर्म नहीं हुआ। धर्म होता है इसमें कि रागद्वेष छूटें, ज्ञानस्वभाव में रुचि जगे।

(१४७) **आत्मरुचिक पुरुषोंकी निर्मलता**—जिसको आत्मस्वभावमें रुचि जगति है उसको यह ही ध्यानमें रहता है कि मैं ज्ञान ज्ञानरूप हूं, ज्ञानसिवाय मैं अन्य कुछ नहीं हूं, मैं हूं, अपने प्रदेशमैं हूं, अपने प्रदेशसे बाहर नहीं हूं, मैं खुद स्वयं आनन्दमय हूं। कष्ट तो कर्मकी छाया है। आत्मा स्वयं आनन्दस्वरूप है। तो ऐसे ज्ञानानन्दस्वरूप आत्माको अपनी दृष्टिमें लेवें तो वह धर्मका पालन करना कहलाता है। तो यह ही वस्तुका स्वरूप है। कैसे जाना कि आत्माका स्वभाव ज्ञान है? तो देखिये जो स्वभाव होता हैं वह सदा रहता है और जो विभाव है, स्वभाव नहीं है वह सदा नहीं रहता। जैसे क्रोध, मान, माया, लोभ आदि ये कषायें सदा नहीं रहतीं, अभी क्रोध कर रहे, थोड़ी देरमें मान हो गया, फिर थोड़ी देरमें माया हो गई, फिर लोभ हो गया, मगर यह ज्ञान सदा चल रहा, जब क्रोध कर रहे तब भी ज्ञान चल रहा, जब मान किया तब भी ज्ञान चल रहा, इसी तरह माया, लोभ आदि कषाय किया तब भी ज्ञान चल रहा। तो ज्ञान सदा चलता है, इससे सिद्ध है कि ज्ञान है आत्माका स्वभाव। जो स्वभाव है उससे कष्ट नहीं होता और जो विभाव है, विकार है उससे कष्ट होता है विकार हमेशा परपदार्थोंके सम्बंधसे होता है। तो परसे निराला अपने आपको तको, वहां कोई प्रकार के कष्ट नहीं हैं।

(१४८) **धर्मवेशमें निम्नाचरणका फल दुर्गति**—जो मुनि जैसा ऊंचा पद रखकर भी धर्मसे दूर है, वस्तुस्वभाव ध्यानमें नहीं है तो कहते हैं कि वह निष्फल है, निर्गुण है? क्योंकि वहां दोषोंका निवास है, दोष क्या? विषय और कषाय, विषय की भावना हो यह दोष है, कोई कषाय उमड़ जाय तो दोष है। तो दोषमें जो रहता है और पद रख लिया मुनिका, तो कहते हैं कि वह नग्नमुनि जो है वह तो नग्न ही है। यहां मुनिकी उत्कृष्टता बतला रहे हैं, कोई निन्दाकी बात नहीं कर रहे, क्योंकि मुनिपद इतना ऊंचा पद है कि वह मुनि सदा आत्माके ध्यानमें रहता है। तो ऐसे श्रेष्ठ मुनि परमेष्ठी कहलाते हैं और जो मुनि का भेष रखकर भीतरमें विषयके भाव कषायके भाव करता है वह स्वयं दुर्गतिमें जाता है और उसकी सेवा करने वाले जो गृहस्थ हैं वे भी दुर्गतिमें जाते हैं। तो वह मुनि जो दोषोंका घर बना हुआ है वह निष्फल है और निर्गुण है,

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

ऐसा जानकर सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक्तपमें बहुत दृढ़तासे रहना चाहिए।

(१४९) **प्रभुकी पूजा अर्थात् ज्ञानस्वरूप अन्तस्तत्वकी पूजा**—बतलाओ पूजामें आप किसकी पूजा करते हैं ? शरीरकी पूजा नहीं करते, किन्तु सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्-चारित्रकी पूजा करते हैं। भगवान अरहंतदेवकी पूजा की तो समझो कि वह ज्ञानस्वरूप की पूजा है, जो सम्यग्दृष्टि है, सम्यग्ज्ञानी है, आत्मामें लीन है, आत्माकी बुद्धि है, वहां शरीरकी पूजा नहीं, इसी तरह मुनिकी भी कोई पूजा नहीं किन्तु मुनिकी दशामें हमने मुनिकी छवि देख कर जिसकी स्थापना की है उसकी पूजा करते हैं, मूर्तिकी पूजा नहीं करते। कोई भी दर्शन करने वाला ऐसा नहीं कहता है कि हे भगवान ! तुम जयपुरकी खदानसे निकले हुए पत्थरसे बनाये गए हो, अमुक कारीगरने बनाया है, वह तो यों दर्शन करता है कि हे आदिनाथ जिनेन्द्र आपने इन्द्रियोंको जीता, विषयोंको जीता और अपने आपमें मग्न हुए···। तो पत्थरका नाम लेकर कोई भगवानके दर्शन नहीं करता। तो इससे मालूम होता है कि जितने भी लोग दर्शन करने वाले आते हैं वे मूर्तिके दर्शन नहीं करते, किन्तु मूर्तिमें भगवानकी स्थापना करके भगवानके दर्शन करते हैं और मुनि जिनलिंग कहलाता है, याने जिनेन्द्रदेवका जैसा स्वरूप है वैसा ही स्वरूप है उसका नाम है मुनि। मुनि तो भगवानके निकटका पद है और ऐसी मुद्रा रखकर अगर कोई स्वच्छंद रहता है और अपने विषय कषायोंका पोषण करता है तब तो वह गृहस्थसे भी गया बीता है, तब मुनिको भी और गृहस्थको भी अपनी शक्ति न छिपाकर सम्यग्दर्शन सम्यग्-ज्ञान सम्यक् चारित्रमें लगना चाहिए।

जे रायसंगजुत्ता जिणभावणरहियदव्वणिग्गंथा।
न लहंति ते समाहि बोहि जिणसासणे विमले ॥७२॥

(१५०) **रागसंगयुक्त सम्यक्त्वरहित द्रव्यलिङ्गी मिथ्यादृष्टि जीवोंको बोधि समाधिके लाभ की असंभवता**—जो रागके परिग्रहसे रहित हैं, जिनमें राग भरा हुआ है, जिनमें स्त्री आदिके प्रति प्रीतिके परिणाम पैदा होते हैं अथवा राजा महाराजाओंके संगकी जो भावना रखते हैं, स्वयंकी भावनाको छोड़ देते हैं वे पुरुष सम्यक्त्वरहित हैं, भले ही बाह्य निर्ग्रन्थ हों। जिनको जिनेन्द्रके ध्यानमें, आत्माके स्वरूपमें, सम्यग्दर्शन भावमें रुचि नहीं है वे पुरुष बोधिको नहीं पा सकते, समाधिको नहीं पा सकते। यह जैनशासन इतना निर्मल है कि जहां हिंसाका काम नहीं। जैनधर्म धारण करने वाले लोग अन्तः पवित्र होते हैं। अभी अभीकी एक घटना है मेरठकी, वहां कई एक सन्यासी रुद्र यज्ञ करने

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

आये थे। उसमें बहुतसे बर्तनोंकी आवश्यकता थी, सो सन्यासीजनोंने यह मांग की कि हमको इस रुद्र यज्ञके लिए जैनियोंके बर्तन चाहिए क्योंकि उनके बर्तन बड़े पवित्र होते हैं। तो भाई जैनशासनकी निर्मलता देखिये वहां हिंसाका कोई काम नहीं, अनेकों जगह तो ऐसा देखनेको मिलता है कि लोग यज्ञ कराते हैं तो उसमें पशुओंकी बलि करवाते हैं, पर जैनशासनमें हिंसाकी कोई बात देखनेमें नहीं आती। वे तो अपने धार्मिक स्थानमें फल फूल वगैरह भी तोड़कर चढ़ाना पसंद नहीं करते, क्योंकि उनमें भी जीवहिंसा होती है। तो जिनका मंदिर पवित्र, जिनका परिवार पवित्र ऐसा बड़ी सच्चाई और पवित्रता का यह शासन है। जहां न्यायकी भावना देखनेमें आती है, अन्यायकी बात नहीं दिखती, किसीको नाजायज सतानेका परिणाम लोगोंमें नहीं दिखता, जो असली चीजमें नकली चीज मिलाकर बेचनेमें पाप समझते हैं, किसीको धोखा देनेमें पाप समझते हैं, जो सबके सुखकी भावना रखते हैं, जो आत्माके निर्मल स्वरूपकी दृष्टि रखते हैं ऐसे उपासक इस जैनशासनमें रहा करते हैं।

(१५१) **निर्मल जैनशासनमें पापमलिन मुनिवेशी मुनियोंकी संभवतापर खेदप्रकाशन**— इस निर्मल जैनशासनमें कोई मुनिपद धारण करके राग और परिग्रह सहित बने तो वह अपना कल्याण नहीं कर सकता। भले ही कभी कोई मुनि कह दे कि हम नहीं परिग्रह रखते, मगर बताओ तो सही कि मान लो साथमें जो सामान लेकर चलनेका ठेला रखा है उसमें कुछ टूट फूट जाय, बिगड़ जाय तो फिर उसके पीछे खेद मानते कि नहीं ? जिनको खेद होता समझो उनके नियमसे परिग्रह है। अगर परिग्रह न होता तो खेद क्यों होता ? राग है तब खेद होता और रागका ही नाम है परिग्रह। तो जो णमोकार मंत्र में पंच परमेष्ठियोंके नाम लेते हैं तो उनमें साधु परमेष्ठी जिन्हें कहते हैं वे इतने उच्च और पवित्र होते हैं कि उनके पास आये हुए हिरण और शेर खड़े हों तो उनमें परस्पर में विरोध नहीं रहता। न तो सिंहको हिरणकी हिंसा करनेका भाव रहता है और न हिरणको भय रहता है, ऐसे निर्ग्रन्थ भेषको धारण कर अगर रागमोहसहित हो जाय तो वह सम्यक्त्वरहित है, वह अपना कल्याण नहीं पा सकता।

(१५२) **भावश्रमणके सतत सद्भावना**—मुनिके निरंतर सद्भावना रहती है। उस सद्भावनामें सबसे बड़ी भावना तो सहज आत्मस्वरूपको दृष्टिमें लेना है। मैं यह हूं ज्ञानस्वरूप, यह दृष्टिमें रहे, यह है ऊंची भावना, फिर अन्य जीवोंपर दृष्टि जाय तो सब प्राणियोंपर क्षमाकी भावना, मित्रताकी भावना, गुणीजनोंके प्रति प्रमोदकी भावना और कोई दुःखी हो तो उनमें करुणाकी भावना ज्ञानीके होती है। जगतके जीव कैसे

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

कल्याण पायें, उनका अज्ञान दूर होवे, वे अपने ज्ञानस्वरूपमें रहें, ऐसी भावना, और भी षोडश कारण भावनायें, दशलक्षण भावनायें, इन सब भावनाओंसे जो ओतप्रोत रहते हैं, वे मुनि आदर्श हैं, पूज्य हैं, और णमोकार मंत्रमें ५वें पदके द्वारा वे भक्तिसे नमस्कार किए जाते हैं। कोई पुरुष द्रव्यसे तो निर्ग्रन्थ हो गया मायने शरीरसे तो नग्न हो गया, पर रत्नत्रयसे पूर्ण नहीं है, धर्मध्यान जिसने पाया नहीं है वह पुरुष मोक्षमार्गको प्राप्त नहीं कर पाता। आत्मस्वरूपकी भक्ति करें, जिनेन्द्र देवके स्वरूपकी भक्ति करें तो अविकारता वीतरागता दोनों दृष्टिमें आते हैं। भगवान वीतराग हैं, रागद्वेष रहित हैं, ऐसे जिनेन्द्रदेवकी भक्ति बड़ी-बड़ी दुर्दशाओंको नष्ट कर देती है, पुण्यको भर देती है, मुक्ति लक्ष्मीको प्रदान करती है। यह मैं आत्मा ज्ञानस्वरूप हूं, इसका ज्ञान ही ज्ञानस्वरूप है। इस ज्ञानमें विकार नहीं है, क्योंकि आत्मामें अपने आप विकार ही नहीं आते, किन्तु जब कर्मका उदय सामने होता तो विकार आते।

(१५३) **विकारमूर्तिमें जिनभावनाकी असंभवता**—व्यक्त विकारके प्रसंग तीन चीजें होती हैं–(१) उपादान (२) निमित्त और (३) आश्रयभूत कारण। उपादान तो हमारा आत्मा है, अगर रागीद्वेषी बना तो आत्मा ही तो बना। निमित्त कारण कर्मका उदय है, कर्मका उदय होनेपर रागद्वेष बनते और आश्रयभूत कारण ये सब पदार्थ हैं, जिनको ख्यालमें लेकर क्रोध जगता है, घमंड जगता है, कपट जगता है, लोभ जगता है। यह सब है आश्रय भूत कारण। तो क्या करना ? यह समझना कि आश्रयभूत कारण जो है वह भी मुझसे न्यारा है जो निमित्त कारण है वह भी मुझसे न्यारा है, मैं तो केवल ज्ञानस्वरूप हूं। अपने आपमें अपने सहज स्वरूपकी भावना जिसके नहीं है वह निर्ग्रन्थ पद भी धारण कर ले तो भी उसे बताया है नटश्रमण। एक ऐसी घटना है कि कोई एक मुनिराज थे, वह किसी नदीके तटपर एक शिलापर बैठकर ध्यान करने लगे। एक दिनकी बात कि वह आहारचर्याको गए, और यह नियम लेकर गए कि आहार करके वापिस आयेंगे तो इसी शिलापर बैठकर ध्यान करेंगे। आहार करके वे मुनि वापिस आये और उस शिलापर बैठ गए, उसी समय एक धोबी आया तहमद पहने हुए बहुतसे कपड़े लेकर और उस ही नदीके किनारे उसी शिलापर वह कपड़े धोता था तो वह उसके किनारे आ गया और मुनिसे कहा कि आप दूसरी जगह बैठ जावो हम इस शिला-पर कपड़े धोवेंगे। तो मुनि बोले कि तुम कैसे कपड़े धोवोगे, हम यहां पर बैठकर ध्यान करेंगे। धोबी बोला महाराज यह हमारी रोजकी कपड़ा धोनेकी शिला है, हम इसपर रोज-रोज कपड़े धोते हैं। तो उनमें आपसमें बहुत कहा सुनी हो गई, यहां तक कि

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

हाथापाई भी हो गई, एक लड़ाई सी होने लगी, उस समय उस धोबीका तहमद खुल गया, अब दोनों नंगे हो गए। वह मुनिभेषी तो नंगा था ही। जब तेज लड़ाई हो गई तो उस समय तहमद खुल जाने से धोबी भी नंगा हो गया। उस समय मुनि कहता है कि ए देवताओं तुमको कुछ खबर नहीं है कि यहां मुनिपर संकट आ रहा है, क्या हमको तुम बचा नहीं सकते ? तब उसे देवता कहते हैं कि हम तो तुम्हारी सेवाके लिए खड़े हैं, मगर हमें यह भ्रम हो गया कि इनमें मुनि कौन है और धोबी कौन है ? तो मुनिपद बहुत ऊंचा पद है, अरहंतके बादका पद है। यह पद कैसा निर्दोष होना चाहिए, कैसा समतासे भरा हुआ होना चाहिए ज्ञानामृतका निरन्तर अनुभव करते हुए होना चाहिए। जिस मुनिके दर्शनसे पाप ध्वस्त हो जाते हैं, ऐसे मुनिका भेष रखकर भी यदि कोइ पुरुष क्रोध, मान, माया, लोभ आदि कषायोंमें बढ़ा हुआ है और विषय पोषनेके खातिर ही खाने पीने या आदरके खातिर ही वह सब कुछ कर रहा है व्यवहार धर्मकी बातें, तो ऐसे मुनिके लिए कह रहे हैं कि वह न तो ज्ञान प्राप्त कर सकता है और न समाधि प्राप्त कर सकता है।

(१५४) **बोधि समाधिके लाभमें ही जीवका कल्याण**—लोकमें दुर्लभ रत्नत्रय है। आप लोग प्रायः पढ़ते होंगे—धन कन कंचन राज सुख सबहि सुलभ कर जान, दुर्लभ है संसारमें एक यथारथ ज्ञान। यह यथार्थ ज्ञान अत्यन्त दुर्लभ है, पर ऐसा मोह जीवोंपर छाया है कि ये बाहरी पदार्थ ही इन्हें रुचते रहते हैं। आप ज्ञानके लिए क्या करते हैं सो बताओ, तन, मन, धन, बचन यह सब कुछ परिवारपर न्यौछावर कर देंगे, मगर अपने आपके कल्याणके लिए, अपने आपके बोधके लिए समय भी नहीं है, श्रम भी नहीं है, मन भी नहीं है, फुरसत भी नहीं है। भाई यह मनुष्य पर्याय बड़ी दुर्लभतासे प्राप्त हुई है, इसको यों ही न खो देवें, किन्तु कैसे मेरेको मेरा ज्ञान हो, इस धुनमें रहें। अगर ज्ञान हो गया तो आगेका भव भी अच्छा गुजरेगा और अगर ज्ञान नहीं हुआ तो आगे दुर्गति होगी। अज्ञानभावसे वास्तविक दुर्गति तो अपने अन्तः ही हुई है फिर निमित्त-नैमित्तिक योगवश बाह्य दुर्गति होती है। जो जीव अपनेको ज्ञानस्वरूपके रूपमें न अनुभव सके और पौद्गलिक विकाररूपोंमें अपनेको माने उस जीवकी तो बड़ी दुर्गति है, मोहान्धकारसे आच्छन्न है, सतत आकुलताको अनुभवता है। यह सब दुर्गति ज्ञानस्वरूप में नहीं है। सहज अविकार ज्ञान स्वरूपकी प्राप्तिमें आत्मसर्वस्व पा लिया जाता है। यह सम्यग्ज्ञान अतीव दुर्लभ है। इसकी उपासनामें ही इस दुर्लभ मानव जीवनकी सफलता है।

Report any errors at vikasnd@gmail.com

https://www.jainelibrary.org

(१५५) **खुदकी अपनी बात**—यह अपनी खुदकी बात कही जा रही है, ऐसा ध्यान में रखकर सुनो। जो भी बात चलेगी वह खुदकी है, उसे खुदमें परखना चाहिये। निरखिये—अपनेमें मैं क्या चाहता हूं? शान्ति आनन्द, ऐसा सुख जो कभी नहीं मिला। सबकी एक ही अन्दरकी आवाज है मुझे शान्ति और आनन्द चाहिए। यहां दो बातें आयी ना, मुझे शान्ति चाहिए तो पहले यह ही निर्णय करें कि वह मैं क्या हूं जिसे शांति चाहिए, और वह शान्ति क्या है जो हमें चाहिए। मैं हूं कोई जाननहार वस्तु, जो जानता रहता है सदा। जाने बिना कभी एक क्षण भी नहीं रहता। अपनेमें परखते जाइये—हूं ना मैं ऐसा जो सदा जानता रहता हूं। चाहे कैसा ही जानूं, पर जाने बिना नहीं रहता। उल्टा जाने, सीधा जाने, मोक्ष मार्गकी बात जाने, संसारकी बात जाने, जाने बिना नहीं रहता। तो मैं हूं एक जाननहार पदार्थ, और शान्ति क्या है, जहां रंच भी आकुलता न हो। तो एक बात यह समझिये कि मुझमें अगर शान्तिका स्वभाव नहीं है तो कितने ही उपाय कर लिए जायें, पर शान्ति न मिलेगी। जैसे तिलमें तैल है तो तैल वहांसे मिल जायगा, पर बालूमें तैल नहीं है तो कितना ही पेलो तैल वहांसे न मिल पायगा। ऐसे ही मुझे शान्ति चाहिए, मैं हूं एक जाननहार पदार्थ और यह मैं स्वयं शान्तस्वरूप हूं। सिर्फ जानूं, बाहरी विकल्प न बनाऊं, अन्यका ख्याल न बनाऊं तो अपने आप शान्ति है और जगतके बाहरी पदार्थोंका ख्याल बनाऊं तो अशान्ति है। तो यह जरूरत पड़ी अब कि मेरेमें ऐसा ज्ञानप्रकाश हो कि दुनियाभरके ख्याल मुझमें न जगे और मैं केवल एक अपने ज्ञानस्वरूपको ही जानता रहूं, इसकी आवश्यकता है, यह ही जिन्होंने किया वे भगवान हुए, जिनकी मूर्तिका हम पूजन करते हैं, आराधना करते है उन्होंने यह ही काम किया था कि बाहरके सारे विकल्प दूर किये और अपने ज्ञानस्वरूप आत्मामें मग्न हुए, ऐसा किए बिना वास्तविक शान्ति नहीं मिलती।

(१५६) **समस्त मायाको पर व असार जानकर उससे दूर होने का प्रथम कर्तव्य**—भैया, शाश्वत शांतिके लिये हमारा पहला काम क्या है कि इन बाहरी पदार्थोंके विकल्प मेरे से दूर हों। उसका उपाय क्या? तो देखिये—ये बाहरी पदार्थ क्या हैं जो हमें दिख रहे हैं? ये सब बाहरी चीजें हैं क्या? ये सब माया हैं, और जो हम आप बैठे हैं यह सब क्या है? यह भी माया है। जो दिख रहा है वह भी माया है, परमार्थ नहीं है। परमार्थ तो जो प्रकट होता है वह भगवान है। वह परमार्थ हम ही में बसा है। उसे निहारें तो मिल जायगा, पर हम अपने परमार्थ स्वरूपको नहीं देखते, इस देहको ही देखते हैं। वह परमार्थ हम आपके अन्दर छिपा हुआ है। जैसे दूधमें घी है, यदि दूधमें

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

देखें तो घी नहीं दिखता, पर दूधमें घी होता तो है, तभी तो मशीनों द्वारा या प्रयोग विधिसे उस दूधमें से घी निकाल लिया जाता है। ऐसे ही मुझमें वह परमार्थ परमात्म-स्वरूप है जो स्वयं आनन्दपूर्ण है, पर उसकी विधि बनायें तो वह मिल जायगा। हां तो यहां जो कुछ दिखता है वह क्या है? माया है। माया किसे कहते हैं? जो अनेक पदार्थोंके सम्बंधसे बने उसका नाम माया है। माया शब्दका प्रयोग हर एक कोई करता है, पर मायाका अर्थ क्या है यह बताना कुछ कठिन हो जाता है। आप लक्षण देखो सब जगह घटित होगा। जो चीज अनेक पदार्थोंसे मिलकर बने उसका नाम है माया। देखो जो यह भींत दिख रही। बताओ वह एक पदार्थ है या अनेक पदार्थ मिलकर बनी है, मोटे रूपसे तो कह देंगे कि ईंट गारा आदिक बहुतसी चीजोंसे मिलकर बनी है यह भींत। तो जो चीज अनेक चीजोंसे मिलकर बनी उसका नाम माया है। यह माया विघटने वाली चीज है, नष्ट होने वाली चीज है, क्योंकि अनेक मिलकर बनी ना, तो वह बिखर जायगी। एक हो तो कायम रहे। जो अनेकसंयुक्त हो वह चीज कायम नहीं रह सकती। यह ही बात सब जीवोंकी है, जो ये दिख रहे हैं, हम आप जो बैठे हैं सो ये अनेक पदार्थ मिलकर बने हैं, वे अनेक पदार्थ क्या? शरीर, कर्म और जीव। शरीरमें भी अनन्त परमाणु हैं, कर्ममें भी अनन्त परमाणु हैं, और एक जीवहै, इनसे मिलकर बने हैं त्रस स्थावर, इसलिए वह सब माया है। तो अब मायासे लगाव रखनेमें फायदा क्या है, यह बात ध्यानमें लायें। लोग मानते हैं कि यह वैभव मेरा, यह मकान मेरा, यह परिवार मेरा, यह केवल भ्रम है। जब कोई मर जाता है तो उस समय आवालगोपाल कह देते हैं कि यहां कुछ भी किसीका नहीं है। यह सब झूठ है। यह आत्मा तो अकेला है।

(१५७) **निज सहज ज्ञानस्वरूपकी ही शरण्यता**—यहां अपनी बात सोचें कि मुझे शान्ति चाहिए तो उसका ढंग भी तो बनावें। पुण्यका उदय मिले, वैभव सामग्री मिले, इज्जत मिले, उसको देखकर फूला न समाये और अपनेको मान ले कि मैं सब कुछ बन गया, यह तो एक अज्ञान अंधकार है। मिला है यह दृश्य कुछ, मगर आपका कुछ नहीं है। आत्मा तो अकेला ज्ञानस्वरूप है। जो देहको मानता है कि मैं यह हूं, बस यह ही दुःखका बीज है, दुःखका कारण है। देखिये—सब बात सुनना है अपनेपर कृपा करके, क्योंकि शान्तिका मार्ग नहीं मिल रहा। कभी-कभी सोच लेते हैं कि हमको तो बड़ी शान्ति मिली है, पर सांसारिक समागमोंमें शान्ति कभी मिलती नहीं है, जिन्हें लोग सुखी कहते हैं उन्हें भी आकुलता है, और जिन्हें लोग दुःखी कहते हैं उन्हें भी आकुलता

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

है। दुःखमें आकुलता है, यह तो सब लोग जानते हैं, मगर सुखमें भी आकुलता है। किसी भी विषयका कोई भोग करता है तो वहां आकुलता है या नहीं ? है। अगर आकुलता न होती तो विषयभोगमें कोई न लगता। तो संसारके सुखमें भी आकुलता, दुःख में भी आकुलता। निराकुलता है तो एक अपने आपके सत्य स्वरूपको समझनेमें। तो सब जान रहे हैं कि मैं हूं और जो मैं हूं उसे समझ लें। मिलावटको मैं मत समझें। यह सब मिलावट है, शरीर मिलावट है। अजीव कर्म यह मिलावट है, विकार मिलावट है। मैं हूं ज्ञानस्वरूप, उसपर जिसकी दृष्टि लगी है उसको होता है सम्यग्दर्शन। सम्यक्त्वके बिना संसारसे कोई पार नहीं हो सकता।

(१५८) **दुःखका प्रथम कारण अहंकार**—देखिये—अपने दुःखके कारण चार हैं—(१) अहंकार, (२) ममकार, (३) कर्तृत्वबुद्धि और (४) भोक्तृत्वबुद्धि। ध्यानसे मनन कीजिये—खूब समझमें आयगा कि वास्तवमें यह हमारी गल्ती है इस कारण दुःख पा रहे हैं। पहला नाम है अहंकार, जो मैं नहीं हूं उसको मैं कह डालना यह कहलाता है अहंकार। शरीर मैं नहीं हूं उसको मान डालना कि यह मैं हूं, यह अहंकार बन गया। न जाने लोग क्या क्या सोचते हैं अपने बारेमें, परिवार वाले, बाल बच्चों वाले, धन वैभव वाले, इस गांव वाले, इस इज्जत वाले, जो जो कुछ भी सोचा जा रहा है वह है परमें अहंभाव, याने अहंकार। मैं नहीं हूं ऐसा, पर मान रहे हैं कि मैं यह हूं, जैसे सोचिये —लोग सोचा करते हैं कि मैं पुरुष हूं, मैं स्त्री हूं, पर जिसका नाम मैं है और जिस आत्माको पुकारा जा रहा है, वह आत्मा तो अमूर्त है, ज्ञानस्वरूप है। वास्तविक स्वरूप को देखो तो मैं पुरुष नहीं। मैं मनुष्य ही नहीं तो फिर पुरुष अथवा स्त्री कहांसे होऊंगा। यदि मैं मनुष्य होऊं तो फिर सदा मनुष्य रहूं, फिर यहांसे जाना क्यों हो ? मैं मनुष्य नहीं। मनुष्यपर्यायमें आया हूं, आत्मा तो मनुष्यपनेसे निराला है। मैं पुरुष स्त्री नहीं। इस पर्यायमें से गुजर रहा यह मैं आत्मा ज्ञानस्वरूप इन सबसे निराला हूं, तो जितना कष्ट है वह सब अहंकार भावसे है।

(१५९) **दुःखका द्वितीय कारण ममकार**—दुःखका कारण दूसरा है परमें ममकार याने यह मानना कि यह मेरा है। मेरा वह है जो मेरे साथ सदा रहे, जो मेरे साथ नहीं रह सकता, बिल्कुल भिन्न है, बाहरकी चीज है, जिससे कुछ मतलब नहीं उसमें यह मेरा है ऐसी दृष्टि गड़ाई जाय तो उसका फल आकुलता है। वह मेरा है नहीं और मैं मानता हूं मेरा, तो वह तो कभी मिटेगा, वियुक्त होगा। जो भी होगा उसकी परिणति से होगा, तो मेरा है ऐसा ममकार भाव भी दुःखका हेतु है। जो मेरा मेरा करता है,

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

मैं मैं करता है वह बरबाद होता है। हां अनुभव करो कि जो ज्ञानस्वरूप है सो मैं हूं। बाहरी चीजोंमें जो ममकार करता है वह तो पिटता है। देखिये हम आप भगवानके दर्शन करते हैं और उस शान्त मुद्राको देखते हैं तो देखनेमें क्या विचारना चाहिये। बाहरकी सर्व बातोंको असार जानकर, छह खण्डकी विभूति तजकर महाराज पद तज कर, वैभवपर ठोकर मारकर, निर्ग्रन्थ होकर अपने आत्मस्वरूपकी उपासनाकी, यह सारभूत काम किया, इससे आपने मोक्ष पाया। धन्य है प्रभु, यह ही तो मेरा स्वरूप है, मैं क्यों अज्ञानमें रहकर संसारमें रुलूं। मुझे भी अपने आत्माकी संभाल करना चाहिए यह ध्यानमें लाना चाहिए? तो जब जीवमें अहंकार और ममकार ये दो दोष बसे हैं तब तक वह शान्तिसे नहीं रह सकता। तब क्या करूं, अहंकार तजकर ज्ञानस्वरूपमें हूं, उसमें मैं बुद्धि रखूं, हूं यह मैं, मैं दर्शन ज्ञानस्वरूप हूं, सहजानन्द स्वरूप हूं, जैसे ऐना (शीशा), उसमें खुदकी झलक भी है ना, तो उसमें परपदार्थोंकी भी झलक आती है। शीशेमें दो गुण हैं—(१) खुदकी झलक और उससे बाहरमें सामने रहने वाली चीजोंकी झलक। ऐसे ही आत्मामें दो गुण हैं, खुदका प्रतिभास और बाहरमें रहने वाले पदार्थोंका प्रतिभास। खुदका प्रतिभास वह तो है दर्शन और बाहरी चीजोंका प्रतिभास, वह है ज्ञान। यह मेरा वास्तविक स्वरूप है और मेरा यह ही सर्वस्व है इसके अतिरिक्त मेरा कुछ नहीं है, ऐसा दृष्टिमें आये, आत्मतत्त्वकी ओर अपना ध्यान जगे तो शान्ति मिलेगी। तो मोही जीव दुःखी होनेके लिये दो ऐब तो ये करते हैं।

(१६०) **दुःखका तृतीय व चतुर्थ कारण कर्तृत्वबुद्धि व भोक्तृत्वबुद्धि**—तीसरा ऐब है कर्तृत्वबुद्धि। मैं करने वाला हूं। कैसा भाव भरा है कि मैं ही खिलाने पिलाने वाला, करने वाला हूं। यह बात चित्तमें नहीं आती कि जो बालक आज पैदा हुआ है या जो घरमें रह रहे हैं उन सबका अपना जपना भाग्य है, उनके उदयके अनुसार उनका सब कुछ चल रहा है, यह दृष्टिमें न रहकर जिनकी शरीरमें आत्मबुद्धि है वे ऐसा सोचते हैं कि मैं करने वाला हूं। यह कर्तृत्व बुद्धि भी इस जीवको बड़ा हैरान कर रही है। चौथा ऐब है भोक्तृत्व बुद्धि, पर पदार्थोंमें लोगोंकी ऐसी दृष्टि रहती है कि मैं इनको भोगता हूं, मैं दूकान भोगता हूं, भोजन भोगता हूं, भोग भोगता हूं,...इस प्रकारकी दृष्टि रहती है। पर वास्तविक बात यह है कि बाहरमें कोई किसी दूसरी चीजको भोग ही नहीं सकता। वास्तवमें स्वरूपसे बाहर किसीकी कुछ करतूत नहीं। सो ऐसा अपने आपके स्वरूपमें अपनेको ज्ञानमात्र निरखिये।

(१६१) **सहजज्ञानस्वरूप अन्तस्तत्त्वमें आत्मत्वके अनुभवकी ही सर्वदुःखापहारिता**—

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainelibrary.org

मैं सिर्फ ज्ञानस्वरूप हूं, अन्यसे मेरा कुछ सम्बंध नहीं। ज्ञानमात्र हूं, यह बात यदि चित्त में आये तो शान्ति मिलेगी, वह पथ मिलेगा कि जिस पथपर चलकर मुक्ति मिली। गृहस्थीमें हैं तो परिस्थितिवश करना पड़ रहा है। उसके बिना गुजारा न चलेगा, करना पड़ेगा, मगर यथार्थ बात जाननेका इतना महात्म्य है कि कभी आकुलता नहीं जग सकती। चाहे किसी परपदार्थका कैसा ही परिणमन हो, पर भीतर आकुलता नहीं होती। इसके आत्माका ज्ञान सही बना लें। यह मोक्षमार्गका मूल है। जैसे कहते हैं ना कि सम्यग्दर्शनके बिना मुक्तिकी प्राप्ति नहीं होती। यह सम्यग्दर्शन ही एक आत्महितका मूल तत्त्व है। अपने आत्माके सही स्वरूपका अनुभव कर लूं कि मैं यह हूं, ऐसा सम्यक्त्व हो जाय तो संसारसे पार हो जायेंगे और सब संकट मिटेंगे और यदि सम्यक्त्व न प्राप्त किया तो जैसे अनादिकालसे अब तक अनन्ते भव बीत गए वैसे ही यह मनुष्यभव भी व्यर्थ ही व्यतीत हो जायगा, इस दुर्लभ मानवजीवन को पाकर भी कल्याणका मार्ग न मिल पायगा।

भावेण होइ णग्गो मिच्छत्ताई य दोस चइऊणं।
पच्छा दव्वेण मुणी पयडदि लिंगं जिणाणाए ॥७३॥

(१६२) सम्यक्त्वभावमें स्वकीय यथार्थ नग्नता याने ज्ञानमात्रस्वरूपका प्रत्यय—

जिसे संसारसे छुटकारा पाना है वह पुरुष सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्रसे युक्त होता है। जाप देनेकी मालामें ऊपर तीन मोती रहते हैं जिन्हें कहते कि ये सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्रके मोती हैं और उसपर अंगुली रखकर उपासनामें रत्नत्रयको नमस्कार करते हैं। मंत्र कुछ भी जपें, चाहे णमोकार मंत्र जपें, चाहे 'ॐ नमः सिद्धेभ्यः, जपें, उस मालामें १०८ बार जपनेपर तीनको कहेंगे—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्-चारित्रको बात। सम्यग्दर्शनाय नमः, सम्यग्ज्ञानाय नमः और सम्यक्चारित्राय नमः। मंत्र चाहे कुछ भी जपा जाय उनमें तीर्थंकरोंमें से किसी एक तीर्थंकरका नाम जपा जाय, महावीर, आदिनाथ, चंद्रप्रभु आदि का तो भी वे तीन नाम रहेंगे सम्यग्दर्शनादिक। उसका कारण क्या है कि ये तीन रत्नत्रय तो मूल हैं मोक्षके, जिन्होंने मुक्ति पायी उन्होंने इन तीनोंके धारणसे मुक्ति पायी। सो सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्ररूप सहजात्म भावको नमस्कार हो। वह सम्यग्दर्शन क्या? अपने आपमें अपने सहज चैतन्यस्वरूपका दर्शन होना सम्यग्दर्शन है। एक दोहा प्रचलित है कि "सबके पल्ले लाल है लाल बिना कोई नहीं। उस बिन सब कंगाल है, गांठ खोल देखी नहीं।।" लाल सबके पल्ले है, एक उदाहरण है—कपड़ेमें बंधा है लाल, पर मालूम नहीं है और गांठ खोल-

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

कर देखेगा भी क्यों ? तो यों वह अपनेको गरीब महसूस करता है, ऐसे ही हम आपमें वह प्रभाव, वह वैभव, वह चमत्कार मौजूद है कि जो प्रभुमें है, जिनकी हम वन्दना करते हैं, सिद्धप्रभुमें जो माहात्म्य है वह सब अपनेमें बसा है, लेकिन मोहान्धकारग्रस्त होनेसे उनका पता नहीं है तो वह देखेगा भी क्यों ? और उसकी धुन भी क्यों रखेगा ? इसलिए वह कंगाल हो जाता है, कंगाल बना है ।

(१६३) **परमार्थ शरण्यके अवलंबनसे परमार्थ नग्न होकर मुनिव्रत धारण कर प्रगतिके मार्ग की संभवता**—भैया, थोड़ा अपने आपमें अपनी दया करके निरखियेगा कि मेरा शरण कौन है ? शरण है मेरे आत्माका मेरा सहज आत्मस्वरूप, दूसरा कोई शरण नहीं है, बाकी सब भ्रम है, और उस भ्रममें रहता है तो फिर रोनेके अनेक प्रसंग आते हैं । यह लड़का मेरा, बड़ा ख्याल करता था, मेरा बड़ा प्यारा लड़का था, शरण था । अरे निश्चयतः निरखें तो मेरे आत्मका शरण मेरे आत्माके सिवाय अन्य कुछ नहीं है । सो वह आत्मतत्त्व प्रकट कैसे हो ? तो भाई पहले तो भावसे नग्न होइये, मायने सम्यक्त्व-सहित होइये । जो हमारा वास्तविक आत्मा चैतन्यस्वरूप है वह देहसे ढका, कर्मसे ढका, विकारसे ढका, यह उपयोग बाहर-बाहरको तो तक रहा है, भीतरको नहीं तक रहा । जैसे आप लोग ४-६ कपड़े पहने बैठे हैं—धोती, कुर्ता, बनियान, टोपी, कोट आदिक, फिर भी आप कपड़ोंके भीतर तो नग्न हैं ही । हर एक कोई नग्न है । तो ऐसे ही यह देह कर्म विकार ये सब ऊपर नच रहे हैं, चल रहे हैं, लेकिन इनके भीतर जो हमारा खाली केवल आत्मा है वह तो वही स्वरूप रख रहा है । उस नग्न स्वरूपको देखो, केवल अपने अंतस्तत्त्वको निरखो । तो पहले भावसे नग्न होना है मिथ्यात्वादिक दोषोंको तज-कर । मोह, अज्ञान, यह सब हटें और सत्य प्रकाश हो जैसा कि मेरे आत्माका वास्तविक स्वरूप यह चैतन्यमात्र है, यह है भावसे नग्न होना, अपनेको अकेला निरख लेना, ऐसा पुरुष पीछे द्रव्यसे नग्न होता है तो वस्त्र दूर करता है, मुनिव्रत धारण करता है । दूसरा अर्थ यह भी समझें कि पहले तो वह बाह्य परिग्रहोंको त्यागकर द्रव्यसे मुनि बना, पश्चात् उसका भीतरी परिग्रह भी हटा और भावोंसे नग्न हुआ ।

(१६४) **निःसंकट निज सहज स्वरूपका दर्शन**—अपने आपको जो सहज स्वरूपमें देखेगा उसको संकट नहीं है । संकट नाम किसका ? नाम ले लेकर तो बताओ । कोई कहेगा कि मेरी दूकानमें इतना टोटा हो गया वह संकट है, कोई कुछ । जरा अपने आपको तो सोचो, मैं हूं चैतन्यस्वरूप आत्मा, उसमें क्या घट गया ? जितने गुण थे उतने ही गुण हैं, जो शक्तियां थीं वे ही हैं । आत्माका स्वरूप है सो ही है उसमेंसे क्या घट

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

गया ? क्या संकट मानना। मकान नहीं बन रहा, गिर गया कोई बीमार है या कुछ वाञ्छा है, इच्छा है, अमुक पद मिले, हमारी कीर्ति हो, वे नहीं हो पा रहे, संकटोंके नाम लीजिए तो क्या क्या कहलाते ? ज्ञानी पुरुषके लिए तो वे हास्यके पात्र हैं। इन बाहरी वस्तुओंसे क्या संकट आया आत्मामें ? जो आत्माके वास्तविक स्वरूपको समझता है वह अपनेको संकटहीन अनुभव करता है। कुछ संकट नहीं। जिसने इस लौकिक कीर्ति और इज्जतको माया समझ लिया उसके लिए अब संकटका कारण ही क्या रहा है तो यह सब प्रताप है सम्यग्दर्शनका। शान्ति मिले, भव सुधरे, मोक्षमार्गमें लगे, मोक्ष मिले, यह सब सम्यग्दर्शनका चमत्कार है, उस सम्यक्त्वको नमस्कार किया है। ऐसा सम्यक्त्व सहित फिर जो जो कुछ भी ज्ञान बनना है वह सब ज्ञान बनता है। बाहरी पदार्थोंको भी जानेगा तो ये पर हैं, इनसे में निराला हूं, यह उसके ध्यानमें रहेगा, फिर कुछ भी जानता जाय, वह सब सम्यग्ज्ञान है और अपने इस अविकार आत्मस्वरूपमें उपयोगको रमायेगा यह है सम्यक्चारित्र। अपने आपकी दृष्टिमें अपना सहज आत्मस्वरूप हो तो उसका सर्वस्व प्राप्त होगा।

(१६५) **द्रव्यलिङ्ग व भावलिङ्गका समुचित सहयोग**—यहां यह बात जानना है कि भावलिंगसे द्रव्यलिंग होता है और द्रव्यलिंगसे भावलिंग होता है, दोनों ही प्रमाण करना चाहिए। कोई ऐसा एकान्त नहीं है कि भावसे कोई मुनि बने, पीछे नग्न बने, या पहले शरीर से नग्न बने, पीछे भावोंसे मुनि बने दोनोंका परस्पर एक सहयोग है। निर्ग्रन्थता एक वातावरण है और भावोंमें उन्नति होना यह आत्माके पुरुषार्थकी बात है। एक प्रकरण यह भी समझ लेना। यह कहनेकी पद्धति है कि द्रव्यलिंगी मुनि अज्ञानी होता, मिथ्यादृष्टि होता, वास्तविक नहीं है। तो उस द्रव्यलिंगीका अर्थ क्या है ? सुनें, गुण-स्थान १४ होते हैं। पहले गुणस्थानमें मिथ्यात्व है, चौथे गुणस्थानमें सम्यक्त्व है, व्रत नहीं है। तीसरेमें सम्यक्मिथ्यात्व मिला जुला अवक्तव्य है। दूसरे गुणस्थानमें सम्यग्दर्शन न रहा और मिथ्यात्व आ नहीं पाया उसके बीचकी दशा है। ५वें गुणस्थान में श्रावकके व्रत भी हो गये। छठा और ७वां गुण स्थान मुनिका गुणस्थान है। सो कोई महाव्रत नग्नता तो धारण करले और गुणस्थान रहा पहला तो उसे कहते हैं द्रव्यलिंगी मुनि, अथवा शरीरसे तो वह द्रव्यलिंगी मुनि है, पर गुणस्थान दूसरा हो, तीसरा हो वह भी द्रव्यलिंगी मुनि है, अथवा चौथा पांचवा गुणस्थान हो वह भी द्रव्यलिंगी। द्रव्यलिंगी में सम्यग्दृष्टि मुनि भी आते हैं और मिथ्यादृष्टि मुनि भी। भावलिंगी वे कहलाते हैं कि शरीरसे भी नग्न हैं, मुनि हैं और भावोंसे छठा, सातवां गुणस्थान है, वे साधु प्रमत्त

Version 1

https://sahjanandvarnishastra.org/

अप्रमत्त दशामें झूमते रहते हैं। अपनेको ज्ञानस्वभाव अनुभवना यह उनका मुख्य ध्येय है। सो अपनेको भी यह दृष्टिमें रखना चाहिए कि कब वह समय आये कि मैं बाह्य और अंतरंग परिग्रह त्यागकर एक इस अंतस्तत्त्वका अनुभव करूं।

भावो वि दिव्वसिवसुक्खभायणो भाववज्जिओ सवणो।
कम्ममलमलिणचित्तो तिरियालयभायणो पावो ॥७४॥

(१६६) **भावलिङ्ग व द्रव्यलिङ्गका परिणाम**—भावसहित मुनिधर्म पालन करना ऐसा जो परिणाम है वह स्वर्ग सुख और मोक्ष सुखका देने वाला है, किन्तु भावरहित कर्ममलसे मलिन चित्त वाला पापयुक्त मुनि तिर्यञ्चगतिका पात्र है। इस गाथामें सामान्यरूपसे दो बातें कही गई हैं, जो भावलिंग सहित मुनि है वह तो स्वर्ग सुख और मोक्ष सुखको पाता है और जो भावरहित और पापसहित प्रवृत्ति वाला मुनि है वह तिर्यञ्चगतिको प्राप्त होता है। यहां इन दो सामान्य कथनोंमें अनेक बातें भरी हुई हैं। प्रथम बात तो यह है कि जो भावलिंगी निर्ग्रन्थ साधु है और वीतराग दशाको प्राप्त हुआ है, क्षपक श्रेणीसे चढ़कर जिसने वीतराग चारित्र पाया हो, जो क्षपक श्रेणीके चारित्रसे चल रहा हो वह मुनि नियमसे मोक्ष पाता है। दूसरी बात—जो मुनि भावलिंगी साधु है किन्तु अभी सराग चारित्रदशामें है, अथवा उपशमश्रेणिमें हो, उपशममोहमें या सराग चारित्रमें रहकर मरणको प्राप्त होता है वह स्वर्गके सुख, स्वर्गसे ऊपरके कल्पातीत विमानोंमें देवोंके सुख पाता है, किन्तु जो मुनि भावलिंगी नहीं है और साथ ही द्रव्यलिंग के अनुकूल महाव्रतका पालन नहीं करता, पापपरिणाम वाला है, दुराचार करता है तो वह मुनि तो तिर्यञ्चगतिको प्राप्त होता है।

(१६७) **भावलिंग, द्रव्यलिंग, गृहस्थलिंग आदिक परिणामोंके अनेक तथ्य**—यहां यह भी ध्वनित होता है कि गृहस्थ सम्यक्त्वसहित अपने योग्य आचारोंको पालते हुए १६वें स्वर्ग तकके देवोंमें उत्पन्न होता है वह देवियोंमें उत्पन्न नहीं होता। यहां बात यह जानना कि देवियां सिर्फ दो स्वर्गोंमें रहती हैं। देवियोंकी उत्पत्ति दो स्वर्गोंमें है—सौधर्म और ऐशानमें, वैसे ये देवियां १६ स्वर्ग तकके देवोंकी है, कोई किसीकी देवी कोई किसीकी मगर उत्पत्ति दो स्वर्गोंमें होती है। बादमें जिस देवीका जिस स्वर्गके देवसे नियोग है वहां पहुंचती है, देव ले जाते हैं, वहां वह देवी उस देवके साथ रहती है। वह देवी उस देवकी हो जाती है, किन्तु उत्पत्ति दो ही स्वर्गोंमें होती है। हां कोई द्रव्यलिङ्गी मुनि मिथ्यादृष्टि मुनि हो और वह शास्त्रानुकूल बाह्य आचरण करता हो तो ऐसा मुनि भी नवग्रैवेयक तक उत्पन्न होता है, स्वर्गोंसे ऊपर मुनि हुए बिना कोई जीव उत्पन्न नहीं हो सकता। अभव्य

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

जीव भी हो वह भी द्रव्यलिङ्गके प्रभावसे नवग्रैवेयक तक उत्पन्न हो लेता है। तो यहां शिक्षा लेना है कि अपने भावोंकी सम्हाल करें। भावोंकी सम्हालसे ही अपना कल्याण है, सो भावोंकी सम्हालके लिए योग्य व्रतादिक भी धारण करें। पाप क्रियावोंमें रहकर कोई भाव नहीं सम्हाल सकता है। उसके लिए गृहस्थोंको देवदर्शन आदिक बाह्य आवश्यक बताये गए हैं व मुनिजनोंके लिए महाव्रत आदिक बताये गए हैं। तो व्यवहार धर्म का पालन करते हुए अपने परिणामोंको सम्हालें, रागद्वेषसे दूर रहें, आत्माका जो यथार्थ सहज स्वरूप है उस स्वरूपकी भावना बनायें।

खयरामरमणुयकरंजलिमालाहिं य संथुया विउला।
चक्कहररायलच्छी लब्भइ बोही सुभवेण।।७५।।

(१६८) **रत्नत्रयलक्ष्मीकी प्राप्तिकी अत्यन्त दुर्लभता**—विद्याधरोंसे आदरणीय, देवोंसे आदरणीय, मनुष्योंसे आदरणीय चक्रवर्तीकी लक्ष्मी बड़े बड़े राजा महाराजाओंकी लक्ष्मी तो इस जीवने अनेक बार प्राप्त की है, पर भव्य जीवोंके द्वारा, ज्ञानी संतोंके द्वारा पूजनीय रत्नत्रयरूप लक्ष्मी इस जीवने प्राप्त नहीं की। रत्नत्रयकी प्राप्ति इस जीवको अत्यन्त दुर्लभ है। मन ऐसा स्वच्छंद है कि पचेन्द्रियके विषयोंमें मन बड़ी उमंगसे लगता है, पर आत्माकी चर्चामें, आत्माकी दृष्टिमें मन नहीं लगता है। संसारी जीवोंकी प्रायः ऐसी रीति ही है। तो यह रत्नत्रयरूप लक्ष्मी प्राप्त नहीं हुई अब तक। यदि यह प्राप्त हो गई होती तो फिर संसारमें रुलनेका क्या काम था? तो यहां यह समझना कि तीन लोकमें जो भी वैभव है, वह मिलना तो सुगम है किन्तु सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्रकी प्राप्ति दुर्लभ है। ऐसे ऐसे वैभव हैं लोकमें कि जिनका आदर बड़े बड़े विद्याधर करते हैं। वे विद्याधर विजयार्द्ध पर्वतपर दक्षिण और उत्तर श्रेणियोंपर होते हैं। बड़ी उनकी विद्यायें हैं। बड़े बड़े राजा महाराजा भी जिनका भोग करते, ऐसी ऊंची लक्ष्मी भी प्राप्त हो सकती है संसारमें, पर रत्नत्रयकी प्राप्ति होना सरल नहीं है। देव लोग, जिन्हें अमर कहते हैं याने मरते नहीं सो अमर, सर्वथा मरते नहीं यह बात नहीं, किन्तु उनकी लम्बी आयु होती है और वे आयुसे पहले मरते नहीं हैं इस कारण उन्हें अमर कहते हैं, वे भी जिनका आदर करें ऐसे वैभवकी प्राप्ति इस जीवको सुगम है, पर सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रकी प्राप्ति अत्यन्त दुर्लभ है।

(१६९) **सहज स्वाधीन रत्नत्रयलक्ष्मीकी दुर्लभतापर आश्चर्य**—छह खण्डके स्वामी चक्रवर्ती जिनके लाखों करोड़ों घोड़े, हाथी, सेना, सब छह खण्ड पर पूरे तौरसे राज्य है, ऐसी लक्ष्मी भी इस जीवका क्या हित करेगी। लौकिक लक्ष्मी प्राप्त तो हो जाती है,

Version 1

http://jinanandvarnishastra.org/

सुलभ है, थोड़ेसे ही पुण्यभावसे ऐसे पुण्य कर्म अर्जित होते हैं कि प्राप्त होना सुगम है, पर सम्यग्ज्ञान सम्यग्दर्शन, सम्यक्चारित्रके उपाय इस जीवको कभी न मिले। यह रत्नत्रय लक्ष्मी भव्य जीवोंके द्वारा आदरणीय है, इसकी भक्ति की जाती है, वह भाव इस जीवको अब तक प्राप्त नहीं हुआ, और आश्चर्य तो यह है कि जैसे तालाबमें रहने वाली मछली प्यासी रहे, यह एक आश्चर्यकी बात है ऐसे ही सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्रके स्वभाव वाले अपने आत्मामें ही यह आत्मा इस रत्नत्रयसे दूर रहे और इन जड़ वैभवोंकी आशासे ज्ञानकण्ठ सूख सूखकर प्यासा बना रहे तो यह एक बड़े आश्चर्य की बात है। तो यह रत्नत्रय लक्ष्मी अत्यन्त दुर्लभ है। हां, कभी भी मिले, रत्नत्रयके अवलम्बनसे ही जीव मोक्षको प्राप्त होता है।

(१७०) **सिद्ध भगवंत होनेकी दृढ़तम भावनामें सर्वोत्कृष्ट लाभ**—एक बार सामान्य रूपसे सोचें अपने लिए कि मैं क्या बनूं जिससे सब झगड़ा सदाके लिए खतम हो जाय? तो कोई झंझट विकल्प विपत्ति शल्य कुछ न होवे, ऐसा क्या बनना चाहिए सो सोचें? अगर राजा महाराजा बन गए तो संकट खतम हो जायेंगे क्या? बहुत बड़े लक्षाधीश, करोड़ाधीश बन गए तो उससे संकट मिट जायेंगे क्या? न मिटेंगे? जो संसारमें जितना बड़ा हो जाता है उसको उतने बड़े संकट उसके ढंगके आते रहते हैं। संसारकी कोई भी स्थिति ऐसी नहीं है कि जो संकटोंको दूर रखे, सिर्फ अरहंत और सिद्ध भगवंत हैं ऐसे कि जहां संकटका नाम नहीं बाकी जो जगतमें कीड़ा मकोड़ेकी तरह नाना प्रकारके जीव बिलबिला रहे हैं वे सब दुःखी हैं। तो अपने लिए यह भावना रखें कि इस जीवनमें मुझे सिर्फ (केवल) होना है, अन्य कुछ नहीं होना है, बाकी तो जो हो रहा है वह होना पड़ रहा है। कहां जाय? सो भैया भीतरमें यह ध्वनि निकले, यह मनमें बात आये कि मुझे तो अरहंत सिद्ध होना है, इससे पहलेकी कोई बात मंजूर नहीं है। अरहंत भगवान भी सिद्ध ही हैं, फर्क एक चार अघातिया कर्मका है, जो कि बाहरी बात है। सर्वज्ञता और वीतरागतामें कोई अन्तर नहीं है, सो वे भी अरहंत आयुके क्षय होनेपर सिद्ध ही होंगे, दूसरा कुछ न होंगे। तो अपने लिए भीतरमें यह भावना बनायें कि मुझे सिद्ध भगवन्त होना है, और कुछ न चाहिए। अगर यह भावना अब भी बन जाय और यही निरन्तर धुन रहे तो शीघ्र ही वह समय निकट आयगा जब कि उत्तम मनुष्य भव मिलेगा। वहां मुनिव्रतकी साधना होगी, आत्माका आत्मामें अवस्थान होगा, मुक्ति प्राप्त होगी, मगर यह ध्येय तो अभी इसी क्षण बना लें इसी भवमें कि मेरेको तो सिर्फ सिद्ध भगवन्त होना है, अन्य कुछ न चाहिए।

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainelibrary.org

(१७२) **सिद्धालयमें सर्वत्र सिद्ध भगवंतोंकी राजमानता**—इस लोकके चारों तरफ ३ वातवलय हैं—(१) घनवातवलय (२) घनोदधिवातवलय और (३) तनुवातवलय। उनमें से तनुवातवलयमें बहुतसा तनुवातबलय विस्तार निकलनेके बाद ऊपरके ५२५ धनुषकी मोटाई में तनुवातवलयमें सिद्ध भगवान बिराजे हैं। जो खड्गासनसे मोक्ष गए वे उस रूपमें वहां विराजे और पद्मासनसे मोक्ष गए वे उस रूपमें वहां बिराजे। सबका सिर भाग एक समान है। नीचे जिसका जितना विस्तार है उतने प्रमाण हैं। यह बात एक बाहरी कही गई है। वास्तवमें तो वह अमूर्त पदार्थ है। हम भी अमूर्त हैं, पर नामकर्म के उदयसे हमारा यह सूक्ष्मपना आवृत हो गया है और हम कुछ स्थूलसे मालूम पड़ते हैं, पर वहां अष्ट कर्म न होनेसे वे भगवान अमूर्त, अत्यत सूक्ष्म, जैसे हैं वैसे विराजे हैं। तो ढाई द्वीपसे जीव मोक्ष गए, उसकी सीधमें वे बिराजे हैं। कोई समुद्रसे ही मोक्ष चले गए, कोई पर्वतसे मोक्ष गए कोई जमीनसे ही मोक्ष गए। सब जगहसे मोक्ष गए हुए जीव हैं और इसी कारण सिद्धालयमें सर्वत्र सिद्ध जीव हैं।

(१७३) **समुद्रस्थान व मेरुमध्यभागस्थानसे मुनिराजोंको मोक्षलाभ होनेकी विधिका दिग्दर्शन**—यहां यह जिज्ञासा हो सकती है कि समुद्रसे कैसे मोक्ष गए, पृथ्वी पर तो, पर्वत पर तो तपश्चरण करते हैं और वहांसे मोक्ष गए, पर समुद्रकी जगहसे कैसे मोक्ष गए। तो वहां इस तरहसे मुनि मोक्ष जाते हैं कि जिन मुनियोंको कोई देव या शत्रु उठाकर उपसर्ग करता है और वहां समुद्रमें पटकता है। समुद्रमें गिरे उसी समय उनके भावोंकी निर्मलता बहुत बढ़ी। शरीर जहां है सो रहो, मगर भावोंमें विशुद्धि बढ़ी तो वहांसे मोक्ष चले गए। एक बात और जाननेकी इच्छा होती कि चलो समुद्रकी जगहसे भी मोक्ष गए, मगर मेरूपर्वतका जो भीतरी भाग है, बीचका भाग है वहां से कोई कैसे मोक्ष जायगा? पर्वत परसे मोक्ष चले जायेंगे किन्तु मेरूपर्वत पर एक चूलिका है और चूलिकाके ऊपर सौधर्मस्वर्गका ऋजु नामका विमान है, जिसका सिर्फ एक बालकी मोटाईका अन्तर है, मानो चोटीपर रखा है, उससे कैसे मोक्ष जायगा? फिर तो उसको सीधमें जो सिद्धालय का स्थान है वह तो खाली होगा, वहां सिद्ध न होना चाहिए। तो समाधान यह है कि जो मुनि ऋद्धिधारी हैं, ऋद्धियां भी अनेक तरह की होती हैं। विक्रिया आदिक ऋद्धि तो प्रसिद्ध हैं, पर एक अप्रतिघात ऋद्धि होती है, जिसके प्रतापसे पर्वत आदिकमें चलें बिराजें तो उनका छिड़ाव नहीं होता है। ऐसी ऋद्धि वाले कोई मुनि मेरु पर्वतमें चले जा रहे हैं, बीचके स्थानमें पहुंचे और वहां ही उनके शुक्लध्यान बन गया, वहां ही उनका निर्वाण हो गया तो वहां से ये सीधे मोक्ष चले गए। सो उसकी सीधका भी स्थान

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

सिद्धालय भरा हुआ है।

(१७४) सिद्धालयमें सिद्ध एकमें एक, एकमें अनेक, न एक, न अनेकके तथ्यका वर्णन— वहां सिद्धालयमें एक मांही एक राजे, एक मांहि अनेकनो। जहां एक सिद्ध भगवान बिराजे हैं, जिस स्वरूपमें वे हैं, जिस आत्मस्वरूपमें केवलज्ञान स्थित है। एक सिद्ध भगवानका उसमें तो वे एक ही है। एकमें दूसरा नहीं होता। यों एक सिद्धमें एक सिद्ध बिराजा है, मगर बाहरी क्षेत्रसे देखें तो जहां एक सिद्ध भगवान बिराजे हैं वहां अनन्त सिद्ध भगवान बिराजे हैं। तो सिद्ध भगवान एकमें एक हैं, एकमें अनेक हैं। तो फिर कहां एक है, कहां अनेक हैं, कितने हैं? अरे एक अनेककी नहीं संख्या। अगर सिद्ध भगवानके सही स्वरूपमें दृष्टि दें तो उस स्वरूपदृष्टिके करनेपर न तो आपको एकका ख्याल रहेगा और न आपको अनेकका ध्यान रहेगा। एक शुद्ध ज्ञानज्योति, इसी बात को सुनकर अन्य लोगोंने यह कहना शुरू कर दिया कि भगवान तो एक है और उसमें आत्मा निर्वाण पाते हैं सो विलीन हो जाते हैं। वह विलीन होना क्या है? विलीन होनेकी बात सत्य तो है, मायने जहां एक बिराजा है वहां दूसरा भी आ गया, स्वरूप उनका एक समान है? इसलिए कह देते हैं कि विलीन हो गया। दृष्टान्त भी दिया करते हैं कि जैसे तालाबमें से कुछ पानी निकाला या एक-एक बूंद निकाल-निकाल कर अलग-अलग रख ली तो वह बूंद है। यदि उस बूंदको तालाबमें डाल दिया जाय तो वह बूंद विलीन हो जाती है और इस दृष्टान्तको देखकर यह सिद्ध करना चाहते हैं कि ऐसे ही एक आत्मा भी बूंदकी तरह है और एक ईश्वर, परमात्मा तालाबकी तरह है। यह आत्मा भी वहां जाकर विलीन हो जाता है, पर विलोन होनेका यह अर्थ नहीं है कि उसकी सत्ता मिट गई और यह कुछ न रहा। जितने भी सिद्ध भगवान हैं, सब अपने अपने केवलज्ञानसे अपना-अपना ज्ञान करते जा रहे। सब अपने अपने आनन्दसे अपनेमें आनन्दका अनुभव करते जा रहे हैं, उनकी सत्ता न्यारी है और उनका परिणमन भी न्यारा है, मगर एक समान परिणमन है इसलिए लोगोंकी दृष्टि विलयपर जल्दी पहुंच जाती है, जैसे बूंद तालाबमें गिर गया तो बूंद नष्ट नहीं होता है, वह एक बूंद पड़ा है और भी बूंद हैं। वहां सब बूंदोंका एक समान स्वरूप है। वह बूंद तालाबमें ऐसी मिल गई कि वहां सब बूंदोंका एक समान स्वरूप है। वह बूंद तालाबमें ऐसी मिल गई कि वहां बूंद हो ही नहीं। भैया, यहां सिद्ध एक है या अनेक यह चर्चा छोड़ दो, तुम तो सिद्ध भगवानके स्वरूपपर ध्यान दो। सिद्धका स्वरूप कैसा है? पवित्र ज्ञान ज्योति। जो सहज आनन्दमय है ऐसा पवित्र अनन्त ज्ञानानन्दमय भगवान आत्माका स्वरूप है। ऐसा

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

सिद्धका स्मरण करें तो आत्मा पवित्र होगा और अपने आपमें ज्ञानज्योति पवित्र जगेगी। और उस ध्यानके प्रतापसे आत्मामें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र प्रकट होगा।

(१७५) सांसारिकसुखसे विरक्त होकर उत्कृष्ट सहजानन्दमय सिद्ध प्रभुके प्रभुत्वकी भावना का कर्तव्य—देखो यहां उत्पन्न हुए हैं, घरमें हैं, इस समय कुछ पुण्यका उदय है, सो अगर मनमें स्वच्छंदता आती है तो जो चाहे स्वच्छंद काम करलो, जैसे चाहे आचरणसे रह लो, क्योंकि उदय अच्छा है। मोह रागद्वेष कुछ भी करो, चाहे लड़ाई करो, अशान्ति रखो। दूसरेका बुरा विचारो, कुछ भी करलो, आखिर इसका फल अच्छा नहीं है, क्योंकि यह पुण्य कब तक मदद देगा। ये कर्म उदयमें आते और झड़ जाते हैं। पुण्यकर्म उदयमें आ रहे तब यह वैभव मिला है। उदयमें आ रहा मायने झड़ रहा, पुण्यकर्म निकल रहा तब यह वैभव मिल रहा। पुण्यकर्मके रहनेसे संसारका सुख नहीं मिलता, किन्तु पुण्य-कर्मके अलग होनेसे संसारका सुख मिलता है। मायने लोग कह तो देते हैं कि संसारका सुख पुण्य कर्मके उदयसे मिलता है, मगर उदयका अर्थ क्या है सो बताओ ? उस उदय का अर्थ यह है कि वह पुण्य कर्म अब आत्मासे निकल रहा है। उदय होनेपर कर्म आत्मामें रह सकते हैं क्या? उदय आनेके मायने निकल गया। सूर्यका उदय हुआ मायने सूर्य निकल गया, सूर्य अपनी उस जगहसे अलग हो गया। उदय होनेका अर्थ है कि उस जगहसे अलग होना। तो जब पुण्यकर्म आत्मासे अलग होता है उस कालमें संसारका सुख मिलता है, तो आप पूछेंगे कि ये सुख वर्षों तक क्यों रहते हैं। तो वर्षों तक बरा-बर पुण्यकर्म निकल रहे हैं इसलिए वैभव वर्षों तक रहता है। सो पुण्य कर्मतो निकलते रहें और पुण्यकर्मकी आमदनी न करें तो क्या हालत होगी ? यह सब पुण्य खतम होगा। और खतम होगा ही। सदा पुण्यकी आम-दनी कोई नहीं कर सकता पुण्य आता है, पाप आता है और इस तरहसे सुख दुःख आते हैं। तो संसार दुःखमय है। सिद्ध भगवान ही शुद्ध अनन्त आनन्दमय हैं। तो अपने आपके बारेमें यह ध्यान बनावें कि मुझे तो सिद्ध भगवान होना है। हम यहां कुछ नहीं चाहते। सिद्धके स्वरूपका ध्यान रखें तो अपने आप सहज ही ज्ञानस्वरूप का अनुभव जगेगा, जिसके प्रतापसे भव भवके बांधे हुए कर्म भी नष्ट हो जाया करते हैं।

पयलियमाणकसाओ पयलियमिच्छत्तमोहसमचित्तो।
पावइ तिहुवणसारं बोही जिणसासणे जीवो ॥७८॥

(१७६) मानकषायको प्रगलित करनेवालेके बोधिका लाभ—आत्माको शाश्वत प्रदान

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

करने वाला रत्नत्रयभाव है। यह उपयोग अपने आत्मस्वरूपको छोड़कर कहीं भी जाय, तो जैसे मछली अपने आवासको (तालाबको) छोड़कर यदि बाहर गिर जाय, तो वह तड़फती है इसी तरह यह उपयोग अपने आत्मस्वरूपको छोड़कर बाहर पड़ जाय तो यह भी तड़फेगा। तड़फता ही है। तो यदि अपनी तड़फन मिटाना है, अशान्ति, संकट दूर करना है तो अपने स्वरूपमें आना चाहिए, इसीको कहते हैं बोधि प्राप्त हो, मायने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र प्राप्त हो, इसे कौन प्राप्त करता है उस ही को इस गाथामें कह रहे हैं। जो पुरुष मान कषायको गला चुका है वह बोधिको प्राप्त करता है। जिसके मान कषाय है उसका उपयोग बाहर खिचा रहता है। अपने स्वरूपको देखता तो मान कषाय क्यों होती ? पुरुषको सबसे अधिक मान कषाय है इसलिए सर्वप्रथम इस ही की बात कही जा रही है। मान कषाय अपने आत्माके सही परिचयसे कटती है, अन्य कोई उपाय नहीं है। मैं मान कषाय न करूं इसकी प्रतिज्ञा नहीं हुआ करती है कि जैसे कोई प्रतिज्ञा कर लेता है कि मैं रोज देवदर्शन करूंगा, मैंने आलू छोड़ दिया, यह तो सब निभा लिया जायगा, पर मैं मानकषायका त्याग करता हूं, यह भावना तो बनेगी, पर प्रतिज्ञा न बनेगी। प्रतिज्ञा क्यों नहीं बनती ? मानकषाय प्रकृतिका उदय आ गया, जीवमें झलका, जीव विवश हो जाता है, जिसको मोह है वह मान करेगा ही। मान मिटता है तत्त्वज्ञानसे।

(१७७) **मानके गलनका उपाय तत्त्वज्ञान**—भैया, यह तो नियम कर सकते कि मैं दूसरेके आगे हाथ जोड़कर बैठा रहूंगा, पर तत्त्वज्ञान बिना यह न निभेगा कि मैं मान कषाय न करूंगा। यह उसके निभेगा जिसको अविकार ज्ञानस्वभावकी श्रद्धा है, नहीं तो हाथ जोड़कर बैठनेमें क्या मान कषाय नहीं बनती ? यह तो आजकी सभ्यता भी बन गई। यह मान कषायकी विधि बन गई कि प्रेमपूर्वक बोले, दूसरेके सम्मानकी बात बोले, यह भी एक तरहकी विधि बन गई कि लोकमें इस ढंगसे भी मान कषाय करते हैं। तो मान कषायका छूटना यह आत्मज्ञानपर निर्भर है, तब ही यह ज्ञानी अपने स्वरूपको समझता है कि मैं स्वरूपतः ज्ञानमात्र हूं और इस ज्ञानस्वभावका कार्य ज्ञानवृत्ति जगते रहना है, बस जाननमात्र परिणमन करते रहना है। यह मेरी स्वाभाविक कुलकी विधि है। इसमें विकार नहीं होता। विकार तो पौद्गलिक कर्मोंके उदयका निमित्त पाकर होता है, ऐसा जिसको बोध है उसमें यह बल आता है कि वह मान कषायका लगाव न रखेगा, मैं अपने स्वरूपकी ओर ही रहूंगा, वह मान कषायको दूर कर सकता है। फिर उसकी क्या प्रक्रिया होती है ? विचारमें, तर्कणामें वह जानता है कि मान

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

किस बातका करना ? जगतमें कौन सी चीज सारभूत हैं जिसको पाकर मान किया जाना चाहिए। जगतमें कौनसे जीव ऐसे मेरे खास हैं या मेरे कुछ हैं जिनके पीछे मुझे मान करना चाहिए ? क्योंकि सब जीव भिन्न हैं। किसको क्या दिखाना ?

(१७८) **मान कषायका मूल पर्यायव्यामोह**—मान आता है पर्याय बुद्धिमें। जिस जीवको अपने देहमें मान है कि मैं यह हूं, आत्माका मान नहीं है, किन्तु शरीरको निरखकर मान रहा कि मैं यह हूं यह मैं हूं, और जिसको माना कि यह मैं हूं उसकी बढ़वारीमें, उत्कृष्टतामें उसको लगन होगी। यदि आत्माको मानता कि यह ज्ञानस्वरूप मैं हूं तो मानरहित होकर ज्ञानस्वरूपकी बढ़वारी करता और जब शरीरको माना कि यह मैं हूं तो अब यह शरीर की बढ़वारी करेगा, तो शरीरकी बढ़वारी मान कषायको उत्पन्न करती है। पर्यायबुद्धि सब कषायोंको तीव्र बनानेकी जड़ है। तो जब तक यह बात न आयगी चित्तमें कि मैं इस देहसे तो प्रकट भिन्न हूं, पौद्गलिक कर्मोंसे भी भिन्न हूं, तब तक कषायोंसे विरक्ति न होगी। कर्मोंका उदय होनेपर जो चित्रण होता है, उपयोगपर जो झलक होती है कर्मोंकी उससे भी मैं निराला हूं। मैं तो केवल ज्ञानस्वरूप मात्र हूं, यह बोझ जिसको होगा वही मान कषायको गला सकता है। जब शरीरमें दृष्टि है कि मैं हूं, तो उसकी कोई भी कषाय नहीं गल सकती। क्रोध भी रहेगा पद पदपर। शरीरके पोषक या शरीरको सुखकारी जो बाहरी विषयभूत पदार्थ हैं उनमें बाधा किसीके द्वारा समझी गई उसपर क्रोध जगेगा। और उसी तरह मान जगेगा फिर देहको पोषने वाली चीजोंके जुड़ावके लिए कपट करेगा और लोभ भी रहेगा। जब तक जीवके पर्यायबुद्धि है तब तक कोई कषाय नहीं मिट सकती, इस कारण सबसे पहले मोहको दूर कीजिए। पर्यायबुद्धि कहो, मोह कहो, अज्ञान कहो, सब एक ही बात है। अज्ञान दूर हो तो कषायें दूर हो सकती हैं।

(१७९) **धर्मार्थीको धर्मयोजनामें शीघ्रता**—तीन लोकमें सारभूत इस रत्नत्रयभाव को वह जीव प्राप्त करता है जिसके मान कषाय गल गयी है। तीन लोकोंमें सारभूत इस रत्नत्रय विभूतिको वही प्राप्त कर सकता है, जिसका मिथ्यात्व मोह गल गया, और समतामें चित्त लग गया। जीव अपनी शान्तिके लिए रात दिन खूब पुरुषार्थ कर रहे हैं, चाहे उन्हें शांति मिली हो या न मिली हो यह दूसरी बात है, मगर देखो रात दिन पौरुष बना रहे हैं। कमाई करते हैं, परिवारके बीच बड़ी ठसकसे बैठते, बड़ा हर्ष मानते, बाहर देश विदेश फिरते न जाने क्या क्या कार्य नहीं कर डालते हैं, पर शांतिका रास्ता तो बड़ा सुगम है, स्वाधीन है। उसपर दृष्टि जाय, वहां पहुंच बनायें तो शांति मिलेगी,

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

अन्यथा शान्ति न मिलेगी। इतना धन हो तब शान्ति मिले, यह झूठ बात है या मैं अपनी ऐसी लौकिक स्थिति बना लूं तो शान्ति मिलेगी, यह भी बेकार बात है। कितने ही पुरुष ऐसे अब भी पाये जाते हैं जिन्होंने कभी यह सोचा था कि मेरे को इतना वैभव हो जाय फिर मुझे कुछ नहीं करना, ध्यान ही ध्यानमें समय बिताऊंगा। मगर जब उतना वैभव हो गया तब यह सब बात भूल गए। अब तो वे तृष्णामें बढ़ गए। तो यह बात क्यों बनी ? यों कि मोह तो नहीं गला ? मोह गल जाय तो उसे यह भी भाव न आयगा कि मेरे पास इतना वैभव हो तब मैं धर्म करूंगा। वह तो वर्तमान स्थितिमें चाहे गरीबीकी परिस्थिति हो चाहे कैसी ही परिस्थिति हो, कैसी भी स्थित हो उस ही स्थितिमें धर्मका योग जुड़ायेगा। जिसे कल्याणकी लगन है वह यह क्यों सोचेगा कि मेरे पास इतना वैभव हो जाय तब मैं धर्म करूंगा ? वह तो उस ही क्षणसे चाहे गरीबीकी दशा हो, चाहे कैसी ही स्थिति हो वहां ही धर्मका योग जुड़ायेगा तत्त्व-ज्ञान, स्वाध्याय सत्संग आदिक जो भी चाहिए, उनमें उसी क्षणसे वह अपना समय बितायेगा। कितने ही लोग बड़े होने पर और कुछ धर्मध्यानकी बात चित्तमें आनेपर बड़ा पछतावा करते हैं कि मैंने अब तकका जीवन व्यर्थ ही खोया। बचपनसे ही मेरेमें क्यों ऐसी बुद्धि न जगी ? यदि बचपनमें मेरेमें ऐसी बुद्धि जगी होती तो बचपनसे ही मैं धर्म साधना करता और आज मैं अपने को बड़ी अच्छी स्थितिमें पाता। मगर कहांसे यह बुद्धि जगे ? इस जीवमें मोह बसा है, अज्ञान बसा है।

(१८०) मोह मिथ्यात्वके गल जानेपर समताके प्रतापसे त्रिभुवनोत्तम बोधिका लाभ—

मोहमिथ्यात्वके गल जानेसे जब चित्तमें समता आती है तो व जीव तीन लोकमें सार-भूत इस रत्नत्रयरूप लक्ष्मीको प्राप्त करता है जिससे कि समता भाव जग गया है। सब जीव एक समान हैं, सब जीवोंमें चैतन्यस्वरूप है। सब जीव मेरेसे अत्यन्त भिन्न हैं, सब जीव मेरे स्वरूपसे पूर्ण समान हैं। जब ऐसी समताकी बुद्धि जगती है तब वह रत्नत्रय विभूतिको प्राप्त करता है। सुख दुःख जो भी हालत आयी प्रथम तो यह भ्रम है। किसी परवस्तुका उपयोग लगाया, इष्ट अनिष्ट बुद्धि की, सुख दुःख मानने लगे। बाह्य पदार्थ हैं, अत्यन्त भिन्न हैं, उनसे क्या लेना देना और फिर जो कुछ आ भी जाय तीव्र उदयमें सुख दुःख तो इसमें भी समता की बुद्धि रखनी है। दुःख है सो विकार, सुख सो विकार, मुझे जैसे दुःख न चाहिए ऐसे ही मुझको सुख भी न चाहिए। ज्ञानी पुरुषकी यह दृष्टि बनती है कि दुःख भी बुरे और संसारके सुख उनसे भी बुरे। दुःखमें तों प्रभु का ध्यान रख सकते हैं, किन्तु सांसारिक सुखमें प्रभुका ध्यान नहीं, आत्माका ध्यान

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

नहीं, तो वहां तो बड़ी मलिनता बनती है और इसीलिए बताया कि यह पुण्य तो नरक भी भेज देता है। कैसे भेजता ? पहले पुण्य किया, राजा बन गए, राजा बनकर अन्याय किया। जिस चाहे को सताया, जैसा चाहे अभिमानका भाव भरा, नरकायु बंधी, नरक चले गए। उस पुण्यके उदयसे वैभव मिला था। अगर वैभव न मिलता तो सम्भव है कि इतनी तीव्र कषाय न करता। कभी तो ऐसा भी दीखता है। तो जिसने आत्मतत्त्वका ज्ञान किया वह सुख दुःखमें समान रहेगा। उसके मान कषाय दूर हो जायगी। उसके मोह मिथ्यात्व तो रहा ही नहीं। तो मोक्षका मार्ग बिल्कुल स्पष्ट हो जायगा। ऐसा जीव तीन लोकमें सारभूत बोधिको प्राप्त करता है, सो यह सब जिन-शासनमें रहकर उस प्रकार की वृत्ति करनेका माहात्म्य है।

विसयविरत्तो समणो छद्दसवरकारणाइं भाऊणं।
तित्थयरणामकम्मं बंधई अइरेण कालेण ॥७६॥

(१८१) **विषयविरक्त श्रमणके षोडष भावनासे तीर्थंकर प्रकृतिका बन्ध**—जो मुनि विषयों से विरक्त है वह षोडष कारण भावनाको भाकर शीघ्र ही तीर्थंकर नामकर्मका बन्ध करता है। जो विषयमें लगा है, जिसकी विषयोंमें प्रीति है वह तो धर्ममार्गमे ही नहीं है। जो विषयोंसे विरक्त है वही धर्मका आदर करता है। ये पञ्चेन्द्रियके विषय इस जीवके लिए धोखा है। भोगनेके समय ये अच्छे लगते हैं, मगर इनका परिणाम फल विपाक अत्यन्तबुरा है। जैसे एक इन्द्रायण फल (विषफल) होता है जिसको खाकर मनुष्य मर जाते हैं वह खानेमें बड़ा मधुर होता है। तो जैसे विषफल खानेमें मधुर लगता पर उसका फल मरण है ऐसे ही इन्द्रियके विषय भोगनेमें बड़े मधुर लगते हैं पर उसका फल संसारमें परिभ्रमण करना है, इसलिए विषयोंसे विरक्त होनेसे ही शान्ति मिलेगी। विषयोंके अभिमुख जीवको कभी शान्ति नहीं मिल सकती।

(१८२) **स्पर्शन इन्द्रियकी वशतामें हाथीके विघातका उदाहरण**—एक एक इन्द्रियके विषयमें प्राणी मारे गए, पर यह मनुष्य तो पञ्चेन्द्रियका दास है। यह कैसा मर रहा है। बरबाद हो रहा है। यह चिरकाल तक संसारमें जन्म मरण पायगा। एक हाथीका दृष्टान्त है। हाथीको पकड़ने वाले शिकारी लोग जंगलमें एक गड्ढा खोदते हैं और उस गड्ढे पर बांसकी पच्चें बिछाते हैं। और उसपर एक बांसकी झूठी हथिनी बनाते हैं। साथ ही कोई ५०–६० हाथकी दूरी पर एक ऐसा झूठा दौड़ता हुआ हाथी बनाते हैं जो यह मालूम होता है कि मानो हथिनिके पास दौड़ता हुआ पहुंच रहा है। इतना कार्य शिकारी लोग करते हैं, उस समय कोई बनका हाथी जब देखता है कि हथिनी खड़ी है

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

स्पर्शन इन्द्रियके विषयकी कामनाके वह होकर वश हाथी हथिनीके पास आना चाहता है और साथ ही जब देखा कि उसकी ओर कोई दूसरा हाथी दौड़ता हुआ उसकी ओर जा रहा है तो वह भी तेज दौड़ लगाकर उस हथिनीके पास आता है। पर वहां क्या था ? हथिनी तो थी नहीं, बांसकी पचे गड्ढ़ेपर बिछी हुई थीं सो वह हाथी उस गड्ढेमें गिर जाता है। बस शिकारीका काम बन गया। वह तो यही चाहता था कि हाथी इस गड्ढेमें गिर जाय। उसको कई दिन भूखा रखते हैं। जब वह बडा हताश हो जाता, तो उस गड्ढेमें एक रास्ता बनाकर और हाथीपर चढ़कर अंकुशके बलसे उसे अपने कब्जेमें कर लेते हैं। यों हाथी शिकारियोंके वश हो जाता है।

(१८३) रसना घ्राण चक्षु व कर्ण इन्द्रियकी वशतामें प्राणियोंके बातमें उदाहरण—रसनाइन्द्रियका उदाहरण है कि मछली मारने वाले ढीमर या मछुवा लोग बांसमें रस्सी फंसाकर। उस रस्सीकी छोरपर एक लोहेका कांटा फसाते हैं और उस केंचुवा वगैरह कुछ कीड़ा लगाकर उसे पानीमें डाल देते हैं। मछली मांसके लोभमें आकर मुख बा कर उस कीड़ेको खाती है, मछलीका कंठ उस कांटेमें फंस जाता है, अब वह विवश हो गई। ढीमर उसे पानी से बाहर निकाल लेता है और वह मछली पानीसे बाहर आकर तड़फ तड़फ कर मर जाती है। घ्राणेन्द्रियके वश होकर भंवरा अपने प्राण गंवा देता है। भ्रमर दिनके समय जबकि कमल फूला हुआ होता है, कमलकी सुगन्ध लेनेके लोभसे कमलके बीच मकरंद पर बैठ जाता है। शाम होते ही कमल तो बन्द हो जाता। क्योंकि कमल का ऐसा ही स्वभाव है कि सूर्यकी किरणोंके रहने तक कमल फूला रहता है, सूर्यके अस्त होने पर कमल बन्द हो जाता है। अब वह भंवरा कमलके फूलमें बंद हो गया। यद्यपि उस भ्रमरमें ऐसी कला है कि वह काठको भी कील कीलकर एक ओरसे दूसरी ओर निकल जाता है, मगर सुगन्धके लोभमें आकर वह कमल के पत्तोंको काट नहीं सकता। फल यह होता है कि गंधका लोभी होकर वह भ्रमर वहीं अपने प्राण गमा देता है, चक्षुइन्द्रियके वश होकर तो देखते ही हैं लोग कि गर्मीके दिनोंमें या बरसातमें दीपक पर पड़कर अपने प्राण गमा देते हैं। कर्णेन्द्रियके वश होकर सर्प, हिरण आदिक जानवर सपेरेकी बंशीका मधुर राग तानको सुनकर निकट पहुंच जाते हैं और उस समय वह सपेरा या शिकारी उस सांप या हिरणको पकड़ लेता है। तो ऐसे एक एक इन्द्रियके वश होकर प्राणियोंने अपने प्राण गमाया, पर मनुष्योंकी बात तो सोचो कि यह मनुष्य पांचों ही इन्द्रियके विषयोंका दास है, उसकी क्या हालत होगी ?

(१८४) विषयविरक्त श्रमणकी विशेषता—जो विषयोंमें आसक्त हैं उनका तो

Report any errors at vkasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

जीवन ही निष्फल है। हां जो विषयोंसे विरक्त हैं वे धर्ममार्गमें लगते हैं। तो जो मुनि विषयोंसे विरक्त हैं वह जब षोडश कारण भावनाको भाता है तो उस कालमें ही तीर्थंकर नाम प्रकृतिका बंध होता है, तीर्थंकर प्रकृति नामकर्मका भेद है, क्योंकि उसके प्रतापसे, उदयसे कुछ शारीरिक या मानवीय अतिशय बढ़ जाते हैं। समवशरणकी रचना होना सातिशय दिव्यध्वनि होना आदिक यह सब नामकर्मकी प्रकृतिका फल है। जबकि तीर्थंकर नाम प्रकृतिका जिसके उदय होता है वह नियमसे मोक्ष जाता है। मोक्ष जानेकी अपेक्षासे देखा जाय तो तीर्थंकर प्रकृति अच्छी मान ली जाती है और उसके कारणभूत सोलह कारण भावनायें तो सुमानुषोचित कर्तव्यों में अच्छी हैं ही। फिर भी इस तीर्थंकर प्रकृतिका भी क्षय होता है तब जीव मुक्तिमें पहुंचता है खैर तीर्थंकर प्रकृतिका बंध बड़ी विशुद्ध भावनाओंसे ही होता है। वे सोलह भावनायें कौन हैं ? सो निरखिये।

(१८५) **तीर्थंकरनामकर्मप्रकृतिबन्धहेतुभूत प्रथमभावना दर्शनविशुद्धि**—(१) दर्शन विशुद्धि भावना याने सम्यग्दर्शन अष्ट अंग सहित होना और सम्यक्त्वके होते हुए जीवोंके कल्याणकी भावना होना इसका नाम दर्शनविशुद्धि भावना है। यदि सम्यग्दर्शन होनेका नाम दर्शनविशुद्धि हो तो सम्यग्दर्शन तो सभी जीवोंके हुआ, जितने भी मोक्ष गए, पर तीर्थंकर सब नहीं कहलाये। सम्यग्दर्शनके होनेपर जीवोंके कल्याणकी भावना होना दर्शनविशुद्धि भावना है कैसी भावना होती है कि ये जगतके सब जीव ज्ञानानन्दस्वरूप हैं। अपनी ही सत्ताके कारण सबसे निराले हैं, किन्तु ये जीव अपने आपको सबसे निराला नहीं समझ पाते इस कारण संसारमें भटक रहे हैं। अगर यह सबसे निराला अपने ज्ञानस्वरूपको दृष्टिमें ले लें तो इनका कल्याण हो, ऐसी कल्याणकी भावना होती है। लोकमें अनेक लोग जो यह कह बैठते हैं कि तीर्थंकर प्रकृतिका बन्ध करने वाले पुरुष जीवके कल्याण करनेकी भावना करते हैं कि मैं इन जीवोंको मोक्ष पहुंचाऊं, इन जीवोंको उपदेश देकर इनको तार दूं, मगर ऐसा भाव नहीं होता है दर्शनविशुद्धिका, अगर ऐसा आशय हो तो वहां तो सम्यक्त्व ही नहीं है। कोई जीव किसी दूसरे जीवको तार सकता है क्या ? कोई किसीको मोक्षमें पहुंचा सकता है क्या ? अरे एक जीव किसी दूसरे जीवका कुछ भी नहीं कर सकता। फिर कर्तृत्व बुद्धि बनाये तो वह तो प्रकट मिथ्यात्व है। तो मैं इन जीवोंको तार दूं, ऐसी बात नहीं चित्तमें आती, किन्तु यह बात आती है कि देखो है तो यह स्वयं ज्ञानानन्द निधान, इसका स्वरूप समस्त पर और परभावोंसे न्यारा है, पर अपनेको तो समझ नहीं पाते, इस कारण संसारमें रुल रहे हैं। इनको दृष्टि मिले, ज्ञानप्रकाश जगे और ये सुखी हों, ऐसी भावना होती है, और उनके

Version 1

http://jinjanandvarnishastra.org/

सम्यग्दर्शन होता है। यद्यपि क्षयोपशमिक सम्यक्त्वमें भी तीर्थंकर प्रकृतिका बन्ध होता है लेकिन वहां चल, मलिन अगाढ़ दोष अत्यन्त सूक्ष्म होता जिससे कि उसके अष्टांग में रंच भी बाधा नहीं होती, जो अष्टांग सम्यक्त्वके हैं।

(१८६) **सम्यग्दर्शनके अष्टअङ्ग**—(१) निशंकित अंग—किसी प्रकारका भय नहीं रहता सम्यग्दृष्टिको और न अपने स्वरूपमें शंका रहती है। स्पष्ट परिचय है कि यह मैं ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मतत्त्व हुं, उसको कहांसे भय होगा ? जितना यह मैं हूं, यह ही मेरा दुनिया है, यही मेरे साथ रहता है। फिर इस लोकका भी भय क्या ? और परलोकका भी भय क्या ज्ञानी सम्यग्दृष्टि जीवको कभी भी कर्मोदयसे मिले हुए सुख दुःख भूख प्यास आदिक वेदनाओंमें मन नहीं डिगता। उपयोग मोक्षमार्गसे नहीं हटता। उनके कभी मोह उत्पन्न नहीं होता। कभी भी वह अन्य सन्यासियोंका चमत्कार देखकर उनके प्रति रंच भी आकर्षित नहीं होता। सबका ज्ञाता रहता है। माहात्म्य समझिये एक इस आत्मस्वरूपका। यह परभावोंसे निराला हो तो इस आत्मामें अद्भुत चमत्कार प्रकट होता है। केवलज्ञान होगा, सिद्ध भगवान होगा समस्त लोकालोकका जाननहार होगा, अनन्त सुखी होगा। वह बाहरी भेष चमत्कार पर आकर्षित नहीं होता। सम्यग्दृष्टि ज्ञानी जीव उत्तम क्षमा आदिक धर्मोंसे अपनेको बढ़ाया हुआ अपना विकास करता है और किसी अन्यके दोषको बोलने, प्रकट करनेका भाव नहीं बनाता। सदा यह अपनेको अपने धर्ममें स्थित करता है, किन्तु धर्म क्या ? सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और दूसरे लोगोंको भी जो धर्मसे हट रहे हैं, उनको भी अनेक उपायोंसे धर्ममें स्थिर करताहै। सम्यग्दृष्टि जीवको धर्मात्मा जनोंमें निष्कपट वात्सल्यभाव रहता है। वह जानता है कि ये भी रत्नत्रयके धारण करने वाले हैं। जिस मोक्षके पंथका मैं पथिक हूं उसीके ही ये पथिक हैं, ऐसा जानकर धर्मात्मावोंमें उसके वात्सल्य होता है। यह धर्मकी प्रभावना करता है अपने निर्मल चारित्रके द्वारा, ज्ञानके प्रसारके द्वारा तो ऐसा आष्टांग से विभूषित सम्यग्दृष्टि ज्ञानी श्रमण षोडश कारण भावनाओंको पाकर तीर्थंकर नामकर्म प्रकृतिका बन्ध करता है।

(१८७) **तीर्थंकरप्रकृतिबन्धका हेतुभूत द्वितीय तृतीय चतुर्थभावना**—तीर्थंकरप्रकृति बंध में मुख्य कारण दर्शनविशुद्धि भावना है। उसीकी शेष १५ भावनाओंमें से कोई भावना कम भी रहे तो भी तीर्थंकर प्रकृतिका बंध हो जाता है मगर दर्शनविशुद्धि भावना न हो, फिर चाहे १५ भावनायें भी होती रहें तो भी तीर्थंकर प्रकृतिका बंध नहीं होता। (२) दूसरी भावना है विनय सम्पन्नता। रत्नत्रयके धारी पुरुषोंमें सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्रमें,

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

धर्मभावमें, ज्ञानस्वभावमें विनयसम्पन्नता होती है। इसके प्रति झुकना यह ही कहलाता है विनय। ऐंठकर मीठी बात बोलना विनय न कहलायगा, किन्तु उसके लिए झुककर उसके प्रति कृतज्ञ बनकर जो भक्तिका भाव जगता है वास्तविक विनय वहां हुआ करती है। तो ऐसी विनयसम्पन्नतासे ज्ञानी श्रमण तीर्थंकर प्रकृतिका बंध करता है। (३) तीसरी भावना है शील और व्रतोंमें निर्दोष प्रवृत्ति करना। जो उसने व्रत धारण कर लिया, जिस व्रतमें वह चल रहा है उसका निरतिचार पालन करना, ऐसी प्रवृत्ति होती है और ऐसा ही निर्दोष रहनेकी भावना बनती है (४) चौथी भावना है अभीक्ष्णज्ञानोपयोग, निरन्तर ज्ञानमें उपयोग रखना याने स्वाध्यायसे, मननसे, सामायिकसे, चर्चासे अपने ज्ञानस्वरूपमें उपयोग रखना।

(१८८) **तीर्थंकरप्रकृतिबन्धहेतुभूत पञ्चम षष्ठ सप्तम अष्टम भावना**—पांचवीं भावना है सम्वेग भावना। संसारसे भयभीत रहना सम्वेग कहलाता है। यह संसार रहनेके काबिल नहीं है, संसार अनेक दुःखमय है, मुझे इस संसारमें नहीं रहना है, ऐसा संसारसे उद्‌बेग होना, यह है सम्वेग भावना। (६) छठी भावना है शक्तितस्त्याग। अपनी शक्ति के अनुसार त्याग करना। इसका अर्थ लोग क्या लगाते हैं कि शक्तिसे कम त्याग करना, अधिक न करना, पर इसका यह अर्थ नहीं है। अर्थ यह है कि अपनी शक्तिको न छिपाकर अपनी पूर्ण सामर्थ्यके अनुसार त्याग करना यह शक्तितस्त्याग भावना है। शक्तिको न छिपाकर पूर्ण शक्ति सामर्थ्यके अनुसार त्याग करनेमें आत्माका उत्साह आता है। और ऐसा सोचनेमें कि देखो शक्तिसे कम ही रहे त्याग, अधिक नहीं हो तो वहां उत्साह खतम होता है। शक्तितस्त्याग भावनासे तीर्थंकर प्रकृतिका बंध होता है। (७) सातवीं भावना है शक्तितस्तप। अपनी पूर्ण सामर्थ्यके अनुसार जैनशासनमें बताये हुए ढंगसे तप करना, कायक्लेश करना यह शक्तितस्तप भावना है। (८) आठवीं भावना है साधुसमाधि। ये सब भावनायें तीर्थंकर प्रकृतिका बंध कराने वाली हैं। साधुवोंको तपश्चरण करनेमें आये विघ्नोंको दूर करना ताकि साधु बहुत उत्साह विधिसे तपमें सफल होवे। यों साधुवोंकी सेवा करना, उनके विघ्न दूर करना साधु समाधि है।

(१८९) **तीर्थंकरप्रकृतिबन्धहेतुभूत नवमी दशमी ग्यारहवीं बारहवीं तेरहवीं भावना**—नवमी भावना है वैयावृत्य भावना, गुणी पुरुषोंपर कोई दुःख आये तो उस समय उनकी ऐसी सेवा करना कि उनकी थकान उनका कष्ट दूर हो जाय, इसे कहते हैं वैयावृत्य भावना। (१०) दसवीं भावना है अर्हद्‌भक्ति। अरहंत भगवानके गुणोंमें अनुराग करना। ये अरहंत भगवान, सकल परमात्मा अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तशक्ति और अनन्त

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

आनन्दसे सम्पन्न हैं। वे परम पवित्र हो गए हैं, तीन लोकके अधिपति हैं। धन्य है इनके शुद्ध विकासको। यही आत्माका वास्तविक स्वरूप है जो प्रकट हो गया है, आदिक रूप से अरहंत भगवानके गुणोंमें अनुराग जगे, इसे कहते हैं अर्हद्भक्ति। (११) ग्यारहवीं भावना है आचार्यभक्ति। विषयविरक्त आत्मध्यानकी धुन वाले ये आचार्य संत, इनके प्रसादसे हम भी धर्ममार्गमें निर्विघ्न चलेंगे, ऐसा जानकर उनमें भक्ति होना आचार्यभक्ति है। (१२) बारहवीं भावना है बहुश्रुत भक्ति, जो अनेक शास्त्रोंके ज्ञाता हैं, उपाध्याय हैं, उनमें भक्ति होना बहुश्रुतभक्ति है। (१३) तेरहवीं भावना है प्रवचनभक्ति। जिनागममें जैनशासनमें भक्ति जगना, अनुराग जगना यह है प्रवचनभक्ति। आत्माका कल्याण जैन-शासनमें बताई हुई विधिसे होता है। जैनशासनका हमपर बड़ा उपकार है, जिसके प्रसाद से हमने तत्त्वका ज्ञान पाया, आत्माकी रुचि प्रकट कर पायी। धन्य है यह जिनवाणी ऐसी जिनवाणीके प्रति अनुराग जगे, उसे प्रवचनभक्ति कहते हैं।

(१६०) **तीर्थंकर प्रकृतिबन्धहेतुभूत चौदहवीं पन्द्रहवीं व सोलहवीं भावना**—(१४) चौदहवीं भावना है आवश्यकापरिहाणि। मुनियोंके जो आवश्वक कर्तव्य हैं उनको ठीक समयसे करना, उनमें हानि न करना आवश्यकापरिहाणि भावना है। ६ कर्तव्य हैं साधुवोंके—(१) पहला तो है समताभाव, सर्वजीवोंमें समताभाव होना, जो किसीको अपना भला मानता किसीपर घृणा करता, वह साधु नहीं है, वह तो गृहस्थोंसे भी गया बीता है, धर्म-पर कलंक लगाने वाला पतित और पापी प्राणी है। श्रमणका, मुनिका तो समता ही एक प्रधान अङ्ग है। सर्व जीवोंमें समताभाव हो। (२) दूसरा आवश्यक है २४ तीर्थंकरों की स्तुति करना। (३) तीसरा आवश्यक है—किसी तीर्थंकरकी स्तुति वंदना करना, (४) चौथा आवश्यक है प्रतिक्रमण। कोई दोष लग जायें तो उन दोषोंका तपश्चरण आदिक करके आलोचना आदिक विधानसे दोषोंकी निवृत्ति करना, फिर उन दोषोंको न होने देना। (५) पांचवां आवश्यक है प्रत्याख्यान। कभी दोष न लगें, ऐसी अपनी सावधानी करना और (६) छठवां आवश्यक है कायोत्सर्ग। शरीरसे ममताका त्याग करना और अन्तर्मुहूर्तमें एकदम समस्त ख्यालोंको छोड़कर शरीरका भी ध्यान छोड़कर ज्ञानस्वरूप आत्माकी दृष्टि बनी रहना, अनुभूति होना, ऐसे ६ आवश्यकोंमें जो श्रमण हानि नहीं करते ऐसे श्रमणोंके तीर्थंकर प्रकृतिका बध होगा। पन्द्रहवीं भावना है मार्ग-प्रभावना। ज्ञानादिकके द्वारा धर्मका प्रकाश करना मार्गप्रभावना है। ज्ञानसे, अपने आचरणसे जैनशासनका उद्योत करना मार्गप्रभावना है। सोलहवीं भावना है प्रवचन वात्सल्य। इस दर्शन विशुद्धि भावनाके साथ-साथ ये १५ भावनायें अथवा इन १५ में

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainelibrary.org

से कुछ भावनायें हों, इन सबसे तीर्थंकर प्रकृतिका बंध होता है। कुछ भावनायें हों, इसका अर्थ यह नही है कि कुछ हों कुछ न हों, पर प्रधान और गौणकी अपेक्षा बात कही जा रही है। तो विषयोंसे विरक्त श्रमण इन १६ भावनाओंको भा करके तत्काल ही तीर्थंकर प्रकृतिका बंध करते हैं।

बारसविहतवयरणं तेरसकिरियाउ भाव तिविहेण।
धीरहि मणमत्तदुरियं णाणंकुसएण मुणिपवर ॥८०॥

(१९१) **तपश्चरणसे शुद्ध होनेका आदेश**—इस गाथामें मुनिवरोंको आदेश उपदेश किया गया है। मुनिप्रवर! तुम बारह प्रकारके तपश्चरण और तेरह क्रियाओंका मन, वचन, कायसे पालन करो। तथा ज्ञानरूपी अंकुशके द्वारा मन रूपी मत्त हस्तीको वशमें करो। मुनियोंका शृंगार तपश्चरण है। जिनको ज्ञानस्वरूप आत्माकी धुन है उनके तप तो सहज चलते हैं और कभी यह देखनेपर कि यह उपयोग आत्मस्वरूपमें नहीं टिक रहा है, तब जानकर भी अनेक प्रकारके तप करते हैं। ये तप दो प्रकारके हैं (१)) बाह्य तप और (२) अन्तरंग तप। बाहरमें लोगोंको दिखे अथवा बाहरी पदार्थ भोजन आदिक की अपेक्षा रखकर प्रवृत्ति बने अथवा अन्य लोग भी जिन तपोंको कर सकें वे सब बाह्य तप कहलाते हैं। बाह्य तप ६ प्रकारके हैं। (१) अनशन (२) ऊनोदर (३) वृत्तिपरिसंख्यान, (४) रसपरित्याग (५) विविक्त शय्यासन और (६) कायक्लेश। संसारमें यह जीव अनादिसे अब तक इन्द्रियके विषयोंका दास बना चला आया है आहार भोजन आदिमें आसक्ति करता हुआ अनेक कर्मोंका बंध करता, जन्ममरण करता चला आया है। एक यह मनुष्यभव ही ऐसा उत्तम भव है कि जहां तपश्चरण और संयमकी साधना बन सकती है। अन्य गतिके जीव तो करें क्या? देवगति एक बहुत अच्छी गति लौकिक हिसाबसे मानी जाती है, उस देवगतिमें भी संयम नहीं है, तपश्चरण नहीं है, देव भी तरसते हैं संयम और तपश्चरणको। ऐसा यह उत्तम भव है मनुष्यका। ऐसे दुर्लभ मनुष्यभवको पाकर धर्मकी ओर दृष्टि न हो, तत्त्वज्ञानकी उमंग न हो, इन्द्रियके विषयोंकी ही धुन बने, धन वैभवमें ममता, कृपणता, लोभ तृष्णा जगे, धर्मके कार्यमें अनुराग रहे तो ऐसा जीवन क्या जीवन है। यों तो अनन्त भव गुजार दिए। अब जैन शासन पाया है, उत्तम बुद्धि पायी है तो तपश्चरण और संयममें बुद्धि कीजिए। और यह सब तत्त्वज्ञानपूर्वक हो तो इसका फल उत्तम प्राप्त होता है।

(१९२) **अनशन एवं ऊनोदर तपकी साधना**—बाह्य तप ६ प्रकारके हैं, उनमें प्रथम है अनशन। चार प्रकारके आहारोंका त्याग करके आत्मोपासना करना, आत्मध्यान,

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

आत्मसेव करना इसका नाम है अनशन। जिनके ज्ञान जगा है उनको आहारविषयक कोई संवेदना या आसक्ति नहीं होती है। वह ज्ञानवलसे अपने आपको वशमें किए रहता है, सो उस ही धुनमें अनेक बार आवश्यक हुआ, जरूरी ना कि अनशन तप होता रहे। अनशन तप करनेके लिए लोग सोचते हैं कि हमारा शरीर इस लायक नहीं है। हम कमजोर हैं या भूख बरदास्त नहीं हो पाती है सो बात यह है कि तपश्चरण करनेमें मानसिक बल चाहिए, ज्ञानबल चाहिए। कुछ शारीरिक स्थिति भी देखी जाती है, पर विशेषता है मानसिक बलकी। जिनके तत्त्वज्ञान है, मनोबल है उनके लिए अनशन आसान है और कोई स्वस्थ है, पर मनोबल नहीं तो उनको अनशन आसान नहीं है, वह कर ही नहीं पाता। अनशन तप करते हुएमें साधुकी अध्यात्मभावना और प्रवल होती है। दूसरा तप है ऊनोदर—अल्प आहार करना, एक ग्रास, दो ग्रास आदि संख्यामें ग्रास लेना याने भूखसे कम खाना यह कहलाता है ऊनोदर तप। ऊनोदर तपमें बहुत मानसिक बल चाहिए। वैसे मात्र सुननेमें ऐसा लगता कि अनशन तप कठिन है, ऊनोदरमें क्या कठिनाई ? भूखसे कुछ कम खा लिया···, मगर अनशन तपकी अपेक्षा भी कभी-कभी ऊनोदरसे अधिक कठिनाई पड़ती है।

(१९३) **वृत्तिपरिसंख्यान तपकी साधना**—तीसरा तप है वृत्तिपरिसंख्यान। कोई आहारके लिए चले, उससे पहले अटपट आखिड़ी ले ली ताकि आहार न मिले तो उसमें भी मैं समता रख सकूं, यह अपनी परीक्षा करूं और आहार न मिल सके ऐसी स्थितिमें समता भाव रखकर अपना विकास बढ़ाऊं, यह प्रयोजन होता है वृत्तिपरिसंख्यानमें। वृत्तिपरिसंख्यान अनेक प्रकारसे किए जाते हैं। सीधे रास्तेमें ही आहारका योग मिले तो करना अथवा एक मोड़ देकर दूसरे रास्तेमें मिले तो करना, इतने घर बाद मिले तो करना, अथवा अमुक-अमुक घटनायें देखनेमें आये तो आहार लेना अन्यथा नहीं, ऐसे अनेक प्रकारके वृत्तिपरिसंख्यान किए जाते हैं। पुराणोंमें एक उदाहरण है कि एक मुनि महाराजने यह वृत्तिपरिसंख्यान किया कि कोई बैल सामनेसे ऐसा आता हुआ दीखे कि जिसके सींगपर गुड़की भेली भिदी हुई हो तो आहार लेना। अब बतलाओ किसीको बताना तो होता नहीं, ऐसा योग कैसे बने, कौन बनाये ? अनेक दिन उपवासमें बीत गए, आखिर एक दिन क्या हुआ कि एक बैल सांड गुड़ वालेकी दूकानसे गुजर रहा था और वह थोड़ा सा गुड़ खानेको चला तो इतनेमें दूकान मालिकने उसे भगाया, तो जल्दी जल्दीमें उसके सींगमें एक गुड़की भेली भिद गई और वह आगे कुछ दौड़कर बढ़ने लगा। तो वह घटना मुनिराजको दिख गई, उनका आहार हो गया। तो ऐसा वृत्तिपरिसंख्यान

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

कहीं श्रावकोंको हैरान करनेके लिए नहीं किया जाता, किन्तु स्वयंकी परीक्षा, समताकी भावनाके लिए किया जाता है। ये सब बातें बहुत पहले समयकी हैं, जबकि उपवास कर सकनेकी महीना महीना भरकी क्षमता होती थी। अब तो प्रायः कोई अटपट आखिड़ी ले तो प्रायः उसका कुछ विश्वास भी लोगोंको कम होता कि बात यह ही थी या बनाकर कही गई। वृत्तिपरिसंख्यान तपमें अटपट आखिड़ी लेनेका विधान है। सो यह वृत्तिपरिसंख्यान अपनी समताकी देखभालके लिए है।

(१९४) **रसपरित्याग, विविक्तशय्यासन व कायक्लेश तपकी साधना एवं तपश्चरणोंका फल**—चौथा बाह्य तप है रसपरित्याग। घी दूध आदिक रसोंका त्याग करना, छहों रसोंका त्याग करे, ५ का, ४ का, ३ का, २ का, एक का त्याग करे। वह सब रसपरित्याग कहलाता है, जो वास्तविक साधु होते हैं उनके मनमें भोजन करनेका ही उद्देश्य नहीं रहता जिन्दगीका। उनका उद्देश्य रहता है आत्मसाधनाका, परन्तु जीवन रखना आवश्यक है आत्मसाधनाके लिए और इस जीवनके लिए आहार आवश्यक है, तो यों उपेक्षाबुद्धिसे आहार ग्रहण करते हैं, उनको रसत्याग करना बहुत आसान है। क्योंकि उनको भोजनमें व्यामोह नहीं, आसक्ति नहीं। ५ वाँ बाह्य तप है विविक्त शय्यासन। एकान्त स्थानमें सोना, बैठना यह है विविक्त शय्यासन, ऐसे एकान्तवाससे आत्मध्यानमें कोई बाधा नहीं आती है। इस कारण विविक्त शय्यासन नामक तप साधुजनोंको लाभकारी होता है। छठवां बाह्य तप हैं कायक्लेश। अनेक प्रकारके आचरणोंसे कायक्लेश भी होवे तो वहां भी समताभाव ही रखा जाता है। वह है कायक्लेश तप। जैसे भोजनमें सिर्फ जल लेना या चावल ही लेना या अन्य प्रकारके नियम, गर्मीमें पर्वतपर खड़े होकर तप करना रात्रिभर प्रतिमायोग धारण करना ये सब बाह्य तप कहलाते हैं। इन बाह्य तपोंके करनेसे क्या फायदा होता है? कर्मोंका क्षय, इन्द्रियसे उपेक्षा संयमभाव, रागका नाश, ध्यान जगतसे हटना, ब्रह्मचर्यका पालन होना, दुःख सहन करनेका अभ्यास होना, सुखमें आशक्त न होना, जैनशासनकी प्रभावना होना यह सब उसका फल है। तो यहां मुनिवरोंको आदेश उपदेश किया जा रहा है कि हे मुनिजनो! तपश्चरण को करके मन, वचन, कायको वश करो।

(१९५) **आभ्यन्तर तपोंका निर्देश**—आभ्यन्तर तप ६ होते हैं। आभ्यन्तर तपके मायने हैं भीतरी तप। जो अन्य मतावलम्बी न कर सके, अपने ही सम्वेदनसे जिनका अनुभव हो, बाह्य पदार्थकी उसमें अपेक्षा नहीं रहती इसलिए ऐसा तप अन्तरंग तप कहलाता है। वे भी ६ प्रकारके हैं—(१) प्रायश्चित्त, (२) विनय (३) वैयावृत्य (४)

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

स्वाध्याय (५) व्युत्सर्ग और (६) ध्यान। सबका लक्षण बतायेंगे, ये सब तप कहलाते हैं। जिससे इस चेतनाका विकास हो, ज्ञानस्वभावके उपयोगकी स्थिरता हो ऐसा यह सब तप है।

(१९६) **आलोचना नामके अभ्यन्तर तपका निर्देश**—प्रथम अंतरङ्ग तप है प्रायश्चित्त। प्रायश्चितके ९ भेद हैं—(१) आलोचना (२) प्रतिक्रमण (३) तदुभय (४) विवेक (५) व्युत्सर्ग (६) तप, (७) छेद (८) परिहार और (९) उपस्थापना। आलोचना कहते हैं निर्दोष विधिसे अपने किए हुए पापोंको बता देना। शिष्य गुरुवोंको अपने पाप बताता है ताकि वह पाप आगे न बने और किए हुए पापोंकी शुद्धि हो जाय। पाप जब किया, तब हो गया, मगर उस पापको प्रकट कर दे तो उससे उस दोषकी निवृत्ति हो जाती है। तो गुरुवोंके सम्मुख अपने किए हुए पापोंको बताना, निवेदन करना यह आलोचना तप है। आलोचना ऐसी निर्दोष विधिसे हो कि जहां किसी प्रकारकी मायाचारी न बने, तो ऐसी आलोचना करनेसे किए हुए पाप, दोष दूर हो जाते हैं। यहां भी तो देखो—अगर लड़का सच बोल दे अपराध करके भी तो पिता इसे दण्ड नहीं देता, गुरु उसे दण्ड नहीं देते या साधारण दण्ड देते हैं, क्योंकि उसका अभिभावक जानता है कि इसके हृदयमें निर्मलता है। इसने अपना अपराध नहीं छुपाया, झूठ नहीं बोला और सत्य बखान कर दिया, तो ऐसे ही शिष्य गुरुवोंके समक्ष बहुत निर्दोष रीतिसे अपने किए हुए दोषोंका निवेदन करता है।

(१९७) **आलोचनाके आकम्पित अनुमानित व दृष्ट दोष**—वे दोष कौनसे हैं जो आलोचनाको सदोष बनाते हैं। ऐसे दोष १० प्रकारके होते हैं। जैसे आकम्पित। दोष निवेदन करने तो चले, पर गुरुके सम्मुख दोष प्रकट करनेसे पहले यह यह मनमें भय आ गया कि मेरे दोषोंको सुनकर कहीं आचार्य अधिक दण्ड न दें दें अथवा ऐसी मुद्रा बनाकर अपने दोष बताना कि जिससे गुरु महाराजको दया आये और अधिक दंड न दें। इस प्रकारका मनमें भाव रखकर अपने दोष बताना यह आलोचनाका आकम्पित दोष है। दूसरा है अनुमानित दोष। दूसरेने अनुमान कर लिया कि इसने दोष किया है ऐसा कुछ उसके मनमें आया तब उस पापका निवेदन करता है अन्यथा तो स्वच्छद है। पाप होते जाते हैं। क्या निवेदन करना ? ऐसा ही दूसरोंका दोष था उसको यह दंड दिया था वही कुछ कर लेना, निवेदन ही न करना तो वह उसका दोष है। तीसरा दृष्ट दोष है कि अगर किसी अन्यने कोई दोष देख लिया तो उसकी तो आलोचना करना और जिस दोषको कोई देख न सके उसकी आलोचना न करना, इस प्रकारका जो अपना

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainelibrary.org

भाव रखता है उसकी आलोचनामें दोष है। शिष्यजन गुरुको अपना सर्वस्व समझते हैं और अपने दोष गुरुसे निवेदन करनेमें उनको जरा भी हिचक नहीं होती, क्योंकि वे जानते हैं कि इनकी शरणमें रहकर मैं मोक्षमार्गमें लग रहा हूं, तो ये तो मेरे सर्वस्व हैं। हमको रंच भी दोष न छुपाना चाहिए।

(१६८) **बादर, सूक्ष्म, छन्न व शब्दाकुल नामके आलोचनादोष**—आलोचनाका चौथा दोष है कि मोटे दोषकी तो आलोचना कर लेना और छोटे दोषको छुपा लेना। छोटे बड़े सभी प्रकारके दोष बनते हैं, सूक्ष्म और स्थूल, तो उनमेंसे मोटे दोषकी तो आलोचना कर देना और सूक्ष्म दोष छुपा लेना यह आलोचनाका दोष है। ५वां दोष है सूक्ष्मदोष याने सूक्ष्म दोषकी तो आलोचना करना और मोटे दोषको छिपाना। ऐसा छिपाने वाला शिष्य क्या सोचता है कि आचार्य महाराज समझ जायें कि जब यह इतने छोटे छोटे सूक्ष्म दोषोंको बताता है तो यह मोटे दोष तो करता ही न होगा ऐसा गुरू जान जायें ऐसा आशय उसके रहता है। ऐसे ही मोटे दोषको बोले, सूक्ष्म दोष छुपाये तो उसमें यह भावना रहती है कि गुरू महाराज यह जान जायेंगे कि जब यह बड़े बड़े दोष कह डालता है तो सूक्ष्मदोष क्यों छुपायगा ? तो ऐसे आशय सहित आलोचना करना दोष है। छठा दोष है छन्न दोष याने आचार्यके आगे दोषोंको स्वयं प्रकट न करना, अन्य ढंगसे निवेदन करा देना, किन्हीं वचनोंसे दूसरेका कह दे अपना खुद छिपाले, इस दोषको छन्न दोष कहते हैं। ७वां दोष है कि किसी समय गुरूमहाराजसे बहुतसे शिष्य अपने दोष बता रहे हों सो बहुत शब्दोंका कोलाहल हो रहा है, उस कोलाहल के समय अपने भी दोष बचनसे कह दे, अधिक न सुनें, उसीसे अपनेमें संतोष कर लिया तो वह दोष है। आचार्य तो उसकी धर्मसाधनामें सब कुछ सहायक हैं। अगर उनसे दोष छिपाया तो यह तो और भी बड़ा अपराध हुआ। दोष किया यह भी अपराध और छिपाया यह उससे भी बड़ा अपराध। अब आगे वह कैसे अपने मार्गमें चल सकेगा ?

(१६९) **बहुजन अव्यक्त व तत्सेवी नामके आलोचनादोष**—८वां दोष है कि कोई पाक्षिक आदिक प्रतिक्रमणके समय होते हैं, जैसे १५ दिनके लिए हुए दोषका १५वें दिन निवेदन करना, चातुर्मास भरमें किए हुए दोषोंका चातुर्मास समाप्तिके दिन निवेदन करना। तो ऐसे समयमें सभी साधु अपने दोष प्रकट करते हैं, उसी बीचमें अपना भी दोष प्रकट कर दिया। याने दोष प्रकट करनेका महत्त्व न दिया, यह भी आलोचनाका दोष है। ९वां दोष है अव्यक्त दोष याने बिल्कुल स्पष्ट दोष न बताना, किन्तु इस तरह से कहना कि हे भगवान यदि किसीसे ऐसा अपराध हो गया हो तो उसका क्या प्राय-

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

श्चित होता है, इस प्रकार अव्यक्त रूपसे अपराध प्रकट करना और जो कहा है वह प्रायश्चित्त लेना, प्रायश्चित्त तो लिया किन्तु परिणामों में यह मलिनता थी कि आचार्यदेव यह न जान जायें कि यह दोष इसने किया। १०वां दोष है तत्सेवी दोष जो अपराध किया गया है उस अपराधको कैसे गुरूसे सुनायें, उसके लिए यों ढूंढ़ना कि जो गुरू ऐसा ही अपराध किया करते हों उन्हें अपराध सुनाना ताकि वे कोई विशेष दंड न दे सकें अथवा गुरूके सम्मुख जो दोष प्रकट किया है अथवा उसका प्रायश्चित्त लिया है उसी अपराधको व प्रायश्चित्तको बारबार करना ये सब आलोचनाके दोष हैं।

(२००) **आलोचना तपका विधान और उसका फल**—निर्दोष आलोचना करना यह आलोचना नामका प्रायश्चित्त तप कहलाता है। पुरुष तो गुरूसे आलोचना कर लेता, उसका काम तो केवल दो ही में बन गया, मगर स्त्री आर्यिका या क्षुल्लिका कृत अपराध गुरूसे निवेदन करे तो वहां तीन व्यक्ति होने चाहिए। केवल एकान्तमें गुरूसे ही आलोचना करनेका स्त्रियोंको विधान नहीं है। आलोचना तप भी एक ऐसा महान् तप है कि निर्दोष आलोचना किये बिना कोई बड़ा तपश्चरण भी करे तो भी वह फलदायक नहीं होता। अपने दोष अपने मुखसे गुरूको निवेदन कर दे इसमें बहुत निर्मलता चाहिए। आलोचनाका अर्थ है आ मायने सर्व प्रकारसे लोचना मायने दोषको दिखा देना। अपने दोषका भले प्रकार निवेदन करना यह आलोचना दोष है। मुनिको आत्महितकी बहुत तीव्र भावना है जिसके कारण दोषनिवेदनमें जरा भी हिचक नहीं होती। संसारके मनुष्योंको तो जो आत्महितके विशेष इच्छुक नहीं हैं, अपने दोष अपने मुखसे कहनेमें हिचक आती। कोई यह न जान जाय कि यह दोषी पुरुष है, किन्तु भावश्रमण मुनि इस बात का हर्ष मानता है कि मैं अपने दोष सरल रीतिसे ज्योंका त्यों गुरूको सुना दूं तो मेरा आत्मा पवित्र हो जायगा। उसके केवल आत्म कल्याणकी भावना बनी हुई है। तो अभ्यान्तर तपमें प्रायश्चित्त नामके तपमें यह आलोचना नामक प्रथम प्रायश्चित्त तप है। इस तपसे अन्तरंग परिणामोमें बहुत विशुद्धि जगती है।

(२०१) **प्रतिक्रमणनामक प्रायश्चित्तसे दोषनिवृत्ति**—बारह प्रकारके तपोंमें आभ्यांतर तपकी बात कही जा रही है, पहला अन्तरंग तप है प्रायश्चित्त। प्रायश्चित्तके ९ भेद होते हैं। जिसके प्रथम भेद आलोचनाका वर्णन किया है, अब द्वितीय भेद है प्रतिक्रमण। प्रायश्चित्त तपसे दोषनिवृत्ति हो जाती है। धर्ममें कोई दोप लग गया हो हिंसा झूठ विषयक या रत्नत्रयके अपमान विषयक या अन्य किसी भी प्रकारका तो वह दोष कैसे दूर हो, उसके उपायमें है प्रायश्चित्त तप। आलोचनामें तो बताया गया था कि

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

कोई दोष हो जाय तो गुरूसे ज्योंका त्यों निवेदन करदे तो दोष निवृत्त हो जाता है। कई दोष ऐसे होते कि जिनका प्रतिक्रमण करना पड़ता। प्रतिक्रमण कहते हैं अपने दोषोंका उच्चारण कर कर जैसे दोष लगे हों उन सब दोषों का उच्चारण कर करके ये मेरे पाप मिथ्या हों इस प्रकार उन पापोंका प्रतिकार करना प्रतिक्रमण कहलाता है। मेरे पाप मिथ्या होवेंका अर्थ है कि जो मुझसे अपराध हुए वे पाप दूर होवें। दूसरा आध्यात्मिक भाव यह है कि जब इस ज्ञानी ने अपने अविकार ज्ञानस्वभावकी दृष्टिकी, जिसमें यह अनुभव बना, निर्णय बना कि मैं हूं, ज्ञानस्वरूप हूं, अपने स्वरूपसे हूं, मेरा काम हैं ज्ञानकी वृत्तियां, याने ज्ञानकी जाननरूप लहर चले, बस इतना ही मेरा स्वाभाविक कार्य है। उसमें विकार नहीं होते। किसी भी चीजमें अपने आपकी ओरसे विकार कभी नहीं हुआ करते। विकार कहते हैं उसे जो पर उपाधिके सम्बन्धसे कुछ उपादानमें विकृतपना आया हो, वह होता है विकार, पर खुद ही निमित्त बन जाय विकारका, ऐसा कहीं नहीं होता। तो जब ज्ञानीने अपने अविकार स्वभावको देखा कि मैं ज्ञानमात्र हूं और ज्ञानरूप परिणमते रहना मेरा काम है उसमें दोष कहां रखे? वहां कहां अपराध है? वह अपराध तो मिथ्या था अर्थात् उपाधिके सम्बन्धसे था, मेरे स्वरूप में न था, ऐसा बार-बार देखकर अपने स्वरूपकी भावना बढ़ा रहा है और उस स्वरूप को निरखकर अपने स्वरूपकी भावना बढ़ा रहा है सो यो पाप मिथ्या किया है। तो प्रतिक्रमण तपमें यह ज्ञानी अतीतकालमें लगे हुए दोषोंको दूर करता है।

(२०२) **तदुभय व विवेक नामके प्रायश्चित्तसे दोषनिवृत्ति**—अपराधी शिष्य गुरूसे आलोचना करता है और प्रतिक्रमण भी लेता है तो यह कहलाता है तदुभय तप। प्रायश्चित्त के प्रथम तीन भेद इस प्रकार हैं— १–आलोचना, २–प्रतिक्रमण और ३–तदुभय। कोई दोष आलोचनासे ही दूर हो जाते हैं, कोई दोष प्रतिक्रमणसे ही दूर हो जाते हैं और कुछ कठिन दोष हों तो वे आलोचना और प्रतिक्रमण दोनों ही किए जाने से दूर होते हैं। चौथा प्रायश्चित्त है विवेक। कदाचित् शुद्ध वस्तु भी हो भोजनपानीकी और अशुद्धताका संदेह हो जाय कि यह तो अशुद्ध है तो उसका त्याग कर देना अथवा भ्रम हो जाय कि यह तो गलत है तो उसका त्याग कर देना, मुखमें पहुंचे तो त्याग कर देना या जिस-जिस वस्तुके ग्रहण करनेसे रखनेसे कषाय जगती हो, मोह रागद्वेष जगता हो उस सबका त्याग कर देना यह विवेक नामका तप है। जैसे कोई बहुत ऊंची कीमती कलम है और उससे प्रेम हो गया कि यह मेरी कलम बड़ी अच्छी है, तो फिर उस कलमको न रखना चाहिए। कोई भी वस्तु जो बहुत सुन्दर लगे और मनको बड़ी प्रिय

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

लगे ऐसी वस्तु साधुजन नहीं रखते । उस ही का नाम विवेक नामका तप है, और यदि कोई उसका शौक बढ़ाये, अच्छी ही चीज रखना, बढ़िया बढ़िया ही सारी बातें होना, तो यह उसका अपराध है । उन-उन वस्तुओंका त्याग करना जिन वस्तुओंके रहनेसे कोई चित्तमें विकार उत्पन्न होता हो, यह है विवेक नामका तप ।

(२०३) **व्युत्सर्ग, तप, छेद नामक प्रायश्चित्तसे दोषनिवृत्ति**—५वां प्रायश्चित्त है व्युत्सर्ग । एक तो प्रकृत्या ही शरीरसे ममताका त्याग रहे और फिर किसी विशेष पौरुषमें निश्चित समय तक शरीर, वचन, मनका त्याग कर देना याने इनकी प्रवृत्ति रोकना, इनका ख्याल ही न रहे ऐसा अपना ध्यान रखना यह कहलाता है व्युत्सर्ग । छठा प्रायश्चित है तप । कोई दोष बननेपर कोई विशेष तपश्चरणमें लगना, आज ऐसा अपराध क्यों हुआ ? मन क्यों चंचल रहा, आज तो गर्मीमें ही बैठकर तप करूंगा आदिक किसी भी प्रकारके कायक्लेश तप करना, यह तप नामका प्रायश्चित्त है । इस प्रकरणमें यह बताया जा रहा है कि कदाचित् अपनेको दोष लगे, अपराध आये, कुछ उपयोग गलत बने तो उससे कैसे निवृत्त होना चाहिए, उन दोषोंको कैसे दूर किया जाय, उसका यह सब विधान बताया जा रहा है । ७वां प्रायश्चित्त है छेद । साधुसे कोई बड़ी गल्ती हो और वह आलोचना करे अथवा उसकी गल्ती आचार्यको मालूम हो जाय तो उसके तपश्चरणका छेद कर देता है । जैसे मानो साधु हुए उसको १० वर्ष हुए तो यह १० वर्ष का दीक्षित कहलाता है । कोई उससे अपराध ऐसा बन जाय कि जिसमें छेद नामका प्रायश्चित्त ही देना पड़े तो वहां सर्वसंघके बीच आदेश कर दिया कि इसकी दो वर्षकी तपस्या छेदी जाती है याने यह अब आठ वर्षका दीक्षित कहलायगा । यह भी एक दोषनिवृत्तिका उपाय है । इससे दोषोंसे निवृत्ति होती है और दोष आगे न करें, ऐसा उसका भाव बनता है ।

(२०४) **परिहार व उपस्थापना नामके प्रायश्चित्तसे दोषनिवृत्ति एवं प्रायश्चित्त तपकी महिमा**—८वां प्रायश्चित्त है परिहार । कोई ऐसा ही विकट अपराध लग गया तो यह आदेश दे दिया कि तुम इतने वर्षको हमारे संगसे जुदे हो जावो या तुम बिल्कुल ही हट जावो । तो यों संगसे कुछ समयको या सदाको निकाल दिया, यह परिहार नामका तप है । ९वां तप है उपस्थापन । कोई बहुत ही कठिन अपराध बन जाता है, जैसे मान लो कि कोई कुशील करे या अन्य कोई पाप किया तो उसकी सारी दीक्षा नष्ट करके फिरसे नई दीक्षा दी जाती है तो उसका नाम है उपस्थापना । इस प्रकार ९ तरहके प्रायश्चित्त तप की भी बहुत महिमा है, किसी अपराधके होनेपर यदि विशिष्ट प्रायश्चित्त बने, भीतर

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.vimeo.com

मनमें उसके प्रति अत्यन्त ग्लानि जगे तो ऐसी स्थितिमें वह विशुद्धि जगती है कि उसके ज्ञानादिक का विकास बहुत हो जाता है।

(२०५) आलोचनाप्रायश्चित्तसे ही निवृत्त होने योग्य कुछ अपराधोंका प्रकाशन— अब यह बतलाते हैं कि ऐसे कौनसे अपराध हैं कि जिन अपराधोंकी बुद्धि साधुसे निवेदन कर देनेसे ही दूर हो जाते हैं, उनमेंसे कुछ दोष बतलाते हैं। जैसे आचार्यसे पूछे बिना कोई तप विशेष धारण कर लेना या आतापन आदिक योग धारण करना, कार्य तो अच्छा ही किया, कोई तपश्चरणमें बढ़ गया, पर जिस संगमें रहता है, जिसकी छत्र छायामे धर्मसेवन करता है, उससे ऐसे बड़े कार्यके करनेकी बात पूछ लेनी चाहिये थी, पूछा ही नहीं और किया आतापनयोग आदिक तो इस अपराध की शुद्धि आलोचनासे हो जाती है, गुरूसे निवेदन किया कि महाराज मैंने यह योग धारण कर लिया तो वह आलोचना कहलाती है। जहां बहुत से साधुजन रहते हैं तो अक्सर ऐसा हो ही जाता है कि कोई दूसरेका ग्रन्थ उठाकर स्वाध्याय करने लगता, या किसी दूसरेकी पिछी उठाकर झाड़ने लगे, दूसरेका कोई उपकरण ग्रहण कर लिया, प्रायः ऐसा हो जाता है, पर होना न चाहिए। बिना पूछे पुस्तक पिछी आदिक उपकरणोंको ग्रहण करना, इस अपराधकी शुद्धि आलोचनासे हो जाती है। निवेदन कर दिया, जैसे समझिये कि अपने कुटुम्ब परिवारमें कुछ काम ऐसे हो जाते हैं कि हो गए, पीछे बता दिया कि मैंने ऐसा काम कर दिया है, जिसके कह देनेसे बात ठीक हो जाती है, पर आप कोई कार्य करें तो पहले पूछना चाहिए और जैसी आज्ञा हो वैसा करना चाहिए, ऐसी ही बात यहां है, आचार्य महाराजने कोई बात कही कि इसका तुम पालन करना, तो पालन करता है वह साधु, फिर भी कदाचित् कोई साधु, कोई देख तो रहा नहीं, ऐसी स्थितिमें प्रमादवश आचार्यके वचनोंका पालन न करे, ऐसी कोई छोटी बात बने तो उसकी निवृत्ति आलोचना नामक प्रायश्चित्तसे होती है। एक दृष्टिसे देखा जाय तो आलोचना प्रायश्चित्तमें बड़ी निर्मलता चाहिए। कोई दोष बन गया और उस दोषका कोई अपने आप प्रायश्चित्त ले ले, तेज भी ले ले, तो वह ले लेना आसान है, मगर गुरूसे बताना कि मुझसे यह अपराध हुआ है, इसमें बड़ा साहस चाहिए। संघके स्वामीसे पूछे बिना अपने संघसे चला जाना यह भी एक अपराध है और उसकी शुद्धि आलोचना नामक प्रायश्चित्तसे होती है। सदाको चला जाना, इसकी बात नहीं कह रहे, मगर दिनमे ही बिना पूछे किसी यात्राको चल दिया, मंदिरोंकी वंदनाको चल दिया या अन्य किसी जगह व्याख्यान को चल दिया, तो चाहे किया कार्य अच्छा, मगर जिसके साथ रहता है उस गुरूको तो

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

मालूम होना चाहिए कि अमुक शिष्य इस जगह है, अमुक इस जगह। तो पूछे बिना थोड़ी देरको कहीं चला जाय तो इस अपराधकी शुद्धि आलोचना नामक प्रायश्चित्तसे होती है। कोई आवश्यक कार्य जो जिस समय जरूरी करने योग्य हैं ऐसे व्रतविशेष और वह न कर पाये, किस कारणसे कि कोई धर्मकथामें अधिक समय लग गया, भूल गया तो इस तरहसे वह करने योग्य कार्योंको भूल जाय और बादमें उसे करे, कुछ समय टालकर किया, ऐसे अपराधकी शुद्धि आलोचना नामक प्रायश्चित्तसे होती है। ऐसे कुछ अपराध आलोचनासे दूर हो जाते हैं।

(२०६) **प्रतिक्रमण प्रायश्चित्तसे निवृत्त होने योग्य कुछ अपराधोंका प्रकाशन**—कुछ ऐसे अपराध होते हैं कि जो प्रतिक्रमण प्रायश्चितसे दूर होते हैं। प्रतिक्रमण प्रायश्चित्तमें कुछ नियम करना होता और अतीत दोषका बार-बार उच्चारण करके उससे रहित अविकार ज्ञानस्वभावका विशिष्ट ध्यान करना होता है। वह अपराध क्या है? यदि कोई इन्द्रियकी या मन वचनकी कोई कुछ खोटी प्रवृत्ति हो तो उसका प्रतिक्रमण करना होता है। आचार्य या पढाने वाले गुरूजनोंसे अपने पैरका धक्का लग जाय, हाथ का धक्का लग जाय तो यह तो एक अविनय हुई, उसका प्रतिक्रमण करना होता है। गुरू-जनोंके प्रति विनयभाव रहनेसे विनय करने वाले शिष्यका उत्थान होता है, उसे सन्मार्ग मिलता है, आत्मानुभवकी पात्रता रहती है और जहां ऐसा मन खुले कि गुरुवोंकी विनयका ध्यान भी न रहे तो ऐसे स्वच्छंद मनमें आत्मानुभवकी पात्रता नहीं रहती। तो किसी भूलसे या किसी कारण गुरूजनोंको अपना हाथ लग जाय या पैर लग जाय तो उसका दोष प्रतिक्रमण करनेसे दूर होता है। जो व्रत, समिति गुप्ति ग्रहणकी है उनमें कोई थोड़ा अतिचार लगे तो उसका प्रतिक्रमण करना होता है। कदाचित् किसी की चुगलीकी बात मुखसे निकल जाय या कोई जरा कलह हो जाय तो उसका प्रतिक्रमण करना पड़ता है। अब जो संगमें रहकर कलह करनेमें अपनी शूरता समझे कि मैंने इसको दबा दिया और चूंकि मैं बड़ा साधु हूं सो यह मुझे करना ही चाहिए था तो यह तो उसकी उद्दण्डता या स्वच्छंदता कहलायगी। अपराध हो जाय और उसको अपराध न माने और कर्तव्य समझ ले तो वह तो अज्ञानता है। अगर कषायके वेग हैं, कोई बात चुगली कलहकी बन गई तो उसको प्रतिक्रमण तप करना पड़ता है। अपना कर्तव्य है, दूसरोंकी वैयावृत्य करना, स्वाध्याय करना आदि ऐसे कार्योंमें अगर आलस्य हो तो उस अपराधके दूर करनेका प्रतिक्रमण प्रायश्चित्त करना होता है। आहार चर्या आदिके समय ग्रहण अंगमें कभी विकृति आये तो उसका प्रतिक्रमण करना होता है। कोई

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

साधुकी प्रवृत्ति ऐसी हो कि दूसरेके संक्लेशका कारण बने तो उसका प्रतिक्रमण करना होता है। इसके अतिरिक्त एक नियमित प्रतिक्रमण होता है। दिनका प्रतिक्रमण दिनके अन्तमें होता है जैसा कि साधु शामको प्रतिक्रमण करते हैं। रात्रिका प्रतिक्रमण प्रातः होता है, भोजनका प्रतिक्रमण प्रारम्भमें और अन्तमें भी। गमनका भी प्रतिक्रमण प्रारम्भमें और अन्तमें। प्रारम्भमें तो उसका कोई दोष न लगे, इस भावनाके लिए होता है। उस क्रियामें जो दोष लगे हैं उनकी निवृत्तिके लिए अन्तमें प्रतिक्रमण होता है।

(२०७) आलोचना व प्रतिक्रमण तदुभय प्रायश्चित्तसे निवृत्त होने योग्य अपराधोंका प्रकाशन कुछ अपराध ऐसे भी होते कि आलोचना भी करना और प्रतिक्रमण भी करना, दोनों ही किए जाते हैं। जैसे केशलोंचकी विधिमें कोई अतिचार लगे या स्वप्नमें कोई स्वप्न आनेसे कुशील सम्बन्धी कोई दोष लगे या स्वप्नमें ही रात्रिको भोजन करना बने ऐसा ही स्वप्न आये कि रात्रिको भोजन कर रहा हूं तो ऐसे अपराधमें आलोचना और प्रतिक्रमण दोनों ही प्रायश्चित्त किए जाते हैं। कुछ नियत तदुभय होते है, जैसे १५ दिनका प्रतिक्रमण पाक्षिक प्रतिक्रमण कहलाता है तो पाक्षिक प्रतिक्रमणके समय अपने दोषोंकी आलोचना और उसका प्रतिक्रमण करना होता है। जैसे वह प्रत्येक दिनके किए हुए अपराधोंका प्रतिक्रमण करता था। वहां तदुभय न चाहिए मायने गुरूसे दोषका निवेदन भी करे और प्रतिक्रमण भी करे, ये दो बातें आवश्यक न थीं विशेष दोष न होनेपर। किन्तु पाक्षिकादिप्रतिक्रमणोंमें दोनों बातें करनी होती हैं। एक माहका प्रतिक्रमण करे तो उसमें भी आलोचना और प्रतिक्रमण दोनों ही करने होते हैं। वार्षिक प्रतिक्रमणमें भी, चातुर्मासिक प्रतिक्रमणमें भी दोनों प्रकारके प्रयश्चित्त करने होते हैं।

(२०८) कायोत्सर्ग नामक प्रायश्चित्तसे निवृत्त होने योग्य कुछ अपराधोंका प्रकाशन— कुछ अपराध ऐसे हुआ करते हैं कि जिनका कायोत्सर्ग करना प्रायश्चित्त है। यद्यपि कायोत्सर्ग नाम केवल ९ बार णमोकार मंत्र पढ़ लेनेको कहा जाता है, कायोत्सर्गमें यह तो होता ही है, पर ऐसा भाव बनायें कि कुछ समयको मन, वचन, कायसे निराले ज्ञान स्वभाव आत्माकी दृष्टि जगे, उसका नाम है कायोत्सर्ग। जैसे कोई केशलोंच कर रहा है और उस केशलोंचमें ही कुछ बोल आये तो उसे उसी समय कायोत्सर्ग करना चाहिए। कभी ठण्डके दिनोंमें या विशेष जहां मच्छर हों उस क्षेत्रमें या तेज आंधी वगैरा चल रही हो उस कालमें, उस संघर्षमें कोई अतिचार लग जाय तो उसका कायोत्सर्ग है। कोई चिकनी भूमिपर जैसे कि तैल अथवा घीसे चिकनी हुई हो उसपर चले या हरे तृणपर चले कोई थोड़ीसी जगहमें या कीचड़पर चलना पड़े, घुटनेमात्र या घुटनेसे

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

ऊपरके जलमें प्रवेश करना पड़े तो वहां तुरन्त कायोत्सर्ग करना होता है। कायोत्सर्गमें नमस्कार मन्त्रके ध्यानके बीच ही अविकार ज्ञानस्वभावपर ध्यान पहुंचाना चाहिए, जिससे कि शरीरका ख्याल भी भूल जाय वह है वास्तविक कायोत्सर्ग। दूसरेके लिए कोई वस्तु रखी हुई हो उसका उपयोग खुद करे, नावसे नदी पार करे तो वहां कायोत्सर्ग से शुद्धि होना चाहिए। पुस्तक आदिक नीचे गिर जाए, किसी प्रकार स्थावर जीवका घात हो। जल्दी जल्दीमें बिना देखे किसी स्थानमें शरीरका मल छोड़ दे, व्याख्यानके आरम्भमें, व्याख्यानके अन्तमें, इन सब स्थानोंमें कायोत्सर्ग करना प्रायश्चित्त है। लघु संख्या, दीर्घसंख्याके समय कायोत्सर्ग करना कर्तव्य है, ऐसे कुछ दोष कायोत्सर्गसे शुद्ध हो जाते हैं।

(२०६) **प्रायश्चित्त तप करनेका प्रथम लाभ**—इससे पहले यह बताया गया था कि प्रायश्चित्त नामके तपसे दोषोंमें शुद्धि हो जाती है, इसका कुछ विस्तार रूपसे वर्णन था। आज यह बतला रहे हैं कि प्रायश्चित्त तपसे क्या फायदा होता है? प्रायश्चित्त करनेके भावमें निर्मलता प्रकट होती है। दोष किए थे, उस दोषमें उपयोग लगा था, उस कषायवेगको न सम्हाल सके थे, कुछ बुद्धिमें दोष आ गया था, वह समय तो गुजरा, मगर उसकी याद बराबर इसको सता रही है। क्यों ऐसा दोष आया? अब वह अपने आपमें घुट रहा है। उसका उपयोग बदले और यह ध्यानमें आये कि अब मैं सही हूं और आगे मोक्षमार्गमें बढ़ना चाहिए, इसके लिए वह अपनी त्रुटिको गुरूसे निवेदन करता है और गुरू महाराज जो प्रायश्चित्त देते हैं उसे सहर्ष स्वीकार करता है, अब इस प्रक्रियासे वह अपनेको निर्दोष अनुभव कर लेगा। यहां एक बात और समझें, शिष्यको गुरूपर पूर्ण विश्वास रहता है। और गुरूके द्वारा कोई प्रायश्चित्त दिया जाने पर फिर वह शंका नहीं रखता कि मेरे दोष निकले नहीं। गुरूकी आज्ञासे जब हम प्रायश्चित्त ले रहे हैं, तो अब उस दोषकी शल्य न रही, अन्यथा यह सिद्ध होता है कि उसका गुरूपर विश्वास ही नहीं है और ऐसा अविश्वासी बन जाय कोई साधु तो वह अपनी साधनामें कभी सफल नहीं हो सकता। तो प्रायश्चित्त तप करनेसे प्रथम लाभ तो यह है कि परिणाम निर्मल हो जाता है।

(२१०) **प्रायश्चित्त तप करनेके अन्य अनेक लाभ**—दूसरा लाभ यह है कि फिर दोषोंकी संतति नहीं रहती है। दोष किए जा रहे हैं, प्रायश्चित्त लिया नहीं जा रहा है तो उस दोषको रोकनेकी आदत बन जाती है और दोष किये जाये इस अनवस्थासे उसका जीवन धर्मसे दूर हो जाता है, तथा प्रायश्चित्त तपके ग्रहण करनेसे उसका यह

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

संकल्प बनता है कि यह दोष अब न किया जायगा। प्रायश्चित्त तपका तो इतना माहात्म्य बताया है कुछ भाइयों ने कि कोई बालसाधु किसी प्रकारके अपराधमें था, मानो कोई हिंसा जैसे भावमें आ गया था, उसके बाद जब उसे ग्लानि हुई और भगवानके समक्ष प्रायश्चित्त ग्रहण किया तो उस समयकी निवृत्तिमें इतनी निर्मलता जगी कि उसका ध्यान बना और उसने सिद्धि पायी। खैर कुछ भी हो, प्रायश्चित्त लेते ही तुरन्त तो सिद्धि नहीं होती, मगर ऐसा वातावरण बन जाता है कि अपनेको निर्दोष अनुभव करके ध्यानमें मग्न हो जाता है और यह सिद्धिको प्राप्त करता है, अगर प्रायश्चित्तका विधान न हो तो देशमें, समाजमें, परिवारमें सब जगह अस्थिरता छा जायगी। कोई मार्ग ही न मिल पायगा। प्रायश्चित्त तपसे अस्थिरता दूर होती है, उपयोग स्थिर हो जाता है और शल्य बिल्कुल दूर हो जाती है। यह आत्मा स्वयं भगवत्स्वरूप है, अपराध किया, किसी ने देखा भी नहीं, पर अपराध करने वाले इस भगवान आत्माने तो देखा, इसकी निगाहमें तो है कि मेरेसे यह अपराध बना, तब इसे शल्य हो जाता है। उस शल्यके दूर करनेका उपाय है गुरूवोंसे दोषोंका निवेदन करना और उनके बताये हुए प्रायश्चित्तको ग्रहण करना। प्रायश्चित्त तपसे अपने मार्गमें चलनेकी दृढ़ता उत्पन्न हो जाती है। यों दोषोंसे दूर होना और गुणोंके विकासमें लगना इस प्रक्रियामें यह प्रायश्चित्त तप बहुत साधक है, आखिर मुनि साधक भी कोई साधना करने वाला ही तो है। कुछ गुण भी उत्पन्न हुए, कुछ दोष भी रह गए, कर्मोंका ऐसा ही उदय चल रहा, तो उसके अपराध होते रहते हैं। उन अपराधोंको दूर करा देनेका साधन यह प्रायश्चित्त नामका आभ्यंतर तप है।

(२११) **विनय नामक आभ्यन्तर तप**—गाथामें प्रकरण यह चल रहा है कि १२ प्रकारके तपोंका आचरण करने वाला योगी साधु मोक्षमार्गमें प्रगति प्राप्त करता है। उन तपोंमें आभ्यन्तर तपका वर्णन चल रहा है और उसमें यह प्रथम प्रायश्चित्त नामका आभ्यन्तर तप कहा गया, अब दूसरा अन्तरंग तप है विनय। विनयभाव जीवको ऐसा सुपात्र बना देता है कि उसमें सम्यग्दर्शन, ज्ञान, आचरण स्फुरित होते हैं। विनय बिना तो कोई इस लोकमें भी सुख शांतिसे नहीं रह सकता। कोई अबे तबे कहता हुआ बोले तो उसे कितने धक्के खाने पड़ते हैं, सर्वत्र कष्ट उठाना पड़ता है। फिर यदि ज्ञानपूर्वक विनय हो तो वह अपने में आध्यात्मिक जागरण भी पाता है। तो जैसे लोकमें सुख शान्तिसे रहनेका साधन विनय है ऐसे ही मोक्षमार्गमें निर्विघ्न रूपसे आगे बढ़कर सिद्धि पानेका आलम्बन विनय तप है। विनय तप चार प्रकारका है। (१) ज्ञानविनय (२)

Version 1

 http://sahjanandvarnishastra.org/

दर्शनविनय (३) चारित्र विनय और (४) उपचार विनय।

(२१२) **ज्ञानविनयका तपश्चरण**—इस आत्माको पवित्र शान्त होनेके लिए क्या कर्तव्य है कि यह अपनेको ज्ञानस्वरूप ही जानकर अपने ज्ञानको इस ज्ञानस्वरूपमें लगाये। मैं ज्ञानमात्र हूं, ज्ञानस्वरूप सिवाय मैं अन्य कुछ नहीं हूं, ज्ञानस्वरूपकी आराधना मोक्षमार्ग है। तब इस ज्ञानभावके प्रति जिसके विनय होगा वही ज्ञानमें लीन हो सकेगा। यह ज्ञानभाव हितकारी है, यह ज्ञानभाव ही शरण हैं ऐसा जिसके भाव है वह ज्ञानकी ओर ही आकर्षित होगा, यही वास्तविक ज्ञानविनय है, साथ ही ज्ञानका प्रयोग करना, ज्ञान शिक्षाका लेना, देश, काल, शुद्धि पूर्वक ध्यान करना, ध्यानमें आलस्य न करना, ज्ञान व ज्ञानीके प्रति बड़ा सम्मान रखना, ज्ञानस्वरूपका स्मरण बनाये रखना यह सब ज्ञान विनय है। जो जिसका रुचिया होता है वह उसके प्रति विनयभाव अवश्य रखता है। चाहे उसके विनयके ढंग कुछ भी हों, मगर भीतर उसके प्रति आदर हुए बिना उसकी रुचि कैसे कही जा सकती है।

(२१३) **दर्शनविनयका तपश्चरण**—दूसरा विनय तप है श्रद्धाविनय। पदार्थका जैसा स्वरूप है उसका सही श्रद्धान बनानेमें तृप्त होना श्रद्धाविनय है। यहां प्रायः सभी मनुष्य अपनेको दुःखी अनुभव करते हैं। चाहे कैसी भी स्थिति हो, कषायभाव ऐसा है कि यह उस स्थितिमें भी अपनेको दुःखी मानता है, क्योंकि उसके तृष्णा लगी ना। किसीको पदकी तृष्णा किसीको धनकी तृष्णा, किसीको अन्य प्रकारकी तृष्णा। उस तृष्णाके कारण यह जीव सदा व्याकुल रहता है। इस दुःखके मूलको कौन मेटेगा? कोई दूसरा नहीं मेट सकता, सत्यश्रद्धान मेटेगा, प्रत्येक पदार्थका क्या स्वरूप है इसका श्रद्धान मेटेगा। यह मैं केवल अपने स्वरूप मात्र हूं, जो कुछ कर पाता हूं सो अपने ज्ञानकी वृत्तिको ही कर पाता हूं। इस ज्ञानसे ही सुख दुःख भोगता हूं। इस ज्ञानमें मलिनता आती है तो मैं पाप भी करता हूं। ज्ञानका स्वरूप सही दृष्टिमें रहता है तो धर्म भी करता हूं। पर मैं अपने स्वरूपसे बाहर परपदार्थमें कुछ भी नहीं कर सकता। बाह्य पदार्थ मेरे स्वरूपमें घुसते नहीं, मैं अपनेसे निकल कर किसी बाहरी पदार्थमें प्रवेश करता नहीं, मेरेमें किसी दूसरेका दखल नहीं, किसी दूसरेमें मेरा दखल नहीं। मैं अपनेमें अपना ज्ञान, अपना विचार अपनी कल्पना बनाकर अपने आपको बनाता रहता हूं। ऐसी जिसकी सत्य श्रद्धा है वह किसी भी परिस्थितिमें अधीर नहीं हो सकता और इसी श्रद्धानके बलसे मैं अपने स्वरूपमें मग्न होता हूं। तो अष्ट अंगसहित सम्यग्दर्शनके प्रति भक्ति आदर बनाना यह दर्शनविनय है।

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

(२१४) **चारित्रविनय व उपचारविनयका तपश्चरण**—चारित्रविनय—चारित्र कहते हैं आचरणको। तो वास्तविक आचरण क्या ? मैं आत्मा हूं ज्ञानस्वरूप। ज्ञानको ही करता रहूं। अन्य कुछ रागद्वेष न करूं। यह ही कहलाता है चारित्र। इस चारित्र परिणाममें विनयभाव आना कि यही मेरा शरण है, यही मेरा हितकारी है, यही मोक्षमें पहुंचाने वाला हैं, इस प्रकारके विनयभावको चारित्रविनय कहते हैं। चारित्रविनय वाला बड़े प्रेमसे, अनुरागसे अपने सदाचारमें प्रवृत्ति करता है। चौथा विनय तप है उपचार विनय। जो अपने गुरूजन हैं उनको देखकर खड़े हो जाना, उनकी वंदना करना, वे जब जाने लगें तो उनके पीछे चलकर पहुंचा देना, कभी स्मरण आये तो परोक्षमें भी हाथ जोड़ना, गुरूजनोंका गुणगान करना, और जो गुरूजनोंने बताया सो उस आज्ञाका मन, वचन, कायसे पालन करना यह सब उपचार विनय है।

(२१५) **विनय तपश्चरणका प्रभाव**—विनयसे पात्रता जगती है। विनयसे ज्ञान जगता है। नीतिकार भी कहते हैं कि विनयसे पात्रता बनती है, विनयसे ज्ञान बढ़ता है, विनयसे आत्मलाभ होता है। जैसे किसी कक्षामें बीसों बच्चे पढ़ रहे हैं तो आपने प्रायः देखा होगा कि जो बच्चा गुरूके प्रति विनयभाव रखकर सुनता है उसको विद्या जल्दी आती है और कोई ऐंठसे सुनें, तो वह शिक्षा हृदयमें नहीं उतरती। विनयसे आचरण सही बनता है। जिसमें विनय नहीं रही उसका सुधार नहीं हो सकता। एक कथानक है कि एक सेठका लड़का कोई वेश्यागामी हो गया था, उस सेठके 'कसी मित्रने कई बार कहा कि तुम्हारा लड़का व्यसनी हो गया, तो सेठ बार-बार यही कहे कि अभी हमारा लड़का बिगड़ा नहीं है, तो मित्र बोला—यह क्या बात कहते हो, चलो हमारे साथ, हम तुम्हें उसे उस वेश्याके घर ले जाकर दिखायेंगे, आखिर सेठ पहुंचा उस वेश्याके घर, तो अपने लड़केको उसके घरमें पाया, मगर लड़केने सेठको देखते ही अपना सिर नीचा करके अपने हाथसे अपनी आंखें मूंद लीं, वह शर्मके मारे गड़ गया। खैर सेठ तो उसे देखकर वापिस लौट आया और अपने मित्रसे कहा कि अभी हमारा लड़का बिगड़ा नहीं है, क्योंकि उसको अभी मेरी आन है, मेरे प्रति विनय है। आखिर बादमें वह लड़का भी पहुंचा और सेठके पैरोंमें गिरकर माफी मांगते हुए कहा कि पिताजी आजसे अब मैं वेश्याके घर न जाऊंगा। तो सेठ बोला—बेटे अभी तुम बिगड़े नहीं हो, तुम तो बड़े भले हो। तो यहां विनयकी बात कह रहे हैं कि ऐसी अनेक घटनायें होती हैं कि विनयके कारण जीव कुमार्गसे सन्मार्गमें लग जाता है। इस विनय तपका फल है परिणामोंमें शुद्धि, मन, वचन, कायकी शुद्धि। जिसके विनयभावहै उसका मन कितना सुन्दर विचार

Version 1

 http://sahjanandvarnishastra.org/

रखता है, उसके वचन कितने प्रिय निकलते हैं, शरीरकी कितनी मनोज्ञ चेष्टायें होती हैं। यह सब विनय तपका फल है, और वास्तविक फल तो यह है कि वह अपने आत्म स्वरूपकी आराधना कर लेता है। किसी मनुष्य के प्रति कोई पुरुष अन्याय करे, अविनयसे बोले, शान घमंडके साथ बोले तो उसके संस्कारसे यह बहुत समय तक मलिन रहता है और यदि कुछ सद्बुद्धि हुई तो यह प्रायश्चित्त करता है कि क्यों मुझसे ऐसा अनर्थ हुआ ? और यदि सद्व्यवहारसे, विनयसे लोकमें रहता है तो उसकी निर्विघ्न आराधना बनती है। ज्यों ही दृष्टि दी, अपने आपमें अपने स्वरूपकी प्राप्ति हुई। तो यह विनय नामका तप एक अंतरंग तप है, इसके बिना जीवनमें शोभा नहीं, आत्मामें विकास नहीं।

(२१६) **वैयावृत्य नामक तृतीय आभ्यन्तर तप**—तीसरा अंतरंग तप है वैयावृत्य। यह कार्य ऐसा है कि जिससे मानवता बढ़ती है, आत्मप्रगति बनती है साधुसेवा करने से। यों तो सभीकी ही सेवा करना चाहिए। कोई दीन दुःखी हो, यह जानकर कि यह भी मेरा जैसा जीव है, इसका दुःख कैसे दूर हो, सभीकी सेवा की जाती है और मोक्ष मार्गके प्रकरणमें यहां १० प्रकारका वैयावृत्य बतला रहे हैं। आचार्यकी वैयावृत्ति—जो संघके नायक हैं वे आचार्य कहलाते हैं। उपाध्यायवैयावृत्य—जिनका शिक्षामें ही मन लगा रहता है वे उपाध्याय कहलाते हैं। तपस्वियोंकी वैयावृत्ति जो बड़े-बड़े उपवास करते हैं उन तपस्वियोंकी सेवा करना उनकी वैयावृत्ति है। शिष्योंकी वैयावृत्ति—जो शिष्यजन शास्त्र सीखते हैं उनकी वैयावृत्ति है। रोगियोंकी वैयावृत्ति जो रोगोंसे कष्ट मान रहे हैं उनकी सेवा करना, वृद्ध मुनिजन हों उनकी सेवा वैयावृत्ति करना। वृद्धता स्वयं एक रोग है। तो ऐसे वृद्धकी सेवा, दीक्षा देने वाले आचार्यसे संगकी सेवा करना, अनेक ऋषिजन या श्रावक, मुनि, अर्जिका आदिककी सेवा करना वैयावृत्य है। जो बहुत समयसे दीक्षित मुनि हैं उनकी सेवा और जो मनोज्ञ हैं, विद्वताके कारण सर्वप्रिय हैं, वक्तृत्व कला आदिकके कारण जो लोकप्रिय हैं ऐसे मनोज्ञ साधु अथवा किसी सम्यग्दृष्टिकी वैयावृत्ति करना यह सब तप है। और सेवा क्या ? कभी रोग हुआ तो उसकी औषधि कराना, कोई परीषह आ जाय तो उस समय उनके उपद्रवको दूर करना, योग्य स्थान में ठहराना, उन्हें ज्ञानके उपकरण देना, किसी कारणसे वे धर्मसे डगमगा रहे हों तो सद्वचनों से या अनेक उपायोंसे उन्हें धर्ममें स्थिर करना, यह उनकी सेवा है। जो सेवाभावी पुरुष है वह उस सेवाका एक अलौकिक आनन्द तुरन्त लेता है। एक बात और जानना। जैसे जो कोई दीन दुःखी जीवोंकी सेवामें समय लगा रहा है तो

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

उसका परिणाम खोटा नहीं होता। उसके परिणाम नियमसे विशुद्ध होंगे और सेवा छोड़कर मौजमें रहे, आलस्यमें रहे तो उसके परिणामोंमें गिरावट आ जाती है। सेवाके समयमें परिणामोंमें गिरावट नहीं होती, इसी कारण यह वैयावृत्य तप है। सेवाके करनेसे चित्त सावधान रहता है, शरीर भी स्वस्थ रहता है, मन, वचन, काय भी सही रहता है इस कारण वैयावृत्य करना कल्याणार्थीका कर्तव्य है।

(२१७) **स्वाध्यायनामक चतुर्थ आभ्यन्तर तप**—अब चौथा अंतरंग तप है स्वाध्याय। जिसके ५ भेद हैं—(१) वांचना-ग्रंथोंको पढ़ना, जितना समझमें आये उसका अर्थ ग्रहण करना। (२) प्रच्छना–अपनेको संसय हो तो बड़े विनयसे प्रश्न रखना, उसका समाधान लेना यह भी एक स्वाध्याय है। यदि कोई अभिमानवश कोई बात पूछे कि इनसे उत्तर न देते बने और मैं सबकी दृष्टिमें यह समझा जाऊं कि यह कितना समझदार है, वह स्वाध्याय नहीं कहलाता है। प्रश्न करना भी स्वाध्याय है। यदि अपने तत्त्वको दृढ़ करनेके भावसे पूछता है, पूछते समय अपनी प्रशंसाका भाव न हो, दूसरेका उपहास न करें, केवल सत्य सत्य ज्ञानमें आये, मेरा हित हो इस भावसे पूछना स्वाध्याय है। अनुप्रेक्षा जिस पदार्थको जाना है उसका बड़ा मनोयोग पूर्वक अभ्यास बनाना, बार-बार उसका विचार करना यह अनुप्रेक्षा है। चौथा स्वाध्याय है आम्नाय, ग्रन्थोंका पाठ करना। समाधितन्त्र जैसे अनेक ग्रन्थ हैं जिनका अर्थ समझते हुए पाठ करना। इसमें आत्माका स्पर्श होता है। बाह्य विकल्प दूर होते हैं। यह सब शास्त्र स्वाध्याय कर्म निर्जराका कारण है। ५वां स्वाध्याय है धर्मोपदेश देना, यह कब स्वाध्याय है ? जबकि उपदेश देने वालेका यह आशय हो कि मैं उन वचनोंको स्वयं सुनकर अपने आत्माका उद्धार करूं। और जिन आगमके वचनोंको सुनकर श्रोता भी अपने आपमें अपना लाभ उठायें। यदि अन्य विचार हों कि मैं इस लोकमें महिमा पाऊं, मेरा यश बढे तो वह सब मिथ्यात्वसम्बंधित भाव है। ऐसे ये पांच प्रकारके स्वाध्याय हैं।

(२१८) **स्वाध्यायका तथ्य और प्रभाव**—स्वका अध्ययन करना स्वाध्याय है। प्रत्येक विषय पढ़कर उसको अपने आत्मापर घटित करना। अगर आत्मापर घटित न किया, अपनेको न सम्बोधा तो सब कुछ पढ़ लिखकर भी, बड़े उपदेश देकर भी स्वाध्याय नहीं बनता। इस स्वाध्यायका क्या फल होता है ? उससे बुद्धि प्रखर होती है। यदि बहुत कुछ याद करके भी उसका आभास न रहा तो वह सब विस्मृत हो जाता है। स्वाध्याय करनेसे अपने मार्गका सही दृढ़ निश्चय होता है कि मुझे यही करना है, आत्मा को जानना है आत्मस्वरूपका अनुभव करना है, यही मेरी दुनिया है। यह ही परलोक

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

है, यही मेरेको शरण है। स्वाध्याय से अपने आत्माके कार्योंमें पूरा निश्चय होता है, आगम परम्परा भी रहती है, संशय भी नष्ट हो जाता है और मुख्य बात तो यह है कि स्वाध्याय करनेसे सम्वेग भाव बढ़ता है। संसार, शरीर, भोगोंसे वैराग्य होता है। यह स्वाध्यायका उत्तम फल है। सज्जन पुरुष ही वे कहलाते हैं जो संसार, शरीर और भोगोंसे विरक्त हैं और आत्मकल्याणके अभिलाषी हैं। ऐसे सम्वेगपने की वृद्धि इस स्वाध्यायतपसे होती है। कोई अतिचार लगे हों, कोई अपने आपमें निर्बलता आयी हो तो ऐसी निर्बलतायें भी स्वाध्यायसे दूर हो जाती हैं। इस कारण स्वाध्याय नामक तप आत्मकल्याणार्थीका परम कर्तव्य है। तभी तो "स्वाध्यायः परमं तपः" यह प्रसिद्ध हुआ है।

(२१६) **व्युत्सर्ग नामक पञ्चम आभ्यन्तर तप और उसका प्रभाव**—अब व्युत्सर्ग तपको निरखिये। व्युत्सर्गका अर्थ है नियतकाल तक या आजीवन उपाधिका अर्थात् शरीरममत्वका तथा अन्य विकारहेतुभूत बाह्यपदार्थोंका त्याग करना। जैसे बाह्यक्षेत्रमें स्थित अनेक पदार्थ प्रकट भिन्न पड़े हैं ऐसे ही स्वरूपदृष्टिबलसे अपने जीवके वर्तमान बाह्य आलय स्वरूप इस देहको प्रकट भिन्न समझ लेना और उसमें रंच भी ममत्व न होना प्रभावक महत्त्वपूर्ण तपश्चरण है। देहममत्वत्याग तो उपलक्षण है, कर्मविपाकोदयनिमित्तक राग द्वेषादि विकारोंको भी परभाव जानना और उनसे अपेक्षा करना इस व्युत्सर्ग नामक तपका आन्तरिक तथ्य है। व्युत्सर्ग तपसे निष्परिग्रहताका अभ्युदय होता है। जिसके राग द्वेषादि भावोंका भी परिग्रह नहीं है। उसके अन्य परिग्रहकी वार्ता तो होगी ही क्या? व्युत्सर्ग तपश्चरण करने वाले ज्ञानी संतोंको अन्यपदार्थविषयक आशाकी बात तो दूर ही रहो, उसके तो अपने जीवित रहनेकी आशाका भी कलंक नहीं है। व्युत्सर्ग तप समस्त दोषोंका उच्छेद करने वाला है। जिनके व्युत्सर्ग तप निर्बाध चल रहा है वे मोक्षमार्गकी भावनामें तत्पर तो हैं ही, मोक्षमार्गमें भी अलौकिक प्रगति कर रहे हैं। व्युत्सर्ग तपके तपस्वी परमपवित्र पूज्य पुरुष हैं, इनके गुणस्मरणसे अपने भगवान आत्मा के दर्शनकी पात्रता बढ़ती है। व्युत्सर्ग शब्दमें तीन शब्द हैं—वि, उत् सर्ग। सर्ग शब्द का रचना अथवा सृष्टि अर्थ किया जाता है सो उसका अर्थ हुआ विशेष उत्कृष्टरूपसे अपनी रचना करना। समग्र परभावोंके परिहारसे ही आत्माकी उत्कृष्ट ज्ञानानन्दमय स्थिति होती है। सर्ग शब्दका अर्थ परिहार किया जाय तो विशेष उत्कृष्ट त्याग भी यही है कि आत्मा अपने ज्ञानमात्र स्वरूपमें ही उपयुक्त रहे, अन्य किसी भी परभावमें, रागादि देहादि किसी भी पर तत्त्वमें रंच भी उपयुक्त न होवे। इस व्युत्सर्गका महान्

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

फल है शाश्वत सिद्धि व शान्तिका लाभ।

(२२०) **सुख दुःख शान्तिका अन्तः साधन ध्यान**— हम आप लोगोंको जो सुख दुःख शान्ति प्राप्त होती है वह किसी ध्यानके कारण होती है। ध्यान सुखकी विधि रूपसे बन जाय तो सुख होता है। ध्यान कुछ दुःखकी विधिका बने तो दुःख होता है और शुद्ध ज्ञान बने तो उस ध्यानसे शान्ति होती है। तो अब यह विचार करें कि ध्यान क्या कहलाता है, ध्यान किस किस तरहके होते हैं, और उन ध्यानोंका अपने आत्मापर क्या प्रभाव पड़ता है, ध्यान कहते किसे हैं ? एकाग्रचित्तचिंतानिरोध, एक पदार्थमें ही चिंतन चलना, एकाग्रचित्त होकर चिन्तन चलना इसे कहते हैं ध्यान। अब रागके विषयके चिंतन चलें वह भी ध्यान है, किसी द्वेषके विषयके चिन्तन चलें वह भी ध्यान है। ज्ञानके विषयमें चिन्तन चले वह भी ध्यान, शुद्ध वस्तुस्वरूपका ध्यान चले तो वह भी ध्यान है। ध्यान चार प्रकारका होता है—१. आर्तध्यान, २. रौद्रध्यान, ३. धर्मध्यान और ४. शुक्लध्यान।

(२२१) **इष्टवियोगज आर्तध्यानका फल क्लेश**—आर्तध्यानका मतलब है—जिस ध्यान में पीड़ा हो, दुःख हो, क्लेश हो वह ध्यान आर्तध्यान कहलाता है। आर्त शब्द बना है आर्तौ भवं आर्तम् आर्ति याने दुःख। यह आर्तध्यान चार तरहका है— (१) इष्टवियोगज (२) अनिष्ट संयोगज (३) वेदनाप्रभव और (४) निदान। इष्टका वियोग होनेपर जो कुछ इष्टके समागमके लिए बारबार मन चलता है वह ध्यान इष्टवियोगज आर्तध्यान है। इसमें पीड़ा ही पीड़ा है। इस जीवका जब यह विचार बना है कि मेरे लिए यह इष्ट पदार्थ है तो उसका वियोग होनेपर अवश्य ही कष्ट होता है और जिस ज्ञानीने यह समझा कि जगतमें बाहरमें कोई भी पदार्थ मेरेको इष्ट नहीं है, अनिष्ट भी नहीं, पदार्थ हैं, उनका स्वरूप है, पड़े हैं, वे मेरे लिए क्या इष्ट और क्या अनिष्ट और बात भी यही है—पदार्थ स्वयं न इष्ट होता, न अनिष्ट होता, किन्तु मोही अपनी कल्पनासे किसी पदार्थको इष्ट मान लेता, किसीको अनिष्ट। घरमें वही एक बालक किसीको इष्ट लग रहा, किसीको अनिष्ट लग रहा, स्वयं वह न इष्ट है न अनिष्ट जैसे जो लोग परिवार में ममता रखते हैं कि यह परिवार मेरा है, पुत्र मेरा है, तो पुत्रकी ओरसे कोई बात ऐसी नहीं है कि वह इसका हो जाय, इसीने ही कल्पना गढ़ी है और यही मान रहा है कि यह मेरा है, संसारमें और दुःख किस बातका ? सही ध्यान बना लें, सही ज्ञान बना लें तो फिर कष्टका कोई काम नहीं। ये प्राणी खोटे ध्यान बनाते हैं और अपने आपको दुःखी करते हैं। अपने ज्ञानकी दुर्बलतासे यह जीव किसी भी बाह्यपदार्थको अपना इष्ट मान लेता है और इष्ट माने गए उस बालक आदिकी यादमें कष्ट मानता है। इष्ट-

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

वियोगज ध्यानका फल कष्ट ही है। इस कष्टसे जिसे बचना हो वह सही ज्ञान बनाये कि जो चाहे चीज आय या बिछुड़े, वहां मेरा क्या है ? मेरा मेरे स्वरूपसे बाहर कुछ नहीं है। इष्ट न माने तो कष्टसे बच जाय। यह इष्ट वियोगज आर्तध्यान बहुधा तो अज्ञानी जीवोंके होता है, पर किञ्चित्रूपमें ज्ञानी सम्यग्दृष्टियोंके भी हो जाता है और यहां तक कि मुनियोंके भी कभी-कभी हो जाता है, जो इष्ट लगा उसके वियोगका उस प्रकारका ध्यान बनता है।

(२२२) **अनिष्टसंयोगज आर्तध्यानका फल क्लेशानुभवन**—दूसरा आर्तध्यान है अनिष्ट-संयोगज। अनिष्ट पदार्थके संयोगसे जो यह विचार बनता है कि यह कब टले, यों उसके वियोगके लिए जो चिन्तन चलता है वह है अनिष्ट संयोगज आर्तध्यान। जगतमें कोई भी पदार्थ मेरेको अनिष्ट नहीं। मेरा ही अज्ञान मेरा अहित करता है और मेरा ही ज्ञानप्रकाश मेरा हित करता है, लेकिन जब मैं इस ज्ञानप्रकाशसे जुदा रहता हूं और किसी पदार्थको अनिष्ट मान लेता हूं तो उसका संयोग होनेपर जो ध्यान बनता है वह कष्ट देता है। इस कष्टसे बचना है तो सही ज्ञान बनाइये। मेरे लिए जगतमें कोई भी पदार्थ अनिष्ट नहीं है। पदार्थकी ओरसे अनिष्टपना कहीं नहीं खुदा हुआ है, यह जीव ही अपनी कषायके प्रतिकूल कुछ देखता है तो उसको अनिष्ट मान लेता है। यह चाहता है कुछ और हो रहा हो कुछ तो हम उसे अनिष्ट समझ लेते हैं। अरे तुम चाहो ही मत कुछ, फिर अनिष्ट कैसे होगा। अथवा बाहरी पदार्थोंका सही ज्ञान बना लें फिर अनिष्ट कहां रहेगा ? इन कष्टोंसे यदि बचना हो तो स्व परका सत्य ज्ञान कीजिए।

(२२३) **वेदनाप्रभव आर्तध्यानमें कष्टका अनुभवन**—तीसरा आर्तध्यान है वेदना-प्रभाव शरीरमें कोई रोग हो जाय, कोई चोट आ जाय तो उस समय वेदना होती है। उस वेदनामें जो ध्यान बनता है वह वेदनाप्रभव ध्यान है। बात यद्यपि कठिन सी लग रही कि इस शरीरमें कोई रोग हो, वेदना हो तिसपर भी दुःख न मानना और शरीर को ऐसा जानें कि यह एक दम बाहरको चीज है। अपने ज्ञानानन्दस्वभावमें मग्न रहे यह बात कुछ कठिनसी लगती है, मगर आत्मस्वरूपका बारबार अभ्यास होनेसे फिर शारीरिक वेदना भी नहीं सताती। सुकुमाल, सुकौशल, गजकुमार आदिक मुनियोंके उदाहरण देख लो, वेदना नही मानी, और इस तरह भी अंदाज कर लो कि शरीरमें कोई रोग है, बुखार है, वेदना है और एक सा ही है, मानो बुखार है १०५ आदमियों को है, पर उस एक समान बुखारमें भी कोई कम दुःख मान रहा, कोई अधिक दुःख मान रहा यह फर्क कहांसे आया ? एक समान बुखार है, एक समान स्थिति है, फिर कम बढ़

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

दुःख क्यों माना जाता है, यह उन पुरुषोंके ज्ञानका फल है। जिनका ज्ञान विशेष है, शरीरसे अपने आत्माको निराला मान रहा है, इसकी ओर दृढ़ता है उसे कम वेदना है, किसीको उससे अधिक है, अज्ञानी मोहीको तीव्र वेदना है, वह अपना सिर धुनता है तो यहां भी तो फर्क देखा जाता है। वह फर्क ज्ञानके कारण ही तो बना। यदि किसीका ज्ञान ज्ञानस्वरूपमें ही लग रहा हो तो उसे रंच भी वेदना न हो, इसमें कोई आश्चर्य नहीं। तो शारीरिक वेदनाओंके कष्ट भी मिटते हैं, दूर होते हैं किसके ? जिसने आत्मा के सत्य स्वरूपकी भावना की है।

(२२४) **निदान आर्तध्यानमें संतापसे संतप्तता**—चौथा आर्तध्यान है निदान। बाह्य पदार्थोंकी आशा रखनेका नाम है निदान। मुझे परभवमें राज्य मिले। मैं देवगतिमें पहुंचूं आदिक कुछ भी आशा बनाना यह कहलाता है, नियत निदानसे भी कष्ट ही है, शान्ति नहीं मिलती। इस लोकमें भी यदि किसी पदार्थकी मनमें वाञ्छा है, इच्छा है, तृष्णा है, प्रतीक्षा है, आशा है तो वहां यह कष्ट ही पायगा। कष्टरहित जो आत्माका ज्ञानानन्द स्वरूप है उस स्वरूपमें जो दृष्टि देगा सो शान्ति पायगा और बाहरी पदार्थोंको जो अपनायगा, उनकी आशा रखेगा उसको कष्ट ही होगा। सो यदि निदान सम्बंधी कष्ट से बचना है तो सत्य ज्ञान कीजिए व आशा तजिये। मैं हूं, ज्ञानस्वरूप हूं, इसका काम ज्ञानकी वृत्तियां हैं, ज्ञानकी शुद्ध लहर उठना है, निरन्तर जानन वृत्तिसे यह चलता रहता है। इतना ही यहां मेरा सर्वस्व है, इससे बाहर मेरा कुछ नहीं है। किसी भी बाह्य पदार्थपर मेरा अधिकार नहीं किसी बाह्य पदार्थसे मेरेको शान्ति मिलती नहीं। एक आत्मस्वरूपके ज्ञानमें, श्रद्धानमें, आचरणमें, इसकी ओर दृष्टि रखनेमें शान्ति है। बाहरी पदाथोंमें शांति नहीं है, ऐसा जो ज्ञान बनता है उसके निदान न बनेगा। तो ये चार प्रकारके आर्तध्यान ये कष्टके हेतुभूत हैं।

(२२५) **रौद्रध्यान व रौद्रध्यानोंमें प्रथम रौद्रध्यान**—चार होते हैं रौद्रध्यान। रुद्र कहते हैं क्रूर अभिप्रायको। खोटे आशयमें होने वाले ध्यानका नाम है रौद्रध्यान। सो यद्यपि रौद्रध्यानमें तत्काल मौज मानता है यह जीव, लेकिन उसका फल बहुत खोटा है। यह रौद्रध्यान चार तरहका है—(१) हिंसानन्द (२) मृषानन्द (३) चौर्यानन्द और (४) परिग्रहानन्द। हिंसा करनेमें, करानेमें, हिंसा करने वालेको शाबासी देनेमें आनन्द मानना हिंसानन्द है। इसमें आनन्द शब्द तो खुद पड़ा है कि हिंसा करनेमें मौज मानना, खुश होना, सो यद्यपि उस समय यह तकलीफ नहीं मान रहा, तकलीफ तो हो रही, पर मान नहीं रहा, मौज मान रहा, मगर यह रौद्रध्यान आर्तध्यानसे भी खोटा ध्यान है।

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

(२२६) **मृषानन्दनामक रौद्रध्यानका वाहियातपन**—दूसरा रौद्रध्यान है मृषानन्द, झूठ बोलनेमें आनन्द मानना, चुगलीमें, निन्दामें, यहांकी वहाँ भिड़ानेमें आनन्द मानना मृषानन्द है। अब देखिये सब वाहियात बातें हैं। क्या प्रयोजन पड़ा है व्यर्थकी बातोंमें? प्रयोजन तो दो बातसे है कि कमाई करना और धर्म करना, आजीविका और धर्मपालन, तीसरेकी क्या जरूरत है? आजीविका बिना काम न चलेगा गृहस्थोंका, सो वह तो इस जिन्दगीके लिए जरूरी है किन्तु उससे अधिक जरूरी है धर्मपालन। उस आजीविकासे तो मौज साधन कुछ वर्षका बना लेंगे, पर यह जिन्दगी तो आगे भी है। मरकर जायेंगे तब भी तो इसकी सत्ता है। कोई और पर्याय पायगा। तो धर्मपालन तो विशेष कर्तव्य है। आजीविकामें चाहे कमी हो जाय तो हो जाय, उससे तो गुजारा चल जायगा, किन्तु धर्मध्यान बिना जीवका गुजारा नहीं हो सकता। फिर ये झूठ बातें चुगली, झूठी गवाही, दूसरोंकी निन्दा आदिक इन वचनोंके बोलनेमें अज्ञानीजनोंको कैसी उमंग रहती है। जो मनुष्य बहुत बोलते हैं वे अनेक अपराधोंको करते रहते हैं। अधिक बोलनेकी प्रकृति उसके भलेके लिए नहीं है। जो कम बोलेगा वह चुगली, निन्दा आत्मप्रशंसा, परका अपमान आदि ऐसे वचनोंसे दूर रह सकता है। जो अधिक बोलेगा उसके वचन अप्रिय भी हो जायेंगे, अहितकारी भी हो जायेंगे, अपनी मर्यादासे बाहर भी हो जायेंगे, वह उन्नतिका पात्र नहीं है, सो जो इन दुर्ध्यानोंसे बचना चाहता है वह कम बोले विचार कर बोले, सत्य बोले। मेरे इन वचनोंसे कहीं इनको तकलीफ न हो जाय, ये सदा ध्यानमें रखे। वैसे नीति भी है "वचनोकी दरिद्रत"ा, वचनोंमें दरिद्रता क्यों की जा रही है, क्यों नहीं ठीक वचन बोलते? तो यह मृषानन्द रौद्रध्यान जीवको दुःखदायक है।

(२२७) **चौर्यानन्द व परिग्रहानन्द रौद्रध्यानकी असंगतता**—तीसरा रौद्रध्यान है चौर्यानन्द। चोरीमें आनन्द मानना। कितने ही चोर तो बड़े होते हैं और कितने ही छोटे होते हैं। कितने ही ऐसे जीव होते हैं कि लगता कि हमने कोई चोरी नहीं की, किन्तु चोरी है। जैसे किसी पुरुषका भोजन करना इस ढंगका हो कि लोग थाली सजाकर लायें, बिनती करें तब वह भोजन करे और यदि वही पुरुष अपने ही घरकी चीज स्वयं उठाकर खा ले तो उसके भावमें चोरी जैसा परिणाम आ गया। लगता यों होगा कि अपनी ही चीज तो उठायी, मगर जो प्रक्रिया बन गई थी उसके विरुद्ध चला जाना वह भी चोरी हुई। कोई बात ग्रहण किया, सामायिक कर रहे, कोई नहीं देख रहा तो ठीले ढाले हैं और कोई देखने लगा तो बस टन्नाकर, तनकर बैठ गए, बताओ क्या उसने

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

चोरी नहीं की ? की, किसीकी चीज तो नहीं चुराया फिर भी चोरी हो गई। तो चोरी ? चाहे सूक्ष्म है चाहे बड़ी है, उन चोरीके कामोंमें आनन्द मानना चौर्यानन्द रौद्रध्यान है। चौथा रौद्रध्यान है परिग्रहानन्द। पञ्चेन्द्रियके विषयोंका जिन साधनोंसे पोषण होता है उनको जोड़ने उनकी रक्षा करनेमें आनन्द मानना यह है परिग्रहानन्द। इसका दूसरा नाम है विषयसंरक्षणानन्द। इस रौद्रध्यानका तत्काल कुछ बुरा प्रभाव नहीं मानता यह जीव, पर उसके बाद वह कुछ पछताता है और मरणके बाद तो इस दुर्ध्यानके फलमें उसे दुर्गति भोगनी पड़ती है। ये ८ खोटे ध्यान कहे गए। इन अशुभ ध्यानोंका फल कष्ट है।

(२२८) **चार प्रकारके धर्म्यध्यान**—अच्छे ध्यान कौनसे हैं ? वे दो प्रकारके हैं (१) धर्मध्यान और (२) शुक्लध्यान। जब तक राग अवस्था है तब तक रागका व्यवहार है, किन्तु है ज्ञान और शुभ प्रवृत्ति, ऐसी स्थितिमें उसके धर्मध्यान बनता है ये धर्मध्यान चार प्रकारके हैं—(१) आज्ञाविचय, (२) अपायविचय, (३) विपाकविचय और (४) संस्थानविचय। प्रभु की आज्ञाको शिरोधार्य करके उस अनुरूप धार्मिक चिन्तन करना आज्ञाविचय धर्मध्यान है। यह सम्यग्दृष्टि पुरुषोंके ही होता है। अपायविचय—ये रागादिक विकार, ये खोटे भाव मेरे नष्ट हों, इनसे मेरी उन्नति नहीं है, इनसे संसारमें भ्रमण करना पड़ता है। इन रागादिक भावोंके विनाशका चिन्तन करना और वीतरागताके उपायोंका चिन्तन करना, यह है अपायविचय धर्मध्यान। तीसरा धर्मध्यान है विपाकविचय। कर्मोंका उदय कैसे होता है, कर्मोंके बारेमें चिंतन बनाना कि ये कर्म कैसे बंध जाते हैं। जीवने खोटे भाव किये, उनका निमित्त पाकर ये पौद्गलिक वर्गणाएं कार्माणरूप बन जाती हैं, और इनमें प्रकृति, स्थिति, प्रदेश, अनुभाग चार प्रकारका बंध होता है। जब अनुभाग प्रकट होता है तो इन कर्मोंमें विकृति प्रकट हो जाती है। उस कालमें जिसको कर्मोदयमें लगाव है वह उसी प्रकार अपनेको मानकर कष्ट पाता है। कभी तीव्र उदय आता है तो बड़े सम्यग्दृष्टि ज्ञानी पुरुष भी कुछ अनुचित व्यवहार कर डालते हैं। यह कर्मोदय है, इसका फल बड़ा विचित्र है इस कारण कर्मबंध नहीं हो मुझे ऐसा ही कार्य करना चाहिए। वह कार्य क्या है ? आत्मानुभव, आत्मदृष्टि, अपनी ओर रहना। संस्थानविचय—तीनलोक तीन कालका सब आकार प्रकार यह सब चिन्तनमें रहना। इससे लाभ क्या होता कि जब दृष्टिमें यह रहता है कि इतना महान विस्तृत लोक है, तब यह चित्त होता हैं कि इतने बड़े लोकके सामने आज हमारा कितने से क्षेत्रका परिचय है। मान लो हजार ५०० मीलके क्षेत्रका परिचय है तो इतने सारे लोकके सामने बड़े समुद्रके आगे बूंद बराबर है। इतनी सी जगहके ममत्वसे इस जीव

Version 1

https://sahjanandvarnishastra.org/

का बिगाड़ होता चला जाता है। जब कालका परिचय होता है कि काल है अनादि अनन्त, न इसकी आदि है न अन्त, तो इस अनादि अनन्तकालके सामने इस भवका पाया हुआ यह १००-५० वर्षका जीवन क्या कुछ गिनती रखता है? यह तो स्वयंभूरमण समुद्रके एक बूंद बराबर भी नहीं है। तो इतनेसे कालमें मोह ममता करके जो समागम मिला है उसमें अंधे होकर अपने आत्माका अकल्याण किया जा रहा है। ऐसा क्यों किया जा रहा है? तो जब तक सराग अवस्था है और उत्तम चिंतन है तब तक वह धर्मध्यान कहलाता है।

(२२९) **चार प्रकारके शुक्लध्यान**—चौथा ध्यान है शुक्लध्यान। इसमें राग नहीं आ रहा है, चित्तमें व्यक्त नहीं है, और कहीं राग बिल्कुल भी नहीं है, सिर्फ ज्ञान द्वारा पदार्थ ज्ञेय हो रहे हैं और किसी एक ज्ञेयमें अपना चिन्तन लगा हुआ है वह कहलाता है शुक्ल ध्यान। यह शुक्लध्यान चार स्टेजोंमें है। पहला है पृथक्त्व वितर्क वीचार याने ध्यान तो है एक पदार्थका मगर उसी पदार्थकी पर्यायमें ज्ञान पहुंचा, गुणपर ज्ञान पहुंचा, द्रव्यत्वपर ज्ञान पहुंचा, सहज स्वरूपपर ज्ञान पहुंचा, ऐसा अदल बदलकर ज्ञान चलता है और कभी किसी शब्दसे बदल चलती है, मन, वचन, कायकी बदल चलती है तो वह पहले स्टेजका शुक्लध्यान है। जब ध्यानका अभ्यास बढ़ जाता है तब यह बदल रुक जाती है। जिस पदार्थपर चिन्तन है उसीपर रहता है। उसके प्रतापसे केवलज्ञान जगता है। फिर समस्त लोकके पदार्थ इसके ज्ञानमें झलकने लगते हैं। वह भगवान बन जाता है। अरहंत हो गया। अब अरहंत होनेपर भी योग चल रहा है, दिव्यध्वनि खिरना वह वचनयोग है, विहार होना काययोग है। द्रव्यमन भी परिस्पंदरूप है। तो इन योगोंके निरोधके लिए, जो एक विशिष्ट समय परिणमन होता है वह कहलाता है तीसरा शुक्लध्यान सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती। उसके प्रतापसे अब ये अरहंत प्रभु अयोगकेवली बन गए। अब उस अयोगकेवलीके जो अघातिया कर्म शेष रह गए हैं उनके विनाशके लिए चतुर्थ शुक्लध्यान है। यद्यपि तृतीय और चतुर्थ शुक्लध्यानमें कोई पदार्थका चिन्तन नहीं है, पर वहां कार्य है योगका विनाश, कर्मका विनाश। उस दृष्टिसे इनको भी ध्यान कहा है। तो इस ध्यानके प्रकरणमें यह शिक्षा लेनी है कि इन खोटे ध्यानोंसे हटकर हम अच्छे ध्यानमें लगें और उसमें भी बढ़कर हम शुद्ध तत्त्वके चिन्तनमें आयें, केवल ज्ञाता द्रष्टा मात्र रहें, तो यह स्थिति हम आपके लिए कल्याणकारी है।

(२३०) **निर्दोष त्रयोदश क्रियाओंसे युक्त होनेका मुनिवरोंको आचार्यका उपदेश**—इस गाथामें बताया जा रहा है कि हे मुनिश्रेष्ठ! तुम बारह प्रकारके तपश्चरणोंको

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

करो और मन, वचन कायसे १३ प्रकारकी क्रियावोंको भावो और ज्ञानरूपी अंकुशसे मनरूपी मत्त गज को वश करो। १२ प्रकारके तपोंका वर्णन किया जा चुका है। १३ क्रियायें कौन हैं? पांच महाव्रत, ५ समिति और ३ गुप्ति। करना क्या है? सिद्ध भगवन्त होना है। सिद्धके मायने खालिस आत्मा रह जाना। सो खालिस आत्मा रह जाय इसके लिए चाहिए अन्तस्तत्त्वका ध्यान कि इस समय हम इस मिले-जुले पिण्डमें, इस पर्यायमें रहकर भी केवल आत्माके स्वरूपको दृष्टिमें लिये रहूं। जिसमें यह भूल बनी है कि मैं ज्ञानस्वरूप आत्माको ही अपने ज्ञानमें लिए रहूं, उसको अन्य बातोंसे कुछ प्रयोजन नहीं रहता। जब किन्हीं बाहरी बातोसे प्रयोजन न रहा तो घर छूटे, कुटुम्ब छूटे, वस्त्र भी त्यागे इसलिए कि कहीं एक वस्त्र तक की भी मेरेको शल्य न रहे, ख्याल न रहे, ऐसा निर्द्वन्द रहूं कि मैं मात्र आत्मा आत्माका ही ध्यान करूं, अब बतलावो मुनिपद ऐसा उत्कृष्ट है कि जहां किसी व्यवहारकी बातको सुननेकी फुरसत नहीं। वस्त्र त्यागा किसलिए कि एक तौलिया भर भी वस्त्रकी मनमें चिन्ता न रहे और कोई नग्न होकर भी गाड़ी चाहिये, मोटर चाहिए, रिक्शा चाहिए, और खटपट चाहिए, अनेक प्रकारकी चिन्तायें रखें तो देखो कहां तो चिन्तायें त्यागनेके लिए वस्त्र त्यागा और कहां बड़ा भारी आडम्बर रखकर चिन्तायें और भी बढ़ा लीं। जहां चिन्ताओंका भार लदा है वहां आत्मशुद्धि नहीं हो सकती। साधुका कितना उत्कृष्ट पद है कि मन, वचन, काय ये वशमें रहें, कुछ सोचें ही मत, कुछ बोलें ही मत, कुछ चेष्टा ही मत करें जिससे कि आत्मामें आत्माका ध्यान सतत बना रहे, और यदि सोचना पड़े तो समितिरूप प्रवर्तें, बोलना पड़े तो भाषासमिति बनावें, चलना पड़े, बिहार करना पड़े, खाना पड़े, शौच जाना पड़े तो समितियोंका पालन करें। मुख्य कार्य तो गुप्ति है। गुप्तिमें न रहा जाय तो समितिमें रहें। गुप्ति मायने मनको वशमें करना, कुछ न सोचना, वचनगुप्ति मायने मौन रखना, भीतर कोई वाणी भी न आये, कायगुप्ति मायने शरीरको निश्चल रखें, क्योंकि ज्ञानको ज्ञानमें ग्रहण करनेके लिए ऐसी निष्क्रिय चेष्टा चाहिए और फिर व्यवहार करना पड़े तो ५ महाव्रतरूप प्रवृत्ति करें। यों ५ महाव्रत, ५ समिति, ४ गुप्ति ये १३ क्रियायें हैं मुनिकी।

(२३१) आचार्यदेवका मुनिवरोंको ज्ञानांकुश द्वारा मन मत्त गजको वश करनेका उपदेश— आचार्यदेवका उपदेश है कि हे मुनिवरो! ज्ञानरूपी अंकुशसे मनरूपी हस्तीको वश करो। मन वशमें हो सकेगा तो ज्ञानसे ही वशमें होगा, मन चाहता है तृष्णा, इन्द्रियका आराम, कीर्ति, यश बड़े-बड़े छलांग मार रहा मन। उस मनको अगर मारना है तो

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

उसका उपाय है ज्ञान। तत्त्वज्ञानमें आयें। मैं आत्मा ज्ञानस्वरूप मात्र हूं। मैं इस स्वरूपसे बाहर कहीं नहीं हूं, मैं स्वरूपमें ही अपना परिणमन करता हूं। बाहर मेरा कोई काम नहीं। मैं स्वरूपमात्र हूं। बाहरके लोग जैसा परिणमन करें सो करें, इस ज्ञानी साधुको बाहरी क्रियावोंसे कोई उद्वेग नहीं होता। मुनि कभी अपना मान और अपमान नहीं समझता। समझे तो मुनि नहीं। मुनि कभी प्रशंसा निन्दामें रागद्वेष नहीं रखता, रखे तो वह मुनि नहीं। मुनि पद तो अरहंतके निकटका पद है और अगर कोई इस मुनिपदको धारण करके खिलवाड़ करे तो वह अपने आत्मासे खिलवाड़ कर रहा है। वह तो अनन्त संसारमें भ्रमण करेगा। यहां कुन्दकुन्दाचार्य उपदेश करते हैं कि हे मुनिप्रवर! ज्ञानरूपी अंकुशसे मनरूपी मत्त गजको वश करो।

पंचविहचेलचायं खिदिसयणं दुविहसंजमं भिक्खू।
भावं भाविय पुव्वं जिणलिंगं णिम्मलं सुद्धं ॥८१॥

(२३२) **मुनिवरोंका पञ्चविधचेलत्याग**—५ प्रकारके वस्त्रोंका त्याग करो, जमीन पर सोओ, दो प्रकारके संयमोंका पालन करो, आत्मतत्त्वकी भावना भावो और इस जिनलिंगको निर्मल शुद्ध करो। वस्त्रत्यागका प्रयोजन यह है कि यह पुरुष, यह आत्मा इतना अधिक विरक्त है, बाह्य पदार्थोंसे बिल्कुल अलग है कि उसको एक छोटी लंगोटी या तौलियाकी भी चिंता न करनी पड़े, उसका ख्याल ही न आये और एक आत्मा आत्माका ही निरन्तर स्मरण बना रहे इस धुनमें है, इसलिए उसका नग्न रूप है। नग्नत्वमें खाली देहकी ही बात नहीं रहती है किन्तु यह भाव तकना कि इसको आत्मा की इतनी तेज धुन है कि उसको एक वस्त्र तकका भी ख्याल नहीं रहता। देहकी सुध नहीं, वस्त्रका ख्याल नहीं, कोई चिन्ता ही नहीं रहती। अब कोई नग्नपना तो धारण करे और चिन्ताका भण्डार बनाता रहे, जैसे संघ बढ़ानेकी भावना—उसमें मिला क्या है? गुस्सा, घमंड, कषायभावके सिवाय और कुछ प्राप्त होता नहीं। मगर ऐसी उमंग बनी है कि लोग मेरी ऐसी तारीफ करें कि देखो इनके कितने शिष्य हैं। बात यह बतला रहे कि वस्त्र त्यागनेका प्रयोजन था अत्यंत निश्चित जीवन रखना और उसकी आड़में चिन्ताओंका भार बनावे तो उसको उपदेश किया है कुन्दकुन्दाचार्यने कि हे मुनिप्रवर! तुम अत्यन्त निर्मल होओ, ५ प्रकारके वस्त्रोंका त्याग करो, तुम अङ्गपर कोई चीज मत लपेटो। ५ वस्त्र क्या हैं? (१) रेशमी वस्त्र, (२) सूती वस्त्र (३) ऊनी वस्त्र, (४) छालके वस्त्र जैसे टाट, पट्टी, चटाई वगैरह और (५) चर्मके वस्त्र जैसे मृगचर्म सिंहचर्म आदि। किसी भी प्रकारके वस्त्रोंका संग न करो।

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

(२३३) हे मुनिवरो ! भूमिपर शयन करो। भूमिपर शयन करना बैठना उठना यह तो सर्वोत्कृष्ट बात है, पर कभी काठपर बैठ गए, चटाईपर बैठ गए, यह उससे कुछ हल्की बात है, विधानमें काष्ठ, चटाई भी बतायी गई है मगर भूमिपर बैठना उठना यह उत्कृष्ट बात है जमीन ही उनके लिए सही आसन और शय्या है। मूल गुणोंमें भूमि-शयन आता है, काष्ठशयन नहीं आता, पर चरणानुयोगमें काष्ठका भी विधान बताया है। लोग तो काष्ठका तख्त रखते, उसपर दूसरा तख्त रखते, फिर उसपर काष्ठका सिंहासन रखते, उसपर मुनिराज बिराजते और खुश होते, लेकिन सोचो तो सही कि वह सरलतासे कितना दूर हो गए, प्राकृतिकतासे कितना दूर हो गए ? आत्मानुभवकी पात्रता होती है विरक्त साधुको। दो प्रकारके संयमको धारण करो। देखिये साधुवोंकी अपरिग्रहता बतायी जा रही है। कैसा निष्परिग्रह साधु हो ? वह निष्परिग्रहता होती है भावोंसे आत्माके ज्ञानस्वरूपके अतिरिक्त अन्य किसी तत्त्वमें रुचि न जाय। किसी पदार्थमें भाव न जाय, वहां होती है निष्परिग्रहता। जितना कष्ट है वह परिग्रहभावसे है। निष्परिग्रहताकी सिद्धिके लिए वस्त्रका त्याग है, भूमि पर शयन है।

(२३४) **द्विविधसंयमका पालन**—दो प्रकारका संयम है। संयम दो कौनसे हैं—(१) प्राणिसंयम और (२) इन्द्रियसंयम। किसी जीवकी हिंसा न हो वह तो है प्राणि-संयम, न तो पृथ्वी, जल अग्नि, वायु, वनस्पति इन स्थावरोंकी हिंसा हो और न दो-इन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चारइन्द्रिय, पंचेन्द्रिय इन त्रस जीवोंकी हिंसा हो, वह तो है प्राणि-संयम। और इन्द्रियसंयम क्या है कि इन्द्रियविषयोंमें राग न आना, प्रवृत्ति न होना, उनसे दूर रहना। वास्तविकता यह है कि जिसको ज्ञानगुणका स्वाद आया है और ज्ञानमात्र आत्मस्वरूपकी अनुभूति जगी है उसको कुछ सिखानेकी जरूरत नहीं। उसका सब व्यवहार स्वयं चरणानुयोगके अनुसार बनेगा। और जिसके ज्ञानानुभूति नहीं हुई, उस पुरुषको कितना भी सिखाया जावे, वह बाहरी बातोंको ही पकड़ेगा, आन्तरिक ज्ञानस्वरूपको न पकड़ेगा। मुनिव्रतका मूल है आत्मज्ञान। ज्ञानानुभव। जिसको ज्ञाना-नुभव हुआ वह जानता है कि मेरे ही समान सर्व जीव हैं, किसी भी जीवको मेरेसे बाधा न हो। जिसने अपने ज्ञानानुभवका स्वाद लिया उसका यह दृढ़ निर्णय है कि किसी भी बाह्य पदार्थका व्यवहार पतनका कारण है और उस तत्त्वज्ञानके बलसे दो प्रकारका संयम मुनिके होता है। इस तरह अपने आपकी दया करने वाले मुनिका व्रत शुद्ध है और जैनधर्मकी प्रभावनाका कारण है।

(२३५) **अपरिग्रहत्वका दर्शन**—भैया, सभीको अपरिग्रहताका भाव रखना चाहिए

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

घरमें है, कोट, कमीज कपड़ोंसे लदे हैं, किसी भी स्थितिमें हैं। यह ज्ञान जब ज्ञान-स्वरूपको जानने चलेगा तो उसे अनुभव ज्ञानका आयगा। उस ज्ञानको तको, वह ज्ञान स्वभावतः निस्तरंग है। आत्माका जो वास्तविक स्वरूप है उस स्वरूपमें किसी भी बाह्य पदार्थका सम्बन्ध नहीं है, अकेला, निःसंग। उस ज्ञानके अनुभवके लिए ही निष्परिग्रहता है। और जिसने सबसे निराले अपने ज्ञानस्वरूपका अनुभव किया उसने अपने को अपरिग्रह पाया। जैसे कहते हैं कि कपड़ेके भीतर सब नग्न हैं, ऐसे ही जब ज्ञानद्वारा अपने आत्माके स्वरूपको देखें तो पता पड़ेगा कि सारे चक्करके अन्दर भी आत्मा अपने स्वरूपतः शुद्ध है। सत्ता उसकी शुद्ध है। किसी दूसरेकी सत्ता मिलकर सत्ता नहीं बनी, जीवकी स्वतंत्र सत्ता है, तो अकेलेपनका ही तो नाम है निःसंग। अपने आत्माको निःसंग अनुभव करो। सर्व दुःखोंका जाल है परपदार्थोंका परिग्रहण। और धर्मपालन भी इसी में है कि निष्परिग्रह रहें, सो इस धर्मका पालन मुनिजन पूर्णरूपेण कर पाते हैं. गृहस्थों को परिग्रह परिमाण बताया है, फिर भी गृहस्थ अपनेको पूरा निष्परिग्रह अपने स्वरूप में तकता है।

जह रयणाणं पवरं वज्जं जह तरुगणाण गोसीरं।
तह धम्माणं पवरं जिणधम्मं भावि भवमहणं ॥८२॥

(२३६) **संसारसंकटविध्वंसक जैनशासनकी भावनाका उपदेश**— हे आत्मकल्याण चाहने वाले जीव! तुम उस जिनधर्मको धारण करो जो संसारको मथ देता है अर्थात् जिससे संसारके संकट जन्ममरण ये सब दूर हो जाते हैं। वह जिनधर्म क्या? आत्मधर्म। आत्माका जो स्वरूप है ज्ञानस्वरूप, उस मात्र अपना अनुभव करो, मैं इतना ही हूं। बाहरी पदार्थोंके संयोगसे मानना कि मैं पुत्र वाला हूं, घर वाला हूं, धन वाला हूं, यह तो दूर रहो, यह तो अत्यन्त ही मूढ़ताकी बात है। पर जो अपनेको ऐसा भी तक रहा है कि मैं विचार वाला हूं, विभावोंमें आत्मीयता अनुभव करना यह भी मूढ़ता है। मोह छोड़ा नहीं जाता। लोग ऐसी विवशता अनुभव करते और कहते हैं, पर यह दृष्टिमें नहीं आता कि मोह मेरा स्वरूप ही नहीं। अपनेको ज्ञानमात्र देखें, उसके छोड़नेमें कौनसी तकलीफ है? परिस्थितिवश राग करना पड़े वह तो परिस्थितिकी बात है, पर भीतरमें श्रद्धा सही ही रखना चाहिए, मेरा अन्य परिजनोंसे तो सम्बन्ध ही क्या? राग-द्वेष मोह विकार विकल्प तर्क आदि जो मेरेमें उठते हैं वे भी मेरे स्वरूप नहीं। इस प्रकारके अन्तस्तत्त्वका नाम है जिनधर्म, उसका पालन करें अर्थात् रागद्वेषको जीतने वाले भगवान जिनेन्द्रने जो मार्ग बताया है उस मार्गपर चलें।

Report any errors at vlkasnd@gmail.com

http://www.jainelibrary.org

(२३७) **सर्वश्रेष्ठ आत्मशासनसे अपनेको अनुशासित करनेका कर्तव्य**—यह जिनमार्ग सर्व धर्मोंमें श्रेष्ठ है। लोकमें धर्म बहुत माने जाते, पर वस्तुतः धर्म तो एक ही है। जो आत्माका स्वभाव है वही धर्म है और वही सर्वश्रेष्ठ है सो ऐसा श्रेष्ठ है जैसे सर्वरत्नों में वज्रहीरक श्रेष्ठ होता है, ऐसे ही सर्व धर्मोंमें यह आत्मधर्म, जैनधर्म ज्ञानस्वरूप, इसकी उपासना यह सर्वश्रेष्ठ है। जैसे वृक्षमें चन्दन श्रेष्ठ है, ऐसे ही यह आत्मभावना सर्व कर्तव्योंमें श्रेष्ठ है, जिसके प्रतापसे संसारके जन्ममरण संकट आदिक सर्व दूर हो जाते हैं। एक क्षण तो अपने आपपर दया करके सबका ख्याल छोड़ दीजिए। कोई मेरा कुछ नहीं है, एक अणु भी मेरा हितकारी नहीं है, मेरा कुछ नहीं है। मैं ज्ञानमात्र हूं। मुझे अपने आपको ज्ञानस्वरूपमात्र निरखना है, उसीको तको। एक क्षण भी अगर अपनेको ऐसा अकेला ज्ञानमात्र निरख सके तो इसके साथ ऐसा अद्भुत आनन्द आता है कि जिससे पूर्ण श्रद्धा हो जाती है कि हितकारी तो मेरा यह स्वरूप ही है, क्योंकि जिसके सहवाससे सुख मिले तो उसपर श्रद्धा जम जाती है। यह प्रायः लोकरीति है, और फिर जिस तत्त्वज्ञानके अनुभवसे अलौकिक सत्य आनन्द जगे, फिर उसे आत्मामें क्यों श्रद्धा न होगी? आत्माकी चर्चा करके भी श्रद्धारहित है जो कोई सो इस कारण है कि उनको ज्ञानके अनुभवका स्वाद नहीं आया। ज्ञानानुभव हो, उसका आनन्द पा लिया गया हो, उसे कभी खबर न भूलेगी, सदा ध्यानमें रहेगी कि नही? विधि तो यही है। अन्यत्र कहीं आनन्द नहीं, फिर इसी ज्ञानस्वरूपमें ज्ञान बनाये रहनेका पौरुष करेगा। उसीमें रम जायेगा। यदि शान्ति चाहिये हो तो अपने आत्माके सही स्वरूपका भान कीजिए। जो करेगा सो पार होगा। केवल बात बोलनेसे कोई पार नहीं होता, किन्तु जो हिम्मत बनाये, समस्त बाह्यपदार्थोंका ममत्व त्यागे, अविकार ज्ञानस्वभावको ज्ञानमें लें उसमें वह शूरता आयगी कि वह आनन्दका अनुभव करेगा, कर्मोंका क्षय करेगा। जन्म मरणके संकट अपने दूर करेगा। सो हे मुने! तुम सबमें श्रेष्ठ इस जैन-धर्मको, इस ज्ञानस्वरूपको भावो, इसीमें रुचि करो, यह ही संसारके सर्वसंकटोंको छेदने वाला है।

पूयादिसु वयसहियं पुण्णं हि जिणेहिं सासणे भणियं।
मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो धम्मो ॥८३॥

(२३८) **पुण्य और धर्मकी मुद्राका निर्देशन**—उक्त गाथामें यह बताया गया था कि जैसे रत्नोंमें हीरा श्रेष्ठ है, वृक्षोंमें चंदन श्रेष्ठ है इसी प्रकार धर्मोंमें जिनधर्म श्रेष्ठ है। तो अब यह जिज्ञासा हुई कि वह धर्म क्या है जो सर्वश्रेष्ठ है। उसका समाधान

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

यहाँ दिया है। पहले तो पुण्य और धर्म इन दो में अन्तर समझिये। पुण्य तो कहलाता है पूजन आदिकमें अथवा व्रत तपश्चरण करने में जो शुभ भाव होता है वह तो है पुण्य और उससे जो कर्म बंधा वह है पुण्य कर्म, और धर्म क्या है ? मोह और क्षोभसे रहित जो धर्म का परिणाम है वह है धर्म। तो यहाँ पुण्य और धर्ममें यह अन्तर जानना कि पुण्य तो राग है, धर्ममें राग नहीं है।

(२३९) **निरापद आत्मास्वरूपकी दृष्टिके बिना सर्वत्र आकुलतायें**—संसारके जीव अज्ञान से पुण्यकी वाञ्छा करते हैं, मेरेको खूब पुण्यबंध हो और मैं देव बनूं, राजा महाराजा बनूं इस तरह की इच्छा करते हैं, मगर देव और राजा महाराजा बनकर आत्माको मिलेगा क्या ? देव बन गया तो देवांगनाओंमें रमण करेगा। यहाँ वहाँ खूब खेल तमासे करना अथवा दूसरोंकी ऋद्धिको देखकर जलते भुनते रहना, यों निरन्तर वे भी दुःखी हैं और राजा महाराजा भी दुःखी हैं। अभी यहाँके बड़े बड़े मिनिष्टरों की हालत देख लो—वे एक रात भी चैन से सो नहीं सकते। मान लो थोड़ा धन वैभव इज्जत प्रतिष्ठा विशेष मिल गई, उसमें बड़ा मौज माना तो उसका तो फल है संसारमें परिभ्रमण। और धर्म से क्या है ? ऐसा परिणाम कि जहाँ यह आत्मा अपने ज्ञानस्वरूप में मग्न है, किसी द्रव्यका मोह है नहीं, न किसी बात का क्षोभ है, न आकुलता है, न रागद्वेष है, न किसी के प्रति ममता है, इन विकारोंसे रहित जो आत्माका ज्ञान परिणाम है उसे कहते हैं धर्म। तो यह धर्म। तो यह धर्म सर्वश्रेष्ठ है। जीवपर यह एक बड़ी विपत्ति छायी है कि इसने पर पदार्थोंको अपना माना है और उसके पीछे दुःखी होता है। अपना माननेसे कोई अपना हो जाता है क्या ? अरे जब यह देह भी अपना नहीं है, यह भी छूटेगा, तब फिर अन्य पदार्थोंकी तो बात ही क्या ?

(२४०) **आपत्तिसे हटकर निरापद अन्तस्तत्त्वमें आनेका अनुरोध**—बाह्य पदार्थोंमें राग-द्वेष ममता होना और बाह्य पदार्थोंमें सुधार बिगाड़ करनेका हर्ष विषाद मानना यह इस जीवपर बड़ी भारी विपदा है। लेना देना किसी पदार्थसे कुछ नहीं किसी पदार्थका एक भी अंश इस आत्मामें आता नहीं, वस्तु का स्वरूप ही ऐसा है कि सब अपने अपने गुणों से सत् हैं तो कोई मेरा कैसे हो सकता ? गृहस्थीमें है कोई तो उसकी परिस्थिति है ऐसी कि वह घरमें रहता है, घरके बाल बच्चोंका पालन पोषण करता है, उनसे प्रेम व्यवहार भी करता है, लेकिन अज्ञान न रखकर यदि प्रेम पूर्वक व्यवहार बनाये रहे तब तो ठीक है, आखिर घरमें रहकर गुजारा इसी तरहसे चलेगा। घरमें रहकर कहना यही पड़ता है कि धन मेरा, बाल बच्चे मेरे, अमुक मेरे, पर चित्तमें यह बात दृढ़ता

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

पूर्वक बैठ जाना चाहिए कि ये मेरे वास्तवमें हैं कुछ नहीं, परिस्थितिवश मेरे तेरेका व्यवहार करना पड़ता है। इस प्रकारकी यदि दृष्टि रहेगी तो समझो कि वह धर्ममार्गमें है। हम आप सबका कर्तव्य है कि धर्मका पालन करना अपना मुख्य कर्तव्य समझें। चाहे कुछ भी हो, पर धर्मकी दृष्टि न मिटे। मेरा धर्म है मेरा ज्ञानस्वरूप। मैं अपनेमें यह परख बनाये रहूं कि मैं अपने स्वरूपमात्र हूं, मेरे स्वरूपसे बाहर मेरा कुछ नहीं। जो कुछ सर्वस्व है सो मेरे स्वरूपमें है, ऐसा दृढ़ निश्चय बनायें और अपने आपमें रमनेमें संतोष पायें, यह कला चाहिए जीवको। अब लोकके जीव, मनुष्य ही देख लो, आत्माकी बात में कितने लोग लगे हैं। वास्तविक धर्मपालनमें कितने लोगों को रुचि है और बाह्य पदार्थोंके मनोविनोद में कितने लोग रहे हैं सो तो विचारो। धर्मके काममें तो थोड़ेसे लोग लगे हैं, बाकी सभी लोग बाहरी बाहरी कामोंमें जुटे हैं, ये बाहरी काम सारभूत होंगे ऐसा विश्वास न बनायें। अपना सारभूत काम तो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र है। मोक्ष जाने वाले कितने होते हैं? अत्यन्त बिरले। अनन्तानन्त जीवोंके सामने शून्य बराबर। तो धर्म की रुचि करने वाले भी विरले ही होंगे, क्योंकि धर्मरुचि करनेका फल है मोक्षका लाभ। तो एक अपने को ही सोचना चाहिए कि मेरी परसे अज्ञान विपति हटे और सहज ज्ञानस्वरूपमें उपयोग रमे, यह ध्यान में लेना चाहिए।

(२४१) **धर्मसहित होनेमें आत्माका उद्धार**—इस गाथामें धर्मका स्वरूप बताया है। मोह क्षोभसे रहित जो परिणाम है वह है धर्म। इस गाथा में पुण्य और धर्म दोनोंका स्वरूप कहा है, तो एक बात और विशेष समझना कि कोई धर्म से रहित होकर पुण्य कार्य करता है तो उसके विशिष्ट पुण्य न बंधेगा और कोई धर्मसे सहित हुआ शुभ भाव में आता है तो उसके विशिष्ट पुण्य बंधेगा। ऊंचा पुण्य उसीके बंधता है जो धर्म-सहित हो। अब यहां पूछते हैं कि यदि कोई जीव मोक्षको तो जा नहीं रहा तो सम्यक्त्वपूर्वक दान पूजा आदिक विशिष्ट पुण्यको कोई करता है तो वह गृहस्थ स्वर्गमें जाता है और परम्परया वह मुनिव्रत धारण कर के मोक्ष पा लेता है। आत्माका जो सत्य स्वरूप है ज्ञानस्वरूप, उस ज्ञानस्वरूपमें जिसकी दृष्टि है, फिर अगर पूजा आदिक कार्योंमें, दया दान आदिकमें लगता है तो मोक्ष न जायगा तो उसको स्वर्ग तो मिलेगा। सम्यग्दृष्टि मनुष्य देव होकर वहांसे चलकर मुनिलिङ्ग धारण करके मोक्ष भी जल्दी पा सकता है। यह धर्मका प्रभाव बताया गया। धर्मरहित पुरुषका पुण्य भी भला नहीं कर सकता। धर्मरहित होकर सब स्थितियोंमें भला है। इस प्रकार पुण्य और धर्मका स्वरूप कहकर अब कर्मके क्षयका कारण क्या है और क्या नहीं है, इसका निर्णय देते हैं।

Version 1

सद्दहदि य पत्तेदि य रोचेदि य तह पुणो वी फासेदि ।
पुण्णं भोयणिमित्तं ण हु सो कम्मक्खयणिमित्तं ॥८४॥

(२४२) **अज्ञानियोंके कल्पितधर्मकी चेष्टाकी भोगप्रयोजकता**—जो अज्ञानी जीव हैं, अभव्य हैं वे कुछ कुछ धर्म में तो लगते हैं और पुण्य के कार्य भी करते हैं, मगर भोगके लिए पुण्य कर रहे हैं, उनका यह कर्तव्य कर्म के क्षयका कारण नहीं बनता । जैसे अनेक मनुष्य अब भी दिखते हैं कि जो पूजा दान यज्ञ विधि आदिक सब कार्योंमें खूब लग रहे हैं, ऐसा लगता है देखने वाले लोगोंको कि ये खूब धर्मात्मा हैं, मगर उनके भीतरका आशय कौन जाने । उन्हें यह आशय प्रिय हो जाया करता है कि मैं ठीक रहूं, मेरा कुटुम्ब ठीक रहे, मेरी बढ़वारी हो, मैं समाजमें मुख्य माना जा रहा हूं, ऐसे ही धर्मके कार्य करनेमें मेरी महिमा बढ़ेगी तो ये सब जो आशय हैं ये भी भोगके निमित्त हैं । उनका जो किया हुआ कर्तव्य है, धर्म है वह कर्मके क्षयका कारण नहीं बन सकता । मोक्ष और संसारका सुख ये दोनों परस्पर विरुद्ध बातें हैं, या तो संसार मार्गमें रुले जीव या मोक्षमार्गमें लगे । संसार के सुखकी भी इच्छा करते रहे और थोड़ा थोड़ा मोक्षका भी काम बनता रहे, ऐसा नहीं होता । निश्चय एक करें कि हमको संसारके सुख ही पाना है या अपने आत्माकी शान्ति पाना है ? अगर आत्मामें शान्ति पाना है तो इसके लिए बाहर दृष्टि रखनेकी जरूरत है नहीं । जिसका सच्चा निर्णय बन गया अपने आत्मा में लगनेका उसको संकट हो ही नहीं सकता है । दुनियामें कुछ भी होता रहे, उसके चित्तमें आकुलता नहीं हो सकती ।

(२४३) **मोक्षकी गप्पमें अलाभ**—जो मोक्षको ऊपरी चाहने वाले जीव हैं याने मोक्ष नाम सुन रखा और कुछ मनमें वाञ्छा भी है कि मेरेको मोक्ष मिले, पर मोक्षका स्वरूप क्या है ? यह जिसकी दृष्टिमें नहीं है, ऐसे पुरुषकी चर्चा कर रहे हैं । जैसे एक घटना लो मानो कोई आदमी रोज रोज मंदिरमें भगवानकी मूर्ति के समक्ष कहे कि मुझे तो मोक्ष चाहिए और कुछ न चाहिए, तो मानो देव आये और बोले कि हे भक्त चलो हमारे साथ हम तुम्हें मोक्षमें ले जानेके लिए आये हैं, तो वह भक्त पूछता है कि भाई क्या क्या है मोक्षमें ? तो वह देव कहता है, कि मोक्ष में अनन्तज्ञान अनन्त आनन्द है । तो वह भक्त कहता—क्या मोक्ष में रहने को मकान भी है ? ...नहीं..., क्या खाने पीने ऐश आरामके अच्छे साधन भी हैं ?...नहीं । ...तो फिर हमें ऐसा मोक्ष न चाहिए । तो मोक्षकी बात करते तो सब हैं पर मोक्षका स्वरूप क्या है वह समझकर अगर मोक्षकी

Report any errors at vikasnd@gmail.com

https://www.jainkosh.org

चाह करे तो उसको मोक्षमार्ग मिलेगा।

(२४४) **मोक्ष व मोक्षमार्ग**—मोक्षमें होता क्या है? खालिस आत्मा, ज्ञानज्योति, यह ही मात्र शुद्ध है, जिससे किसीका सम्बन्ध नहीं। वह अकेला आत्मा रह गया, उसे कहते हैं सिद्ध भगवान। तो ऐसा मोक्ष मिलनेका तरीका यह ही है कि अब भी अपने स्वरूपमें अकेला देखो। इस दिखने वाली दुनियामें भी मैं अकेला ही हूं, इस कुटुम्ब परिवारमें रहते हुए भी मैं अकेला हूं। धर्मात्मावोंके संगमें मुनिसंगमें रहते हुए भी मैं अकेला ही हूं और इस देहके बीचमें रहते हुए भी मैं अकेला ही हूं। देह पर है, कर्म जुदे हैं और कर्मके उदयसे होने वाले रागद्वेषादिक भाव जुदे हैं। मैं एक ज्ञानस्वरूप मात्र हूं, ऐसा अभी भी देखें तो उसका वह ध्यान बनता है कि जिसे मोक्षमार्ग कहते हैं। सो मोक्षका स्वरूप समझकर आगे चलें। आत्माका विशुद्ध स्वरूप जानकर आत्मामें आवो तो वह है धर्मपालनकी विधि, लेकिन कोई पुरुष पुण्यको ही मोक्षका कारण माने कि ऐसे ऐसे काम मन्दिरमें कर लें तो मोक्ष मिलेगा, तो मात्र पुण्यको ही मोक्षका कारण मानता और उसकी ही श्रद्धा करता और उसकी ही समझके अनुसार अपना अभिप्राय बनाता, उसीको ही मोक्षका कारण मानता और उसीको ही अंगीकार करता, लेकिन यह स्पष्ट है कि ये जो बाहरी भक्ति, दान, पूजा, तप, व्रत आदिक परिणतियां है सो ये पुण्य रूप तो हैं, क्योंकि हिंसा, झूठ, चोरी आदिक पापोंसे विलक्षण हैं, सो ये तो भोग के ही कारण हैं। स्वर्ग पा लिया, कुछ मौज भोग लिया, मगर ये मोक्षके कारण नहीं हैं। हां यदि सम्यक्त्वसहित है वह पुरुष तो उसे देव भवके पानेके बाद मनुष्य होकर मुनिव्रत धारण कर मोक्ष हो सकता है। साक्षात् तो ध्यान पूर्वक जो आत्मचर्या है वह मोक्षका कारण है। मोक्षका निमित्त पुण्य नहीं है। पुण्य होता है मगर ज्ञानी पुण्यकी रुचि करके पुण्य नहीं करता। उसकी भावना यही रहती है कि हे देव मैं आपका सेवक बनकर भव भवमें तुम्हारी आराधना करता रहूं। ऐसा बोलता है भक्त मगर ज्ञानीकी यह इच्छा नहीं होती कि मैं प्रभुका सेवक बनकर रहूं। कहना तो पड़ता है भक्तमें मगर श्रद्धामें यह है कि मैं आत्मा विशुद्ध निर्मल शुद्ध होऊं।

अप्पा अप्पम्मि रओ रायादिसु सयलदोसपरिचत्तो।
संसारतरणहेदु धम्मोत्ति जिणेहि णिद्दिट्ठं ॥८५॥

(२४५) **आत्माकी धर्मरूपता**—ऊपर की गाथामें बताया कि भोगनिमित्त कोई पुण्य कार्य करे तो वह मुक्तिका कारण नहीं बनता, तो एक जिज्ञासा होती कि वह कौन सा भाव है जो मुक्तिका कारण नहीं हो सकता। इस गाथा में बतला रहे हैं कि आत्मा

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

में लग्न होकर, रागादिक दोषोंसे रहित होकर यह आत्मा ही स्वयं साक्षात् धर्म है, जो संसार सागरसे पार होगा। आत्मा स्वयं धर्म स्वरूप है। धर्म क्या ? सत्य ज्ञानदृष्टिका रहना। जो आत्माका स्वरूप है वही रहे, ऐसी अवस्था को धर्म कहते हैं। सो जो आत्मा आत्मामें लीन है वह ही धर्मात्मक है।

(२४६) **मायामय दृश्योंकी असारता**—इस संसारमें जितने मायामयी दृश्य हैं वे लुभा लुभाकर इस जीवको कष्ट देने वाले हैं और भविष्यमें दुःखी करने वाले हैं। जब सभी लोग प्रायः इस मायामें लगे हैं तो उनको देख देखकर सभीका मन प्राय बदल जाता है, किन्तु जिनको सम्यक्त्व है और आत्मकल्याणकी तीव्र वाञ्छा हैं उनका एक ही निर्णय है कि मुझे मायाका क्या करना ? सब बाह्य हैं, छूटने वाले हैं, जब मिले हैं तब भी छूटे हुए ही हैं। आत्मामें किसका प्रवेश है ? तो जो ज्ञानी पुरुष है वह अपने श्रद्धान से नहीं फिसलता है और जिसकी धर्ममें रुचि है उसका इतना पुण्य तो है ही कि उसे कोई सांसारिक बड़े कष्ट नहीं होते, जैसे खाने पीने पहिनने ओढ़ने आदिकके कष्ट, आखिर उसके इतना पुण्य तो है ही। वह विधि तो उसे मिलती, पर उससे वह चाहता कुछ नहीं है। तो यह है धर्म। आत्मा आत्मामें लीन हो और रागादिक दोषोंसे हट जाय। देखिये—यह बड़ी शूरताकी बात है—भोग भोगना आसान है पर भोग तजना शूरोंका काम है। अनादिसे ऐसी ही वासना लगी आयी कि भोग भोगनेकी और उनकी सहज सी बात बन रही है। मगर जब ज्ञानके लिए बढ़ते आत्मकल्याणकी भावना बनती तब ध्यान आता है कि मुझे इन बाहरी भोगोपभोगोंसे क्या प्रयोजन ? वह रागद्वेषसे दूर होता है। वह आत्मा स्वयं धर्म है और संसारसे तिरानेका कारणभूत है।

(२४७) **आत्माका ऊर्ध्वगमनस्वभाव और निरन्तर ज्ञानमयपना**—यह आत्मा शब्द बना है मत धातुसे जिसका गमन होना भी अर्थ है। तो जो स्वभावसे ऊर्द्धगमन करे वह आत्मा है, एक अर्थ यह लगावें। जैसे किसी तूमड़ीमें राख भर दी जाय और उसे पानी में डाल दिया जाय तो वह नीचे बैठ जायगी और घुल घुलकर जैसे राख सारी निकल जाय तो उसका स्वभाव है कि वह ऊपर ही तैरायेगी। यदि ऐसी ही कर्मकी धूल जब आत्माके साथ चिपकी है तो रागद्वेष आदिकके वश होकर वह संसारमें डूबा है, रुल रहा है और जब ज्ञान रूपी जलसे उस कर्म धूलको धो डाले कोई तो कर्मभारसे रहित होकर यह आत्मा ऊपर ही जाता है। यह बात जरूर है कि यह आत्मा ऊपर जाता ही नहीं रहता है जहां तक लोक है वहां तक जाता है, तो ऊर्ध्वगमन स्वभाव होनेसे जो ऊर्द्ध ही गमन करे वह आत्मा है। गति क्रिया दो द्रव्योंमें होती है—(१) परमाणुमें और (२)

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

आत्मामें। परमाणु भी शुद्ध हो जाय याने स्कंधसे हट जाय, एक रह जाय, गति उसमें भी हो सकती, पर उसका कुछ भी नियम नहीं है। गति भी हो, नीचे भी जाय, तिरछा भी जाय, ऊपर भी जाय मगर आत्मा है ऐसा ही जो भारसे रहित हो जाय और अकेला स्व ही रह जाय तो इसके ऊर्ध्वगमनका ही स्वभाव है अथवा अत धातुका अर्थ ज्ञान भी होता है जिससे यह अर्थ निकला कि जो निरन्तर जाने सो आत्मा है। आत्माका स्वरूप ही ज्ञान है सो वह सदा निरन्तर जानता ही रहता है। शुद्ध हो तो शुद्ध जाने, अशुद्ध हो तो रागद्वेषकी लपेटके साथ जानेगा। तो इस आत्माको इसही के स्वरूपमें देखे तो वह सुद्ध शेद्ध एक स्वभाव है। वह रागादिकरहित है, सो जो आत्मा अपने इस सहज स्वभावमें लीन होता है वह संसार सागरसे तिरता है। उसके रागद्वेषादिक सब दूर हो जाते हैं। तो संसार सागरसे तिर जाय ऐसा यह आमा साक्षात् धर्म रूप है।

अह पुण अप्पा णिच्छदि पुण्णाइं करेदि णिरवसेसाइं।
तह वि ण पावदि सिद्धि संसारत्थो पुणो भणिदो ॥८६॥

(२४८) आत्मस्वरूपका तिरस्कार ही संसार परिभ्रमणका कारण—जो आत्म-स्वरूपसे अनभिज्ञ है वह समस्त पुण्यको करता हुआ भी सिद्धिको नहीं पाता। संसार भ्रमण ही करता है। पं० दौलत रामजी कहते हैं कि "मैं भ्रम्यो अपनको बिसरि आप। अपनाए विधिफल पुण्य पाप।" मैं अपने आपको भूलकर पुण्य पापको अपनाता फिरा। मैं क्या हूं, इसका कुछ ज्ञान नहीं किया। किन्तु जो पुण्य और पाक का उदय है उसको ही अपनाया। यह शरीर धन वैभव आदि पुण्य और पापका फल है। इसके कारण ही पुण्य और पाप हुआ करते, इसके कारण ही संक्लेश होते, इसके कारण ही आर्त और और रौद्र ध्यान होते। इनसे ही हर्ष विषाद होते। कदाचित् पुण्योदयमें कभी स्वर्ग भी मिले तो वहां भी ऊंचे देवोंके वाहन हाथी घोड़ा आदि बनना पड़ता और चय करके एकेन्द्रि आदिमें जन्म लेकर अनन्द संसारका पात्र होता यह सब आत्मस्वरूपको बिसा-रनेका फल है। इस अपनेको छोड़कर बाकी जो भी संयोग सबन्ध सब पुण्य पापका ही फल है। आत्मस्वभावके परिचय बिना कितने ही विधान करो पुण्यका आचरण करो संसार भ्रमण ही होगा।

एएण कारणेण य तं अप्पा सद्दहेण तिविहेण।
जेण य लहेह मोक्खं तं जाणिज्जइ पयत्तेण ॥८७॥

(२४९) शान्तिकी अभिलाषा होकर भी शान्ति न मिलनेका कारण—जगतके सभी जीव शान्ति चाहते हैं और शान्तिके लिए ही सारा प्रयत्न करते हैं। दिन भर, रात भर

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

न जाने क्या क्या करते, कितना परिश्रम करते हैं, क्या क्या व्यवहार करते हैं तिसपर भी सब अपने अपने हृदयसे पूछें कि शान्ति मिली अथवा नहीं मिली ? तो सबका हृदय कह उठेगा कि सत्य शान्ति नहीं मिली। झूठकी मौज तो मिल जाती है पर वास्तविक शान्ति नहीं मिलती। क्या कारण है ? कारण यह है कि शान्ति कहते किसे हैं पहले इस ही को तो समझें। जहां रंच भी आकुलता न हो उसे कहते हैं शान्ति, और परके जितने प्रसंग मिलेंगे, परपदार्थों का जितना संग समागम रहेगा वह नियमसे आकुलताका कारण है। आकुलता का तो कारण है और फिर भी प्रसंग मिलाया जाता है इसका कारण क्या है ? जब दूसरे लोगोंके सम्बन्ध से, चेतन अचेतन पदार्थोंके सम्बन्धसे आकुलता ही रहती है और फिर भी इनका सम्बन्ध जुटाते हैं उसका कारण क्या है ? उसके कारण होते हैं दो। एक तो होता है अज्ञान। पता ही नहीं है कि सच्ची बात क्या है ? दूसरा यह कारण है कि यदि ज्ञान भी हो तो भी इतनी दृढ़ता नहीं है कि समागम छोड़ कर रह सके, इसलिए भी घरमें रहना होता है, पर एक बात है सबके लिए, चाहे मुनि हो चाहे गृहस्थ हो, परपदार्थोंमें जिसने अपनायतकी बुद्धि की कि यह मेरा है उसको नियमसे आकुलता होगी। तब क्या करना ? तुम अपना स्वरूप सही समझ लो कि मैं आत्मा क्या हूं ?

(२५०) **आत्मज्ञानमें शान्ति**—जरा ध्यान देकर सुनो—आपके घरकी, निजकी बात कही जा रही है, सोचिये—मैं आत्मा क्या हूं ? कोई जानने वाला पदार्थ, ध्यानमें आ रहा ना ? मैं आत्मा कोई जानने वाला पदार्थ हूं, ज्ञानस्वरूप हूं, देह मैं नहीं हूं, शरीर मैं होता तो शरीरके मिटते ही मैं भी मिटता ? यह मैं आत्मा कहांसे आ गया ? शरीरसे पहले भी तो मैं था तब तो इस शरीरमें हूं। तो जो मैं हूं इसका शरीरसे संबंध नहीं। शरीर मेरा नहीं, धन वैभव मेरा नहीं, कुटुम्बीजन मेरे नहीं। मेरा तो है एक ज्ञानस्वरूप, उसकी दृष्टि नहीं, सो बाहरमें ममता करते हैं इसलिए आकुलता होती है। आकुलताका कारण है ममता और शान्तिका कारण है अपने आत्माका सही स्वरूप समझें और यहां ही रम करके तुष्ट रहें। भिन्न पदार्थोंके प्रेममें संतोष मत करें। सम्बंध है, बोलना पड़ता है, बोलें, प्रेमसे रहें, मगर सत्य समझिये कि मेरा तो ज्ञानस्वरूप ही मेरा सर्वस्व है। मेरा शरण और कुछ भी नहीं है, यह दृष्टि जगे तो शान्ति मिल सकती है।

(२५१) **तृष्णा में अशान्ति**—भैया ! तृष्णामें तो अशांति है। एक आदमीको सोते हुए में आ गया स्वप्न। क्या स्वप्न में देखा कि मुझको राजाने प्रसन्न होकर १०० गायें

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

इनाममें दी हैं। गायें ले आया, घरमें यथा स्थान बाँध लिया। अब दूसरे दिन कुछ गाय खरीदने वाले लोग आये। (भैया, यह बात स्वप्नकी कह रहे, सचकी नहीं है। वह सोते हुएमें ऐसा स्वप्न देख रहा था) सो ग्राहकोंने कहा कि भाई गायें बेचोगे ? हां हां बेचेंगे, कितनी गायें चाहिएं ? दस चाहिए, कितने कितने रुपयेमें दोगे ? सौ सौ रुपये में··· अजी ७०—७० रु० में नहीं दोगे ? ···नहीं ७०—७० में नहीं देंगे, ९०—९० में दे देंगे। ···९०—९० में नही लेते, यदि ७५—७५ की दे दो तो ले लें। ···७५—७५ की नहीं देंगे। फिर कितनेमें दोगे ? बस ९०—९० की ही देंगे। ···नहीं लेंगे, ऐसा कहकर वे चल दिए। तो इतनेमें वह जोर-जोरसे आवाज देने लगा अच्छा भाई लौट आवो, ७०—७० की ही ले लो। इसी प्रसंगमें उस पुरुष की नींद खुल गई, स्वप्न भंग हो गया। देखा तो वहाँ कुछ भी न था, सो वह अपनी आँखे मींचकर उसी प्रकारका स्वप्न वाला कल्पित सुख देखना चाहता था, पर वहाँ वह कहाँ धरा था। वह तो सब स्वप्न की बात थी। तो ऐसे ही यह सब स्वप्न जैसी बात समझिये। मोहके नींदमें सोये हुए अज्ञानी प्राणी बाहरमें दिखने वाली सारी बातें सच समझ रहे—यह मेरा है, अच्छा है, अच्छा है, बहुत ठीक है, बड़ा मौज है, और है कुछ नहीं, लगार रंच भी नहीं, क्योंकि ऐसा नियम है कि प्रत्येक परमाणु प्रत्येक जीव भिन्न-भिन्न सत्तामें हैं, एकका दूसरा कुछ नहीं लगता। जैसे ये दो अगुली हैं तो ये दो ही हैं, एक की दूसरी कुछ नहीं, पर वस्तुके स्वरूपकी श्रद्धा नहीं सो मान लेते हैं कि यह उसकी है। उससे आकुलता होती है।

(२५२) **धर्माराधना बिना मानवजीवनकी व्यर्थता**—देखिये अपना किसी भी समय ध्यान तो करें कि यदि मैं अपना कल्याण न कर सकूं तो यह मनुष्यजीवन धिक्कार है। देखो आजकलके मनुष्य क्या कर रहे हैं ? भोजन करते हैं, अच्छा नींद लेते हैं, डर भी मानते रहते हैं, कुशील पाप भी करते हैं, तो यह बतलावो कि ये बातें पशु कर सकते कि नहीं कर सकते ? भोजन भी पशु करते कि नहीं ? जैसे मनुष्यने भोजन किया। मनुष्य खायेगा जरा लड्डू पेड़ा और पशु खायेंगे हरी हरी घास, इतनेमे मनुष्यकी चतुराई है, घर लड्डू पेड़ा खाकर जो मौज मनुष्य मानते उससे भी अधिक मौज घास खाकर पशु मानते। आखिर मौज मिलने से मतलब है। नींद मनुष्य लेते, बल्कि मनुष्यकी नींद बढ़िया है। जरासी आहट मिली कि पशुकी नींद खुल जाती, बेसुध होकर पशु नींद नहीं लेते, गाय, बैल, भैंस, घोड़ा, कुत्ता आदिक पशुओंको देख लो। मनुष्य तो बेसुध होकर सोते हैं। तो नींद लेनेमें भी मनुष्योंसे पशु ठीक है। आहारके मामलेमें भी मनुष्योंसे ठीक हैं। पशुका पेट भर जाय तो चाहे बढ़िया बढ़िया चीज लावो तो भी

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

वे दृष्टि नहीं डालते और मनुष्योंको देख लो, चाहे अभी अभी खाकर निकले, खूब पेट भरा है, फिर भी कोई चाट पकौड़ी वाला दिख जाय तो कुछ न कुछ चाट पकौड़ी खानेकी जगह निकल ही आती है। भयकी भी बात देखिये पशु तो तब भय मानते जब कि उनके सामने कोई लाठी लेकर आये, पर मनुष्य तो बड़े बड़े गद्दों तकियोंमें पड़े पड़े भय मानते रहते हैं। कहीं चोर डाकुओंका भय, कहीं सरकारी कानून का भय, कहीं सरकारी कानून का भय, कहीं व्यापारमें हानि लाभका भय, कहीं इज्जतमें बट्टा लगने का भय। कुशीलके सम्बन्धमें भी देखो—कुशीलसेवनमें जितना मनुष्य बढ़े हुए है उतना पशु नहीं बढ़े। तो किस बातमें मनुष्य बड़ा है सो तो बताओ? मनुष्य उस बातसे बड़ा है जो बात मनुष्योंको आजकल सुहा नहीं रही। ज्ञानकी बात, धर्मकी बात कहाँ सुहाती? तत्त्वज्ञान सीखनेकी बात मनमें कहाँ आती?

(२५३) **सहजस्वरूपके सम्यक् दर्शनसे अपूर्व अवसरका लाभ लेनेका संदेश**—जैनधर्म में वह उपदेश है, कि जिसने सहजात्मस्वरूपकी परख की वह सारे संकटोंसे दूर हो जाता है। अच्छा, यहीं की बात निरख लो, अगर कुछ ज्ञान पहलेसे भी है तो, या अब कर लो, यदि यह जान जावो कि मैं आत्मा तो इस देहके अन्दर ज्ञान स्वरूप हूं, जितना मेरा स्वरूप है उतना ही मात्र हूं मैं, उससे बाहर मेरा कहीं कुछ नहीं है, सत्य बात है यह, और मैं अपनेमें ही कुछ कर पाता हूं। किसीमें मैं कुछ कर नहीं सकता। तो मैं ज्ञानमात्र हूं। अपने स्वरूपमें ही अपना ही करने भोगने वाला हूं। मेरी दुनिया यही है जितना मैं हूं, इससे बाहर मेरा कुछ नहीं, इसलिए मुझे परका कुछ ख्याल नहीं करना, शान्तचित्त होकर आराम से बैठना, विकल्प तोड़ना फिर अपने आप जैसा आनन्द मिलना है सो वहाँ मिलता है। यही तथ्य जैन शासनने स्याद्वादके ढंगसे, निश्चय व्यवहारके प्रयोगसे भली भाँति बतलाया है। सो आज तो तत्त्वज्ञानमें नहीं बढ़ रहे हैं तो उनका ऐसा समझिये कि जैसे हमारे पुरुष आचार्यजन बड़े बड़े रत्न भर गए हैं ज्ञानके कि हम लोग उससे लाभ लें और हम ऐसे कुपूत निकले कि उनका लाभ नहीं लेना चाहते, और न ले सके, न मन आया तो यह बतलाओ कि इस जीवन के बाद होगा क्या? मरण तो सबका ही निश्चित है और मरकर जायेंगे कहाँ? जैसा कि भाव बनाया उसके अनुसार गति मिलेगी। तो यह मानव जीवन एक बेकार सा हो जायगा। ऐसे तो अनन्त भव पाये, उन अनन्त भवोंमें एक इस भव की भी गिनती बढ़ गई, इस भवके पानेका लाभ क्या मिला?

(२५४) **मुक्तिमार्गमें प्रगति करनेसे ही आत्मलाभ**—यह मानवभव तो एक ऐसा

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainelibrary.org

मौका है कि चाहें तो संसारके संकटोंसे छुट्टी पा लें या फिर संसार में रुलते रहें। दो में से कोई मार्ग तो चुनो। संसारमें रुलते रहना ही पसंद है या जैसे प्रभु मोक्ष गए उस तरहके मार्गपर चलकर मुक्त होना पसंद है? अगर विषयोंकी ही प्रीति है तो यहांके दर्शनसे लाभ क्या? प्रभुके दर्शनसे तो यह लाभ लेना चाहिए कि हे प्रभो ये सर्व दृश्यपदार्थ माया हैं, नष्ट हो जाने वाले हैं। यह आकार नहीं रहनेका। इस मायामें लगाव रख करके मेरा उत्थान नहीं होनेका। जैसे आपने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र पाया वही विधि मुझको प्राप्त हो और मैं भी रत्नत्रय पाऊं, बस इस यत्नमें मेरे क्षण सफल हैं। तो ऐसा जो ज्ञानी जानता है वह इस कारणसे उस आत्माका मन, वचन, कायसे श्रद्धान रहता है और विपरीत अभिप्राय नहीं रहता। खोटा भाव नहीं रहता। जैसा जो तत्त्व है वैसा भाव होना यह है सम्यग्दर्शन। मेरा आत्मा तो शान्तस्वरूप है। ऐसा मैं अपने आत्मामें ही रहूं तो शान्त हो सकूंगा।

(२५५) **बाह्य तत्त्वमें लगाव रखनेका फल क्लेश**—भैया, बाहरी पदार्थोंका लगाव आकुलता है, सो बाहरी पदार्थोंका लगाव रहेगा तो दुःख मिलेगा। एक जंगलमें कोई गुरु, शिष्य रहते थे। वह शिष्य गुरुके पास बचपनसे ही रहने लगा था। उसकी आयु जब करीब २० वर्षकी थी तबकी एक घटना है कि उस शिष्यने गुरुसे कहा महाराज मुझे तीर्थबंदना करने जानेके लिए आज्ञा दे दीजिए। तो गुरुने कहा ठीक है बेटा, तीर्थबंदना सब कर आना, पर सबसे पहले तो उस ही तीर्थकी बन्दना करलो जो तीर्थ तुम्हारे अत्यन्त निकट है। तुम्हारा खुदका आत्मा ही तो तुम्हारा तीर्थ है। आखिर शिष्यने तीर्थ क्षेत्रोंकी बंदना करनेकी काफी हठ की तो गुरुने तीर्थबंदना करनेकी आज्ञा दे दी। अब वह शिष्य बंदनाको चला। जब वह पैदल चलता जा रहा था तो रास्तेमें उसे एक बारात दिखी। उस शिष्यने बारात तो कभी देखी न थी और न उसके सम्बध में उसे कुछ जानकारी थी, सो वह किसीसे पूछ बैठा कि भाई यह क्या चीज है? तो किसीने बताया कि यह बारात है।···बारात क्या चीज है?···अरे बारातमें एक दूल्हा होता है, उसकी बारात है।···सो दूल्हा क्या करता है?···अरे दूल्हा बारातमें जायगा, फिर उसकी शादी होती है।···शादीसे क्या मतलब?···अरे शादी करने से स्त्री मिलती फिर बच्चे होते, कुटुम्ब चलता। अब इतनी तो बात सुन ली उसने और वह आगे बढ़ता ही गया। चलते-चलते काफी थक गया था सो रास्तेमें ही एक कुवेंके फर्शपर लेट गया। उस कुवेंपर चौखटा न था। उसे थक जानेसे नींद आ गई। उस नींदमें उसे एक स्वप्न दिखाई दिया, क्या कि मेरी शादी हुई, स्त्री आयी, बच्चे हुए, फिर आगे स्वप्नमें

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

क्या देखा कि मेरी स्त्री मेरे पास लेटी हुई है। बीचमें बच्चे लेटे हैं। स्त्री बोली जरा सा सरक जावो, बच्चे भिचे जा रहे हैं। ठीक है थोड़ा सरक गया। यह सब स्वप्नकी बात कही जा रही है। तो स्वप्नकी बात पर वह सचमुच ही उस कुवेंपर कुछ सरक गया। फिर दुबारा स्त्रीने कहा जरा सा और सरक जावो, अभी बच्चे भिच रहे हैं। सो वह पुरुष कुछ और सरक गया। इस सरकनेमें वह कुवेंके अन्दर गिर पड़ा। उस कुवेंसे निकलना भी उसे बड़ा मुश्किल हो गया। कुछ ही देर बाद वहीं पासके किसी गाँव का जमींदार उस कुवेंसे पानी भरने आया, जब लोटा डोर कुवेंमें छोड़ा तो उस पुरुषने लोटा डोर पकड़ लिया और आवाज लगायी कि भाई हमें कुवें से निकाल लो, हम मनुष्य हैं, कोई भूत वगैरह न समझ लेना, डरना नहीं। हम इस कुवेंमें गिर गये हैं, हमें निकाल लो, बड़ी कृपा होगी। सो उस जमींदारने उसे कुवेंसे निकाल लिया। बड़ा आभार माना। आखिर वह जमींदार पूछ बैठा कि आप कौन हैं तो उसने कहा—हम तो बादमें बतायेंगे कि कौन हैं, पहले आप ही अपना परिचय दीजिए, क्योंकि आपने हमारा बड़ा उपकार किया। तो जमींदार बोला—अजी मेरा परिचय क्या पूछते, मैं इस गाँवका जमींदार हूं, बहुत बड़ा परिवार है, बड़ी लम्बी जायदाद है, खूब भरी पूरी गृहस्थी है। उस जमींदारकी शान भरी बातें वह पुरुष सुनता जा रहा था और बड़े आश्चर्य से उसका शरीर नीचेसे ऊपर तक बार बार देखता जा रहा था, सो वह जमींदार पूछ बैठा कि भाई तुम हमारे शरीरको बारबार नीचेसे ऊपर तक क्यों देखते? क्या तुम कोई डाक्टर हो? तो वह पुरुष बोला—भाई हम कोई डाक्टर नहीं हैं, हम इसलिए बार बार तुमको नीचेसे ऊपर तक देखते कि तुम इतनी बड़ी गृहस्थी बसाकर अब तक कैसे जिन्दा हो? हमने तो स्वप्न में एक बार गृहस्थी बसायी सो उसका यह फल हुआ कि कुवेंमें गिरे और तुम सच मुचकी इतनी बड़ी गृहस्थी बसाकर कैसे अभी तक जिन्दा हो इस बातका हमको बड़ा आश्चर्य हो रहा इसलिए हम तुम्हें आश्चर्यपूर्वक बार बार नीचेसे ऊपर तक देख रहे।

(२५६) **ज्ञानप्रकाशके प्रयासमें शान्तिमार्गका लाभ**—भैया! यहाँ ऐसा समझो कि जिन बाहरी चीजोंमें हम रम रहे हैं उनमें नियमसे खतरा है, पर एक परिस्थिति है ऐसी कि इन सब समागमोंके बीच रहना पड़ता है। ठीक है, परिस्थितिवश रहना पड़ता है सो रहो, पर भीतरमें ऐसी श्रद्धा रखो कि ये सब मेरे कुछ नहीं हैं। कुछ सोचो तो सही कि यदि अज्ञानमें रहकर सारा जीवन गुजार दिया तो फिर आगे क्या हाल होगा? इस लिए एक बात मनमें ठान लें कि मुझे तो अपना सहज प्रकाश पाकर रहना है अन्यथा

Reportanyerrors.trivikram@gmail.com

http://www.jainkosh.org

मनुष्य जीवन पानेसे फायदा क्या ? मेरेको तो मेरे आत्माका वह ज्ञानप्रकाश पाना है जो मुझे शान्ति दे। वह ज्ञानप्रकाश क्या है जिसे जैनशासनमें आचार्योंने बताया है। जो आचार्योंके ग्रन्थ हैं, उन ग्रन्थोंमें उन्होंने जो-जो बातें समझायी हैं उन्हें समझें तो जीवन सफल हो जायगा, नहीं तो जीवन कुछ नहीं है। सब कुछ यों ही व्यर्थ जायगा। तब सीखिये आत्मतत्त्वका ज्ञान।

(२५७) **अन्तरात्मत्वके उपायसे बहिरात्मत्वका व्यय व परमात्मत्वका विकास**—जितने भी जीव हैं लोकमें वे जीव प्रायोजनिक दृष्टिसे तीन प्रकारके मिलेंगे—(१) बहिरात्मा (२) अन्तरात्मा और (३) परमात्मा। बहिरात्मा मायने जो बाहरकी चीज को माने कि यह मैं हूं, ये मेरी हैं, उसका नाम है बहिरात्मा। अन्तरात्मा जो अन्दरके स्वरूपको माने कि यह मैं हूं वह अन्तरात्मा है और परमात्मा—जो सर्वज्ञ हुए, वीत-राग हुए वे कहलाते हैं परमात्मा। तो अब अपनी खोज करो कि इन तीनोंमें मैं किसमें हूं, बताओ—परमात्मा हो क्या ? नहीं तो फिर अन्तरात्मा हो क्या ? नहीं। तब फिर अपनेको अभी बहिरात्मा समझना चाहिए, क्योंकि परमात्मा तथा अन्तरात्मा अभी बन नहीं पाये। अभी तो बहिरात्मा बने बैठे हैं क्योंकि दृष्टि निरन्तर बाहरकी ओर ही लगी रहा करती है। इन बाहरी पदार्थोंको ही देखकर मानते कि यह मैं हूं, ये मेरी हैं…। तो बहिरात्मा हैं। बहिरात्मा रहना बुरा है। बहिरात्मा कहो, मूढ़ कहो, मोही कहो, संसारमें रुलने वाला कहो, सब एक बात है। इस बहिरात्मापनसे लाभ कुछ नही मिलना है। इस बहिरात्मापनको छोड़ो, अन्तरात्मा बनो। यदि सही सही तत्त्वका ज्ञान किया जाय तो अन्तरात्मा बन सकता है। जो अन्तरात्मा हुए वे ही आत्माका ध्यान कर करके मोक्षको प्राप्त हुए। तो वह तत्त्वज्ञान उत्पन्न करें जिससे कि मोक्ष मिलता है।

(२५८) **मोक्ष और मोक्षप्राप्तिका अन्तः उपाय**—मोक्ष मायने भी क्या सो विचारिये देखिये हम आप सब तीन चीजोंके पिंडोला हैं—(१) शरीर (२) कर्म और (३) जीव। खूब पहिचान लो, शरीर ही जीव है क्या ? यदि शरीर ही जीव है तो जैसे कहते हैं कि मर गए तो फिर मरनेके बाद इस शरीरको क्यों जलाते ? यदि शरीर ही जीव है तब तो उसे कष्ट होता होगा ? अरे मर गए तो वह जीव निकल गया। अब उस जीवको कष्ट नहीं है शरीरके जलानेसे। शरीर न्यारा जीव न्यारा और इस समय देख लो कि शरीर और जीव दोनों एक साथ रहे या नहीं। और शरीर मिला क्यों ? कर्मसे। तो कर्म भी संगमें हैं, तो तीन चीजोंके पिण्ड हैं हम आप—शरीर, कर्म और जीव। और भगवान किसे कहते हैं ? सिद्ध प्रभु किसे कहते हैं ? जो शरीर और कर्म इन दोसे अलग

https://sahjanandvarnishastra.org/

हो गया, खालिस अकेला आत्मा ही आत्मा रहा उसे कहते हैं सिद्ध भगवान। जब हम भगवानके दर्शनको आयें तो यह तो चित्तमें लायें कि भगवान नाम इसका है और जो भगवान है सो ही मेरा स्वरूप है। भले ही तीन चीजें मिल गईं, मान लो दूध, पानी और तेल मिल गये, मगर हैं तो वे न्यारी ही चीजें। तीनों मिलकर केवल स्वरूप तो नहीं बन गया। दूधमें पानी डाल दिया तो पानी क्यों अलग हो जाता ? दूध फिर अलग हो जाता मशीनसे या गर्म करके, तो वे दो थे इसलिए अलग हो गए। ऐसे ही यह तीन का पिण्ड है, मगर अपना आत्मा इन दो से निराला ही स्वरूप रखता है, उसको जानें कि यह मैं हूं, शरीरको मत मानें कि मैं हूं, इसीको कहते है अन्तरात्मा। तो आचार्य महाराज उपदेश करते हैं कि तुम उस आत्माकी श्रद्धा करो कि जिसकी श्रद्धासे मोक्ष प्राप्त होता है।

(२५९) **ज्ञानप्रकाशकी कलासे ही समस्त संकटोंका विनाश**—भैया, ऐसी कला अपनी बनायें ज्ञानकी कि जिससे कदाचित् कर्मविपाकवश संकट भी आयें तो भी हम शान्ति पा सकें। संकट आते हैं अज्ञानीके। अज्ञानी जीवोंकी बड़ी दुर्दशा होती है और ज्ञानी जन किसी चीजसे संकट ही नही मानते। मान लो धन कम रह गया तो क्या हो गया ? अरे वे थे बाहरी पदार्थ। पास रहे तो क्या, न रहे तो क्या ? किसीका वियोग हो गया तो वह जानता है कि वह तो पृथक् जीव था, जितना यहां रहना था रहा, अब यहांसे अन्यत्र कहीं चला गया। यों वह ज्ञानी पुरुष उससे कुछ कष्ट नहीं मानता। अज्ञानीको तो पद-पदपर कष्ट है और ज्ञानीको कहीं भी कष्ट नहीं। एक मियां बीवी थे। बीवी का नाम तो था फजीहत और मियांका नाम था बेवकूफ। उन दोनोंमें अक्सर करके लड़ाई हो जाया करती थी। एक दिन ऐसी तेज लड़ाई हो गई कि वह बीवी कहीं भग गई। अब वह मियां अपनी बीवीका चारों ओर पता लगाता फिरे, पर कहीं पता न चला। एक बार किसी अपरिचित व्यक्तिसे भी पूछ बैठा—भैया, क्या तुमने हमारी फजीहत देखी ? तो वह उसका कुछ मतलब ही न समझा, सो पूछ बैठा—भाई आपका नाम क्या है ?...मेरा नाम है बेवकूफ। ...अरे बेवकूफ होकर तुम कहां फजीहत ढूंढते ? बेवकूफको तो जगह-जगह फजीहत है। जहां ही कुछ अटपट बोल दिया, बस वहीं उसके लिए लात, जूते, चप्पल हाजिर हैं। तुम क्यों बेवकूफ होकर फजीहत ढूंढते फिरते हो ? तो ऐसे ही समझो कि मोही बनकर विपत्तिको कहीं बाहर नहीं ढूंढना पड़ता। मोहीके लिए विपत्ति सदैव हाजिर है। मोह स्वयं विपत्तिरूप है। जिसके अज्ञान है, मोह है वह विपत्तिमें पड़ा हुआ है। सो अपना सुधार करना है तो ज्ञानप्रकाशमें आइये, ज्ञानप्रकाश

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainelibrary.org

जैसे भी मिले उन सारे ढंगोंको अपनाइये।

मच्छो वि सालिसित्थो असुद्धभावो गओ महाणरयं।
इय णाउं अप्पाणं भावह जिणभाव णिच्चंणं ॥८८॥

(२६०) **अशुद्ध भावकी निन्दनीयात**—जीवमें जो अशुद्ध भाव होते हैं उनके कारण उसको दुर्गतिमें जन्म लेना पड़ता है। जीवका धन है भाव। और कुछ नहीं है जीवके पास। शुद्ध भाव करे तो इस जीवको शान्ति मिले, अशुद्ध भाव करे तो इस जीवको कष्ट हो। इस गाथामें बताया है कि अशुद्ध भावोंसे युक्त होकर सालीसिक्थ नामका मच्छ नरकमें गया। (उसकी गाथा पीछे कही जायेगी) सो यह जानकर निरंतर आत्मा की भावना करें मायने आत्मस्वरूपका चिन्तन करें। आत्मस्वरूपके चिन्तनमें ही सम्यक्त्व बनता है। पर्यायात्मबुद्धि में मिथ्यात्व है, मिथ्यात्वमूलक अशुद्धभाव दुर्गतिका कारण है। राघव मच्छ होता है एक बहुत बड़ा मच्छ, जो स्वयंभूरमण समुद्रमें है। जैसे जहां अपन लोग रहते हैं यह है जम्बूद्वीप, उसे घेरकर है लवण समुद्र, उसको घेरकर है दूसरा द्वीप। तो ऐसे द्वीप समुद्र घेर घेरकर अनगिनते हैं। जम्बूद्वीप है एक लाख योजन का, उससे दुगुना है समुद्र एक तरफ, उससे दूना है द्वीप। दूने दूने होते चले गए, और वे करोड़ों अरबोंसे भी अनगिनते ज्यादा हैं। तो जो आखिरी समुद्र है वह कितना बड़ा होगा सो तो विचारो। इस समुद्रमें कोई राघव मच्छ होता है जिसकी १००० योजनकी लम्बाई, ५०० योजनकी चौड़ाई और २५० योजनकी मोटाई है, इतना बड़ा मच्छ होता है, और उस ही के कानमें एक तंदुल मच्छ बहुत छोटा रहता है। सो राघव मच्छ अपना मुख बाये रहता है। उसके मुखमें सैकड़ों मछलियां आती जाती रहती हैं। यदि किसी समय वह अपना मुख बन्द करले तो वह एक बारमें सैकड़ों मछलियां खा सकता है। यह तो है राघव मच्छकी बात। अब उसके कानमें जो तंदुल मच्छ रहता हैं सो वह सोचता है। देखता है कंठकी तरफ जाकर कि यह मच्छ अपना मुख बाये रहता है, पर यह इन मछलियोंको नहीं खाता। इसकी जगह पर यदि मैं होता तो एक भी मछली को बचने न देता। ऐसा खोटा भाव रहता है तंदुल मच्छका जिसके कारण वह मरकर ७वें नरकमें जाता है।

(२६१) **तंदुल मत्स्यकी पूर्व वर्तमान व उत्तर भवकी कथा**—तंदुल मत्स्यकी पूर्व व उत्तर भवकी कथा इस तरह है कि बहुत पहले समयमें एक सौरसेन नामका राजा हो चुका है, वह श्रावक कुलमें पैदा हुआ था, पर बादमें मांसाहारी हो गया था। एक बार उसने किसी मुनिराजका दर्शन किया तो मुनिराज ने उपदेश दिया कि तू मांसका त्याग

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

कर दे। सो उसने मांसका त्याग कर दिया। अब त्याग तो कर दिया पर उसे कोई प्रधान ऐसा मिल गया कि जो मांसाहारी था, उसके प्रसंगमें आकर उसको भी मांस खानेकी लालसा बनी रहा करती थी। अब देखो नियम तो लिया था यह कि मैं जीवन पर्यंत मांस न खाऊंगा, सो खा तो न सकता था पर उसके मनमें मांस खानेका भाव निरन्तर बना रहता था। यहां तक कि उसने लुक छिपकर रसोइयासे छोटे छोटे जीवों का मांस भी बनवाया पर कुछ ऐसे योग मिलते गए कि संकोचके मारे वह खा न सका। अब देखो मांस खा न सका और भीतरमें प्रबल इच्छा बनी रही तो वह राजा मरकर तंदुल मत्स्य हुआ है। अब देखो जिसकी जैसी भावना होती है अगले भवमें उसकी वैसी ही बात बनती है। चूंकि पहले भवमें मांस तो खा नहीं पाया और मांस खानेकी भीतर में बहुत रुचि बनी रही तो वह मरकर तंदुल मत्स्य हुआ। वह तंदुल मत्स्य उस महा-मत्स्यके कानमें पैदा होता है और उस कानका मैल खा कर अपना सारा समय गुजारता है। जब वह तंदुल मत्स्य कुछ बड़ा हो गया, समर्थ हो गया, तो एक बार वह वहांसे कंठकी तरफ गया। वहां घूमते हुएमें उसने देखा कि यह राघव मच्छ इतना बड़ा मुख फैलाये है कि जिसमें सैकड़ों मछलियां लौट रही हैं, यह मच्छ इन्हें खाता नहीं है। यदि इस मच्छ की जगह मैं होता तो एक भी मछलीको बचने न देता, ऐसा भाव तंदुल मत्स्य बनाता है। तो ऐसे खोटे भावके कारण वह भी ७वें नरकमें पैदा हुआ और राघव मच्छ भी ७वें नरकमें पैदा हुआ दोनों नारकी बने? सो एक बार वह मिला। उन्हें खोटा अवधिज्ञान तो होता ही है तो बड़े मच्छने तंदुल मत्स्यसे मानो पूछा कि जरा यह तो बताओ कि हम तो अपना मुख बाये रहा करते थे जिसमें हजारों मछलियां लौटा करती थीं सो ७वें नरकमें पैदा हुए यह तो वाजिब है, पर तुम क्यों ७वें नरकमें पैदा हुए, क्योंकि तुम तो एक भी मच्छी नहीं खा सके? तो मानो उस मत्स्यने यही उत्तर दिया कि भाई बात यह है कि तुम तो यों ही मुख बाये पड़े रहे, तुमने अपना भाव मुझ जैसा नहीं बिगाड़ा, पर मेरा तो निरन्तर यही खोटा भाव रहा करता था कि यह मत्स्य यों ही मुख बाये पड़ा रहता है, इसके मुखमें सैकड़ों मच्छियां लौटती हैं फिर भी यह इन्हें नहीं खाता, यदि इसकी जगह मैं होता तो एक भी मच्छली बचने न देता। इस प्रकार मैं यह ७वें नरकमें आया।

(२६२) **अपध्यानके त्यागका उपदेश**—भैया, अब यह समझलो कि अशुद्ध भाव करने से नियमका अशुद्ध फल मिलेगा। भले ही आज कुछ पुण्यका उदय है और खोटे, भाव करने पर भी कोई तकलीफ नहीं हो रही है, मगर कर्मबंध तो हो ही रहा है। अब उस

Report any errors at vkashd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

कर्मका जब उदय आयगा तो नियमसे कष्ट भोगना पड़ेगा। इस कारण हे आत्मन्! तू अपने आत्माको निरख। कैसा है यह आत्मा? सबसे निराला है, ज्ञानस्वरूप है और सिद्ध भगवानके समान स्वरूप वाला है। जिन भगवानको हम पूजने आते हैं वह भगवान क्या हैं? शुद्ध आत्मा, सर्वज्ञ आत्मा, वीतराग आत्मा। तो वही स्वरूप हमारा है, वही स्वरूप तुम्हारा है। यहाँ शरीरमें बधे हैं इस वजहसे संसारमें रुलते हैं, जन्म मरण करते हैं, जब अपने आत्माको जान जायेंगे और उसी आत्मासे प्रेम रहेगा वहां ही संतोष करेंगे तो कर्मोंका क्षय होगा और सिद्ध भगवान बनेंगे। सो उस आत्मभावनाको निश्चय सम्यक्त्व कहते हैं और श्रद्धान रूप व्यवहारको व्यवहार सम्यक्त्व कहते हैं। सो अपध्यानको छोड़कर व्यवहार सम्यक्त्वके मार्गसे आगे बढ़कर निश्चय सम्यक्त्वको पावो। अपध्यान करना बुरा है। इस गाथामें मुख्यतया यह उपदेश किया है कि जो दूसरोंका बुरा विचारते हैं उनको नरकमे जाना पड़ता है। किसीका नाश हो जाय, किसीका कुछ बिगड़ जाय आदिक रूपसे जो बुरा करता है उसके पापकर्मका बंध होता है और दुर्गतिमें जन्म लेना पड़ता है। बताया है स्वामी समंतभद्राचार्यने कि जो द्वेषके वश होकर किसीका बध विचारता है, किसीका घात विचारता है, किसीका छेदन भेदन विचारता है, वह सब अपध्यान है। उस अपध्यानके कारण इस जीवको नरकमें जाना पड़ता है। इसलिए कभी किसीके प्रति खोटा विचार न करें। खोटा विचार करनेसे उस दूसरेका कुछ नहीं बिगड़ता, यदि उसके ही पापका उदय है तो बिगड़ेगा, मगर खोटा विचार कर लेनेसे खुदका जरूर बिगाड़ होता है। जो कर्म बंध जाते हैं वे अपने समयपर फल देते हैं। वैसे लौकिक दृष्टिसे भी देखो, अगर किसीका बुरा विचारनेसे वर्तमानमें कुछ लाभ होता हो तो बताओ। खोटा भाव बनानेके समय व बाद में भी बड़ा संक्लेश करना पड़ता है इस कारण अपध्यानको दूर करें।

(२६३) **अपध्यान छोड़कर पदस्थ ध्यानमें लगनेका संदेश**—यहां यह उपदेश किया है कि खोटा ध्यान तो छोड़ो और चार प्रकारका जो धर्मध्यान है उस धर्मध्यानमें आवो। पदस्थ धर्मध्यान याने मंत्रके सहारेसे मंत्रका अर्थ जानकर भगवानके स्वरूपका ध्यान बनावें। णमोकार मंत्र बोलते हैं सब पर उसके साथ जैसे अरहंतको नमस्कार कहा तो अरहंतका स्वरूप भी सामने आये कि ऐसे आकाशमें ५ हजार धनुष ऊपर गंधकुटीमें विराजमान हैं, जिनका शरीर धातु उपधातुके दोषसे रहित है, स्फटिक मणिकी तरह स्वच्छ पवित्र है और उसमें रहने वाले आत्मा सर्वज्ञ वीतराग हैं, रागद्वेषके दोषसे दूर हैं, वे अरहंत हैं और वैसा ही मेरा स्वरूप है, मेरा भी स्वभाव वही है जो भगवानका

Version 1

 http://sahjanandvarnishastra.org/

स्वरूप है, ऐसा ध्यान रखकर णमो अरहंताणं शब्दका मुखसे उच्चारण करें। लोग कहते हैं कि इस णमोकारमंत्रमें अद्भुत सामर्थ्य है, इस मंत्रके जापसे बड़े-बड़े संकट टल जाते हैं। तो जो भावसहित णमोकारमंत्रका स्मरण करता है उसके नियमसे समस्त संकट दूर हो जाते हैं, क्योंकि भावोंकी वहां निर्मलता है। आप णमो सिद्धाणं कहें तो ऐसा ध्यान करें कि लोकके अन्तमें सिद्ध भगवानका आत्मा बिराजा है। केवल आत्मा ही आत्मा है, शरीर और कर्म उसके दूर हो गए हैं, ऐसा शुद्ध आत्माका चिंतन करके फिर नमस्कार करें—णमो सिद्धाणं बोलकर णमो आयरियाणं जपते तो उस समय ऐसा ध्यान बनायें कि मानो किसी जंगलमें मुनियोंका संघ ठहरा है। उनके बीच आचार्य महाराज विराजे हैं बिल्कुल विरक्त, क्षमाशील और मुनिसंघका उपकार करने वाले, ऐसे आचार्यदेवको ध्यानमें रखकर बोलें—णमो आयरियाणं। णमो उवज्झायाणं बोलते समय क्या ध्यान करें कि अनेकों मुनिराज एक साथ बिराजे हैं, उनके बीचमें महान ज्ञाता उपाध्याय उनको पढ़ा रहे हैं, आत्मतत्त्वको समझा रहे हैं। ऐसी दृष्टिमें रखकर बोलें—णमो उवज्झायाणं। णमो लोए सव्वसाहूणं—इसमें साधुवोंको नमस्कार किया है, सो ऐसा ध्यानमें रखकर बोलें कि विशाल जंगल पर्वतमें कोई गुफामें बैठे ध्यान कर रहे हैं, कोई पर्वतपर विराजे ध्यान कर रहे हैं, कोई वृक्षके नीचे ध्यान कर रहे हैं, कोई नदी के तटपर ध्यान कर रहे हैं, केवल आत्मचिन्तन कर रहे अपनेको ज्ञानस्वरूप अनुभव कर रहे, अपनेमें ज्ञानानुभव कर रहे, अलौकिक आनन्द ले रहे, कर्मोंका क्षय हो रहा, सो अनेक प्रकारके तपश्चरण करने वाले साधुवोंको दृष्टिमें रखकर कहैं णमो लोए सव्व-साहूणं। अपध्यानको छोड़कर ऐसा शुद्ध ध्यान बनायें, यह उपदेश किया जा रहा है।

(२६४) **अपध्यानसे हटकर पिण्डस्थ ध्यानसे अभ्यस्त होकर रूपस्थ व रूपातीत ध्यान द्वारा शुद्ध ज्ञानमात्र अन्तस्तत्त्वका ध्यान करनेका अनुरोध**—कभी-कभी ऐसा ध्यान बनावें कि जैसे मैं इस पृथ्वीसे ऊपर आकाशमें बिराजा हूं। पहले तो एक कल्पनाका आधार चले, पर उस आधारसे विकल्प छूट कर जो आत्माका ध्यान बनता है उसमे आत्मानुभव होता है। सो एक आसनसे बिराजे ऐसा ध्यान बनावें कि मैं आकाशमें बैठा हूं। मानो एक मेरू-पर्वत हैं, उसके ऊपर बिराजे हों और नीचे सर्वत्र समुद्र ही समुद्र है और वहां अपना ध्यान बनावें अपने आत्मामें इस ज्ञानस्वरूपका। यह मैं ज्ञानस्वरूप आत्मा जो कि देह के आकारमें बना है। मेरे इस देहके भीतर मानो नाभिपर दो कमल हैं, एक नीचे व एक ऊपरसे औंधा। नीचेका कमल तो हुआ एक ज्ञानकमल और ऊपरका कमल हुआ कर्म जो उस ज्ञानको कर्म ढक रहे हैं। तो उस ज्ञानकमलके साथ कर्णिकापर बीचमें एक

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

अद्भुत चैतन्य तेजका ध्यान करें। मात्र ज्ञानस्वरूपका ध्यान रहे। इस ध्यानके प्रतापसे अग्नि बढ़ी और ऊपरका कमल भस्म हो गया और उसके साथ ही साथ देह भी भस्म हो गया और उसी समय एक शुद्ध सम्यक्त्वविहारकी तीव्र वायु चली, सारी भष्म उड़ गई, फिर ज्ञानानुभूति जलकी वर्षा हुई, सब मैल धुल गया खालिस आत्मा ही आत्मा रह गया और उसमें यह हूं मैं ज्ञानज्योति ऐसा ध्यान बना तो बाहरी पदार्थोंके ख्याल छूट गए और अपने आपमें लीन हो गए। सो इस आत्माका ध्यान बनावें और अपध्यानको छोड़ें, खोटी बातका चिन्तन न करें। रूपस्थ ध्यानसे सकलपरमात्माके अन्तस्तत्वका ज्ञानवृत्तिका व अविकारस्वरूपका ध्यान करें। रूपातीत ध्यानमें अविकार ज्ञानमात्र परम ब्रह्मस्वरूपका ज्ञान करें। ऐसे अंतस्तत्वका ध्यान करके अपने इस मानवजीवनको सफल करें।

बाहिरसंगच्चाओ गिरिसरिदरिकंदराइ आवासो।
सयलो णाणज्झयणो णिरत्थओ भावरहियाणं ॥८६॥

(२६५) सहज ज्ञानज्योतिकी उत्तमवैभवरूपता—सबसे बड़ा वैभव क्या है, जरा नाम ले लेकर और उसका सही-सही स्वरूप विचार विचारकर चिन्तन तो करें। सबसे बड़ा वैभव क्या यह मकान है? अरे यह तो अभी कुछ दिन पहले ही बना है और कुछ ही दिनोंमें मिट जायगा, मिट्टी पत्थरका है, जड़ है, यह मेरा वैभव नहीं। तो क्या कुटुम्ब परिवार ये जगतके जीव यत्र तत्र घूमने वाले वैभव हैं? अरे संयोग वश एक घर में आ गए, पर हैं ये सब अत्यन्त निराले जीव और उनके साथ उनके कर्म बंधे हैं और उन कर्मोंके उदयसे उनको सुख दुःख भोगना पड़ता है, मेरेको तो उनसे कुछ सम्बन्ध ही नहीं, न मैं उनका कुछ कर पाता न वे मेरा कुछ कर पाते, स्वतंत्र सत्ता वाले हैं वे मेरे वैभव नहीं। तो क्या मेरा वैभव यह शरीर है? शरीर भी मेरा वैभव नहीं, ये भी पुद्गल हैं, जड़ हैं, मैं आत्मा चेतन हूं। और फिर यह मलिन है, रूप, रस, गंध, स्पर्श का पिण्ड है, अनेक रोगोंका घर है। जितने लोग यहां दिख रहे उन सबके कोई न कोई रोग लगा है। किसीको महसूस नहीं होता और किसीको महसूस होता। आपत्तिका स्थान है यह शरीर, यह महा अपवित्र दुर्गन्धमय है, यह मेरी चीज नहीं है। तो फिर मेरा क्या है? मेरी ज्ञान ज्योति मेरा तत्त्व है। उस ज्ञान ज्योतिका विचार करें।

(२६६) ज्ञानस्वरूपमें ज्ञानको उतारे बिना व्रतादिककी विफलता—सहज ज्ञानज्योति जिसको नहीं मिली, अपने आत्माके स्वरूपका जिसको परिचय नहीं हुआ, ऐसे पुरुषकी बाहरकी धर्मकी बातें सब निरर्थक हैं। बाह्य पदार्थोंका त्याग कर दिया और उसके प्रति

Version 1

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri http://www.vedicharmonishastra.org/

खोटी भावनाकी वृत्ति छूटी नहीं तो उन बाह्य पदार्थोंका त्याग करना निरर्थक रहा। अभी तंदुल मत्स्यका उदाहरण था कि वह पहले था एक राजा, उसने मांसका तो त्याग कर दिया और शर्मके मारे खा सके नहीं तथा भीतरमें मांस खानेकी तीव्र रुचि थी उसकी, वह ही तो मरकर तंदुल मत्स्य हुआ, और तंदुल मत्स्यने भी यही कार्य किया, मरकर नरकमें गया। तो जो भावरहित पुरुष है वह कुछ भी वृत्ति कर ले और यहां तक कि बाह्य पदार्थोंका त्याग कर दिया तो भी उनका यह त्याग निरर्थक है। वे किसी गुफामें एकान्तमें रहें या नदीके किनारे रहें या किसी कंदरामें रहें, उनका ऐसा एकान्तमें रहना भी निरर्थक है, क्योंकि भावना तो गंदी है, कषाय रखनेकी है, विषय भोगनेकी है और अज्ञानी जीव जिनको आत्मस्वरूपका परिचय नहीं हुआ है वे यदि ज्ञान और अध्ययन का भी कार्य करें तो उतना ही तो कर पायेंगे कि शास्त्र खोला और बांच लिया, कुछ अर्थ भी समझ लिया, पर वह चित्तमें उतरे, यह बात वे नहीं कर सकते। तो फिर उनका यह ज्ञानध्यान भी सफल नहीं है, इस कारण जिस ज्ञान ज्योतिकी कृपासे व्रत तप आदि सफल होते हैं, आत्मामें निराकुलता जगती है उस सम्यक्त्व भावनाको भावो।

(२६७) शुद्ध अन्तस्तत्त्वके मनन बिना बाह्य संगत्याग आदिकी निरर्थकता—अपने आत्मा का ऐसा चिन्तन करो कि मैं सबसे निराला ज्ञानस्वरूप हूं, जो कुछ मैं करता हूं अपनेमें ही कर रहा हूं। अपनेसे बाहर कुछ कर ही नहीं सकता। ऐसे शुद्ध बुद्ध एक स्वभावसे तन्मय आत्माकी भावना जो नहीं करता है उनका बाह्य परिग्रहोंका त्याग करना निरर्थक है। भीतर लालसा बने तो वह त्याग किस कामका? बड़े-बड़े तप भी कर डालें तो भी शुद्ध भाव नहीं हैं। तो कर्म यह नहीं देखते कि ये पर्वतपर बैठे तपश्चरण कर रहें मैं इनसे न बंधूं। कर्मोंका निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध तो अपने आत्मभावके साथ है, सो अपने ही भावमें शुद्धि करें तो कर्मोंसे छूटें और उनसे लगाव रखें तो कर्मोंसे लिपटें। दरिद्र मनुष्य भी तो परिग्रहसे रहित हैं, उनके पास क्या है? टूटी फूटी झोंपड़ी है, मगर उनका कोई शुद्ध भाव है क्या? निरन्तर संक्लेश रहता है, तृष्णा बनी रहती है, ऐसे ही बाह्य परिग्रहका कोई त्याग कर दे तो ऐसे भी मनुष्य मिल सकते हैं जो नग्न हैं, वस्त्र त्याग दिया, घर त्याग दिया पर उससे फायदा क्या? फायदा तो तब है जब कि अन्तरंग परिग्रहका भी त्यागी हो। जो बाह्य आभ्यंतर दोनों प्रकारके परिग्रहोंका त्यागी है वह इस लोकमें बड़ा सुखी है। भीतरकी एक कील ही तो निकालना है। एक अपने स्वरूपका अलौकिक वैभव ही तो निरखना है कि यह मैं ज्ञानस्वभावमात्र हूं, तो ऐसे ज्ञानस्वभावकी भावना जिनके है उनके शुद्धता बढ़ती है और जो परके मोह लगावमें

Report any errors at vikasnd@gmail.com

https://www.jainkosha.org

ही रहते हैं उनकी दुर्गति होती है। बहुत मोटी बात यह सोचें कि छूट तो सब जाना है। जो छूटेगा नियमसे उससे मोह ममत्व क्यों करना ? मेरा ज्ञान मुझसे न छूटेगा। इसलिए अपने ज्ञानस्वभावमें ही प्रीति रखना। मैं यह हूं यह भावना ऐसी दृढ़ बने कि उसे यह भी ध्यानमें न रहे कि मैं अमुकचंद हूं, अमुक लाल हूं। दूसरा कोई पुकारे भी तो झट सुननेमें न आये और न बाहरकी ओर कोई आकर्षण हो। एक निज ज्ञान स्वरूपकी ही भावना निरन्तर चित्तमें रहे। तो हे कल्याणार्थी मुने, इसी तरहका पौरुष करो कि ज्ञानस्वरूप ज्ञानज्योतिर्मय सिद्ध स्वरूपके समान मेरा आत्मस्वभाव मेरे ज्ञानमें रहे। मैं इतना ही हूं और इसमें जो कुछ देखने जाननेका काम हो रहा वही मेरा वास्तविक कार्य है, ऐसा ध्यानमें लायें और मोह मिथ्यात्वको दूर करें, यही परमार्थ सिद्धिका उपाय कहलाता है।

भंजसु इंदियसेणं भंजसु मणमक्कडं पयत्तेण।
मा जणरंजणकरणं बाहिरवयवेस तं कुणसु ॥६०॥

(२६८) **इन्द्रियसेनाको भंग करने व मन मरकटको भञ्जन करनेका उपदेश**—जो अपने अपने आत्माका कल्याण चाहते हैं उनको गुरु महाराज उपदेश करते हैं कि इस इन्द्रिकी सेनाका भंग करो याने इंद्रियां जो चाहती हैं रस, गंध, रूप देखना, अच्छे शब्द सुनना, अच्छा कोमल स्पर्श आदिक जो भी इन्द्रियां चाहती हैं सो ये सब चाह रही हैं इसलिए इनको सेना कहा है। जैसे कोई सेना आक्रमण करती है इसी प्रकार इन्द्रियां इस ब्रह्म राजा पर आक्रमण कर रही हैं। तो इस ब्रह्मराजाको कह रहे कि तुम इस इन्द्रियकी सेनाको भंग करो और मन रूपी बंदरको प्रयत्नसे भंग करो। जैसे इन्द्रियके विषय इस जीवको सताते हैं ऐसे ही मनका विषय भी सताता है। तो रूपी बंदरको भगाओ।

(२६९) **जनमनरंजनके अर्थ साधुवेश ग्रहण करनेमें आत्मपतन**—मनुष्योंके दिल बहलानेके लिये बाह्यवेश मत करो। मायने मनुष्योंको खुश करनेके लिए जो कपट जाल रचा जाय ऐसा काम मत करो। मनुष्य खुश रहें, मगर खुदगर्जी के लिये, खुश करनेके अर्थ खोटी करतूत मत बनायें कि मनुष्य हमसे खुश रहें। मेरी इज्जत बढ़ावें इसके लिए साधु बनें जावें यह यह भाव मत लावो। ऐसी बात मन में न विचारो कि चाहे कितने ही पापकार्य करने पड़ें फिर भी सब मनुष्य हमको पूजते रहें। तो उन संन्यासियोंको उपदेश कर रहे जो बाहरमें संन्यासीका भेष रख रहे और इन्द्रियोंके वश हो रहे। जिनको अपने आत्मस्वरूपको देखनेका इरादा नहीं रहता उनको उपदेश किया है कि तुम इन बाह्य विषयोंको त्यागकर अपने आपके स्वरूपमें लगो, केवल बाह्य भेष धारण

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

करने वाले मत बनो। तो इसमें तीन बातें कही गई। एक तो इन्द्रियको वशमें करो, तुम इन्द्रियके वशमें मत रहो। दूसरे मनको वश करो मनके आधीन मत रहो। तीसरे लोगोंको खुश करनेके लिए जंत्र मंत्र आदिका प्रयोग मत करो, ब्रह्मस्वरूप की ही भावना भावो।

णवणोकसायवग्गं मिच्छत्तं चयसु भावसुद्धीए।
चेइयपवयणगुरुणं करेहि भत्तिं जिणाणाए ॥९१॥

(२७०) **मिथ्यात्व व कषायके त्यागका उपदेश**—हे आत्मकल्याण चाहने वाले साधो! तुम हल्की हल्की कषायोंको भी दूर करो। बड़ी तीव्र कषायोंको तो छोड़ो ही पर जैसे लोक व्यवहार में हंसना, हास्य करना या किसीसे राग करना, प्रीति करना, किसीसे द्वेष रखना, किसीका बुरा मानना, डरना, रंज करना या किसीसे घृणा करना, शीलकी रक्षा न कर पाना, ऐसे भावोंको भी तुम छोड़ो, क्योंकि जिसको ब्रह्मस्वरूपमें मग्न होना है उसे तो जैसे ब्रह्मस्वरूपका दर्शन होवे वैसे बाहरमें सदाचार करना चाहिए। दुराचारमें रहकर और फिर संन्यासीका भेष भूषा रखकर तो वह गृहस्थसे बुरा है, क्योंकि गृहस्थ तो स्पष्ट है, कि घरमें रहता है, कितने ही पाप लगते हैं मगर कोई साधुका तो भेष रखे और इस मन की करतूतको करता रहे तो वह उत्तम गृहस्थ भी नहीं है। इसलिए हे साधु, तुम इन कषायोंको छोड़ो, मिथ्यात्वका त्याग करो, भावोंको निर्मल बनाओ। मिथ्यात्व उसे कहते हैं कि जीव तो है ज्ञानस्वरूप, ज्ञान ज्योति प्रकाश और देह है जड़, उसे माने कि यह मैं हूं तो यह मिथ्यात्व कहलाता है। कुटुम्ब आदिकको समझे कि ये मेरे हैं इसे मिथ्यात्व कहते हैं। झूठ बातको तो त्याग दो, अपने भावों को निर्मल बनाओ।

(२७१) **प्रभु प्रभुवचन व गुरुकी भक्ति करनेका उपदेश**—धर्म ध्यानमें भगवानका ध्यान करो, भगवानकी वाणी सुनो, गुरुवोंकी भक्ति करो। इस प्रकारके धार्मिक प्रसंगोंमें रहो। जब कभी इस संसारमें रुलते रहे और विपत्ति आती है तो उससे बचनेका उपाय बनाना है। विपत्तियोसे घबड़ानेसे कहीं विपत्ति दूर नहीं होती या विषयोंमें लगनेसे आनन्द नहीं मिलता। आनन्दका कारण और शान्तिका कारण तो धर्मका सेवन है। धर्म क्या है, उसके लिए चार बातें करनी चाहिएं–(१) एक तो भगवानकी भक्ति करो जो रागद्वेषसे दूर हो गए, कर्मसे दूर हो गए, केवल आत्मा ही है, उस भगवान ज्ञान ज्योतिके दर्शन करो। (२) दूसरा काम है भगवानकी वाणी सुनो। भगवानने क्या बताया है, किस तरहसे उद्धार होता है उस वाणीको सुनो, (३) तीसरा काम है गुरुजनों

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

की भक्ति करना, (४) चौथा काम है भगवानकी वाणी सुनकर अपने आत्माको पहिचानकर अपने आत्माकी दृष्टि बनाना कि मैं हूं यह ज्ञानस्वरूप भगवान। इन चार कार्योंमें बढ़, केवल धर्मका भेष रखकर ही काम न बनेगा, किन्तु आत्माकी पहिचान करें और उसके लिए प्रभुभक्ति, प्रभुवाणीमनन, गुरुसेवा, ये मुख्य तीन काम हैं। मुख्य काम तो है आत्माकी आराधना। आत्माका जो सहज स्वरूप है उसकी दृष्टि रखना और उलका सहायक है भगवद्भक्ति, भगवत् मनन वाणी और गुरुवोंकी सेवा।

(२७२) एकान्त मिथ्यात्वका भाव—मिथ्यात्व क्या चीज है? तो मोटे रूपमें तो यह है कि शरीरको अन्य पदार्थोंको आपा समझना और उसके विस्तारमें चले तो, दर्शनके रूपमें चले तो वे ५ प्रकारके मिथ्यात्व हैं—(१) एकान्तमिथ्यात्व, इसे एकान्त मिथ्यात्व के मायने है पदार्थमें शक्ति, धर्म तो है अनेक, पर हठ करना एक ही धर्म मानने की। जैसे बतलावो जो यह जीव है वह सदा रहता है, तो सदा रहता है, मगर परिणामसे जो पहले था सो ही अब है, सो ही आगे है, सो स्वभावसे बदलता है। कैसे बदलता कि कभी क्रोध कर रहे, कभी घमंड कर रहे, कभी मायाचार है, कभी लोभकषाय है तो यह रूप बदला ना? इसीको कहते हैं नित्य और अनित्य। अब स्वभावदृष्टिसे तो जीव एक है और परिणामकी दृष्टिसे जीव भिन्न भिन्न रूप बन जाते हैं, अब उसमें कोई एक हठ करले कि नहीं, सदा एक सा ही रहता है, उसमें जरा भी बदल नहीं होती, तो वह सच होकर भी झूठ हो गया। जैसे किसीने पूछा कि बतलावो यह चौकी कैसी है? तो कोई कहेगा कि यह चौकी ३ इंच मोटी है। कोई कहेगा कि ६ इंच लम्बी है, कोई कहेगा कि यह ८ इंच ऊंची है। अब देखो बात सबकी ठीक है क्यों कि जब ऊंचाईकी दृष्टिसे देखा तो ८ इंच, लम्बाईकी दृष्टिसे देखा तो ६ इंच और मोटाईकी दृष्टिसे देखा तो ३ इंच, अब इसमें कोई यह हठ करे कि चौकी तो ३ इंच ही है, बाकी की सब बातें झूठ हैं, तो वह सच बोलकर भी झूठ हो गया। मोटाईकी दृष्टिसे तीन इंच है मगर वह भी गलत बन गया क्योंकि दूसरोंकी बातको मना किया। ऐसी ही जीवकी बात है। जीव सदा रहता है। जब स्वभावदृष्टिसे देखा तो जीव एकसा रहता और जब पर्याय-दृष्टिसे देखा तो उस का नया नया ढंग रहता है। तो उनमेंसे एक ही बात माने तो वह एकान्त है।

(२७३) विपरीत व विनय नामक मिथ्यात्वका भाव—(२) दूसरा मिथ्यात्व है। विपरीत मिथ्यात्व मायने हो तो कुछ और मान लेवे उसका उल्टा तो यह कहलाता है विपरीत कैसे कि जैसे पशुको मारनेसे हिंसा है और यह कहे कि नहीं, भगवानका नाम

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

लेकर पशुको मारे तो धर्म है तो यह विपरीत बात हो गई। चाहे भगवानका नाम लेकर पशु मारा जाय चाहे वैसे मारे, वह तो हिंसा है, अधर्म है। अब यह बलिप्रथा जो चली कि किसी देवी देवताके आगे भेड़ बकरा, सूकर आदिक चढ़ाना और उसे धर्म मानना तो यह तो महा अधर्म है, हिंसा है। इस प्रकारके हिंसात्मक कार्य कभी धर्म नहीं हो सकते भला बताओ जो जीव मारा जा रहा उसे संक्लेशसे मरण करना पड़ता है और यहां स्वार्थवश धर्मकी ओटमें भगवानका नाम लेकर जीवहिंसा कर धर्म मानते हैं तो यह विपरीत एकान्त है। और जैसे शरीर तो जीव नहीं है, शरीर तो अजीव है, पर इसीको ही देखकर कोई माने कि यह मैं हूं तो यह विपरीत बन गया। यह विपरीत मिथ्यात्व नामका दूसरा एकान्त है। (३) तीसरा एकान्त है विनय मिथ्यात्व। अब देखो मोक्ष जाने का रास्ता तो एक है, अनेक नहीं है मगर सभी लोग आम तौरसे ऐसा कह बैठते हैं कि चाहे किसी भी धर्मसे (मजहबसे) जावो, अन्तमें मोक्ष मिलेगा। पर ऐसी बात नहीं है। अरे मोक्ष तो आत्माके धर्मको पहिचानना है मायने आत्मा अपना ज्ञान करे और अपने आपमें रमे उससे मोक्ष होता है। अब यह बात करनेसे पहले अनेक बातें व्रत तप आदिककी करनी पड़ती है, मगर अन्तमें जिसको भी मोक्ष मिलेगा सो आत्मामें रमकर ही मिलेगा, और प्रकार नहीं मिल सकता।

(२७४) **संशय व अज्ञानमिथ्यात्वका भाव**—(४) चौथा मिथ्यात्व है संशयमिथ्यात्व संशय में झूलना कि जीव है कि नहीं है, वैसी ही बात करता रहे, यह भी मिथ्यात्व है। जिसको पक्का श्रद्धान हो कि यह मैं जीव हूं, ज्ञानस्वरूप हूं और इसही में मग्न होनेसे, शान्ति मिलेगी, जो ऐसी अपनेमें पक्की श्रद्धा करके रहे उसको तो वह गली मिलती है और जो संशयमें झूले भगवान है कि नहीं, तो उसे मार्ग नहीं मिल सकता। एक ऐसा कथनाक है कि एक मुसलमान और एक हिन्दू दोनों साथ-साथ जा रहे थे, तो रास्तेमें पड़ी एक नदी, सो नदीमें से पार हो रहे थे। उस नदीमें पानी था विशेष सो अब वे अपने अपने भगवानका स्मरण करने लगे। मुसलमान तो अपने खुदाका ही स्मरण अन्त तक करता रहा और आरामसे नदी पार हो गया, पर हिन्दू भाई कभी तो किसी देवताका नाम ले कभी किसीका मानों कभी कहा हे शंकर जी रक्षा करो, अब मानों शंकरजी रक्षा करने आ रहे थे। तो इतने में ही बोल उठा, हे विष्णु भगवान रक्षा करो। लो आ तो रहे थे शंकर रक्षा करने, पर विष्णुका स्मरण किए जानेपर शंकर वापिस हो गए, फिर मानों विष्णुका स्मरण करनेपर विष्णु भी पहुंचे, पर इतनेमें ही वह उठा, हे ब्रह्मा जी रक्षा कीजिये। मानों ब्रह्मा जी भी रक्षा करने दौड़े मगर इतनेमें

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

कह उठा—हे दुर्गामाता रक्षा कीजिए। यों अनेकों देवी देवताओंका बार बार स्मरण करता रहा, किसी एक देवपर आस्था न रखी तो उसका फल यह हुआ कि वह नदी पार न कर सका। उस नदीके जलमें डूब गया। तो यह संशयभी मिथ्यात्व है। आत्मा के बारेमें इस प्रकार का संशय न करें कि आत्मा है कि नहीं। मैं जीव हूं ज्ञानस्वरूप हूं, मेरेमें कोई संकट नहीं। मैं चैतन्यस्वरूप हूं, ऐसी दृढ़ भावना हो तो सम्यग्दर्शन है। नहीं तो संशय मिथ्यात्व है। (५) पाँचवां मिथ्यात्व है अज्ञानमिथ्यात्व अज्ञानमिथ्यात्वमें अज्ञान ही अज्ञान भरा रहता है, कोई कोई लोग तो यों भी कह डालते कि कुछ भी ज्ञान न करें तो मोक्ष मिल जायेगा और यदि ज्ञान करेंगे तो मनमें अनेक प्रकारके तर्क उठते रहेंगे, पर ऐसी बात नहीं है। तर्क वितर्क तो होते हैं अज्ञान दशामें। देह जीवको जो एक मानता है वह भी अज्ञान है। तो ये ५ तरहके मिथ्यात्व हैं। सच्चा ज्ञान न हो सकना यह सबसे बड़ा पाप है। मिथ्यात्वयुक्त ज्ञानके बराबर दुनियामें कोई पाप नहीं।

(२७५) **भावशुद्धिसे संकटपरिहार**—भैया, भावशुद्धि करो याने सच्चे स्वरूपका अनुभव करो। शुद्ध बुद्ध जो एक ज्ञानस्वभाव है, आत्मा है उसकी रुचि करें, भगवानके दर्शन करें, भगवत् वाणीका आदर करें, शास्त्र पढ़े, ज्ञान सीखें, जो हितका उपदेश देने वाले गुरूजन हैं उन गुरुवोंकी भक्ति करें, तो ऐसी भक्ति द्वारा कमसे कम सद्गति तो मिलेगी, फिर आगे बढ़ेंगे। धर्मके लिए ब्रह्मस्वरूपमें मग्न होना होता है तब धर्म है। यह बात यदि अभी नहीं कर पाते तो आगे बन जायगी। प्रभुकी भक्ति करें ताकि हृदय निर्मल रहे और पापकी बातें चित्तमें न आयें सो शुभ व शुद्ध कार्य करके अपने आत्म-कल्याणमें लगें। आत्मकल्याण चाहने वाले पुरुषोंको सर्वप्रथम इन चार दुराशयोंको छोड़ना चाहिये—१–अहंकार, २–ममकार, ३–कर्तृत्वबुद्धि, ४–भोक्तृत्वबुद्धि। जो मैं नहीं हूं उसे "मैं" मान डालना अहंकार कहलाता है। एक नटखटी बालक दूसरोंको धोखा देकर कपड़ोंसे सजा हुआ घोड़ेपर चढ़ा जा रहा था। एक नगरमें शाम हो गई। मां मा कहकर अपना, तू ही तो था' नाम बताकर एक धुनेनीके यहां ठहर गया। उस दिन धुनिया बाहर गया था। इस नटखटीने पासकी एक बनियेकी दूकानसे आटा आदि लिया और "मैं था" नाम बताकर उसको सुबह पैसा देनेको कह दिया। इसने रातको रोटी बनाई और धोवन धुनी हुई रुईपर फेंक दिया। सुबह होते ही वह चला गया। अब दुपहर धुनिया आया व रुई खराब देखकर धुनेनीसे पूछा कि यह सारी रुई किसने खराब की है ? यहां कौन ठहरा था ? धुनेनीने उत्तर दिया—"तू ही तो था।" धुनिया ने कई बार पूछा, धुनेनी यही उत्तर देती रही, क्योंकि उस नटखटीने यही नाम धुनेनी

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

को बताया था। तब धुनियाने धुनेनीको लाठीसे मारा। धुनेनीका रोना सुनकर बनिया दयावश दौड़कर आया और धुनियासे बोला कि इसे मत मारो, जो यहां ठहरा था वह 'मैं था।' तब धुनियाने बनियेपर लाठी बरसाई। सो जो 'मैं मैं' करता है वह विपत्ति पाता है। दूसरा दुराशय है ममकार—परवस्तुको जो मेरा मेरा मानता है वह बरबाद हो जाता है। कोई परवस्तु त्रिकाल भी मेरी नहीं हो सकता। एक सेठके चार लड़के थे, उनमें बड़ा कमाऊ था, दूसरा जुवारी था, तीसरा अंधा था और चौथा पुजारी था। कमाऊने पितासे न्यारा होनेको कहा। पिता सब लड़कोंके साथ एक तीर्थयात्रा करने चला। रास्तेमें एक नगरके बाहर ठहर गया। पहले दिन पिता ने कमाऊ लड़केको १०) रु० देकर खाना लानेके लिये भेजा। उसने एक मौहल्लेसे १०) का कुछ खरीदकर दूसरे मौहल्लेमें बेचा उसे १ रु० का लाभ हुआ, वह ११ रु० का भोजन लाया। दूसरे दिन जुवारीको १०) लिये, उसने रास्तेमें दाव लगाया, १०) के २०) हो गये, वह २०) का भोजन लाया। तीसरे दिन अंधेको उसकी स्त्रीके साथ १०) देकर भेजा। रास्तेमें अंधेको ठोकर लगी, पत्थर उखाड़ा तो सैकड़ों सोनेकी मुहरोंका भरा हंडा मिला। अंधा खूब भोजन लाया व मुहरें भी। चौथे दिन पुजारी लड़केको १०) देकर भेजा। वह चान्दीका कटोरा खरीदकर मन्दिरमें आरतीको बैठ गया। एक देवने उस बालकका रूप धरकर गाड़ियोंमें भरकर भोजन लाया, गांव भरको खिलाया। पांचवें दिन कमाऊ लड़के से पिताने पूछा—क्या अब भी न्यारा होना चाहते हो? उसने पितासे क्षमा मांगी। परवस्तुमें कुछ करनेका किसीको अधिकार नहीं। सो कर्तृत्वबुद्धिमें विपदा ही है। चौथी विडम्बना है भोक्तृत्वबुद्धि। ये अज्ञानी प्राणी इन्द्रियोंके विषयोंको भोगनेकी मान्यता करके भोग भोगकर प्राण गंवा देते हैं। सो भैया! भोगमें ही यह जीव नाना जन्म मरण करता। सो अहंकार, ममकार, कर्तृत्वबुद्धि, भोक्तृत्वबुद्धिको छोड़े और ज्ञानघन अन्तस्तत्त्वमें आत्मत्व अनुभव कर सहज आनन्दसे तृप्त होकर सदाके लिये संकटोंसे छुटकारा पावें।

तित्थयरभासियत्थं गणहरदेवेहिं गंथियं सम्मं।
भावहि अणुदिणु अतुलं विसुद्धभावेण सुयणाणं ॥६२॥

(२७६) **सम्यक् श्रुताभ्यासका अनुरोध**—भगवानने जो पदार्थोंका निरूपण किया है और भगवानकी वाणी झेलने वाले गणेशोंने जिसको भलि-भांति बताया है उसे आगमन का रूप दिया है, ऐसे अनुपम श्रुतज्ञानका हे कल्याणार्थीजनो विशुद्ध भावोंसे चिन्तन करो अर्थात् भगवानने जो हितके लिए उपदेश किया है उस उपदेशको बड़ी भक्तिपूर्वक सुनो।

Reprinted by Jain Sahitya Vikas Mandal@gmail.com

http://www.jainkosh.org

भगवानका उपदेश क्या है कि पहले तो आत्माका ज्ञान करो। समस्त पदार्थोंका सही-ज्ञान करो। इस ज्ञानके होनेसे मिथ्यात्व मोह दूर हो जायगा और जब मोह दूर हुआ तब रागद्वेषको जीतने के लिए तपश्चरणमें लगो। तपश्चरण क्या है ? मुख्य तपश्चरण तो यह है कि अपने आत्माका जो चैतन्यस्वरूप है उस चैतन्यस्वरूपमें मग्न होओ। फिर व्रत, तप, उपवास एकान्त शय्यासन आदिक कार्योंको करो। उन धार्मिक क्रियावोंसे भावोंमें निर्मलता आती है। इन्द्रियां जो उद्दण्ड होती हैं उनकी उद्दण्डता खतम हो जाती है। सो प्रभुकी वाणीमें जो उपदेश किया गया है उस उपदेशको मनकी दृढ़तासे ग्रहण करो।

(२७७) **मोक्षमार्गके तीन पौरुष**—भगवानका क्या उपदेश है—(१) आत्मज्ञान, (२) तपश्चरण, (३) आत्मसाधना। जब तक आत्मा आत्मामें मग्न न हो जाय तब तक संयमसे अपना कार्य करना। किसी जीवकी हिंसा न हो, रसोई बनानेमें, आरम्भ करने में, दूकान आदिकमें ऐसी सावधानी बने कि हिंसा न हो। फिर प्रभुभक्ति, सामायिक, वाणीका श्रवण इन सभी धर्मोंको करें। यह ही प्रभुकी वाणीमें बताया गया है। सो हे कल्याण चाहने वाले पुरुष ? अपने जीवनमें स्वाध्याय और सत्संग कभी मत छोड़ो। यदि स्वाध्याय और सत्संग छोड़ा तो भटक जानेपर कोई समझाने वाला भी नहीं मिल सकता। रात दिनके २४ घन्टेमें वहां बहुतसे काम करते हैं वहां एक आध घन्टेका समय इसके लिए भी रख लो। मान लो जब कोई काम नहीं है, खाली बैठे हैं तो इस समय धर्मध्यानमें यदि अपना मन नहीं लगाते तो बताओ क्या हाल होगा ? बुद्धि बिगड़ जायगी। इससे खाली समयमें धर्मध्यानमें अपना मन लगाओ। यह धर्मध्यान ही इस जीवनमें और आगे भी मदद कर देगा। तो जिसको ज्ञान नहीं है उसके लिए सब दिशायें सूनी हैं। धन कम होनेसे गरीब न मानें, जिसका मन गरीब हुआ वह गरीब हो गया। इससे ऐसी सद्बुद्धि बनानी चाहिये कि यदि संकट आता है तो धर्मध्यानमें अधिक लगो, ठाली मत बैठो। ठाली बैठनेसे कई प्रकारके चित्तमें विकार भाव आते रहते हैं। इससे प्रभुवाणीका सहारा लें और जो उपदेश किया है उसके अनुसार चलें तो इस आत्माका कभी निकट कालमें उद्धार हो जायगा।

पाऊण णाणसलिलं णिम्महतिसडाहसोसउम्मुक्का।
होंति सिवालयवासी तिहुवणचूड़ामणी सिद्धा ॥६३॥

(२७८) **शास्वत सत्य आराम पानेके प्रोग्रामकी गवेषणा**—ज्ञानरूपी जलको पाकर ये भव्य प्राणी दुर्निवार तृषादाह और शेषसे रहित होकर मोक्षके वासी होते हैं, तीन

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

लोकके चूड़ामणि होते हैं यर्थात् सिद्ध होते हैं। एक विचार करना चाहिए कि मुझे क्या होना चाहिए जिससे कि सदाके लिए मेरे संकट दूर हो जायें। थोड़े समयके लिए माना हुआ कोई संकट दूर हुआ और दूसरा संकट आया यों परम्परा चल रही तो ऐसे सुख और आराममें कोई तथ्य नहीं है, आराम वह मिले जो सदाके लिए हो, और देखिये—आत्मा हैं हम आप सब और अपनी ही बात सोचना है, क्योंकि जितना झमेला है, समागम है, कुटुम्ब है क्या है यह ? जैसे जगतके अन्य जीव हैं वैसे ही ये घरमें आये हुए जीव हैं। मुझसे अत्यन्त भिन्न हैं, इनके कर्म इनके साथ, इनकी करनी इनके साथ। कोई गुंजाइस नहीं, केवल एक लोककल्पना से यह बात चलती है। तो बाहरके चेतन अचेतन पदार्थोंकी गुंजाइसमें, लगावमें कोई हित नहीं है, इसलिए बेकार है। हां गृहस्थधर्मका पालन करने वाले लोगोंको परिस्थितिके कारण जरूरी है सो इतनी प्रीति, इतना राग उनके चलता है, मगर ज्ञानी गृहस्थ यह बात सही समझता है कि इससे मेरा क्या प्रयोजन चलेगा ? इन बातोंमें तो कोई हित नहीं।

(२७६) **केवल आत्मज्ञान रहनेमें ही संकटहीनता**—मुझे क्या बनना चाहिए जिससे संसारके संकट सदाके लिए दूर हो जायें ? ये घोड़ा, बैल वगैरह तो बनना ठीक नहीं, उनकी तो बड़ी खोटी जिन्दगी है। मनुष्य भी बने तो मनुष्यमें भी क्या पाया ? इसमें भी बचपन, जवानी और बुढ़ापेके दुःख आते हैं, इसमें भी इस आत्माको क्या लाभ मिला ? कोई कोई सोचते होंगे कि खूब सुख तो मिल रहा, तो वे बतायें कि आज तक कितना सुख वे जोड़ सके ? क्या कुछ आज गांठमें है ? जैसे गेहूंका बोरा गेहुंवोंसे भरा जाय तो वह तो भर जायगा, पर यह तो रीताका ही रीता रहा। तो संसारकी किसी भी स्थितिमें कुछ तथ्य नहीं है। तब क्या बनना चाहिए। तो बात यहांसे सोचो कि हम आप जितने लोग हैं वे तीन प्रकारके पदार्थोंके पिण्ड हैं। जीव, कर्म और शरीर। यहां केवल अकेला कुछ नहीं है सब तीन चीजोंके पिण्ड हैं। तो जितना यह संसारका नटखट हो रहा वह सब यों समझो कि विडंबना है, विपत्ति है। वह इन तीनोंके मेलकी करतूत है। तो इस विडंबनाको हमें दूर करना है और सीधा भाव देखें कि तीनकी मिलावट न रहे, केवल यह आत्मा रह जाय तो सारे संकट दूर होंगे। इन तीनकी मिलावटसे जो परिणाम बनता है उससे संकट हो रहे हैं। तो यहां अन्तमें यह निष्कर्ष निकला कि मैं आत्मा अकेला रह जाऊं, इसके साथ शरीरका, कर्मका सम्पर्क न रहे तो मेरे संकट खतम हो सकते हैं। दूसरा कोई उपाय नहीं है कि जिससे मेरे संकट दूर हों, एक ही उपाय है। तो इसके लिए क्या उपाय रचायें ? यह उपाय बनाना है कि इस मिलावटके समय

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

भी स्वरूप से तो मिलावट है नहीं, पर बन गई वस्तुओंकी मिलावट, इस वक्त भी हम स्वरूपदृष्टि करके अपनेको निराला निरखते रहें तो यह उपाय ऐसा है कि जिसके बलसे कभी हम आत्मा सिद्ध होंगे, अकेले रह जायेंगे। अकेला आत्मा रहे उसे कहते हैं सिद्ध। अरहंत भी सिद्धकी तरह हैं। थोड़ा अघातिया कर्म और शरीरका सम्बन्ध है अरहंतके, मगर वह सम्बन्ध कुछ अनर्थ नहीं कर रहा। बिल्कुल साफ स्पष्ट पूर्ण निर्लेप तो सिद्ध भगवान हैं।

(२८०) **ज्ञानसलिलसे तृष्णादाह मिटा कर शिवालयवासकी प्राप्ति**—वे जीव सिद्ध होते हैं जिन्होंने ज्ञानजलको पाया और ज्ञानरूपी जलसे अपने आपको धोया। वह ज्ञानजल यही है कि जो अपनेको स्वरूपमात्र दिख रहा। मैं ज्ञानस्वरूपमात्र हूं, इससे बाहर कुछ नहीं। बाहरसे इसमें आता कुछ नहीं, स्वरूप तो स्वरूप ही रहेगा, और जब ऐसा ही ध्यान में लाते हैं तो भय भी तुरन्त खत्म हो जाता है। मैं स्वरूपमात्र हूं। घबड़ाहट किस बातकी, बाहरमें कुछ भी होता हो, कहीं इष्टका वियोग हो गया हो तो, धनकी हानि हुई हो तो, कैसी ही विपत्ति हुई हो तो वह सब बाहरी चीज हैं, वे सब दूसरेके परिणमन हैं। मुझपर विपत्ति कहां है? मैं स्वरूपमात्र हूं, इस मुझपर कोई विपत्ति नहीं। संसारकी मानी हुई कठिनसे कठिन विपत्ति हो, मगर जिसने ज्ञानस्वरूपको निरखा है वह जानता है कि मुझको रंच भी विपत्ति नहीं है। किसी बाह्य पदार्थके परिणमनसे मेरा कुछ सुधार बिगाड़ नहीं। और यदि कुछ चारित्रमोहकी दुर्बलता है तो यह ध्यानमें रहे कि मेरे ही ज्ञानकी निर्बलतासे मुझपर विपत्ति है, किसी परपदार्थके कारण मेरेको रंच भी विपत्ति नहीं। यही बात मिथ्यादृष्टि जीवके लिए भी है, पर वह समझ नहीं पाता। वह तो यही जानता है कि इस परपदार्थके कारण मेरेको विपत्ति है, ज्ञानकी कमजोरीके कारण मिथ्यादृष्टि जीव इस प्रकारसे सोचता है। चाहे ज्ञानी हो, चाहे अज्ञानी हो, पर जो जितने संकट मान रहा है वह अपने ज्ञानके विपरिणमनसे मान रहा है, बाहरी पदार्थके कारण संकट नहीं है। तो पहले सम्यग्ज्ञानरूपी जलसे अपने आपको शान्त करें और इसी ज्ञानको पानेके लिए वस्तुका स्वरूप समझा जाता है। अनन्त द्रव्य हैं, प्रत्येक द्रव्य स्वतन्त्र सत् हैं, प्रत्येक द्रव्यमें अनन्त शक्तियां हैं। प्रत्येक द्रव्य अपने आपके गुणोंमें परिणमन करता है। एकका दूसरेके साथ कोई सम्बन्ध नहीं, सब सब अपने-अपनेमें परिणम रहे हैं। ऐसा ज्ञानजल मिले तो तृष्णा, रंज, शोक आदि ये सब दूर हो जायें। किसीको प्यास की दाह लग रही हो तो पानी द्वारा ही तो वह अपनी प्यास बुझाता है। इन संसारी जीवोंको तृष्णाकी दाह लग रही सो वह ज्ञानजलसे ही

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

तो बुझ पायगी दूसरा कोई उपाय नहीं।

(२८१) **आत्मशौर्य**—भैया, इतना साहस तो बनाना ही चाहिए कि उदयानुसार जो हो सो हो, हमें वाञ्छा कुछ नहीं है। जो परिस्थिति मिले उसीमें गुजारा करनेकी मुझमें कला है। मेरा मुख्य कर्तव्य तो अपनेको स्वरूप मात्र लखते रहना है, मैं ज्ञानमात्र हूं। मेरे स्वरूपके बाहर मेरी कोई बात नहीं है, मेरे स्वरूपमें किसी अन्यका प्रवेश नहीं है। मैं ज्ञान स्वरूपमात्र हूं। मेरेमें मेरा परिणमन चल रहा है। मेरेमें किसी परपदार्थ का कोई दखल नहीं। मैं हूं ज्ञानस्वरूप, तो मेरा परिणमन क्या हो रहा कि उस ज्ञानकी वृत्तियां चलती रहती हैं। इससे बाहर मेरी ओरसे मेरा कोई कार्य नहीं हो रहा, पर हो रहा है जो बिगाड़का काम, सो सब कर्मउपाधिके सम्पर्कमें हो रहा है।

(२८२) **परमार्थ अमृतपान**—लोग तो यों कहते हैं कि अमृतका पान करो और अमर हो जावो। तो वह अमृत किसी ने देखा है क्या कि पानी की तरह है या डलेकी तरह, फलकी तरह है? बताओ किसीने अमृत देखा है क्या? यों तो इसके सम्बन्धमें अनेक लोग अनेक तरहकी कथायें भी कहते हैं कि उसने उसको अमृतफल दिया, पर वह अमृत क्या चीज है उस की कल्पना तो बनाओ। देखनेकी तो दूर बात रही। अगर कहो कि वह एक फल जैसा है तो ठीक है उसे खा लो, पर जो फल खाया जानेपर स्वयं मर गया, चटनी बन गया वह दूसरों को क्या अमर करेगा? अब यह जिज्ञासा होगी कि फिर अमृत नाम पड़ा क्यों, और अमृत चीज वास्तवमें है क्या? तो ठीक है, अमृत है, और उस अमृतका पान अगर कोई कर लेवे तो अमर हो जाय यह भी बात है, पर वह अमृत बाहर कहीं नहीं है। रस, फल आदिरूप नहीं है, किन्तु आत्माके स्वरूपका जो सच्चा ज्ञान है वह अमृत है उसका नाम अमृत क्यों रखा गया? अमृतका अर्थ है न मृतं इति अमृतं। जो मरेगा नहीं, जो मरता नहीं, जो मरा नहीं उसका नाम अमृत है। तो आत्माका जो ज्ञानस्वरूप है वह कभी मरता है क्या? कभी मरेगा क्या? नहीं, वह शाश्वत तो अमर है। वह है अमृत। उसका पान करना अर्थात् उसको ज्ञानमें लेना और ज्ञानको, ज्ञानस्वरूपको ज्ञानमें रखना यह ही अमृतपान है। सो यह कोई कर सकता है तो वह अमर हो गया। कैसे अमर हो गया? क्या यह शरीर छूटेगा नहीं? छूटने दो शरीर, वह शरीरवियोगकोम रना मानता था इसलिए डरता था। अमर तो प्रत्येक जीव है। जीव कभी नष्ट नहीं होता, मगर मानता तो नहीं था कि यह मैं अमर हुं, मैं यह ज्ञानस्वरूप हूं। देह को ही निरखकर पर्यायबुद्धिसे जन्मना मरना मानता रहा। जिस क्षण इसे आत्मस्वरूपका बोध हुआ, यह सम्यग्ज्ञान प्रकट हुआ उसी क्षण उसका निर्णय

Report any errors at vikasnd@gmail.com

https://www.jainelibrary.org

कि मैं हूं। अपनेमें हूं, यही मेरा सर्वस्व है, इतनी ही मेरी दुनिया है, यह जहाँ रहेगा, जहाँ जायेगा वहां पूराका पूरा है, इसका मरना कहां होता। तो जो इस सम्यग्ज्ञान जल को पी लेता है वह अमर हो जाता है और मिथ्यात्व सम्बन्धी तृष्णाकी दाह शान्त हो जाती है।

(२८३) **देहमुक्त आत्माका सर्वोपरि निवास**—इस ज्ञानस्वरूपका अभ्यास बनाये रहने का फल क्या होता है, देह दूर होता है, कर्म दूर होते हैं, आत्मा अकेला रह जाता है, फिर वह आत्मा कहां रहता है ? इसमें है ऊर्ध्व गमनस्वभाव। जैसे तूमड़ीमें राखका वजन हो और पानीमें डाल दिया तो नीचे डूबी रहती है जब उसकी राख धुल जाती है, केवल तूमी रह जाती है तो ऊपर पहुंचती है, ऐसे ही इस जीवके साथ कर्मका जब तक बंध है तब तक यहां वहां कहीं भी रहता है, कर्मबन्ध जब मिटता है, कर्मरज जब धुल जाती है, अकेला आत्मा रहता है तो ये एक ही क्षण में, एक ही समयमें लोकके अन्तमें विराजमान हो जाते हैं, उसे कहते हैं शिवालय मायने मोक्षका स्थान, तो ऐसे जीव शिवालयके वासी होते हैं और तीन लोकके वे सिरताज है। एक तो ३ लोकमें ऊपर रह रहे यों ही सिरताज हैं, दूसरे—तीन लोकके सबके त्रिकालके ज्ञाता बन गए हैं, सर्वज्ञ हुए है, इसलिए भी सिरताज। तो ऐसे ये जीव सिद्ध हो जाते हैं।

(२८४) **सहज परम ब्रह्मस्वरूपके आश्रयसे सिद्धिकी सिद्धि**—सिद्ध जितने भी अब तक हुए वे इस ज्ञानस्वरूप (ब्रह्मस्वरूप) के आश्रयसे ही हुए। तो हम आप भी अपने इस ब्रह्म स्वरूपका आश्रय लें, आत्माके सहज स्वरूपको देखें। अहा, अपनी सत्ताके कारण वह ब्रह्म सहज ज्ञानानन्दमय है, इसका जिन्होंने अभ्यास किया, यह ही जिनके ज्ञानमें रहा उन्होंने सिद्धि पायी, मुक्ति पायी। तो सर्वस्व कल्याण पानेकी तो हम मूर्ति हैं, धर्म स्वरूप हैं, दृष्टि मात्रसे वह काम बनता है, फिर भी वह काम न बनाया जाय तो यह मनुष्यभव पाना बेकार रहेगा, क्योंकि मरेके बाद तो न जाने कहां जन्में, कैसा जन्मे ? जैसे गधे, घोड़े, सूकर, ये विह्वल विकल नजर आते हैं, ऐसे ही यदि हो गए तो फिर वहा क्या स्थिति बनेगी ? आज मनुष्य हैं, श्रेष्ठ मन मिला है तो ऐसी सद्बुद्धि करें कि अपने आपके ब्रह्मस्वरूपका परिचय पा लें और इस ही में तृप्त रहनेका अपना परिणाम बनायें। किसी अन्य बातमें मुझको संतोष नहीं। मुझको तो सिद्ध होना है। चाहे कितने ही काल लग जायें, दूसरा कोई कर्त्तव्य ही नहीं मेरा कि जो अंतिम बात रहे। ऐसा पुरुष भावसंयुक्त होकर याने आत्माके स्वरूपकी दृष्टि करके तृप्त रहनेकी स्थिति पाकर सहजपरमानन्दमय शिवालयका वासी होता है।

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

दस दस दो सुपरीसह सहहि मुणो सयलकाल कारण ।
सुत्तेण अप्पमत्ता संजमघादं पमोत्तूण ॥९४॥

(२८५) **सहज परमात्मतत्त्वकी दृष्टिकी धुनमें परीषहविजयकी आसानी**—हे आत्म-कल्याण चाहने वाले साधु, तू भगवानकी वाणीके आज्ञा प्रमाण प्रमादरहित होकर संयम का घात न करके २२ प्रकारके परीषहोंको सहन कर। देखो किसी गृहस्थको जिसको धनकी बड़ी तेज धुन लग गई है वह धन कमानेकी धुनमें कितना दुःख सहता है न ? कहां कहां जाता ? किस-किससे लेन-देन करता, कितना ही परिश्रम करता है, कितने ही कष्ट सहता है फिर भी वह, उस कार्यको करता है। यह सब क्यों होता है कि उसको धन अर्जन करनेकी तीव्र धुन हो गई हैं, इसलिए उसको संकट कुछ महत्त्व नहीं रखते। धन महत्त्व रखता है तो यह तो हुई संसारी जीवोंकी बात। अब यहां देखिये—जिसको अपने ज्ञानस्वरूपकी धुन हो जाय, ज्ञानसे ज्ञानमें ज्ञान ही हो, इस ही बातकी जिसको धुन हो जाय तो उसपर कुछभी संकट आये, भूख, प्यास, सर्दी, गर्मी, मच्छर अपकान आदिक कितने ही उपसर्ग आयें, वे उसको कुछ महत्त्व नहीं रखते। उनका सह लेना उनके लिए अनन्त आसान रहता है। यह तो मोही जीव सोचते हैं कि ये साधु देखो कैसा कठिन परीषह सह रहे हैं। पर उनको कहां है परीषह ? जिनको ज्ञानकी धुन लगी है, और ज्ञानमें ही तृप्त रहते हैं उनके लिए संकट कुछ नहीं है, परीषह कुछ नहीं है, परीषह कुछ नहीं है। ऐसे परीषह २२ प्रकारके होते हैं। जैसे भूख का दुःख सहना, प्यास का दुःख सहना, ठंड, गर्मीका दुःख सहना। ज्ञानकी धुनमें सर्व परिग्रह उसने छोड़ दिया था, वस्त्र तककी भी वह चिन्ता न चाहता था। सर्व परित्याग कर दिया, अब जो सहज बात हो सो रहो। तो ऐसी स्थितिमें भी लज्जा ग्लानि न करना, किसीसे द्वेष न करना यह सब उसे कर्तव्य चाहिए ना ? सो जो उसके विरोधी परीषह हैं उनकी ओर दृष्टिपात तक भी नहीं है. क्योंकि उस ज्ञानीको तो ज्ञान आराधनाकी तेज धुन लगी है।

(२८६) **सहजात्मननमें अप्रमत्तता व संयमपूर्ति**—मैं ज्ञानमात्र हूं, और ऐसा ध्यान बनाकर उसने अलौकिक आनन्द पाया है। इस कारण उसके लिए संकट कुछ भी संकट नहीं मालूम होते। सो हे मुने तू अन्तर में ऐसा ध्यान बना कि जिससे परीषह समता-पूर्वक सह लिए जायें। सो इसी विधिमें तू अप्रमत्त रह पायगा, मायने कषायका अनुभव न हो, मोक्षके मार्गमें, ज्ञानस्वरूपकी आराधनामें रंच भी प्रमाद न रहे, ऐसी स्थिति बनेगी। और इस ज्ञानकी धुन में, इन परीषहोंके विजयमें संयमका घात भी नहीं है।

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

जैसे कोई जानवर खाने आया (साधुवों की बात कह रहे) और उस समय जो उसे जानवरसे द्वेष हुआ या उसके सम्बन्धमें कुछ अपने में विषाद माना तो संयमका घात हो गया। संयम मायने शुद्ध आत्माका ज्ञानोपयोग आत्मस्वरूप ही रमे, बाहरी पदार्थोंमें ख्याल न लाये, यह है वास्तविक संयम, अथवा अन्य कोई आरम्भ न करने लगे संकटों को दूर करनेके लिए यह है संयम। सो हे मुने! तू संयमका घात मत कर और परीषहों को जीतकर अपने ज्ञानस्वरूपकी आराधनामें लग, ऐसा आत्मसाधनामें लगने वाले पुरुषको समझाया गया है।

जह पत्थरो ण भिज्जइ परिट्ठिओ दीहकालमुदएण।
तह साहू विण भिज्जइ उवसग्गपरीसहेहितो ॥६५॥

(२८७) **परीषह उपसर्गोंसे भी साधुकी अचलितता**—पूर्व गाथामें बताया था कि हे आत्मकल्याण चाहने वाले साधुजनों इन परीषहोंको सहन करो और नियमका घात न हो, एतदर्थ प्रमत्त रहित बनो। तो प्रमत्तरहितकी क्या दशायें होती हैं इसका इस गाथा में संकेत मिला है। जैसे पत्थर बहुत काल तक भी पानीमें डूबा रहे, पानीमें खड़ा हुआ होकर भी पत्थर भिदता नहीं, अपने स्वभाव से चिगता नहीं, इसी प्रकार जो साधु पुरुष हैं वे उपसर्ग और परीषहोंसे भिदते नहीं। चारों ओरसे परीषह और उपसर्गसे घिरे हों तब भी वे विचलित नहीं होते इसका कारण क्या है? यहां तो जरा सी फुंसी हो जाय तो घबड़ाते हैं, जरा सा बुखार हो जाय तो घबड़ाते हैं, सिरदर्द हो जाय तो ध्यान नहीं लगता। और जो ज्ञानीजन हैं उन्होंने कौनसी औषधि पी ली जिससे बड़े बड़े उपसर्ग परीषह आयें तो भी वे विचलित नहीं होते? वह औषधि है आत्माके सहजस्वरूपकी धुन। यहां भी तो जिसको धनकी तृष्णामें धुन है वह भी तो बड़े-बड़े परीषहों से घबड़ाता नहीं। हवाई जहाजसे जाय या जलके जहाजसे जाय, जल्दी-जल्दी दौड़-दौड़कर जाय, गर्मीमें जाय, ठंडमें जाय, भूखभी सहे, गाली भी सहे, अपमान भी सहे। ये धनकी तृष्णा करने वाले लोग परीषहविजयमें मुनियोंसे कम नहीं हैं (हंसी)। मुनि सहते हैं परीषह समतासे और ये तृष्णा करने वाले धनिक लोग उपसर्ग सहते हैं ममतासे। इन गृहस्थोंको रहती है कषाय, मुनिजनोके कषाय नहीं होती यह एक अन्तर है।

(२८८) **सहजज्ञानस्वरूपकी धुनका चमत्कार**—उन ज्ञानीजनोंने कौनसी वस्तु पायी? आत्माके सहजस्वरूपकी धुन। अन्तरङ्गमें परखो कि मैं हूं, जब मैं हूं तो अकेला ही तो सत् हूं। दो सत् पदार्थ मिलकर एक नहीं बना करते। तो यह वस्तुस्वरूप है। प्रत्येक पदार्थ अपनी अपनी सत्तासे ही सत् है। भले ही आज मिलावटमें हूं और इस देहबंधनमें

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

फंसा हूं। और यह सब हो रहा है निमित्तनैमित्तिक योगवश, मगर सत्ता सबकी अपनी ही है, किसी अन्यकी कृपासे अन्यकी सत्ता नहीं होती। तो मैं सत् हूं, तो मेरा कोई वास्तविक परमार्थ स्वरूप तो है। वह परमार्थ स्वरूप क्या ? ज्ञानमात्र। अनेक मिली हुई दवाई या शर्बतमें परख करने वाले लोग परख कर लेते हैं कि इसमें ये ये दवाई पड़ी है, यह दवा इतने अंशमें है यह इतने अंशमें। भले ही यह मनुष्यपर्याय है, यह केवल आत्माकी तो नहीं है मनुष्य पर्याय। यह केवल कर्मकी तो नहीं मनुष्यपर्याय, यह केवल शरीर की तो नहीं है मनुष्य पर्याय। तो क्या तीनों की मिलकर है मनुष्यपर्याय ? सो तीनकी मिलकर भी नहीं है मनुष्य पर्याय। तो क्या जादू है ? कौन सा मदारीका खेल है ? सबकी अपनी अपनी परिणति होती रहती है तिसपर भी निमित्त नैमित्तिक योग वश तीनो ही बिगड़ रहे हैं। इन तीनका जो बिगाड़ है, उनका जो एक जोड़ है वह है मनुष्यपर्याय। तो इस बीचमें भी ज्ञानबलसे केवल आत्माके सत्त्वको निहारो। में ज्ञान-स्वरूप हूं।

(२८९) **सहज परमात्मतत्त्वकी दृष्टिकी अलौकिक वैभवरूपता**—इस ज्ञानस्वरूपका वास्तवमें क्या कार्य है? स्वयंका, अकेलेका वास्तवमें कार्य है ज्ञानकी वृत्ति लहर उठाना। शुद्ध रहे केवल जानन जानन हो। देखो बिगड़ी हालतमें बिगड़ेपर ही दृष्टि दें तो बिगड़ी मिटेगी कि बढ़ेगी ? बढ़ेगी और बिगड़ी हालतमें बिगाड़पर दृष्टि न दें ध्यानके लिए, उपासनाके लिए और आत्माके सहज स्वरूप पर दृष्टि दें तो बिगाड़ मिटेगा। और कोई माने कि बिगाड़ है ही नहीं मेरा, तब तो अच्छा कुछ नहीं बननेका। करेंगे क्या ? क्या करना है फिर ? जब बिगाड़ ही कुछ नहीं है। बिगाड़की बात दृष्टिमें लेना भला नहीं है, दृष्टि रखना है परमार्थ स्वरूपकी। तो ज्ञानी साधु संतोंने सहज आत्मस्वरूपकी अनुभूति की। उसकी धुन बनी, उसकी तृष्णा बढ़ी, तृष्णा नही किन्तु तीव्र धुन। वही पसन्द है, वही इष्ट है, अन्य कुछ मूल्यवान है ही नहीं। देह, प्राण ये कोई मूल्यवान वस्तु नहीं, किन्तु सहज ज्ञानस्वरूपकी दृष्टि यह ही इसके लिए मूल्यवान है। तो इसके लिए वह परीषहोंसे क्यों विचलित हो ? विचलित होनेसे तो यह ज्ञानधन लुट जाता है इस कारण वे विचलित नहीं होते।

भावहि अणुवेक्खाओ अवरे पणवीसभावणा भावि।
भावरहिएण किं पुण बाहिरलिंगेण कायव्वं ॥९६॥

(२९०) **भावरहित बाह्यवेशकी अप्रयोजकता**—हे साधु तू बारह अनुप्रेक्षाओंका चिंतन कर, २५ भावनाओंका चिंतवन कर, क्योंक भावसे रहित मात्र बाहरी भेषसे

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

क्या किया जा सकता है ? अर्थात् कुछ भी नहीं किया जा सकता। कोई अपने पुजावा की चाहसे या घरकी परिस्थिति भलि नहीं, इस कारणसे या घरमें कुछ लड़ाई वगैरह हुई, किसी कारणसे दूसरे साधुवोंका सम्मान देखकर अगर निर्गंथ भेष धारण कर लिया तो उससे मोक्षमार्गकी प्राप्ति नहीं है। भावसहित होकर निर्गन्थ भेषमें हो तो वहां मोक्ष मार्गमें प्रगति है। तो यह बात बनेगी चिन्तन आत्मममननसे होती है। इस कारण हे साधु ! तू बारह अनुप्रेक्षावोंका चिन्तवन कर। अनुप्रेक्षाके मायने, अनुसार प्रकृष्ट ईक्षण करना, अनुप्रेक्षामें तीन शब्द हैं— अनु प्र ईक्षा, जैसा आत्माका स्वभाव है वैसा यह आत्मस्वभाव दृष्टिमें आये, उस ढंगसे प्रकृष्ट निगरानी करना, बाबा-बार चिन्तवन करना इसका नाम है अनुप्रेक्षा।

(२८१) **अनित्य भावनामें अनित्यसे उपेक्षा कर नित्यमें उपयुक्त होनेका पौरुष**—अनित्य-भावना। यदि यह ही यह कोई रट लगाये कि राजा मरेंगे, राणा मरेंगे, छत्रपति मरेंगे, पड़ौसी मरेंगे, मैं मरूंगा, जो जन्मा है सो मरेगा, तो इतने मात्रसे अनुप्रेक्षा नहीं बनती, इससे तो घबड़ाहट बढ़ेगी···हाय मर जाना होगा, सब मर रहे हैं, मैं कैसे बच सकूंगा, यों सोच-सोचकर वहां घबड़ाहट बनेगी। अनुप्रेक्षा कहाँ बनी ? अनुप्रेक्षा तब बने जब यह दृष्टि रहे कि पर्याय अपेक्षा मरण है। शरीरका संयोग है, उससे विकार होते हैं ये सब सांसारिक बातें हैं। मैं तो नित्य हूं, अमर हूं, ध्रुव हूं, मेरी सत्ताका कभी विनाश नहीं होता। यों आत्मस्वभावके अनुसार वहां दृष्ट जगे वह है अनित्य अनुप्रेक्षा। अनित्यके लिए, रोनेके लिए यह भावना नहीं है, किन्तु नित्य जानकर उससे लगाव हटाकर नित्यमें प्रवेश करनेके लिए यह भावना है। यह हुई अनुप्रेक्षा।

(२८२) **अशरण अनुप्रेक्षामें शरण्य स्वतत्त्वका शरण ग्रहण**—अशरण भावनामें निगरानी करें। मेरेको शरण नहीं है, केवल इतनी ही बात दिखे बहरमें कि ये सब धोखा देने वाले हैं, कोई मेरा सहाय नहीं और मरते वक्त तो कुछ भो शरण नहीं, इतनेसे अनुप्रेक्षा नहीं बनती। यह तो उसका प्रारम्भिक रूप है, पर इह द्वारसे यह जानकर कि बाहरमें कुछ भी कारण नहीं, उनका लगाव छोड़ें और जो वास्तविक शरण है उसकी दृष्टि करें, आत्माका आत्मा ही शरण है उसकी दृष्टि करें। आत्माका आत्मा ही शरण है, एक यह दृष्टि जगे, मैं स्वरूपमात्र हूं, ज्ञानमात्र हूं, शाश्वत शुद्ध हूं, इसमें कष्टका नाम नहीं। स्वरूप निहारो, परिपूर्ण हूं, ऐसी दृष्टि रखने वालेको वास्तविक शरण लिया है और जो बाहर बाहर ही अपनेमें लगाव करे वहां कुछ शरण नहीं।

(२८३) **संसार अनुप्रेक्षामें मायासे हटकर परमार्थमें उपयुक्त होनेका पौरुष**—संसार भाव-

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

नामें चिंतन करना कि संसार असार है। देखिये एक तो झुंझलाई दशामें बोला जाता है–भाईने धोखा दिया, स्त्रीने धोखा दिया, लड़कोंने धोखा दिया, मित्रोंने धोखा दिया। अरे कुछ नहीं, सब बेकार है यह जो झुंझलानेकी आवाज है और ऐसी आवाज तो शायद घर घरमें दो चार दिनमें एक बार सब कह लेते होंगे, क्योंकि झंझट हैं ना अनेक, पर इससे संसार भावना नहीं बनती। स्वरूपदृष्टि होनी चाहिए। हां संसार असार है, क्योंकि यह मायारूप है। माया किसे कहते हैं ? अनेक पदार्थोंके संयोगसे बनी घटनाको माया कहते हैं, लक्षण लखलो और सब लोगोंसे पूछ लो, जो लोग माया माया चिल्लाते हैं—प्रकृति, माया, पुरुष, ब्रह्म, उनसे भी जरा पूछो कि मायाका अर्थ क्या है ? तो आपका यह लक्षण ऐसा है कि सर्वत्र घटित करते रहें। एक पदार्थको कहते हैं परमार्थ और अनेक पदार्थोंके सम्बन्धसे हुई बात को कहते हैं माया। हम आपको जितना यह कुछ दिख रहा हैं, बताओ यह परमार्थ है कि माया ? यह माया है, अनन्त परमाणुओंके संयोगसे बना है, और जितने बैठे हैं ये सब परमार्थ है कि माया ? ये भी अनेक पदार्थों के सम्बन्धसे बने हैं, माया है। तो जरा घरमें जिन-जिनसे नेह लगाया हो उन उनका नाम ले लेकर प्रश्न तो करो। जिसे लड़का माना बताओ वह वास्तविक है माया ?··· माया।···जो देह लगा है बताओ यह वास्तविक है कि माया ?···माया। इस मायाके लगावसे क्लेश ही क्लेश है। परमार्थकी धुनमें परम आनन्द है। यह सब संसार माया है, यह असार है, किन्तु परमार्थभूत जो मैं ज्ञानमात्र अन्तस्तत्त्व हूं यह ही मेरे लिए सार है। मैं भी क्या निःसार हूं ?···नहीं, असार तो माया है, मैं तो सहज आत्मस्वरूप हूं सो यह सारभूत हूं। असारको छोड़ें, सारको ग्रहण करें, यह है अनुप्रेक्षण। जैसे स्वभावका विकास हो उसके अनुसार निरीक्षण करना अनुप्रेक्षा है।

(२९४) **एकत्व अनुप्रेक्षामें परमार्थ एकत्वका ईक्षण**—एकत्वभावना—दुःखोंसे घबड़ाये हुये पुरुष बोल देते हैं—कोई किसी का नहीं, सब अकेले हैं, अकेले ही कर्म भोगते, अकेले ही जन्मते हैं अकेले ही मरते हैं। देखिये—ये ही शब्द तत्त्वज्ञानी बोले तो उसने पाया है तत्त्व और ये ही शब्द झुंझलाया हुआ व्यक्ति बोले तो उसने कुछ नहीं पाया। और यह तो एक ऊपरी एकत्व है, पर वास्तविक स्वरूपका जो एकत्व है उसकी भावना करनी है—मैं यह एक अखंड ज्ञानात्मक पदार्थ हूं। जिसकी एकत्वपर दृष्टि है। उसको कष्ट नहीं। बाहरमें कुछ हो रहा है तो उसको चिन्ता नहीं। यह बाह्य पदार्थोंका परिणमन है। मैं तो यह अखण्ड ज्ञानस्वरूप हूं, यह है एकत्व अनुप्रेक्षा।

(२९५) **अन्यत्व अनुप्रेक्षामें अन्यके अन्यत्वका चिन्तन और उसका प्रयोजन**— अन्यत्व

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

अनुप्रेक्षामें चिंतन चलता है कि सब अन्य हैं, भिन्न हैं, दूसरे हैं, मेरा नहीं है कुछ। कोई तो दुःखसे घबड़ाकर बोलता और ज्ञानी स्वरूपदृष्टि रख कर बोलता कि प्रत्येक पदार्थका अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे सत्त्व है और अन्य पदार्थ अन्यके स्वरूपमें प्रवेश करता नहीं। जगह में प्रवेश करना और बात है, स्वरूपमें प्रवेश करना और बात है। स्वरूपमें तो पर पदार्थोंका किसीमें प्रवेश नहीं है। यदि प्रवेश हो जाय तो स्वरूपका अभाव हो जायगा। बिगड़ा होकर भी स्वरूपमें अन्यका प्रवेश नहीं है, पर बिगड़ा नाम किसका कि निमित्तके सन्निधानमें उपादान अपने आपमें विकाररूप परिणमता है तो वह है बिगाड़। पर ऐसा बिगाड़ होनेपर भी स्वरूपमें विगाड़ नहीं है, उस द्रव्यमें बिगाड़ नहीं है, उस पदार्थमें बिगाड़ है। स्वरूपमें बिगाड़ नहीं है। पदार्थसे स्वरूप निराला नहीं, फिर भी यह जच रहा है। यह कितना तीक्ष्ण ज्ञानदृष्टिका दर्शन है। जल गरम हो गया, अग्निका संयोग पाकर। जलने अपनी शीत अवस्था विलीनकर उष्ण अवस्था उत्पन्न कर ली। अब पूछें कि जलका स्वभाव गरम है कि जल गरम है ? तो यह कह देंगे कि जल गरम है, पर यह न कहेंगे कि जलका स्वभाव मरम है। कितनी एक अद्भुत बात है कि स्वभाव कहीं अलग नहीं पड़ा जलसे और स्वभावका वहाँ विकास भी नहीं है, फिर भी यह दम भरकर कहते हैं लोग कि जलका स्वभाव गरम नहीं है। दृष्टान्त है।

यद्यपि जल स्वयं कोई एक द्रव्य नहीं, वह भी परिणमन है, पर एक मोटा दृष्टान्त है। आत्मा रागद्वेष आदिक रूप चल रहा है। तो यह जीव तो इस अज्ञानभावसे परिणत हो रहा है मगर जीवका स्वभाव विकाररूप नहीं। जीव विकारी है उस कालमें, जब कि विकृत है, मगर स्व स्वभाव विकारी नहीं। तो यहींसे परख लीजिये कि बिगड़ा होनेपर भी स्वभावकी उपासना करना धर्मपालन है। कोई बिगाड़ को मना करे तो धर्मपालन की जरूरत क्या ? बिगाड़ ही नहीं है। कोई विकारको मना करे तो विकारसे हटनेको चिल्लाते क्यों ? तो स्वरूपदृष्टि करके एक-एक वस्तुको परखा, वहाँ समझमें आया कि एकका दूसरा कुछ नहीं है। अनन्तानन्त देहके परमाणु इस समय लगे हैं। अनन्तानन्त कर्मपरमाणु लगे हैं, उनमेंसे एक भी अणु इस जीवका कुछ नहीं है। सत्त्व सबका निराला है इस तरहसे देखना यह है अन्यत्व भावना।

(२९६) अशुचित्व अनुप्रेक्षामें अशुचिताका चिन्तन और शुचि अन्तस्तत्त्वका ईक्षण—

अशुचिअनुप्रेक्षा, यह देह अपवित्र है, हाड, मास, मज्जा, लोहू, चमड़ा, रोम और जिसकी दुर्गंध और भीतरी मल, मूत्र, पीप आदि कितनी ही दुर्गन्धित वस्तुओंका यह पिण्ड है। पर मोही पुरुष इस अपवित्रतापर दृष्टि नहीं देता है और चाम चादर लाल, पीली,

Version 1

https://sahjanandvarnishastra.org/

सफेद चिकनी है उसमें यह दृष्टि लगाता है कि देखो इसमें कितनी सुन्दरता है कितनी एक अच्छी वस्तु है, इस तरह की दृष्टि अज्ञानी जीवके होती है, जब कि ज्ञानीका इस शरीरके भीतरका खाका सामने नजर आता है। कहीं तो देखा भी होगा हाड़का पिंजरा अस्पतालोंमें या कहीं जहाँ शिक्षा दी जाती है। एक मनुष्यका हाड़का पिंजरा खड़ा कर देते हैं जिसमें एक-एक पसली दिखती है। बच्चोंकी पढ़नेकी किताबोंमें तो इस तरहका छपा हुआ दृश्य दृष्टिमें आये, इस तरहसे देखनेपर यह शरीर बड़ा अपवित्र लगेगा ! लगे अपवित्र, इतनेपर भी अभी सही मायनेमें अनुप्रेक्षा नहीं हुई। उसके मुकाबलेमें प्रतिपक्षमें अन्तस्तत्त्वको भी तो देखें। यह ज्ञानस्वरूप आत्मा परम पवित्र है। पवित्रको निरखनेका प्रयोजन है कि अपवित्रसे हटकर पवित्र स्वरूपमें आवो। यह है अशुचित्व अनुप्रेक्षा।

(२६७) **आत्मपवित्रता और उसका प्रभाव**—कोई भव्य प्राणी अपने ज्ञानस्वरूप अन्तस्तत्त्वको निरखकर उस ही में लीन हो तो मानो उसे यों कहो कि वह खुदमें खो गया। स्वयमें लीन हो गया, उस समय उसकी पवित्रताका भान करें, पवित्र हो जायगा। ऐसे ही पवित्रताका जहाँ सम्बन्ध हो वहाँ शरीरकी भी पूजा होने लगती है। जहां पवित्रता समाप्त हुई वहां शरीरपर डडे बरसते हैं। कोई पुरुष गाली बके, हिंसा झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह पापमें बढ़े, असद्व्यवहार हो तो वह है आत्माकी अपवित्रता। उस पवित्र आत्माके संबन्ध से तो शरीर भी लोगोंके द्वारा पूजा जायेगा। जहां आत्म-पवित्रता है—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्रका भाव बसा है तो कहते हैं ना कि रत्नत्रयसे पवित्र शरीरसे ग्लानि न करो, बल्कि प्रीति करो, भक्ति करो, सेवा करो। साधु जनोंको नहानेकी जरूरत नहीं, फिर भी पवित्र। जो पाप करे सो नहाये, और-और बातें करे, अनेक दण्ड भोगे, वह नहाये। और जो निष्पाप है, जिसकी आत्मदृष्टि है वह तो समझता है कि नहानेसे पाप हो जायगा। न जाने किस जीवपर पानी पड़े और वह दुःखी हो जाय। और फिर इस शरीरकी क्या नहा धोकर सफाई करना। यह दृष्टि जगती है ज्ञानस्वरूपकी धुन होनेपर। और कोई गृहस्थ अगर मुनियोंकी होड़ करे कि मुनि भी तो नहीं नहाते सो हम भी नहीं नहायेंगे, यह सोचकर १०-१०, १५-१५ दिन न नहाये तो उसकी यह भूल है। उसकी तो ऐसी दशा समझो कि जैसे गाड़ीमें जुतने वाले बैलोके पैरोंमें नाल ठोकी जाती है तो एक मेढकी भी उसे देखकर अपने पैरों में नाल ठोकाने चली। अरे भावसहित क्रिया हो तो वह सार्थक है। भावसहित क्रिया एक वह पवित्र वातावरण है कि जिसमेंसे गुजरते हुए भावोंमें प्रगति कर लो। निर्ग्रन्थ भेषमें रहकर निःशल्य होनेका अवसर मिलता है वहां आत्मसाधना द्वारा मोक्ष मिलता

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

है। वहां भी यह निर्णय रखना कि निर्ग्रन्थभेषसे मोक्ष नहीं मिलता, किन्तु आत्मदृष्टिसे मोक्ष मिलता, मगर वह आत्मदृष्टि निर्ग्रन्थ भेषमें रहे बिना बन नहीं पाती। मोक्ष मिलता है आत्म उपासनासे, न कि मात्र शरीरके भेषसे। सो हे साधु पुरुष ! भावोंसे रहित मात्र बाह्य लिङ्गसे सिद्धि नहीं है, अतः अपनी आत्मदृष्टिकी भावना कर।

(२६८) **आस्रवानुप्रेक्षामें आस्रवकी दुःखकारिताका कथन**—साधुजनोंको उपदेश है कि भावरहित बाह्य लिङ्गसे कुछ प्रयोजन नहीं सधता, अतः बारह अनुप्रेक्षावोंको भावो। अभी तक अशुचि भावनाका वर्णन हुआ था अब आस्रवभावनाकी बात सुनो—आस्रवका अर्थ है चारों ओरसे स्रवण होना, चूना। जैसे बरसातमें कभी छत कोई नीचे गीली हो जाती है, येक-एक बूंदसा दिखता है वह चूना कहलाता है। इसी प्रकार आत्मामें चारों ओर से कर्मोंका आना होता है, कर्मोके आनेका एक रास्ता नहीं है कि पैरकी ओरसे आये कि सिरकी ओरसे आये। आत्माके एक क्षेत्रावगाहमें कार्माणवर्गणायें भरी पड़ी हैं। तो जैसे ही मिथ्यात्व, कषाय, अविरित भावका निमित्त पाया कि कार्माणवर्गणायें कर्म-रूप परिणम जाती हैं, इसे कहते हैं आस्रव। ये आस्रव बहुत दुःख देने वाले हैं। अन्यत्र ऐसा कथनाक है कि एक सन्यासी गुरुके अनेक शिष्य थे। तो गुरुने विचार किया कि अपने बाद किसे उत्तराधिकारी बनायें, तो गुरुने उन शिष्योंकी परीक्षा ली। क्या किया कि एक-एक चिड़िया दे दी। और यह कहा कि इसे ऐसे एकान्तस्थानमें जाकर वध करो जहां कोई दूसरा देखता न हो। तो और तो सभी शिष्योंने किसी एकान्तस्थानमें उस चिड़िया का वध किया, पर एक शिष्यको कहीं भी एकान्त न दीखा, उसकी समझमें यह बात बैठी हुई थी सर्वत्र भगवान व्यापक है, और कोई यदि नहीं देख रहा तो भगवान तो देख ही रहा। इसलिये उसने उस पक्षीका वध न किया। उसने बहुत बहुत एकान्त स्थान ढूंढ़ा—पर्वत, नदी, श्मशान, जंगल गुफा आदि, पर उसे कहीं एकान्त न दिखा और वह सीधा गुरुके पास चला आया। तो उससे पूछा गुरुने कि बेटे तुमने इस पक्षीका बध क्यों नहीं किया ? क्या तुम्हें कोई एकान्त स्थान नहीं मिला ? तो वह शिष्य बोला गुरुजी मैंने तो बहुत बहुत ढूंढा एकान्त स्थान, पर कहीं एकान्त न दिखा, हमें तो जगह भगवान दिखाई दे रहे थे, मान लो यहां तो कोई नहीं देख रहा था, पर भगवान तो देख रहे थे, इस लिए हमने इस चिड़ियाका बध नहीं किया। तो ठीक है, यहां कोई कितना ही लुक छिपकर पाप करे, पर कर्मोंका आश्रव तो जरूर होगा। इसमें कैसे पर्दा डाला जा सके। और, आश्रव हुआ तो उसी समय कषाय भी है तो स्थिति बंध भी होता है। अब अपने समयपर उदय उदीरणके कालमें वे कर्म अपने आप भयंकर रूप धारण करेंगे

Version 1

https://sahjanandvarnishastra.org/

और उस समय यह जीव ज्ञानस्वरूपसे विचलित होकर खुद अज्ञानरूपमें परिणम कर अपना नाश करेगा। तो यह आश्रय दुःखदायी है।

(२९९) **आस्रवानुप्रेक्षामें अन्तः स्वनिरीक्षण**—आस्रवके आनेके द्वार हैं मन, वचन, काय। वास्तवमें तो कषाय है आनेका द्वार, योग है आनेका द्वार, मगर उस योगका व्यक्ती करण मन, वचन, कायकी क्रियासे होता है इसलिए उसका नाम दिया जा रहा है। बेचारा शरीर जड़ है उसका क्या अपराध है कि हाथ अगर यहां से उठाकर दूसरी जगह रख दिया तो आश्रव हो गया। वस्तुतः द्रव्य मन, वचन और कायकी चेष्टासे आश्रव नहीं होते, पर यह चेष्टा हुई क्यों ? भीतरमें कोई वासना बनी तब चेष्टा हुई ? तो वासनाकी बात इसपर आरोप करके कही जाती कि मन, वचन, कायकी चेष्टासे आश्रव होता है, अथवा एक यह कर्तव्य समझनेके लिए कि हम मन, वचन, कायको वश न करेंगे तो कर्मोंका आश्रव चलता रहेगा। आश्रव दुःखकार धनेरे, गुणवन्त तिन्हें निरवेरे, यह है आश्रवकी कथा, मगर यह आश्रव ही आश्रव देखते रहे तो अब वास्तविक अनुप्रेक्षण नहीं हुआ। आत्माको तो देखो वह निराश्रव है। आत्माका स्वरूप स्वभाव अविकार है। जो कि स्वयं सत् होता, जो उसका सहज स्वरूप है वहां विकारका गंध नहीं है। केवल ज्ञान और ज्ञानकी वृत्ति, ज्ञान ज्योतिका परिणमन इतनी ही बात स्वरूपमें पड़ी है, बाकी बात तो सम्पर्कवश हुई है। अपने आपको निराश्रव निरखना यह है आश्रव अनुप्रेक्षा।

(३००) **संवरानुप्रेक्षामें संवर उपकारी तत्वकी आदेयता**—संवर अनुप्रेक्षा, संवर कहते हैं रुक जानेको, कर्मोंका आश्रव रुक जाय आस्रव न हो सके उसको सम्वर कहते हैं। आते हुए कर्म रुक जायें, यह सम्वरका अर्थ नहीं है। आते हुए को कौन रोकेगा ? पर आना ही न होवे इसे कहते हैं संवर। इन कर्मोंका आना रुके तो इस जीवको मोक्षमार्गमें प्रगति मिलेगी। और भावसम्वरकी दृष्टिसे देखें तो विभाव परिणाम न हो सके, ऐसा ज्ञानबल बढ़ायें, ऐसा सहजस्वभावकी दृष्टि दृढ़ करें कि वहां विभावोंको न अपनाया जाय, स्वभावदृष्टिही बनी रहे तो वहां भावसम्वर होता है। सम्वर उपकारी तत्त्व है। सम्वर स्वरूप खुद आत्मा है। आत्मा अकेला है, उसमें संवर स्वरूप है। तो ऐसे सम्वर स्वरूप अंतस्तत्त्वका निरीक्षण करें यह है सम्वर अनुप्रेक्षा।

(३०१) **निर्जरानुप्रेक्षामें भावनिर्जराकी साधनाका महत्व**—निर्जरा अनुप्रेक्षा कर्मों के झड़नेको निर्जरा कहते हैं। जैसे पीछीमें से पंख झड़ते हैं, कोई पंख पूरा नहीं झड़ता, थोड़ा थोड़ा रेसा निकलता रहता है। तो रेसा रेसा निकलकर कुछ ही दिनोंमें वह पिछी

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainelibrary.org

ठूठ जैसी हो जाती है। पूरा निकलनेका नाम निर्जरा नहीं है। वह तो कहलायगा मोक्ष, और उन कर्मोमेंसे कुछ परमाणु निकल गए, कुछ बदल गए, उनका क्षीण होना यह कहलाया निर्जरा। निर्जरा तत्त्व इस जीवका उपकारी तत्त्व है। पर अन्तरमें देखें, भाव-निर्जरा स्वभावदृष्टिकी प्रखरतासे विभावोंका झड़ना है, वासनाओंका मिटना यह है भावनिर्जरा। जिसको भावनिर्जरा है उसके उपभोगकी दशामें भी उपभोग बंधका कारण नहीं होता। यद्यपि रागांशके अनुसार बंध है, मगर विशेषता यह बतायी कि वर्तमान उपभोगमें राग न होनेसे, उसके भोगनेका राग न होनेसे वह नवीन बंधका कारण नहीं बनता सो निर्जरा ही हो गयी। विषयोंका राग और विषयोंको भोगनेका राग इन दो में कुछ अन्तर है ना ? पदार्थोंका राग और पदार्थोंको चिपटानेका राग इन दो में अन्तर है। परिस्थितिवश पदार्थोंमें राग चलता है। अगर राग न चले तो गृहस्थ क्या गृहस्थीमें रह सकता ? नहीं रह सकता। ज्ञानी भी गृहस्थ होते हैं, उनकेभी राग चलता है, नहीं तो वे गृहस्थीमें रह कैसे सकते ? मगर उन्हें रागमें राग नहीं होता। पदार्थको चिपकाने में राग नहीं है कि यह मेरे सदाकाल बना रहे, इस भोगनेका राग न रहनेसे भावनिर्जरा होती है। यह निर्जरा तत्त्व जीवका उपकारी है।

(३०२) **लोकानुप्रेक्षामें लोकभ्रमण मिटानेके अर्थ भावशुद्धिकी प्रेरणा**—लोकानुप्रेक्षा—लोकका स्वरूप विगारना। लोक कितना बड़ा है ? भगवानने जैसा दिव्यध्वनिमें बताया, गणधरोंने जैसी वाणी झेली, आचार्य संतोंने जैसा विस्तार बताया, वैसा लोकके आकार का चिन्तन करें। बहुत विशाल लोक है। इस लोकमें यह जीव अज्ञानवश कषायवश हर प्रदेशोंमें जन्म ले चुका। लोकका कोई ऐसा प्रदेश नहीं बचा, जहां कि इस जीवने अनेक बार अनन्त बार जन्ममरण न किया हो। तो इस जीवने सारे लोकका परिचय कर डाला, मगर जिस भवमें यह जीव गया बस वही जगह उसे अनोखी लगती रही। खूब घूम आया सारे लोकमें, घर बना डाला सारे लोकमें, मगर मोहदशामें जहां यह जीव इस लोकमें भ्रमण कर रहा। यह भ्रमण न चाहिये हो तो उसका उद्यम है आत्मा के सहज स्वरूपका ज्ञान करना और अपनेको सहज स्वरूपमय अनुभवना। यह है लोक अनुप्रेक्षा।

(३०३) **बोधिदुर्लभ अनुप्रेक्षामें रत्नत्रयकी दुर्लभताका प्रतिबोधन**—बोधिदुर्लभ अनुप्रेक्षा—जगतमें सब कुछ मिलना सुलभ है, राजपाट धन-वैभव आदि जो-जो भी सांसारिक बातें हैं ये सब सुलभ हैं, किन्तु सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्रका मिलना दुर्लभ है, और देखो जो अपना नहीं है उसके बीच तो यह आराम कर रहा है और जो

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

अपना है उसकी इस को सुध भी नहीं है। जैसे एक कहावत है ना ? "पानी बिच मीन प्यासी, मोहि सुन सुन आवत हांसी" पानीमें रहकरभी मछली प्यासी है, इसको कोई सच मान लेगा क्या ? अगर कदाचित् ऐसा हो जाय अथवा ऐसा होता ही नहीं, लेकिन यह आत्मा इस आनन्दस्वरूपमें बसता हुआ तृष्णासे प्यासा बना रहता है। स्वरूप तो है इसका सहज आनन्द, मगर तृष्णाके कारण यह निरन्तर प्यासा और आकुलित रहता है। तो यह सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र यह तो आत्माका स्वाभाविक रूप है, यह तो अत्यन्त सुगम हो जाना चाहिए। मगर कोई उल्टा ही चल रहा है तो उसे दुर्लभ बन गया। तो रत्नत्रयकी प्राप्ति बड़ी दुर्लभ है। उसको अन्दर में देखिये तो विदित होगा कि रत्नत्रयका लाभ जितना सुलभ है उतना सुलभ अन्य कुछ हो नहीं सकता। परद्रव्य पर मेरा अधिकार क्या ? हो गया संयोगवश समागम, पर अधिकार इनपर कुछ नहीं। आत्माका इनपर क्या अधिकार ? किन्तु सम्यग्दर्शन, ज्ञान चरित्रपर हमारा पूर्ण अधिकार है। मेरा स्वरूप है कि बाह्य विकल्पोंको छोड़ूं और स्वरूप में आऊं। यह कौनसी कठिन बात है, लेकिन दुर्लभ बना है। किस कारणसे ? इस कारणसे कि मोहमें दृष्टि पड़ी है इसलिए दुर्लभ है।

(३०४) विषयकषायभावनाके परिहारपूर्वक ज्ञानामृतपानसे बोधिकी सुलभता—

वेदान्तकी जागदीशी टीकामें एक कथानक आया है कि कोई दो दूकानें थीं पास-पड़ौस की। उसमें एक तो थी शक्करकी दूकान और एक थी नमककी दूकान। एक बार शक्करकी दूकानमें रहने वाली चींटी बहिन नमककी दूकानमें रहने वाली चींटीके पास गई और बोली, बहिन तुम यहां क्या खाती हो ? तो वह दूसरी चींटी बोली—हम नमक की डली खाती हैं।...अरे यह क्या ? रोज रोज खारा-खारा खाती हो, तुम हमारे साथ चलो, वहां तुम्हें रोज-रोज मीठा मीठा ही खानेको मिलेगा। पहले तो उस चींटीको विश्वास न हुआ, पर बहुत-बहुत कहनेपर वह चलनेको तैयार हो गई, मगर सोचा कि कहीं ऐसा न हो कि भूखों मरना पड़े सो अपनी चोंचमें एकदो खुराक खानेके लिए नमक की डली रखकर चली। जब शक्कर की दूकानमें पहुंची तो नमककी डलीको तो मुखसे अलग किया नहीं और शक्करके दानेपर मुख रख दिया तो वहां भी खारी खारी ही लगे। सक्करकी दूकान वाली चींटीने पूछा—कहो बहिन मीठा स्वाद आया ना ? तो वह बोली—नहीं।...तुम कुछ मुखमें रखे तो नहीं हो ?...हाँ एक-दो खुराक खानेके लिए नमककी डली अपनी चोंचमें रखे हैं।...अरे, तो फिर कैसे मीठा स्वाद आये। तू इस नमककी डलीको मुखसे निकाल दे, फिर देख कि मीठा स्वाद आता है नहीं। उसने

Report any errors at vjkasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

नमककी डलीको मुखसे निकाल दिया तब उसे मीठा स्वाद मिला। और बड़ी कृतज्ञ होकर बोली—बहिन, तुम बड़ी भाग्यशाली हो जो रोज-रोज ही मीठाका स्वाद लेती रही। तो जैसे नमककी डली अपनी चोंचमें रखे रहनेके कारण चींटीको मीठा स्वाद नहीं आया, इसी प्रकार जब यह जीव अपने उपयोगरूपी चोंचमें बाह्यपदार्थोंसे ममत्व रखे हुए है तो इसको अपनी सहज ज्ञानमूर्तिका भान कैसे बने ? आखिर उपयोग ही तो है। इस उपयोगको चाहे विषय कषायोंकी ओर लगा दें, चाहे सहज परमात्मतत्त्वकी ओर लगा लें, चाहे शान्ति पा लें चाहे अशान्ति। तो मोह रागद्वेषवश इस जीवको यह रत्नत्रय दुर्लभ रहा। तत्त्वज्ञान जगे और परभावोंसे दृष्टि हटे तो इसको बोधिलाभ सुलभ है।

(३०५) **धर्मानुप्रेक्षामें भावशुद्धि**—धर्म अनुप्रेक्षा—धर्मके स्वरूपका विचार करना धर्मानुप्रेक्षा है। धर्म है आत्माका स्वभाव। आत्माका स्वभाव है ज्ञाताद्रष्टापना। ज्ञान-मात्र। सो ज्ञाता दृष्टा रहें, ज्ञानवृत्तिरूप रहें, अन्य पदार्थोंको न अपनावें तो वहां धर्म पालन है। इस धर्मपालनका बहुत ऊंचा फल है। कुछ राग शेष रहे तो उत्तम देवभव मिले, उत्तम मनुष्य पर्याय मिले, रागका क्षय होनेपर मुक्ति मिले। धर्मका फल मांगने की जरूरत नहीं पड़ती। धर्मका फल सोचनेकी जरूरत नहीं पड़तो। जहां धर्म है वहां धर्मका फल अवश्य मिलता है। बहुतसे लोग कहने लगते हैं कि हमको पूजा करते करते बीसों वर्ष व्यतीत हो गए, पर दरिद्रता न मिटी कोई प्रकारका आराम न मिला, धर्म का कुछ फल नहीं है, मगर ऐसी जिनकी स्थिति है उन्होंने धर्म किया कहां ? शरीरका परिश्रम किया। सुबह उठे, नहाया धोया ठंडे पानीसे। फिर जल भरा, द्रव्य धोया, यहां वहां द्रव्य चढ़ाया, पूजा पाठ किया, कोई लोग दर्शन करने आये तो उन्हें देखकर टन्ना-कर बैठ गए इसलिए कि लोग समझ जायें कि यह बड़े धर्मात्मा हैं। कितने ही प्रकारके मिथ्याभाव उत्पन्न किये। बताओ वहां धर्म कहां किया ? यदि आत्माके स्वभावकी दृष्टि बनती, परमात्माके स्वरूपकी दृष्टि बनती है और उस स्वरूपके समान अपने आप को माननेकी दृष्टि बनतीतो वहां धर्मपालन होता। धर्मका फल बिना याचना किए, बिना चिंतन किए मिलता है। इस प्रकार साधुजनोंने बताया है।

(३०६) **अहिंसाव्रत**—भावरहित बाह्य लिङ्गसे कोई फायदा नहीं है। अनुप्रेक्षावों का चिंतन करें और २५ भावनाओंको भायें। व्रत ५ होते है—अहिंसा, सत्य, औचार्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। प्रत्येक व्रतकी ५-५ भावनायें होती हैं। उन भावनाओंका यह प्रभाव होता है कि उससे व्रत निर्दोष पलता है। तो उन भावनाओंको भावें। जैसे

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

अहिंसाव्रतकी ५ भावनायें हैं वाङ्मनोगुप्तीर्यादाननिक्षेपणसमित्यालोकितपानभोजनानि पञ्च । वचनको वशमें करना—यह अहिंसा व्रतकी भावना है, जिसके वचन वशमें नहीं, अधिक बोलने की आदत है वह खुद दुःखी रहता है और उसके संग में जो हो वह भी दुःखी रहता है, इसलिए वचनगुप्तिकी भावनासे अहिंसाव्रतकी साधना बनती है । अधिक बोलने वाला कभी ऐसा अटपट बोल जाता है कि उस पर वह खुद पछताता है । कम बोलने वाला खूब सोच समझकर बोलता है । दूसरोंकी बात सुनना अधिक और बोलना कम, यह वृत्ति होनी चाहिए हर एक की । और देखो जो ये दो कान मिले तो मानों डबल सुननेके लिए मिले और जिह्वा एक मिली सो मानो सिंगल वचन बोलनेके लिए । वचनोको वशमें रखने वाला बहुतसे संकटोंसे बच जाता है । सो साधुजन तो वचनगुप्ति का पड़ा प्रयास करते हैं,

(३०७) **अहिंसाव्रतकी शेषभावनाओंकी भावना**—ऐसे ही दूसरी अहिंसाभावना है मनोगुप्ति, मनको वशमें करना । यह मन बड़ा चंचल होता है, मन विषयमें गया तो उससे दुर्भावना बनी और तत्काल हिंसा हो रही । दुर्भावना होनेसे खुदके चैतन्य प्राणकी हिंसा हो रही । इसलिए मनको वशमें करना । जितने बाह्य क्रियाकाण्ड हैं ये केवल मन को वश करनेके तंत्र हैं । अभी यह क्रिया करें फिर वह क्रिया करें, लगे रहें क्रिया करने में उससे मन विषयोंकी ओर नहीं लगता । इस मनको बंदरकी उपमा दी है । बंदर शायद सोते हुएमें तो थोड़ा स्थिर रहता होगा मगर जगते हुएमें कभी स्थिर नहीं रहता । कभी हाथ उठाता, कभी पैर चलाता, कभी सिर मटकाता, कभी देह खुजलाता, कभी कुछ क्रिया करता । नाटक करने वालोंको तो सीखनी पड़ती हैं—आंखोंकी भौं नीचे ऊपर चलाना, आँखों की पुतली इधर-उधर करना, मगर बंदरके लिए ये सब क्रियायें करना बड़ा आसान है । तो जैसे बन्दर निरन्तर चंचल रहता है ऐसे ही यह मन भी बड़ा चंचल रहता है । कभी कुछ सोचा कभी कुछ । तो ऐसे मनको वश में करना यह होता है ज्ञानबलसे । तो जिन्होंने अपने मनको वशमे किया है उनके अहिंसाव्रत अच्छी तरह पलता है । प्रथम तो परम अहिंसा आत्माके सहजस्वरूपकी दृष्टि है, सो मनको वशमें करने वालेको आत्मस्वरूपका दर्शन बहुत सुगम रहता है । उस मनोगुप्तिके अभ्याससे, पालनसे अहिंसाव्रत पलता है । ऐसे ही तीसरी अहिंसाभावना है ईर्यासमिति—देखभाल-कर चलना । ईर्यासमिति वाला सोचता है कि मेरे जीवके ही समान ये जीव हैं, ये सब भी परमात्मस्वरूप हैं, इनपर मेरा कहीं पैर न पड़ जाय (४) आदाननिक्षेपणसमिति—किसी जीव-जंतुको बाधा न हो खूब निरीक्षण करके वस्तु धरना उठाना, मल मूत्र, थूक

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

आदिकका वहां क्षेपण करना जहां जीव-जन्तु न हों, यह भावना रहती है वह अहिंसा-व्रत निर्दोष पालनेके लिए है। इन भावनाओंको भायें जिससे व्रतका निर्दोष पालन हो।

(३०८) **भावशुद्धिके साधक सत्य व्रतकी साधनाके लिये क्रोधप्रत्याख्यानकी भावना**—आचार्यदेव यहां साधुओंको सम्बोध रहे हैं कि भावरहित लिंगके धारण करनेसे क्या लाभ है? बारह अनुप्रेक्षावोंको भावो और २५ भावनाओंको भावो। बारह अनुप्रेक्षा और २५ भावनामें से प्रथम अहिंसाव्रतकी भावना तकका वर्णन हुआ। अब सत्य व्रतकी भावना देखिये, सूत्रजीमें बताया है—"क्रोधलोभभीरुत्वहास्यप्रत्याख्यानान्यनुवीचिभाषणं च पंच" सत्यव्रतकी ५ भावनायें क्या-क्या हैं–(१) क्रोधका त्याग, (२) लोभका त्याग, (३) डरपोकपनेका त्याग, (४) हंसी मजाकका त्याग और आगमके अनुसार बोलना। जिन जीवोंके क्रोधका त्याग नहीं है, क्रोध रखनेकी आदत बनी रहती है, उनके वचनोंमें सच्चाई नहीं समझी जाती है। स्पष्ट भी झूठ बोलते हैं। किसीपर गुस्सा आये तो उसका बिगाड़ ही तो करना चाहते हैं। अब यों ही तो बिगाड़ हो नहीं जाता। वैसे बिगाड़ तो उसका उसके ही पापके उदयसे होगा, और लौकिकदृष्टिसे मान लो तो दूसरेका बिगाड़ किया जाना बड़ा कठिन है ना? तब असत्य बोलकर और अन्य उपाय बर्तकर बिगाड़ करना चाहते हैं। क्रोधमें अपनी सुध नहीं रहती और न सत्यव्रत पालनकी उसे सुध रहती हैं। बड़े-बड़े लोग भी यदि क्रोधमें आ जायें तो उनके वचन कुछ न कुछ असत्यता से भरे निकलते हैं। इस कारण सत्य व्रतका पालन करना हो तो क्रोधका त्याग होना चाहिए। अब क्रोधके त्यागका नियम तो होता नहीं कि हमने कहीं नियम ले लिया कि मैं कभी क्रोध न करूंगा। यद्यपि ऐसा भी किया जाता है, पर जब कर्मविपाक उदित होता है तो उनका निमित्तनैमित्तिक योगमें जो होना है सो होता है। तब क्रोधको कैसे त्यागा जाय? ज्ञानबलसे अपने सहज ज्ञानस्वरूपकी भावना बहुत-बहुत भाइये, उससे अपना आत्मबल बढ़ेगा, ज्ञानरुचि बनेगी, जिसके प्रतापसे क्रोधका परिहार हो जायगा। तो क्रोधका परिहार करना सत्यव्रत पालनका उपाय है।

(३०९) **भावशुद्धिसाधक सत्यव्रतके साधनार्थ लोभप्रत्याख्यानकी भावना**—दूसरी भावना है लोभका त्याग। जब चित्तमें लोभ आजाता है तो धन मिले या यह मेरा धन नष्ट न हो जाय इस आशयमें जैसा बोलनेसे काम बने वैसा बोलना पड़ता है, क्योंकि उसको तृष्णा लगी है। तो लोभ कषाय जब चित्तमें हैं तब असत्य वचन निकल जाते हैं। प्रायः देखते ही हैं। कितने ही लोग तो कसम भी खा लेते हैं धनके लोभसे। तो जिनके लोभ कषाय नही मिटी उनके सत्य वचनका व्यवहार नहीं बन पाता। तब सत्य व्रत पालन

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

की जिनके इच्छा है, भावना है, नियम ले लिया है उनका कर्तव्य है कि वे लोभका परित्याग करें। लोभकषायका भी परिहार करना कठिन है। उसका नियम कैसे लिया जाय ? वह तो कषायका उदय आया और उसीतरह ढल गया। तो इसका भी परिचय ज्ञानबलसे होता है। अपने आपमें निरखिये मैं अनन्त ज्ञान, अनन्त आनन्दके वैभव वाला हूं। इसके समक्ष तीन लोकका भी वैभव सामने इकट्ठा हो तो उससे कुछ लाभ नहीं मिलता है। तो यह ज्ञानी पुरुष अपने सहज स्वभावका आदर करता है और उसकी दृष्टिमें यह ही लोकोत्तम है, इस कारण लोभका परिहार हो जाना उसके लिए बहुत आसान है। लोभका परित्याग यह सत्य व्रतका निर्दोष पालन कराता है। अनेक पौराणिक कथायें और लोक पद्धति है कि लोभमें केवल कष्ट ही पाया। अच्छा अपनी ही बात देख लो, लोभमें रंग रहे, धर्म हेतु, उपहार हेतु कुछ भी खर्च करनेकी भावना न बने, ऐसी जिन्दगी बिताई जाय, बहुत सा धन इकट्ठा भी कर लिया जाय तो उससे इस आत्माको लाभ क्या है ? लाभ नहीं बल्कि तृष्णाका पाप लादे रहनेसे तो दुर्गति ही होगी। तो लोभका परित्याग हो तो सत्य व्रतका निर्दोष पालन बनेगा।

(३१०) **भावशुद्धिके साधक सत्य व्रतके साधनार्थ भयप्रत्याख्यान भावना**—भयका त्याग—अगर कायरता है, डरपोकपना है, भयभीत हो रहे हैं तो ऐसी स्थितिमें जैसी अपनी रक्षा समझी उस ढंगसे वचन बोलते हैं। और वह बोल असत्य निकलता है। जैसे जीवनमें कितने ही अवसर आये होंगे। छोटे-छोटे बालक तो भय दिखाया जाने पर अनेकों बार झूठ बोल जाते हैं। मान लो कि किसी बच्चेने गिलास फोड़ दिया, उसके दादा बाबा किसीने पूछा यह गिलास किसने फोड़ा ? तो वह बच्चा बोलता हमने नहीं फोड़ा। यों एक बार नहीं, अनेकों बार झूठ बोलता है। वही बच्चा जब जवान हुआ तो अनेकों भय उसके सामने आते हैं। कभी किसी साम्प्रदायिक झगड़ेमें फंस जाय, बड़ी भारी कलह हो जाय, और निकल गया किसी दूसरी जातिके मोहल्लेसे तो वह अपनी जाति बदलकर किसी तरहसे अपने प्राण बचाता है। तो एक ही क्या, अनेकों ऐसी घटनायें बनती हैं जिनमें अनेकों बार झूठ बोलना पड़ता है। और बुढ़ापेमें कोई सत्य की मूर्ति थोड़े ही बन जायगा। यहां भी अनेक भय बनते हैं, वहां भी झूठ बोल सकते हैं। सत्य व्रतका निर्दोष पालन वही कर सकता है जिसके किसी भी प्रकारका भय नहीं। जिसने आत्माका अन्तः स्वरूप अनुभवा है उसका यह दृढ़ निश्चय है कि मेरा आत्मा अमर है। वह कभी मिटता नहीं, यहां न रहा दूसरी जगह चला गया। इस देहसे क्या राग करना ? जिसने ज्ञानस्वरूपका अनुभव पाया वह निःशंक रहता है और

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

सत्य महाव्रतका पालन सम्यग्दृष्टि पुरुष ही तो कर पाते। तो डरपोकपनेका त्याग होना, निर्दोष सत्य व्रतका पालन कराता है।

(३११) **सत्य वचन बोलनेका व्रत निर्दोष पालन करनेके लिये हास्यपरित्यागकी आवश्यता**—हंसी मजाकका परित्याग हो तो सत्य वचन बोले जा सकते, हंसी मजाक दिल्लगी करने वाला सत्य वचनका व्यवहार नहीं कर सकता। और फिर कहते हैं ना—लड़ाईकी जड़ हांसी और रोगोंकी जड़ खांसी। हास्यसे कलह भी बढ़ता है और कलह बढ़ेगी तो वहां सत्य वचनकी सुध थोड़े ही रहेगी। एक बार कोई मित्र अपने कंजूस मित्रके घर पहुंचा। अब उस कंजूस मित्रने यह देखा कि यह आ गया, पता नहीं कितने दिन यह ठहरेगा, तो उसके घर रसोई बनाने वाला एक रसोइया (नौकर) था सो उस नौकरको कुछ समझा दिया कि हम कुछ लाठीसे आवाज करेंगे और तुम रोने लगना, इससे वह ऐसा वातावरण देखकर अपने आप भग जायगा, सो उसने वैसा ही किया। लाठीका प्रहार किया जमीनपर, और उधर वह रसोइया रोने लगा और वह मित्र डरकर वहांसे बड़ी दूर भाग गया। अब भाग तो गया, मगर फिर सोचा कि हम भाग तो आये, पर मित्र से कहकर तो नहीं आये, इसलिए पुनः वहीं लौट चलना चाहिए। यह विचारकर वह पुनः वापिस लौट आया। इधर वह कंजूस सेठ (घरका मालिक) आंगनमें रसोइयासे बात कर रहा था—हमने लाठीसे पीटा तो नहीं, तो रसोइया बोला—हमने रोया भी तो नहीं, तो इतनेमें वह मित्र वहीं पौरमें खड़ा पीछेसे बोला—मैं भी गया भी तो नहीं। तो ऐसी कितनी ही घटनायें हो जाती हैं हंसी मजाकमें, लोभमें कि जिनमें सत्य वचन व्यवहार नहीं बनता।

(३१२) **भावशुद्धिमें अनुवीचिभाषणका महत्त्व**—५वीं भावना है अनुवीचि भावना। आगमकी आज्ञाकी अवहेलनाका कुछ ख्याल तो रखना चाहिए। आगमविरुद्ध वचन बोलना यह दोष है। जिसकी छायामें रहकर अच्छी जिन्दगीसे जियेंगे, और भविष्यमें हम अच्छी प्रकार रहेंगे हमें उस आगमकी आज्ञामें रहना चाहिये। उद्दण्डतासे तो काम नहीं बनता। भगवानकी वाणीके शासनमें रहना हो तो कोई बात ऐसी न निकल जाय शास्त्रके विपरीत इसका ध्यान रखना चाहिए। अब आजकल श्रद्धाहीन लोग अधिक हो रहे हैं तो उन्हें कुछ परवाह ही नहीं है, जैसा मनमें आया वैसा बोल दिया। और अपनी कषायके अनुसार पंक्तिका अर्थ निकालना यह बड़ा सुगमसा बन गया है, जबकि आचार्यदेवने किसी आर्ष सूत्रकी या ग्रन्थकी टीका की है तो कोई शब्द अगर ऐसा भी आया हो जो वहां पूरा फिटसा नहीं जचता हो, लेकिन टीकाकारोंकी ऐसी दृढ़ श्रद्धा आचार्यों

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

के प्रति, प्राचीन ऋषियोंकी ओर थी कि ऐसी वाक्य रचनासे टीका की कि उसे जंचा दिया कि यह सब लेख पूर्णतया ठीक है।

(३१३) **आगम और युक्तिसे सत्य श्रद्धान करनेमें कल्याण**—अब जो स्वच्छंदता चल रही है उसमें इतना तक लोग कहने लगे कि सूत्रजीका तीसरा अध्याय या चौथा अध्याय में से भूगोलकी बातें ये तो निकाल देना चाहिए क्योंकि यह सिद्ध हो गया कि जमीन नारंगी की तरह गोल है, कुछ यह भी बतलाते हैं कि एक समान है, थोड़ी भी युक्ति नहीं सोचते कि आंखोंके देखनेका ढंग ऐसा होता है कि हम कहीं भी खड़े होकर देखें तो दूरकी जमीन ऐसी लगती जैसे नीचे धस गई हो। आंखसे देखनेका तरीका ही यों है। अच्छा और तो जाने दो, रेलकी पटरियोंमें तो एक इन्चका भी अन्तर नहीं होता। जितने चौड़े अन्तरसे रेलकी पटरियां रखी जाती हैं उतनी ही रखी जायेंगी। कोई लाइन अगर ऐसी सीधी हो कि आपके एक दो मील तक भी सीधी दिखाई पड़े उसे आप खड़े होकर देखें तो सही, जितना अंतर आप अपने निकट पा रहे हैं क्या ऐसा अन्तर वह एक मील दूरका भी नजर आयगा ? नहीं, वे तो दोनों लाइनें एक दूसरेसे मिली हुई नजर आयेंगी। देखो वे दोनों लाइनें एक दूसरेसे मिली तो नहीं होती, यहाँ तक कि आधा या पाव इन्च तकका भी फर्क नहीं होता, यदि फर्क हो जाय तो कितनी ही दुर्घटनायें प्रतिदिन होती रहें, पर ऐसा नहीं होता। तो आंखोंसे देखनेका ढंग ही ऐसा है। यों श्रद्धा तो नहीं बना पाते कि युक्तिसे, मननसे ये सही जाननेकी कोशिश करें कि आचार्योंने जो लिखा है वह अक्षरशः ठीक है। अपनेको मुग्ध लोग अभिमानी बुद्धिमान मानलेते हैं, जैसे कि मानों दुनियाके सभी जीवोंके लिए कुल दो आंखें मिली हों तो मानते कि डेढ़ आंखें तो हमारे पास हैं बाकी आधी आंखमें सारी दुनियाके जीव हैं, इतना बुद्धिमान अपनेको मान लेते हैं। तो सूत्रविरुद्ध जो बात करता है वह सत्य व्रतका पालन नहीं कर सकता। तो इन ५ भावनाओंसे सत्य व्रतका पालन होता है। सो हे मुने इन भावनाओंके द्वारा तुम सत्य व्रतका निर्दोष पालन करो।

(३१४) **अचौर्यव्रतके निर्दोष पालनका साधुवोंको आगमका उपदेश**— तीसरा व्रत है अचौर्याणुव्रत—चोरीका त्याग। चोरी तो बहुत तरहकी होती हैं—धनकी चोरी, नाम की चोरी, साहित्यकी चोरी। उनके नाम भी अलग अलग चलते हैं। जैसे साहित्यचोर, धनचोर, आचरणचोर आदिक। चोरी किसी भी तरहकी करे, उसका आशय बहुत खोटा होता है। एक बार हम (प्रवक्ता) दुर्गमें थे तो वहां एक व्यक्ति एक किताब लिए हुए था उसने कहा—देखिये महाराज जी, यह किताब बहुत अच्छी है, उसे मैंने खोल-

Report any errors at vikashd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

कर देखा तो एक लाइन देखते ही मैंने कहा कि यह तो मेरी लिखी हुई एक डायरी है, इसका नाम सम्पादक सुमेरचन्द जी ने रखा था—सहजानन्दवाणी', पर उसमें क्या देखनेमें आया कि उसका कोई दूसरा नाम रखकर आचार्य निर्मलसागर नामधारी मुनि ने उसमें लेखककी जगहपर बदलकर अपना नाम डलवा दिया था, और उस पुस्तकमें पांच जगह अपना फोटो भी मायाचारीसे लिखते हुए का, और और प्रकारका छपवा रखा था। यह दृश्य देखकर मैं तो बड़ा दंग रह गया ? निर्मलसागर जी जब मुजफ्फर-नगर आये थे तो छपते ही यह पुस्तक सम्पादकने निर्मलसागरजी को भेंट दी कि कल्याण करें। निर्मलसागर जी ने दो वर्ष बाद तेज विहार कर औरंगाबादमें मायाजाल कर उसे छपवाया। इतनी बड़ी साहित्यकी चोरी की निर्मलसागर मुनिने। बताओ—इससे बड़ा पापकार्य और किसे कहा जाय ? वहीं कई सदस्य थे, 'सहजानन्दवाणी' पुस्तक मगवाई। लोगोंने देखा कि न एक अक्षर कम न एक ज्यादा। पता चला कि औरंगाबाद चातुर्मास में उन मुनिने हमारी प्रकाशित डायरीको ज्योंकी त्यो प्रेसमें दे करके किताब छपवायी थी। आखिर हम औरंगाबाद पहुंचे, वहां पता लगवाया जिन प्रेसोमें वह पुस्तक छपी थी, वहां पता लगवाया तो जिस पुस्तकके आधारपर वह नई पुस्तक छपी थी वह भी देखनेको मिली। उन मुनिको इतनी भी अकल कहां थी कि वह एक भी अक्षर उस पुस्तकमें से बदलकर लिख सकें। सिर्फ लेखकका नाम बदलने भरकी अकल थी। उस पुस्तकके सम्पादकको जब इसकी वास्तविकताका सही पता पड़ा तो वह भी बड़ा भय-भीत हुआ। निर्मलसागरको भी बादमें जब पता पड़ा कि वर्णीजी को हमारी साहित्य की चोरीका पता पड़ गया तो वह भी बड़ा व्यग्र हुआ, स्थिर चित्त न रह सका। चित्त भंग हो गया। और चोरी करनेके परिणाममें फिर और और भी बुरी बातें आने लगीं। निर्मलसागर से और भी अनेक अटपट बातें हुई जिससे लोगोंने उसे कपड़े भी पहना दिये। वह मुनिपदसे च्युत हो गया। पता चला है कि बादमें फिर उसने कपड़े उतार दिये। तो साहित्यकी चोरी एक बहुत बड़ी चोरी है और फिर ऐसे ऊंचे पद पर आकर इस प्रकारका जघन्य काम यदि कोई करे तो उससे बड़ा पाप और किसे कहा जाय ? निर्मलसागर ने चोरी भी की और प्रस्तावनामें लिखा कि कागजकी महंगाई आदिके कारणसे थोड़ा लिखा। निर्मलसागरजी ने बादमें घबड़ा कर मुजफ्फरनगर पत्र भी दिया कि हमने वर्णीजीके इस उतम साहित्यका प्रचार हो इससे छपवाया, यदि चोरीका भाव नहीं था तो पुस्तकनाम व लेखक नाम सही रहने देते। अहो ऐसे ही व्यामूढ व्यक्तियों ने धर्मकी ओटमें अपना मौज बनाकर लोगोंको श्रद्धाहीन कर दिया है। तो साधुको

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

अचौर्यव्रतका निर्दोष पालन करना चाहिये।

(३१५) **भावशुद्धिसाधक अचौर्यव्रतकी साधनाके लिये पञ्च भावनाओं भाने व प्रयुक्त करनेका आदेश**— अचौर्यव्रतकी प्रथम भावना है सूने घरमें रहना। सूने घरमें रहनेसे क्या होता कि भाव बुरे बनेंगे नहीं। चोरी करनेका भाव बननेका अवकाश ही नहीं वहां। अगर कहीं भरी पूरी जगहमें रहें या किसी गृहस्थके घरमें रहे और कोई मूल्यवान चीज दिखे तो उसे देखकर उस मुनिकी भावना बिगड़ सकती। अगर संगति उत्तम नहीं है और गृहस्थोंके बीच आवास अधिक है, ज्ञानबल भी नहीं है तो उसका चित्त डगमगा जाय यह बहुत कुछ सम्भव है, सो सूने घरमें रहना यह अचौर्यव्रतका निर्दोष पालन करानेका साधन है। छोड़े हुए घरमें रहना। जो घर छूट गया वा उस घरके लोग अन्य गांव भाग गए ऐसा घर अब खाली पड़ा है, वहां भी भावना ठीक हो सकती। तो जो विमोचित स्थान हैं वहां रहना भी अचौर्य व्रतका साधक है। मुनि महाराज जहां ठहरे हों, वहां दूसरेको न ठहरने देना यह उस मुनिके लिए कलंक है, और इसके अनेक दृष्टान्त मिल सकते हैं। कहीं तो पुरालमें नोट (रुपये) छिपायें हैं, कहीं चटाईमें छिपाये हैं, उसे छिपानेके लिए किसीको वहां न ठहरने दे, लोग जान जायेंगे, चोरीकी पोल खुल जायगी, यह सोचकर दूसरेको न ठहरने देना यह उस मुनिके लिए कलंक है। दूसरेको ठहरनेके लिए रोकना नहीं, यदि जगह है तो दूसरेको भी ठहरने दे, किसीको ठहरनेसे रोकनेका कारण क्या? या अन्य प्रकारकी चोरी भी सम्भव है। ये हमारे चारित्रको देखेंगे या हम अपनी इज्जत बनानेके लिए जैसे नटखट करते हैं उनका परिचय पा लेंगे, इसलिए न ठहरने देना। तो परोपरोधाकरण। दूसरेको ठहरने देना, रोकना नहीं, रोकना नहीं, यह भावना भाना। तब अचौर्य व्रतका निर्दोष पालन होता है। भैक्ष्यशुद्धि, भोजन पान आहार पूर्ण शुद्धिके साथ करना, उसका अचौर्यके साथ सम्बन्ध है। भाई भोजनमें कोई छोटासा बाल निकला यों छिपा लिया, नीचे गिरा दिया या अन्य कोई बात हुई ओर उसकी उपेक्षा कर देना, ऐसी घटना चोरीसे सम्बन्ध रखती है, इसलिए बताया है कि भैक्ष्यकी शुद्धि होना यह अचौर्यव्रतका निर्दोष पालन करता है। ५वीं अचौर्य भावना है साधर्मीके साथ विवाद झगड़ा विसम्वाद न करना, क्योंकि अपने साधर्मी भाइयोंके साथ अगर विवाद किया, झगड़ा किया तो उसमें इतना मनमें आ जाता है कि इसका कुछ बिगाड़ हो जाय। कलहका तो यह ही फल है। यों सोचना कि इसका बिगाड़ हो जाय, इस धुनमें कहो उसका कुछ नुकसान भी कर दे। गुस्सामें न जाने क्या क्या नहीं किया जा सकता। तो साधर्मियोंके साथ विवाद न करना यह अचौर्य व्रतका निर्दोष पालन कराता है। सो

Report any errors at vikasnd@gmail.com

https://www.jainelibrary.org

यहां कुन्दकुन्दाचार्यदेव साधुजनोंको समझा रहे कि हे साधुजन भावरहित भावलिङ्गसे कोई लाभ नहीं है, अतः अपने भावोंको सम्भालो। बारह अनुप्रेक्षावोंको भावो और २५ भावनाओंको भावो।

(३१६) भाव शुद्धि साधक ब्रह्मचर्य व्रतकी निर्दोष साधनाके अर्थ पञ्च भावना—

यहां कुन्दकुन्दाचार्यदेव साधुजनोंको प्रतिबोध रहे हैं कि भावरहित बाह्य लिङ्गसे कोई लाभ नहीं मिलनेका। इस कारण भाव बनावें, अनुप्रेक्षाकी भावना भावें और २५ भावनाओंको भावें। २५ भावनाओंमें तीन व्रतकी भावनायें कह दी गई हैं, अब ब्रह्मचर्य व्रत की ५ भावनायें सुनें। तत्त्वार्थसूत्रमें बताया है—स्त्रीरागकथाश्रवणतन्मनोहराङ्गनिरीक्षणपूर्वरतानुस्मरणवृष्येष्टरसस्वशरीरसंस्कारत्यागाः पञ्च। ये ५ भावनायें वे हैं जिनकी भावना भानेसे, जिनका प्रयोग करनेसे निर्दोष ब्रह्मचर्य व्रतकी साधना होती है। पहली भावना है स्त्रीरागकथात्याग, स्त्रीविषयक राग बने, ऐसी कथाओंका त्याग करना, चर्चा कहानी न सुनना, ऐसी जो स्त्रीविषयक रागकथायें, जैसे कि प्रायः आजकल सनीमाओंमें देखी जाती ऐसी कथायें, और भी उस प्रकारकी कथायें न करना। दूसरी भावना है—स्त्रीके मनोहर अंगोंके निरीक्षणका त्याग करना। देखो इसमें लग रहा होगा ऐसा कि पुरुषोंको ही सम्बोधा गया तब ही तो स्त्रियोंकी बात कही जा रही, पर यही अर्थ यहां स्त्रियोंके लिये भी लगायें तो होते दोनों अर्थ हैं। स्त्रियोंको भी ब्रह्मचर्य व्रतके लिए कहा गया और पुरुषोंको भी। स्त्रियां भी आर्यिका आदिक होती है और पुरुष भी मुनि तक होते हैं। पर विशेषतया जो पुरुषोंका लक्ष्य रखकर सम्बोधन मिलता है उसका कारण यह है कि साक्षात् मोक्ष तो पुरुषोंको मिलता है इसलिए उनको सम्बोधन करना और उसमें स्त्रियोंका सम्बोधन अपने आप हो जाता है। दूसरी भावना है पूर्वमें भोगे हुए भोगोंका स्मरण न करना। यदि पूर्वमें भोगे गए भोगोंका ख्याल करेगा तो मलिनता आयगी। तो ब्रह्मचर्यका निर्दोष पालन उनके होता जो इन भावनाओंको भाते, प्रयोग करते, पूर्वमें भोगे गए भोगोंका स्मरण नहीं करते। ज्ञानी है ना? जो गया सो गया मगर अज्ञानियोंको देखो अगर किसी बरातसे दो चार दिन पहले हलुवा पूड़ी खाकर आये तो उसीकी चर्चा करते कि मैंने खूब अच्छा भोजन खाया था। अरे खाया सो खाया, अब क्या वह धरा है? उसकी चर्चा करनेसे अब क्या फायदा? ज्ञानीजन पूर्वमें भोगे हुए भोगोंका स्मरण नहीं करते। चौथी भावना है कामवर्द्धक इष्ट रसोंका सेवन न करना। यों खाऊं, यों बनाऊं। ऐसा करूं, ऐसी दृष्टि ज्ञानीजनोंकी नहीं रहती। तो सारा दिन काहेमें बितायें? इसलिए ज्ञानीजनोंका सारा समय ज्ञानाराधनामें व्य-

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

तीत होता है। वे ऊलजलूल बातोंमें नहीं पड़ते। तो इष्ट रसोंका त्याग करें। ५वीं भावना है अपने असार शरीरके संस्कारोंका त्याग करना। इस शरीरके लिए न जाने कितने प्रकारके शृंगार होते उनके कोई संस्कार शृंगार ज्ञानी जनोंके नहीं होता। तभी तो मुनिजनोंके शरीरपर धूल मिट्टी चिपटी रहती, क्योंकि उनको शरीरके संस्कारोंका त्याग रहता है। इन ५ भावनाओंसे और इनके प्रयोगसे हे मुनिजनो, ब्रह्मचर्य व्रतका निर्दोष पालन करो और भावशुद्धिमें बढ़ो।

(३१७) **भावशुद्धिसाधक परिग्रहत्यागव्रतकी निर्दोष साधनाके अर्थ पञ्च भावना**—५वां व्रत होता है परिग्रहत्याग महाव्रत। उसका निर्दोष पालन करनेके लिए ५ भावनायें हैं सूत्रजी ने कहा है मनोज्ञ इष्ट और अनिष्ट जो इन्द्रियके विषय हैं उनमें राग और द्वेषका छोड़ना। कोई आदमी परिग्रह क्यों बढ़ाता है, क्यों रखता है कि उसको इन्द्रियके विषयोंमें प्यार है और अनिष्ट बातोंसे द्वेष है और उसके लिए फिर आवश्यकता धनकी विशेष है इसलिए परिग्रहको जोड़ता है। तो परिग्रहका मूल है विषय-राग। सो ५ इन्द्रियके विषयोंमें रागद्वेष न जगे, रागद्वेषका परिहार हो, ऐसी भावना भाना और प्रयोग करना, इस तरह हे मुने जो भावोंकी शुद्धि रही, सम्यग्दर्शन रहा, आत्माके सहज ब्रह्मस्वरूपमें रुचि रही तो उसके साधन बढ़ाया। वह साधन बढ़ाता है मुनिभेषमें, क्योंकि वहां कोई चिन्ता करनेका रूप नहीं है, निर्ग्रन्थ है, कोई परिग्रह पास नहीं, किसी काममें पड़ना नहीं किन्तु उसकी साधनामें रहना। तो उनके लिए सुगम है कि सहज आत्मस्वरूपकी भावना बढ़ायें और यदि कोई मुनि भेष रखकर भी परिग्रह सार समझे, परिग्रह रखें बहुतसे आरम्भ साधन रखे और चेला बनानेका शौक है तो वह भी परिग्रह है। परिग्रह रहते हुएमें भावोंकी शुद्धि नहीं बनती। इस कारण हे मुनिजनो, भावोंकी शुद्धि बढ़ाओ और अपना भेष सफल करो।

सव्वविरओ वि भावहि णवयपयत्थाइं सत्ततच्चाइं।
जीवसमासाइं मुणी चउदसगुणठाणणामाइं ॥९७॥

(३१८) **सर्वविरत होकर भी ज्ञानभावनाका प्रवर्तन**—सर्व परिग्रहसे विरक्त भी हो गए तो भी हे मुने इन ९ पदार्थोंके मननमें लगो। ७ तत्त्वोंके मननमें लगो। जीव समासकी चर्चा भी समझो और १४ गुणस्थानोंको भी जानो। सर्व कुछ छोड़ दिया, मुनि हो गए, पर अब २४ घंटे समय काहेमें बिताना? अगर ठाली रहे तो अटपट बातें आयेंगी, समाजकी पड़ोसकी प्रशंसाकी, निन्दाकी, आलोचनाकी, या प्रमाद करेंगे। उसमें भाव शुद्ध नहीं रहते। तो २४ घंटे समय बितानेको चाहिए ना कुछ। तो क्या चाहिए

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

मुनियोंको कि तत्त्वविज्ञानका मनन चिंतन करें। किसमें ये समय बितायें, पर मुनियों का तो जो कर्तव्य है उसे मुनि न करें तो उनका पतन है। मगर श्रावकोंकी भी कुछ जिम्मेदारी है कि वे अपना ऐसा व्यवहार रखें साधुजनोंसे कि उनका पतन न हो सके। और व्यवहार क्या, बस उनकी भक्ति पूर्वक सेवा करें और उन्हें किसी पचड़ेमें न पड़ने दें। अगर वे कोई बात कहते हैं पचड़ेकी समाजकी तो यहां तक कि मुनियोंको तो समारोह विधानमें द्रव्यपूजनमें या अन्य बातोंमें भी प्रवृत्ति न करना चाहिए। उनका तो केवल आत्मध्यान और ज्ञानका काम है। अब यदि कोई मुनि अन्य बातोंमें पड़ता है तो श्रावक जन उन्हें करनेसे रोकें। बाहरी बातोंमें पड़नेसे उनके मुनिपनेमें हीनता आती है और उन विधेयकोंमें भी पापबंध होता है। हमें चाहिए साधु परमेष्ठित्व, जिनका कि रूप अरहंतके करीब निकटका है। तो कुछ उत्तरदायित्व श्रावकोंपर भी है। सो दोनों ही अपना कर्तव्य यदि नहीं निभाते तो जहां जाना है सो दोनों ही जायेंगे। तो साधु जनोंको प्रतिबोध किया है कि सर्वविरत होकर भी तत्त्वविज्ञानकी भावनामें रहें।

(३१६) **नवतत्त्वपरिचयमें जीव व अजीवतत्त्वका संक्षिप्त परिचय**—नव पदार्थोंको जानें कि जीव अजीव, आश्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष, पुण्य और पाप। यदि पुण्य और पाप न कहें तो ७ तत्त्व कहें। ७ तत्त्वोंमें भी ६ बातें आयीं और ६ में भी ७ बातें आयीं। पुण्य और पाप तो आश्रवके भेद हैं। अलगसे न बोलें पुण्य पाप तो एक आश्रव ही कह लें, दोनों आ गए। तो ७ तत्त्व समझिये। जीव मायने जो जानन देखनहार स्वयं आनन्दमय है, चैतन्यस्वरूप है वह कहलाता है जीव। सो कैसी श्रद्धा करना कि वास्तवमें जीव है कैसा ? जीव सत्य ज्ञानस्वरूपी है। अपने ही प्रदेशोंमें अपने ही स्वरूपमें रहने वाला है। सबसे निराला यह जीवद्रव्य है। अजीव—जीवको छोड़कर बाकी सब भाव अजीव हैं। तत्त्वविज्ञानकी भी दृष्टियां अनेक होती हैं। कहां बैठकर देखना ? उससे वस्तुकी मुद्रामें विभिन्न दर्शन चला करते हैं। जैसे जब ४-५ मंजिलके ऊपर खड़े होकर नीचे सड़क पर देखेंगे तो चलने फिरने वाले लोग छोटे छोटे दिखाई दें तो और जब नीचे सड़कपर पहुंचकर अपने सामने चलते फिरते लोगोंको देखेंगे पूरे ५-५॥ फिट के दिखाई देंगे, तो ऐसे ही तत्त्वको समझनेका एक मूड होता है जुदा जुदा। झगड़े किस बातपर चलते हैं ? एकान्त हो जाय तो झगड़ा हो जाय। यदि अनेकान्त और स्याद्वाद को अपनायें तो कभी झगड़ा हो ही नहीं सकता जीव और अजीवमें ही देखो—जब पर्याय दृष्टिसे देखा तो जीव लगा कि यह औपशमिक, क्षायोपशमिक, क्षायिक और पारिणामिक भावमें रहता है और अजीव वह लगा कि जिसमें ज्ञान दर्शन नहीं है।

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

अब जरा शुद्ध दृष्टिसे देखें तो जीव वह कहलाया कि जो मात्र चैतन्यस्वरूप है, जिसमें विषय नहीं, कषाय नहीं, गुण पर्यायका भेद नहीं। तो ऐसा जब जीवको देखा जा रहा है तो अजीव क्या रहा ? धन वैभव तो अजीव हैं ही, यह देह भी अजीव है, कर्म भी अजीव हैं और कर्मके उदयका निमित्त पाकर जीवमें जो अध्यवसान, रागद्वेष भाव, तर्क, चिन्तन, विचार जो भी चलते हैं वे भी अजीव हैं, अब जिसको समझ न होवे वह तो है अजीव और जिसमें समझ बने वह है जीव। अभी यह जाना, अब यह जाना। अब कहां बैठ कर देखा जा रहा है उसका फल है यह सब। और अजीव वह है जिसमें ज्ञान नहीं है। यहां ७ तत्त्वोंमें अजीव शब्दसे परिलक्षित हैं कर्म, क्योंकि दोनोंका ही गुथन और निवारण इन तत्त्वोंका प्रयोजन है।

(३२०) आस्रव तत्त्व—जीव और कर्म ये तो हुए जीव और अजीव आश्रव हुआ जीवमें कर्मका आना। अब उसके विशेष विवरणमें चलें तो जीवमें कर्म कहां प्रवेश करते ? जो कार्माणवर्गणायें हैं वे कर्मरूप बनें इसे कहते हैं आश्रव और ऐसा ही निमित्त-नैमित्तिक योग है कि एक क्षेत्रावगाह रहते हैं। जैसे बापका लड़केसे प्यार अधिक होता तो लड़का बापको छोड़कर तो न रहेगा। बाप कहीं जायगा तो वह लड़का भी जायगा। यह एक सामान्य बात कह रहे, अगर किसीसे प्रीति करे तो वह साथ रहेगा। ऐसे ही जीवने कर्मके फलसे प्रीति की तो ये कर्म इसके साथ लगे हैं। एक जगह एक बूढ़ा व्यक्ति अपने द्वारके चबूतरेपर आरामसे बैठा हुआ था। उसके पास उसके ही कई नाती पोते खेल रहे थे। उनमेंसे कोई लड़का उस बुड्ढेका हाथ झकझोर रहा था, कोई सिर हिला रहा था, कोई मूछ पटा रहा था, उससे वह बुड्ढा काफी हैरान हो गया। यहां तक कि रोने भी लगा। इतनेमें ही वहांसे निकला कोई सन्यासी। तो वह सन्यासी पूछ बैठा—कहो बाबा जी, तुम क्यों रो रहे ? तो वह बुड्ढा बोला—क्या बताऊं, मैं तो बड़े संकटमें हूं, मेरे ही ये नाती पोते मुझे बड़ा हैरान करते हैं, सीधे बैठने नहीं देते। तो क्या मैं तुम्हारा यह संकट मेट दूं ! हां हां महाराज आपकी बड़ी कृपा होगी जो हमें इस संकटसे बचा लेंगे। अब वह बुड्ढा तो ऐसा समझ रहा था कि सन्यासी जी कोई ऐसा जादू फेंक देंगे कि ये नाती पोते फिर तो हमारे सामने हाथ जोड़े जोड़े फिरेंगे, पर सन्यासीने कहा अच्छा उठो, तुम हमारे साथ चलो। इस नाती पोतेके झगड़ेको छोड़ दो। तो वह बुड्ढा झुंझलाकर बोला—अरे तुम मुझे क्यों बहका रहे ? जावो। चाहे ये हमें पीटें या मारें ये हमारे नाती पोते ही कहलायेंगे, हम इनके बाबा ही कहलायेंगे। हमारे इनके बीचमें इतना फर्क डालने वाले तुम कौन तीसरे आ गए ? तो

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

देखो जिस मोहके कारण ये संसारी प्राणी दुःखी होते जाते उस मोहको छोड़ना नहीं चाहते।

(३२१) **आस्रवकी दुःखकारिता**—मुग्ध व्यामोही यह चाहते हैं कि राग छोड़ना न पड़े और आनन्द मिल जाय, पर यह बात कभी सम्भव नहीं। इस अनादि संसारमें न जाने कितने ही भव पाये, कितने ही संग समागम पाये फिर भी बताओ इस वक्त भी पासमें है क्या कुछ ? कुछ भी तो नहीं है। सूनेके सूने हैं. लेकिन इस भवमें भी यह मोह छोड़ा नहीं जा पा रहा। धुन बनी है धन वैभव जोड़नेको। खूब धन वैभव जोड़ जोड़कर, उसे देख देखकर खुश हो रहे। अरे खुश कहां हुए ? वे तो बड़ी विपत्तिमें हैं। जब भाव शुद्ध नहीं है, भाव जब अज्ञानमय है तो विपत्तिमें पड़े हैं। जैसे बहुत ऊंचे चढ़कर कोई गिरे तो उसको बड़ी चोट लगेगी ऐसे ही कोई बड़ा सुख पाकर अपने भावों से गिरे तो उसकी बड़ी कठिन दुर्गति होगी। सो मोह रागद्वेष ये आश्रय हैं, ये यहां दुःखदायी हैं और जीव इनमें लगाव लगाये तो ये कर्म उसके साथ रहते हैं। ऐसा ही निमित्तनैमित्तिक योग है, कर्मोंका आश्रव हुआ।

(३२२) **बन्ध तत्त्व**—जैसी कषाय साथमें है वैसा ही उसका बंध भी होता। बंध मायने है—इस आत्माके साथ कर्मका रहना। पर यह बंध कैसे न हो ? कषाय तो साथ लगी है। शास्त्रसभामें बैठे हों और पास ही में जरा दूर खुदका लड़का बैठा हो तो झट उस लड़केपर ही ध्यान पहुंचता है। इतनी भी बात चित्तमें नहीं आती कि थोड़ी देर के लिए ध्यानसे बैठकर जिनवाणी सुनें। भीतर ये रागद्वेष मोह ऐसा घन पड़े हुए हैं कि जैसे पत्थरमें पानीका प्रवेश नहीं, ऐसे ही इस मोह भरे हृदयमें जिनवाणीके शब्दोंका प्रवेश नहीं है। इन कषायोंको दूर करना पड़ेगा अन्यथा धर्मपालनका ढोंग क्यों रखा जा रहा ? अगर यह आशय न बनाया कि ये कषाये बैरी हैं और मुझे कषाय छोड़ना चाहिए तो इन कषायोंमें और इन बाह्य विषयोंमें कुछ भी सार नहीं है। ऐसा अगर आशय न बने तो मंदिरमें आनेका प्रयोजन क्या है, सो तो बताओ ? फिर तो ऐसा समझो जैसे उर्दूमें कहते तफरी करना (दिल बहलाया) किसी तरहसे समय काटनेकी एक प्रकारकी आदत सी बन गई।

(३२३) **भावशुद्धिके लिये सहजात्मस्वरूपकी प्रतीतिकी अनन्यसाधकता**—अरे अगर यह आशय बना लिया जाय कि अज्ञान और कषाय ये ही मेरे बैरी हैं और ज्ञान और वैराग्य ये ही मेरे मित्र हैं, मुझे कुछ मिलेगा तो मेरे आत्मा भगवानसे मिलेगा। बाहरसे कुछ नहीं मिलनेका अरे जितने भी बाहरी संग समागम हैं वे तो मात्र अनर्थके लिए हैं।

Version 1

 http://sahjanandvarnishastra.org/

मुझे तो ज्ञान चाहिए। मुझे तो वैराग्यकी उमंग चाहिए। तो जिनके पूर्णज्ञान प्रकट है, जिनके वीतरागता हुई है उन भगवानकी मूर्ति है यह। उसे निरखकर हम साक्षात् भगवानका ध्यान बनायेंगे तो कुछ तो मेरे पर असर होगा। ज्ञान और वैराग्यके लिए कुछ तो प्रीति होगी। यह प्रयोजन रखकर घरसे मन्दिरमें आवें और मन्दिरमें अपने आवश्यक कार्य करे तब तो लाभ है अन्यथा जैसे लोग कहने लगते वैसा ही कह लो कि कुछ तो ठीक है। जहां कषाय है वहां ही अधर्म है। धर्मध्यानका पूरा ठेका नहीं है कहीं कि मन्दिरमें आनेपर मेरे धर्मध्यान बन ही जायगा। अगर ज्ञानभाव है तो बन जायगा नहीं तो खोटा ही ध्यान बनेगा। और कहो अशुद्ध दशामें है, मान लो शौचके लिए गए हुए हैं या अन्य किसी प्रकारसे अशुद्ध दशामें हैं, और कहो उसी अशुद्ध दशामें बडा पवित्र ध्यान बन जाय? वैसे ये मन्दिर, शास्त्र, प्रतिमा आदिक धर्मपालनके साधन हैं, पर इनके साथ अपना ज्ञान सही रहे तो ये धर्मके साधन बनते हैं, और यदि वहां भी ज्ञान सही नहीं है, अज्ञानदशामें चल रहे हैं, कषायें चल रहीं हैं तो उन धर्मसाधनोंसे भी कुछ फायदा न उठाया।

(३२४) **संवरतत्त्वका निर्देश**—भैया! इन धर्मसाधनोंसे ज्ञानपूर्वक धर्मसाधना करते रहें विषय कषायोंसे अपनेको दूर रखें तो वहां कर्मोंका सम्वर होगा याने कर्मोंका आना रुक जायगा। बताओ यह सम्वर आपको पसंद है कि नहीं? हा पसंद होना ही चाहिए, अन्यथा गुजारा न चलेगा। अब आप खुद विचारें कि हमारे अन्दर धर्म पालन करके वीतरागताका भाव आता है कि नहीं? देखा होगा कि लोग मन्दिरमें कभी-कभी स्त्री पुरुष एक साथ दर्शन करनेके लिए खड़े होते तो वहां क्या करते कि रागवश उस स्त्रीके हाथसे तो बादाम चढ़वाते और खुद काला एक कमलगट्टा चढ़ा देते। अब बताओ जहां राग साथ लगा है वहां वीतरागताके दर्शन कहांसे हो सकते? बहुतसे लोग कहने भी लगते कि स्वाध्यायमें हमारा मन नहीं लगता, अमुक ग्रन्थके पढ़नेमें हमारा मन नहीं लगता। तो ठीक है, यदि उस ग्रन्थके पढ़नेमें मन नहीं लगता तो जो सरल रोचक ग्रन्थ हों उनका स्वाध्याय करें। जैसे भी हो, अपने अन्दर धर्म भाव बनाकर सम्वर तत्त्वमें आइये। इस सम्वर तत्त्वमें आनेसे कर्मोंका आना रुक जायगा।

(३२५) **निर्जरा व मोक्ष तत्वका निर्देश**—निर्जरा तत्त्वमें कर्मोंका झड़ना होता है। जो पहले रागद्वेष मोहवश कर्मबन्ध किया वे कर्म निर्जरा तत्त्वमें झड़ते हैं। सो यह विचार करो कि कर्म जुदे और कर्मफल जुदा। मैं तो ज्ञानस्वरूप हूं। ऐसे आनन्दमय ज्ञानस्वरूप अंतस्तत्त्वमें आइये। कर्म झड़ जायेंगे। जैसे गीली धोतीमें यदि धूल चिपक

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

जाय तो धूपमें सुखा लेनेपर थोड़ा सा झटक देनेसे ही सारी धूल झड़ जाती है ऐसे ही भव भवके बांधे हुए कर्म भी ज्ञान और वैराग्यके बलसे झड़ जाया करते हैं। इस तत्त्व के चिन्तनमें अपने लिए शिक्षा भी मिलती है। जहां कर्म सब झड़ गए वहां मोक्ष तत्त्व प्रकट होता है, जो एक निज अंतस्तत्त्व है ज्ञानज्योति, वही मात्र रहे उसे कहते हैं मोक्ष। तो हे मुने बाह्य लिंगसे निर्ग्रन्थ दिगम्बर तो हुए, मगर तत्त्वकी भावनामें चलें जिससे लाभ है, नहीं तो अपनेको भी ठगा और जिन भक्तोंसे सिर रगड़वाया उनको भी ठगा। दोनों ही किसी जगह रुक जायेंगे। सो वह उससे बदला लेगा वह उससे। सो ज्ञानभावनामें आवो और अपने इस दुर्लभ मानव जीवनको सफल करो।

(३२३) **जीवसमासोंके परिचयनका उपदेश**—भावपाहुड ग्रन्थमें मुनिराजको उपदेश किया गया है कि मुनिवरो! सर्व परिग्रहोंसे विरक्त होकर तुम ६ पदार्थ ७ तत्त्वकी भावना करो और १४ जीवसमास एवं १४ गुणस्थानका चिन्तन करो। जीवसमास कहते किसे हैं? जहां जीवोंका संग्रह होवे वह जीवसमास है। जिन धर्मोंके द्वारा अनेक जीव ग्रहणमें आयें उन धर्मोंको जीवसमास कहते हैं। जीवोंका वर्णन, जीव समासका वर्णन अनेक ढंगमें होता है। अब १४ जीवसमास एक प्रसिद्ध ढंग है। ५ तरहके जीव होते हैं, सब जानते हैं। संसारी जीव एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय। एकेन्द्रिय किसे कहते हैं? जिसमें सिर्फ एक स्पर्शनइन्द्रिय है। बस शरीर हो, जैसे पेड़, पानी, पृथ्वी, हवा, अग्नि ये सब एकेन्द्रिय कहलाते हैं। जिसके स्पर्शनरसना ये दोइन्द्रिय हों वह दोइन्द्रिय। रसना जीभको कहते हैं। जैसे लट, केंचुवा, जोंक, शंख, कौड़ी, सीप। तीनइन्द्रिय जीव कैसे? जिनके स्पर्शन, रसना और घ्राण ये तीन इन्द्रियां हों, जैसे चींटा, चींटी, जुवां, लीख, कानखजूरा आदिक ये तीनइन्द्रिय जीव हैं। चारइन्द्रिय जीव उन्हें कहते हैं जिनके आंखें और हों, स्पर्शन, रसना, घ्राण और चक्षु। जैसे भंवरा, बर्र, मक्खी, मच्छर आदिक। पञ्चेन्द्रिय उन्हें कहते हैं जिनके आंखें और हों, स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और कर्ण।

(३२७) **एकेन्द्रियादि जीवोंकी पहिचान**—एकेन्द्रियादि जीवोंकी करीब-करीब पहिचान यह है कि एकेन्द्रिय तो सब जानते हैं कि जिनके जीभ न हो। जो दोइन्द्रिय जीव हों उनकी करीब-करीब पहिचान यह है कि उनके पैर नहीं होते और वे सरकते ही रहते हैं। एक सांप जैसोंको तो छोड़ दो बाकी ये जीव ऐसे मिलेंगे सरकने वाले दो-इन्द्रिय। लट, केंचुवा आदि ये सब सरकने वाले हैं, तीनइन्द्रिय जीव हैं। चारइन्द्रियकी पहिचान यह है कि दो से अधिक पैर हों और उड़ते हों। मक्खी, मच्छर, टिड्डी,

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

भंवरा आदिक उड़ने वाले जानवर। ५ इन्द्रिय जीव जिनके कान हैं वे पञ्चेन्द्रिय जीव हैं। एक शास्त्रसभामें कई नवयुवक लोग शास्त्र सुनने आया करते थे। उनसे एक बार किसी साधुने पूछा कि बताओ एकेन्द्रिय जीव कौन है? तो उनमें से एक श्रोता बोला कि महाराज एकेन्द्रिय तो आप हो।...कैसे?... ऐसे कि आप अकेले हो। न आपके पास स्त्री है, न बच्चे हैं।...अच्छा तो दोइन्द्रिय जीव कौन हैं?...महाराज दोइन्द्रिय तो हम हैं। ...कैसे?...ऐसे कि हमारे घर तो हम हैं और हमारी बीबी है, बस दो प्राण हैं, इसलिए दोइन्द्रिय हैं। तो अध्ययनके बिना ऐसी कितनी ही अटपट बातें हो जाती हैं।

(३२८) **चौदह जीवसमासोंका संक्षिप्त निर्देश**—यहां जीवसमास बतला रहे कि १४ किस तरहसे हुए। ५ तो ये हो गए जीव। अब इनमें एकेन्द्रिय होते हैं दो तरहके (१) बादर एकेन्द्रिय और (२) सूक्ष्म एकेन्द्रिय। जिसका शरीर दूसरेसे रुक सके वह बादर एकेन्द्रिय है। और यदि एकेन्द्रियका शरीर दूसरेसे न छिद सके वह सूक्ष्म एकेन्द्रिय है। और पञ्चेन्द्रियके भी दो भेद हैं (३) असंज्ञी पचेन्द्रिय और (२) संज्ञी पञ्चेन्द्रिय। जिन पञ्चेन्द्रियोंके मन नहीं है, जिनमें विचार शक्ति नहीं हैं वे हैं असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय। ये दोनोंमें बहुत थोड़े मिलेंगे। बताया जाता है कि जलमें रहते सर्प या कोई पक्षी। ऐसे बहुत कम हैं। न जैसे समझलो। जितने भी पञ्चेन्द्रिय हैं वे प्रायः संज्ञी मिलेंगे। तो अब कितने भेद हो गए? ५ की जगह ७ हो गए। एकेन्द्रिय, फिर दोइन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चारइन्द्रिय, और दो पञ्चेन्द्रिय, ये ७ प्रकार के जीव पर्याप्त होते हैं और अपर्याप्त भी होते, तब ये हो गए ७×२=१४। पर्याप्तका अर्थ है कि जिसकी शरीर रचनेकी शक्ति पूर्ण हो गई। जैसे कोई जीव पहले भवसे मरकर आया तो कोई नया शरीर ही तो लेगा। अब जो नया शरीर मिला तो वह तो ऐसा ही पड़ा हुआ है। उस पर जीव आयगा तो पिण्डकी शरीर रचना होने लगेगी। इस प्रकारकी योग्यतामें थोड़ा समय लगता है। तो जब तक शरीर रचनेकी शक्ति नहीं हो पाती तब तक अपर्याप्त है और शरीर रचनेकी शक्ति हो जाती है तब पर्याप्त होता है। ऐसे ये १४ प्रकारके जीव समास है।

(३२९) **जीवसमासोंके परिज्ञानसे उपयोग्य शिक्षण**—अब जीवसमासको सुनकर क्या सोचना? हम आप जो आज बैठे हैं और जरा जरा सी बातपर इतराते रहते हैं ना, क्योंकि पुण्यका ठाठ है, खाने पीनेकी सब सुविधा है, कुछ पासमें रुपया पैसा भी है, शारीरिक बल भी है। कुछ बुद्धि भी पायी है मगर अज्ञान और कषाय मौजूद हो, जरा

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

जरा सी बाहरकी बातोंमें गुस्सा करें, ऐंठ जाय, घमंड बगराये, अनेक तरहकी बातें करते हैं, पर भैया, यह तो जानें कि हम आप कभी एकेन्द्रिय थे। अब एकेन्द्रियकी क्या स्थिति, निगोदकी क्या स्थिति ? पेड़ वगैरह खड़े हैं। लोग तो उन्हें छू तक नहीं रहे और मान लो आज मनुष्य भवमें न होते, जैसे ये पेड़ पौधे खड़े ऐसे ही होते आप हम, जो अभिमान कर रहे, लोभकर रहे, कषाय कर रहे, ऊलजलूल अनेक तरहकी चेष्टायें कर रहे, यदि पेड़ होते तो देख लो क्या करते आप। न आपका यह परिचित नगर होता, न आपका कोई घर होता, बस खड़े रहते ऐसे मैदानमें। बताओ आज उनसे अच्छी हालतमें हैं कि नहीं ? तो संतोष तो होना चाहिए कि हमारी स्थिति योग्य है और जो हमने योग्य स्थिति पायी है सो धर्मसाधनाके लिए पायी है, अन्य बातोंके लिए नहीं।

(३३९) **मनुष्यभवकी सफलताके लिये कर्तव्यका दिग्दर्शन**—अब कर्तव्य यह है कि ज्ञान ध्यानके प्रोग्राममें अपना समय लगायें। धर्म भी करते हैं सब प्रायः, मगर धर्म इतने तक ही रह गया कि खूब बड़ा मन्दिर बना लिया, खूब मन्दिरमें संगमरमर लगवा दिया, खूब काँच लगवा दिया, पर खुदके ज्ञानके लिए या अपने बाल बच्चोंके ज्ञानके लिए अपना तन, मन, धन, वचन कुछ भी नहीं लगा रहे। फिर बताओ उन्हें शान्तिका मार्ग कैसे मिले ? जो लड़ाइयां घरमें, दुकानमें, लेन देनमें करते हैं वही फिर मन्दिरोंमें होती हैं। क्योंकि ज्ञानका तो अपना कुछ प्रोग्राम ही तहीं है, और परिग्रह बढ़ानेका प्रोग्राम चल रहा है। तो उसपर कलह भी होती है। ऐसी मनुष्यभवकी योग्यता पायी, पर इसका भी सदुपयोग नहीं कर पा रहे हैं। इसका खेद नहीं हो पाता मोहियोंको। तो जीवसमासको निरखकर सोचो कैसे कैसे दुनियामें जीव हैं। इससे यह शिक्षा लेना चाहिए कि हम आज कुछ भली स्थितिमें आये हैं तो हम अपने आत्माके स्वरूपका ज्ञान करके ही रहेंगे। क्यो रुल रहे हैं ये जीव संसारमें ? कैसे संसारके आवागमनसे छूट सकें वे सब बातें अब हम पावेंगे और अपनेको धर्ममार्ग पर लगायेंगे। धर्म कहीं बाहर नहीं है। धर्ममूर्ति स्वयं आप है। आत्मा स्वयं ज्ञानका पुञ्ज है वही धर्म है। तो जब अपने अन्दरमें देखेंगे तो धर्म मिलेगा। भगवानकी मूर्ति आंख खोल कर देखते रहनेके लिए नहीं है। उसे देखें, पर अन्दरके ज्ञाननेत्र द्वारा अपने आपमें भगवानके स्वरूपके समान जो स्वरूप है उसको निरखनेके लिए भगवानके दर्शन हुआ करते हैं। सो जीवसमासों का परिचय पाकर अपने आपमें कुछ संतोष लायें और तत्त्वज्ञानके मार्गपर अपना कदम उठायें।

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

(३३१) **गुणस्थानोंके परिचयमें प्रथम गुणस्थानका निर्देश**—यहां मुनिवरोको समझाया जा रहा है कि बाह्य लिंग धारण करके कुछ न पा लोगे यदि भाव नहीं है जीवके भाव-शुद्धिके लिए तो अपने ज्ञानध्यानका प्रोग्राम बनाओ, १४ गुणस्थानोंका चिन्तन करो। गुणस्थान कहते हैं गुणोंके स्थानको, दर्जेको। गुण दो हैं—(१) दर्शन और ज्ञान अथवा तीन (१) दर्शन, (२) ज्ञान और (३) चारित्र। मोक्षमार्गमें उपयोगी लीजिए—सम्यग्-दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इनके ही होने, न होने, कम होने, अधिक होनेके भेदसे ये गुणस्थान बन जाते हैं। जहां सम्यग्दर्शन नहीं प्रकट है और उसकी जगह मिथ्यात्व प्रकट है उसे पहला गुणस्थान कहते हैं। मिथ्यात्वके वश होकर अपने आत्मा की सुध नहीं हो पाती। बाह्य पदार्थोंमें ही सार समझ रहे, बाह्य पदार्थोंमें ही झुक रहे हैं, ऐसी दशा होती है पहले गुणस्थानकी। यह पहला गुणस्थान है। जैसे बच्चे लोग कहते ना कि हमारी यह फर्स्ट क्लास (पहली कक्षा) है, ऐसे ही फर्स्ट गुणस्थान (पहला दर्जा) यह है जीवकी अत्यन्त निचली दशा, जिसमें यह जीव संसारमें रुलता है। इस मिथ्यात्वगुणस्थानमें याने सबसे नीचेके स्थानमें इस जीवकी क्या हालत होती है सो तो विचारो। इस मिथ्यात्वगुणस्थानमें यह जीव शरीर और जीवको एक मानता है। यह मैं हूं। थोड़े-थोड़े समयमें गुस्सा आ जाती, घमंड आने लगता, इसका कारण क्या है कि उसे अपने आत्माकी कुछ खबर नहीं और शरीरको ही मान लिया कि यह मैं हूं। जब देहको ही मान लिया कि "यह मैं हूं" तो अपना सम्मान, अपमान, प्रशंसा, निन्दा ये सब अनुभव करने लगेगा। तो जो देह और जीवको एक मानता है, कर्मके उदयसे हुए विकारको अपनाता है वह कहलाता है मिथ्यादृष्टि। अनादिकालसे यह जीव मिथ्या-त्वमें रहा है, और मिथ्यात्वमें ही रह रहा है, और मिथ्यात्वमें ही रहेगा तो बस संसार में रुलता ही रहेगा। इसका बहुत ध्यान रखें कि इस जीवका बैरी है तो मिथ्यात्वभाव है, जहां अपना कुछ प्रकाश ही नहीं मिल रहा वहां वह पूरा अंधेरेमें है। कहां संतोष करे यह जीव ? संतोषका धाम तो अपना आत्मा है। वह आत्मा नजरमें नहीं, दृष्टिमें नहीं, उसकी सुध नहीं तो इसे संतोष कभी मिल नहीं पाता। इसके बिना जो लोग कुछ संतोष करते हैं वह तो एक विवशपनेकी बात है। अपने वशसे संतुष्ट नहीं हो पाते। अपने वशसे संतुष्ट तब ही हो सकते हैं जब अपने आपके स्वरूपकी सुध हो कि मैं यह हूं। मिथ्या दृष्टिको कहां संतोष ?

(३३२) **मिथ्याभावमें अटपट चेष्टायें**—मिथ्यादृष्टिजनोके सम्बन्धमें एक कथानक आया है कि कोई दो मित्र कहीं जा रहे थे। वे दोनों ही मूर्ख थे। उन्हें रास्तेमें मिली

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

कोई एक बुढ़िया। उस बुढ़ियासे उन दोनोंने रामराम किया तो बुढ़ियाने उनको आशीर्वाद दिया बेटा सुखी रहो। अब वे दोनों मित्र आगे बढ़ गए। कुछ दूर जाकर उन दोनों मित्रोंमें यह विवाद बन गया कि बुढ़िया मां ने आशीर्वाद किसे दिया। एक कहे कि हमें दिया और दूसरा कहे कि हमें दिया। आखिर दोनोंमें यह तय हुआ कि चलो उसी बुढ़ियाके पास वापिस चल कर पूछें कि किसे आशीर्वाद दिया। सो वे करीब मील दो मील जगह वापिस लौटकर आये और उस बुढ़ियासे पूछ बैठे—बुढ़या मां हम दोनोंमें से तुमने किसे आशीर्वाद दिया था? सो बुढ़िया घबड़ा गई। सोचा कि क्या उत्तर दूं। खैर उसे एक युक्ति सूझी और बोली—बेटा हमने उसे आशीर्वाद दिया जो तुम दोनोंमें से अधिक मूर्ख हो। सो एक कहे हम अधिक मूर्ख और दूसरा कहे हम अधिक मूर्ख। बुढ़ियाने एकसे कहा बताओ तुम कैसे अधिक मूर्ख हो। सो एक व्यक्ति बोला देखो बुढ़या मां हम जो लंगड़े होकर चल रहे सो यह हमारी मूर्खताका ही कारण है, कैसे सो सुनो देखो हमारे दो स्त्रियां हैं, सो एक दिन क्या घटना घटी कि मैं अपने मकानके ऊपरकी छतसे सीढ़ीसे नीचे उतर रहा था सो एक स्त्री जो कि ऊपर थी। उसने मेरा हाथ पकड़ कर खींचा कि तुम ऊपर रहो, नीचे न जावो, और जो स्त्री मकानमें नीचे थी उसने मेरा पैर पकड़कर खींचा कि तुम नीचे उतर आवो। इसी खींचा तानीमें मेरा यह पैर टूट गया, सो देखो बुढ़िया मां मैं मूर्ख हूं कि नहीं? तो बुढ़िया बोली हां बेटा तुम होतो मूर्ख। अब दूसरेसे कहा तुम अपनी मूर्खताकी बात सुनाओ। तो दूसरा व्यक्ति बोला—हां सुनो बुढ़िया मां मेरी मूर्खताकी कहानी। यह जो मैं एक आंखका अंधा बना बैठा हूं उसकी घटना सुनो। मेरे भी दो स्त्रियां हैं सो एक बार रात्रिको हम दोनों स्त्रियोंके बीच लेटे हुए थे, मेरे दोनों हाथोंका सिरहना बनाकर दोनों स्त्रियां सो रही थीं। सिरकी ओर ऊपर एक सरसोंके तेलका दीपक जल रहा था। समयकी बात की वहां एक चूहा आया, दीपककी वत्ती निकाला और जलती हुई बत्ती हमारी आंखपर आ गिरी। उस समय मैं यह विचारने लगा कि यदि मैं दाहिना हाथ उठाकर बत्ती हटाऊं तो दाहिनी ओर सोने वाली स्त्रीकी नींद खुल जायगी, उसे कष्ट होगा और यदि बायें हाथसे हटाऊं तो बायें हाथकी ओर सोने वाली स्त्रीकी नींद खुल जायगी। वह कष्ट मानेगी। सो मैंने दोनों ही हाथोंसे उस जलती हुई बत्तीको न हटाया। परिणाम यह हुआ कि मेरी आंख फूट गई। सो देखो बुढ़िया मां मैं कितना मूर्ख हूं। सो बुढ़ियाने उन दोनोंकी मूर्खता भरी बातें सुनकर कहा—बेटा मैंने तुम दोनोंको आशीर्वाद दिया। तो यह तो एक उदाहरणकी बात है, पद-पदपर सबसे ऐसे ही अटपट काम होते हैं। पर-

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

मार्थ दृष्टिसे देखो तो न जाने कहां कहां चित्त जाता है, न जाने क्या-क्या बात सोचते हैं। न जाने क्या क्या चेष्टायें करते हैं। यह सब होता है मिथ्यात्व कारणसे। तो यह मिथ्यात्वभाव इस जीवका बैरी है।

(३३३) **सम्पदामें हर्ष व विपदामें क्लेश माननेकी व्यर्थता**—धन सम्पदा पानेमें अपना भला मत मानें, ये कुछ चीज नहीं हैं। विपत्तियां कितनी ही आयें उनसे घबड़ायें नहीं। विपत्ति कोई वस्तु नहीं है, ये तो सब बाहरके प्रसंग है। यदि बाहर बाहरमें ही उपयोग जुटा रहेगा तो उसका फल नियमसे कष्ट ही है। यहांसे उपेक्षा करें और अपने आपके स्वरूपमें दृष्टि दें। मैं हूं ज्ञानानन्दस्वरूप। मेरे स्वरूपमें कोई कष्ट नहीं क्योंकि बाहरके पदार्थ वे अपने आपमें अपना परिणमन करते है। उनसे मेरेमें क्या आता है। मैं अपनेमें परिपूर्ण हूं, और मेरेमें कोई कष्ट नहीं। स्वरूप मात्र हूं, सहज आनन्दमय हूं, मैं अपने आपमें तृप्त रहूंगा, बाकी प्रसंगमें आये हुए पदार्थोंका मैं ज्ञाता दृष्टा रहूंगा। पुराणोंमें आये हुए पदार्थोंका मैं ज्ञाता दृष्टा रहुंगा। पुराणोंमें आये हुए कितने ही कथानक ऐसे सुने होंगे कि न्यायके सामने राजाने अपने इकलौते बेटेको भी फांसी दे दी। एक यम चाण्डालकी कथा बहुत प्रसिद्ध हैं, जिसने चतुर्दशीके दिन मांस न खाने का नियम लिया था। उधर राजाने अपने राज्यमें अष्टान्हिका पर्वकी चतुर्दशीको जीवहिंसाका निषेध कर रखा था, पर हुआ क्या कि उस दिन उस राजाके लड़केने मांस खाया जिसके फलमें उसके पिता राजाने उसे फांसीका हुक्म दे दिया। अब जिस चाण्डालके द्वारा फांसी दी जानी थी उसका भी उस दिनका जीवहत्या न करनेका नियम था सो फांसी देनेसे इन्कार किया। परिणाम यह हुआ कि राजाने क्रोधमें आकर उन दोनोंको एक मगर मच्छसे भरे तालाबमें पटकवा दिया। वहां देखनेमें क्या आया कि उस राजाके लड़केकी तो दुर्दशा हुई और उस चाण्डालको सिंहासन मिला। तो न्यायके बलपर उन्हें अपने बेटेको भी फांसी देनेमें रंच भी घबड़ाहट न हुआ, कारण क्या कि आत्मा उनका न्यायप्रिय था। वह राजा तो ऐसा निर्मोह था। यहां इतना भी नहीं सोच सकते कि घरमें जितने प्राणी हैं उनके कर्मोदयसे यह सब हो रहा है। मैं इनका क्या करता हूं ? मैं तो अपने ही पुण्य पाप करनेका अधिकारी हूं। सो भाई कुछ तत्त्वज्ञानका ढंग बनायें जिससे कि अपने आत्माका कल्याण हो।

(३३४) **इस जीवका मिथ्यात्वमें अनन्तकाल यापन**—मिथ्यात्वभावमें यह जीव देह को मानता है कि यह मैं हूं। कर्मके उदयसे जो घटना बनती है, रागद्वेष सुख दुःखकी छाया आती है उसको अपनाता है कि यह मैं हूं। मिथ्यात्वके उदयमें, यह जीव अगर

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

संज्ञी पञ्चेन्द्रिय हैं, तो कुदेव, कुशास्त्र, कुगुरुको अपना हितकारी मानता है। कोई एक लौकिक चमत्कार देखकर किसी भी रागी द्वेषी जीवको देव और भगवान मानकर उसे अपना शरण समझता है। गुरुवोंमें भी चाहे आरम्भसहित हो, परिग्रह सहित हो, पंचाग्नि तप तपता हो, कोई बात जरासी चमत्कारकी या पाचनकलाकी दिखे तो उनको ही गुरु मानते हैं और अपने जीवनमें निरन्तर व्याकुल रहते हैं, क्योंकि प्रसंग आते हैं उनको अनेक घटनाओंके, और उन घटनाओंमें यह अधीर होता है, घबड़ाता है। अनन्तकाल इस जीवका मिथ्यात्वमें ही गया है।

(३३५) **अविरतसम्यक्त्व नामक चतुर्थ गुणस्थान**—कभी संज्ञी पञ्चेन्द्रिय किसी जीव को कुछ चेत हुआ, क्षयोपशम भी विशेष बना, फिर उससे ज्ञानमें अपना उपयोग लगाता है, मनन करता है, कषायें मंद होने लगती हैं और उस समयके तत्त्वज्ञानके अभ्यासका निमित्त पाकर जो सम्यग्दर्शनका घात करने वाली प्रकृतियां हैं—मिथ्यात्व, सम्यग्-मिथ्यात्व और सम्यक्प्रकृति, अनन्तानुबंधी क्रोध, अनन्तानुबंधी मान अनन्तानुबंधी माया और अनन्तानुबंधी लोभ, इन ७ प्रकृतियोंका उपशम करता है। फिर समय पाकर क्षयोपशम करता है, फिर समय पाकर क्षय करता है। सर्वप्रथम उपशम सम्यक्त्व होता है, उसके बाद कुछ भी होता रहे, कितने ही बार छूटे, उपशम हो, यह बात अलग है कभी क्षयोपशम सम्यक्त्व होता है। क्षयोपशम सम्यक्त्वके बाद चाहे वह छूट जाये, फिर चाहे कभी उपशम भी बन पाये, कुछ भी होता फिरे, पर क्षयोपशम सम्यक्त्वके अनन्तर क्षयोपशम सम्यक्त्वकी हालतमें ही सम्यक्त्वघातक ७ कर्मप्रकृतियोंका क्षय होता है तो क्षायिक सम्यक्त्व बनता है। यों किसी भी प्रकारके सम्यग्दृष्टि जीवके संयम जब तक नहीं है तब तक उसे अविरत सम्यग्दृष्टि कहते हैं। यह है चौथा गुणस्थान।

(३३६) **द्वितीय और तृतीय स्थान**—किसी भी मिथ्यादृष्टि जीवको जिसको अब तक सम्यक्त्व नहीं हुआ उसको पहले गुणस्थानके बाद चौथा हो, ५वां हो, छठा हो, ७वां हो, दूसरा और तीसरा गुणस्थान नहीं बनता। हां यह सम्यक्त्व हो गया हो पहिले, फिर सम्यक्त्व छूटे और अनंतानुबंधी कषायके उदयसे वह दूसरे गुणस्थानमें आता है यदि मिथ्यात्वका उदय नहीं आया उतनी देर। बादमें जल्दी मिथ्यात्व आता है तो दूसरा गुणस्थान मिथ्यात्वकी ही तरह है। जिसके उपशमसम्यक्त्व हो चुका उसके सम्यक्त्वके नष्ट होने-पर मिथ्यात्वका उदय न आने तक दूसरा गुणस्थान बनता है। जैसे कोई छतसे गिरे, जमीनपर जब तक न आ पाये तो उसकी हड्डी नहीं टूट रही मगर उसकी तो हड्डी टूटेगी। जिसे सम्यक्त्व हो गया, और मिथ्यात्वमें आना है तो भी सम्यग्मिथ्यात्वके उदय

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

में तीसरे गुणस्थानमें आ सकता अथवा सम्यक्त्वसे छूटकर सम्यग्मिथ्यात्वके उदयसे तीसरे गुणस्थानमें आ जाता। तीसरे गुणस्थानका नाम है सम्यग्मिथ्यात्व। जिसका न सम्यक्त्वरूप भाव हो न मिथ्यात्वरूप भाव हो, एक कुछ नहीं, ऐसा जात्यंतर है, वह है सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थान। मिथ्यात्व, सासादन सम्यक्त्व व सम्यग्मिथ्यात्व ये तीन गुणस्थान हैं अशुद्ध।

(३३७) **चतुर्थ और पञ्चम गुणस्थान**—चौथे गुणस्थानमें सम्यग्दर्शन है, पर व्रत नहीं है, हां संयमके प्रति तीव्र भावना है कि मैं कब संयम धारण करूं। ५वां गुणस्थान कहलाता है श्रावकका। जो सम्यग्दृष्टि श्रावक है वह पंचमगुणस्थानवर्ती है। पहली प्रतिमासे लेकर क्षुल्लक, ऐलक, आर्जिका तक पंचम गुणस्थान वाले कहलाते हैं। यथार्थतया सब श्रावक हैं, पर क्षुल्लक ऐलक, आर्यिकाको श्रावकोत्तम कहते हैं। आर्यिका मायने श्रेष्ठ। क्षुल्लक मायने छोटा ऐलक मायने अत्यन्त कम कपड़ों वाला। (यह शब्द का अर्थ बोल रहे) क्षुल्लकका अर्थ है छोटा। पर क्या छोटा? इसमें विशेषण क्या लगावोगे? क्या छोटा श्रावक, यह अर्थ लगाओगे? नहीं। यहाँ क्षुल्लकका अर्थ है छोटा मुनि। तो क्षुल्लकका अर्थ हुआ छोटा मुनि और ऐलक मायने बहुत कम कपड़े वाला मुनि। यथार्थतया यह मुनि नहीं है, पर मुनिके निकट होनेसे क्षुल्लकके साथ मुनि विशेषण होता है, ऐलकके साथ मुनि विशेषण होता है और पूर्ण मुनि जो निर्ग्रन्थ दिगम्बर है। तो चाहे क्षुल्लक मुनि कहो चाहे श्रावकोत्तम कहो। श्रावक, मुनि ये शब्द जरा रूढ़िमें प्रसिद्ध हुए इसलिए सुननेमें अटपट लगते होंगे, किन्तु जो व्याकरण और शब्द शास्त्र जानते हैं उनको अटपट नहीं लग सकते। हैं यह श्रावक, श्रावकमें सर्वोत्कृष्ट। यहां तक कहलाया पंचम गुणस्थान।

(३३८) **मोक्षमार्गका अवलोकन और मोक्षमार्गपर गमन**—चौथे गुणस्थान वालेने मोक्षमार्ग देख लिया और पंचममें मोक्षमार्गपर चल दिया। मोक्षमार्गपर चलने वाला पंचम गुणस्थान और इससे ऊपरके गुणस्थान हैं और मोक्षमार्गको दिखाने वाला चतुर्थ गुणस्थान है। चतुर्थ गुणस्थान वाला मोक्षमार्गपर बढ़ नहीं रहा, किन्तु उसने मोक्षमार्ग देख लिया। नहीं बढ़ रहा फिर भी मोक्षमार्गके देख लेनेसे उसको धीरता है, बल है, साहस है। जैसे एक घटना लो। कोई मनुष्य किसी दूसरे गांवसे शामके समय अपने गांवको जा रहा था। उसे जाते हुएमें देर हो गई, थोड़ी पगडंडी भी भूल गये। रास्ते में किसी जंगलमें से जब वह गुजर रहा था तो अंधेरा छा गया, उसे कोई रास्ता ही नहीं सूझ रहा था। रास्ता भी पगडंडियोंका था। वह अंधेरा हो जानेसे कांटोकी

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

झाड़ियोंमें फंसता जा रहा था। उसके मनमें आया कि अब तो जंगल पार करना बहुत मुश्किल है। कहीं कुछ रास्ता ही न सूझ रहा था। सो वह उसी जंगलके बीच एक स्थानपर बैठ गया। बहुत घबड़ा रहा था कि न जाने अब क्या होगा? पता नहीं, जंगली जानवरोंसे प्राण बचेंगे भी या नहीं। अब कभी रास्ता मिलेगा या नहीं। रात्रि काफी बीत गई, वह मुसाफिर उस घनघोर भयानक जंगलके बीच भयभीत हो रहा था। इतनेमें एक क्षणिक बिजली चमकी और उतनेमें ही करीब १ फर्लांग दूर उसे सड़क दिख गई, बस उसकी घबड़ाहट दूर हुई, धैर्य बंधा, मनमें यह विश्वास जम गया कि अब तो हमारा जानेका मार्ग अत्यन्त स्पष्ट है, प्रातःकाल होते ही उस मार्गसे चले जायेंगे। सो उसी जगह वह बैठा रहा फिर भी रास्ता दिख जानेसे उसका भय दूर हो गया। जब प्रातःकाल हुआ तो पगडंडी चलकर सड़कपर पहुंच गया। जब सड़क मिल गई तो खूब पसरकर, खूब शान्त होकर एक ठसकके साथ चला जा रहा था। वह निश्चित हो गया कि अब तो गांव मिल ही जायगा। तो ऐसे ही समझिये कि यह जीव इस जगबनमें अटक गया। अज्ञान रूपी अंधकारमें पड़ा हुआ बड़ा दुःखी हो रहा है, पर कोई बुद्धिमान ऐसा भी होता जो यह सोचता कि हम इस विषय कषाय भरे वनमें भटक रहे हैं तो अब अधिक मत भटकें। इन विषय कषायोंमें अधिक प्रीति न करें, जरा रुकें और सोचें कि बात क्या है असलमें? उसको फिर ऐसा मनन करते-करते बाह्य पदार्थों से उपेक्षा होकर एक भीतरमें ज्ञानप्रकाश जगेगा जिससे आत्माका अनुभव बनेगा, और समझ लेगा कि शान्तिका धाम तो यह है। यह हुआ सम्यग्दर्शन। पर उस ज्ञानानुभव को बनानेके लिए जब वह आत्मपौरुष करने चलेगा तो उसमें कुछ न कुछ संयम आयगा जहां थोड़ा संयम आया, श्रावकव्रत हुआ, तो वह कहलाया पगडंडियोंपर चलना, और जहां महाव्रत हुआ, सकल संयम बना तो हुआ सड़कपर चलना। अब वह आनन्दसे चल रहा।

(३३६) **मुनिव्रतकी साधनामें अप्रमादी रहनेका कर्तव्य**—बाह्य घर कुटुम्ब छोड़कर, नग्न होकर भी अब यह उनके अपने भविष्यकी बात है कि घर छोड़कर, सब कुछ छोड़कर फिर एक गृहस्थीसी बसाये, मोटर, रिक्शा, तांगा आदि रखे और अपने आराम के लिए स्त्री, पुरुष, भोजन-सामग्री साथ रखे, कुछ करे तो यह तो उसके लिए चिंता, शल्य, विकल्प वाली बात है। अरे उस निर्ग्रन्थ दिगम्बर मुद्राधारी मुनिको तो चाहिए कि वह स्वतंत्र, निर्भय, निःशंक विचरण करे, जो होगा सो होगा। अपने भाग्यपर विश्वास रहे। यदि अपने भाग्य पर विश्वास नहीं है तो फिर गृहस्थ और मुनिमें अन्तर

Version 1

 http://sahjanandvarnishastra.org/

ही क्या रहा ? इसलिए मुनिको निष्परिग्रह रहना बताया है। मान लो साथमें अनेक लोग हैं तो उनके प्रति उसे यह ध्यान रहे कि इन सबका अपना-अपना भाग्य है, जिसका जैसा योग होगा सो होगा, किसीकी चिन्ता रखनेसे फायदा क्या ? अपने लिए भी उसे आहार सम्बन्धी कोई विकल्प न रहे। जब जहां जैसा योग होगा सो होगा। यह महाव्रत तो एक ऐसा खड्गधार है कि जहां केवल एक अपने आत्मासे ही लगन है। वही ध्यान, उसको समाजका फंसाव नहीं, किन्हीं विधि विधानोंमें पड़नेसे उसे कुछ प्रयोजन नहीं किन्हीं बाहरी बातोंमें पड़ना यह उनका कार्य नहीं, केवल ज्ञान ध्यान तपश्चरण कार्य ही इनको बताये गए—ज्ञानध्यानतपोरक्तः, ज्ञान, ध्यान और तपश्चरणमें लीन, चौथी बात ही नहीं, ऐसी सड़कपर बड़ी ठसकके साथ मुनिको चलना चाहिए। मुनिकी ठसक क्या ? अपने आत्मामें ज्ञानस्वरूपका अनुभव ले-लेकर उस रससे तृप्त हो रहा, यही उसकी ठसक है और इस प्रकार अपनी ज्ञानप्रीतिमें ज्ञानानुभूतिमें रह-रहकर मोक्षमार्गमें बढ़े।

(३४०) **सातवां व छठवां गुणस्थान**—जहां अप्रत्याख्यानावरण व प्रत्याख्यानावरण का क्षयोपशम हुआ कि महाव्रत हुआ, वहां आता है ७वां गुणस्थान। उसके बाद छठा फिर सातवां, छठा यों दौड़ता रहता है। जैसे झूलेपर झूलनेमें आगे झूला गया तो पीछे आयगा, पीछे आया तो आगे जायगा, ठीक इसी प्रकार वह मुनि छठे ७वें गुणस्थानमें झूलता रहता है। सातवें गुणस्थानमें संज्वलनकषायका मंद उदय नहीं। पंचमकालमें यहां तक तो बात आती है और ७वें गुणस्थानसे ऊपर बात अब नहीं आ सकती।

(३४१) **उपशमश्रेणिके ८वां, ९वां १०वां व ११वां गुणस्थान**—सप्तम गुणस्थानसे ऊपर हैं दो श्रेणी। यदि चारित्रमोहका उपशम करता है तो उपशम श्रेणीपर चढ़ेगा। चारित्रमोहका क्षय करता है तो क्षपक श्रेणीपर चढ़ेगा। दोनों ही श्रेणी इस पंचमकाल में नहीं बनती। सप्तम गुणस्थान तक भावलिङ्गी मुनि हो सकते हैं पंचमकालमें, पर इनकी स्थिति ऊपरके गुणस्थानकी नहीं होती। उपशम श्रेणीमें चारित्रमोहका उपशम कर-करके बढ़ा तो ११वें गुणस्थान तक पहुंचता है आगें नहीं है गति उसकी। वह गिरेगा। यदि वह जीवित है तो क्रमसे गिरेगा। ११वें से १०वें मे, १०वें से ९वें में, ९वें से ८वें में और ८वें से ७वें में, ७वें से छठेमें, इसके बाद फिर कैसे ही गिरे ? सम्यक्त्व बिगड़ जाय, नष्ट हो जाय, उपशमसम्यक्त्व ही तो था उसके नष्ट होनेपर मिथ्यात्व तकमें आ सकता। इतनी विशेष साधना करके भी, इतने महंत बननेके बाद भी, वीतराग होनेके बाद भी गिरकर मिथ्यादृष्टि हो जाते हैं। ११वां गुणस्थान वीतराग है, हां सर्वज्ञ नहीं

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

है, छद्मस्थ है, वह भी जब गिर जाता है तब फिर धर्मसाधनाके लिए बहुत जागरूक रहना चाहिए। कोई योग ऐसा न मिले जिससे कि हमारा आत्माचार भंग हो जाय।

(३४२) **क्षपकश्रेणिके १२वें गुणस्थानमें पहुंचनेपर १६ प्रकृतियोंका क्षय**—यह जीव क्षपकश्रेणीमें चढ़ा तो ८वें गुणस्थानमें अपूर्वकरण हुआ, वहां बहुत ऊंचे परिणाम होते हैं। अभी कर्मोंका यहां क्षय नहीं होता। ९वें गुणस्थानमें चारित्रमोहकी २० प्रकृतियों का क्षय होता है। अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभका पहले क्षय हो गया। अप्रत्याख्यानावरण प्रत्याख्यानावरण कषाय ८ ये, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुत्सा, पुरुषवेद, स्त्रीवेद, नपुंसकवेद ९ ये और संज्वलन क्रोध, मान, माया, ३ ये, दसवेंमें लोभ १ का क्षय होता है। १०वेंके बाद १२वें गुणस्थानमें पहुंचा तो वहां क्षय हुआ १६ प्रकृतियोंका। निद्रा, प्रचला, फिर ज्ञानावरणकी ५, दर्शनावरणकी बाकी ४ और अंतरायकी ५ इन १६ प्रकृतियोंका क्षय होते ही समग्र चार घातियाका क्षय हो चुकता है। फिर बनता है सयोगकेवली। जो लोग कर्मदहनका विधान करते हैं, १०वीं एक करना, ९वीं २० करना, बारस १६ करना आदि तो उनका अर्थ क्या है कि जिस गुणस्थानमें जितने कर्मोंका क्षय होता है, बस उस गुणस्थानके नम्बरके बराबर तिथि में इतने उपवास बताये गए हैं।

(३४३) **सयोगकेवली व अयोगकेवली**—क्षीणमोह नामक बारहवें गुणस्थानके अनन्तर यह जीव सयोगकेवली हो जाता है, सर्वज्ञ हो जाता है। १३वें गुणस्थानमें किसी भी प्रकृतिका क्षय नहीं होता। जो अघातिया कर्म शेष रह गए उनमेंसे क्षय नहीं हो रहा, पर वीतराग हैं, सर्वज्ञ हैं। हितोपदेश होता है, विहार होता है, सब क्रियायें हो रहीं, वह सयोग केवली हैं। अन्तमें योग निरोध करके अयोगकेवली बन जाते हैं। १४वें गुणस्थानका समय है करीब करीब समझिये दो चुटकी बराबर। शास्त्रीय शब्दोंमें अ इ उ ऋ लृ इन ५ ह्रस्व अक्षरोंको बोलनेमें जितना समय लगेगा उतना समय प्रभु १४वें गुणस्थानमें रहता है। १४वां गुणस्थानके पूर्ण होते ही अघातिया कर्मोंसे वे रहित हो जाते। पहले ७२ फिर १३ प्रकृतियोंका क्षय करके सिद्ध भगवान हो जाते हैं। तो यहां कुन्दकुन्दाचार्यदेव साधुजनोंको सम्बोध रहे हैं कि तुमने सर्व परिग्रहोंका त्याग भी किया तो अब सत्त्व, पदार्थ, जीवसमास, गुणस्थान इनका अर्थ देखो, चिन्तन करो, और वहां एक अपने लिए शिक्षा प्राप्त करो।

(३४४) **अध्यात्मग्रन्थोंमें १३ गुणस्थानोंको आस्रवहेतु बतानेका प्रयोजन**—अध्यात्मदृष्टि से देखो कि १३ गुणस्थान आस्रव करने वाले हैं। १०वें गुणस्थान तक बंध होता है।

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

११वें १२वें में सिर्फ आस्रव होता है। तो यह बताया गया कि ये १३ गुणस्थान आस्रव के कारण हैं, यह बात सुननेमें कुछ अटपट सी लग रही होगी कि इतने ऊंचे मुनिराज और त्रैलोक्यपति अरहंत भगवान जिनको हम सयोग केवली कहते हैं और यह बतायें कि १३ गुणस्थान आस्रवके हेतु हैं। तो लो, अच्छा, प्रारम्भसे बात देखो मिथ्यात्व आस्रवका हेतु है ना ? अविरति ? वह भी आस्रवका कारण है। अच्छा और कषाय ? वह भी आस्रवका कारण है और योग ? वह भी आस्रवका कारण है। तो ये जो चार आस्रवके कारण हैं इन ४ का ही पसारा तो १३ गुणस्थान हैं। और उन्हें यों समझ लीजिए कि ये गुणस्थान बनते हैं कमीसे और यह भी कह सकते कि ये गुणस्थान बनते हैं विकाससे। तो गुणोंके विकाससे गुणस्थान बनते हैं, इस दृष्टिसे अभी न देखिये–गुणों में जो कमी रहती है उससे ये गुणस्थान बनते हैं यों निरखिये तब आस्रवकी बात समझ लेंगे। जैसे किसी मनुष्यके बारेमें कहा कि यह ६० वर्षका हो गया तो उसे यों भी कह सकते और ऐसा नहीं कह सकते क्या कि यह ६० वर्ष आयुमें कम हो गया ? यह भी कह सकते। अब जिसका जैसा प्रयोजन है वह उस दृष्टिसे देखेगा। यह ६० वर्षका हो गया, ऐसा सुनकर वह खुश होगा और यह ६० वर्षका कम हो गया, ऐसा सुनकर वह पश्चा-ताप करेगा कि मैं कुछ आत्मकल्याण न कर पाया। जैसे यह आत्मदृष्टि है ऐसे ही गुणस्थानके बारेमें भी दो दृष्टियां हैं। विकाससे गुणस्थान बने, एक यह दृष्टि और दोनों ही सत्य हैं, तो जब हम कमीको ये गुणस्थान मानते तो बड़ी कमीसे मिथ्यात्व, उससे हल्की कमी, फिर उससे हल्की कमी यों लेते जावो वह १३वें गुणस्थान तक कमी है। हैं अरहंत भगवान, मगर योग मौजूद हैं तो वह भी कमी है। यदि वह कमी नहीं तो उसको भी खतम क्यों किया जाये ? तो ये गुणस्थान बने उस उस प्रकारके कर्म-विपाकके रहनेपर, जब यों दृष्टि जायगी तो समझमें आयगा कि ये १३ गुणस्थान आस्रव के हेतुभूत हैं। १४ वां गुणस्थान निरास्रव है अयोगकेवली। उसे कह लीजिये सिद्धके समान।

(३४५) **शाश्वत आत्मस्वभावके आश्रयसे मुक्ति होनेका निर्णय**–इन गुणस्थानोंके मनन में क्या निरखना चाहिए कि आत्माका जो शाश्वत चैतन्यस्वरूप है उस स्वभावका आश्रय करनेसे गुणोंके विकास होते हैं। विकास कर सकें इसके लिए श्रावक होना और मुनि होना गुजारेकी चीज है, कहीं श्रावकके भेषसे मोक्ष नहीं या मुनिके भेषसे मोक्ष नहीं किन्तु मुनिके भेषमें रहकर वह साधना बन पाती है जिस साधनासे मुक्ति मिलती है। इसलिए यह सब आत्मसाधनाकी लगन वालेके लिए यह गुजारेके रूपमें है। कैसे मैं

Report any errors at vikasnd@gmail.com

https://www.jainkosh.org

अपने आत्मामें लीन होऊं ? जिसको यह धुन लग गई वह सब परिग्रहोंका त्याग कर देता है। घर छोड़ा इससे मोक्ष नहीं मिला किन्तु घर छोड़नेपर आत्मामें लीन होनेका पुरुषार्थ बन पाया और उस आत्मपौरुषसे उसको मुक्ति मिलती है। तो ध्यान क्या देना कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रसे मोक्ष मिलता है। इन तीनका अर्थ क्या है ? आत्माके सहजस्वरूपका विश्वास ज्ञान और सहजस्वरूपमें रमण इनकी पूर्तिसे मुक्ति की प्राप्ति होती है। तो यहां आचार्यदेव मुनिवरोंको सम्बोध रहे हैं इस गाथामें कि सर्वसंगसे विरक्त होकर तुम तत्त्व पदार्थ गुणस्थान आदिक तत्त्व विज्ञानमें अपना उपयोग लगावो ताकि ऊल जलूल बातें न आयें और आत्मरमणकी प्रक्रिया बन जाय।

णवविहबंभं पयडहि अब्बभं दसविहं पमोत्तूण।
मेहुणसण्णासत्तो भमिओसि भवण्णवे भीमे ॥९८॥

(३४६) **भावशुद्धिसे आत्महित**—यह भावपाहुड़ ग्रन्थ है, इसमें भावोंका महत्त्व बताया गया है। जीवका ब्रह्म भाव है। भाव शुद्ध है तो जीवको शान्ति है और भाव अशुद्ध है तो जीवको व्यग्रता है। आज जितना भी कष्ट हो रहा, लोग अपनेको आकुलित अनुभव कर रहे वह भावोंकी अशुद्धिके ही कारण। मिथ्यात्व ममता, अहंकार, क्रोध, विषयोंमें प्रीति परिग्रहका लगाव ये सारे असंयम भाव जो चल रहे हैं उनके कारण उन्हें प्रकृत्या ही दुःखी रहना पड़ेगा। तो इस आत्माके सही शुद्धस्वरूपका परिचय मिले और यह मैं हूं इस प्रकारका अपने आपमें निर्णय बने तो उसको संक्लेश नहीं रह सकता। भावशुद्धिके प्रकरणमें आचार्य कुन्दकुन्ददेवने मुनिवरोंको समझाया कि केवल बाह्य भेषसे काम न चलेगा, मोक्षमार्ग न मिलेगा किन्तु बाह्य परिग्रहका त्याग किया है तो भावोंकी निर्मलता बनावें, सम्यक्त्वकी उपासना बनावें आत्मामें रमण करनेका पौरुष करें तो मोक्षमार्ग मिलेगा।

(३४७) **शीलकी बाड़ मर्यादा रखनेके प्रकरणमें प्रथम द्वितीय तृतीय व चतुर्थ बाड़का वर्णन**—उसी प्रकरणसे सम्बन्धित इस गाथामें आज यह कह रहे हैं कि ब्रह्मचर्यका पूर्ण पालन करें तो भावशुद्धि बनेगी। ९ प्रकारके ब्रह्मचर्यको प्रकट करें। मनसे, वचनसे, कायसे, कृतकारित अनुमोदनासे ९ प्रकारका ब्रह्मचर्य है, उस ब्रह्मचर्यका पालन करें और साथ ही जो ब्रह्मचर्यकी ९ बाड़ हैं उनकी मर्यादा करें। जैसे खेतके चारों तरफ बाड़ लगी होती है तो पशु उस खेतको खराब नहीं कर सकते, ऐसे ही ९ प्रकारकी ये बाड़ हैं। इनकी मर्यादामें जो रहेगा उसके ब्रह्मचर्यकी सिद्धि होती है। वे ९ बाड़ क्या हैं ? इन्हें शीलकी ९ बाड़ कहते हैं। पहली यह है कि स्त्रीविषयक अभिलाषा न होना, मायने

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

मुनिवरोंको समझा रहे ना तो स्त्रियोंका नाम लेकर समझायेंगे। स्त्रियाँ समझें तो पुरुषों का नाम लेकर समझें। स्त्री जन परपुरुषकी अभिलाषा मनमें न रखें। ब्रह्मचर्य शुद्धिके अर्थ स्त्रीकी कामना न करना उनसे प्रीति करनेकी, संगतिकी इच्छा न रखनी चाहिए, क्योंकि अभिलाषाके बाद ही और कुछ बन-बनकर कुकार्य परिणति होती है, सो ऐसी जड़को ही मिटायें ना ? स्त्रीविषयक अभिलाषाका त्याग करें। दूसरी बात है अंगवि-मोक्खो याने अपने कामसाधनभूत अंगको उत्तेजित न करना। तीसरी बाड़ है गरिष्ट रसका सेवन न करना, जैसे कुछ रस होते हैं शिलाजीत या और कुछ या खानेमें भी बहुत गरिष्ट भोजन इनका त्याग होवे तब शीलकी बाड़ पलती है। जो जिह्वाका स्व-च्छंदी है उसके सारे विषयोंमें स्वच्छंदता बन जाती है। कोई कहे कि खानेपर इतना जोर क्यों दिया, अरे दो मिनटमें खावे और खूब बढ़िया खाना खावे, मगर खानेमें लम्प-टता है तो इससे सिद्ध है कि मन स्वच्छंद है, और जिसका मन स्वच्छंद है उसके सब स्वच्छंदता बढ़ती चली जाती है। फल यह होता है कि वह अपना ब्रह्मचर्य नहीं रख सकता है। इस कारण जिह्वाको वशमें करना, गरिष्ट भोजनका सेवन न करना। चौथी बाड़ है—स्त्रियोंसे सम्बंधित वस्त्रादिकका सेवन न करना। जो कपड़े स्त्रियां पहनती हैं किसी समय उन्हें छूना, रखना या पहिन ही लेना, कभी-कभी तो अगर चौकेमें धोती शुद्ध नहीं है और किसी स्त्रीकी कोई सूती साड़ी पड़ी है तो पुरुष उस साड़ीको भी पहि-नकर आहार दे देते हैं। कितने ही लोग ऐसे देखे गये। तो यह बात बतला रहे कि स्त्रीजनोंके कपड़ोंका सेवन न करें।

(३४८) **शीलकी पांचवीं बाड़**—५वीं शीलवाड़ है स्त्रीके अंगोपांग आदिकका न देखना। अब देखिये कि सारा शरीर अत्यंत अपवित्र है। अंग तो बहुत हैं पैर हैं, हाथ हैं, पेट है, और सिर मुख भी हैं वहाँ एक बात यह बताइये कि सबसे अधिक गंदा कौन-सा अंग है जिसमें अधिकसे अधिक मैल पाया जाय ? तो सबसे ज्यादह गंदा अंग मुख है। हाथमें थूक न मिलेगा, नाक न मिलेगी, कफ न मिलेगा, और जो हाथमें गदगी है वह सब गंदगी तो मुखमें है ही मगर उसके अतिरिक्त थूक, लार, कफ नाक, आंखका कीचड़, कानका कनेऊ याने इतना अधिक मल मुखमें है कि इतना अधिक मल अन्य जगह नहीं मिलता। और लोग जो हैं वे मुखको दर्शनीय बतलाते और जितना आकर्षण होता है खोटा वह मुख निरखनेसे होता है, और सबसे गंदा है मुख। तो जो विवेक करता है वह जानता है कि शरीर क्या है। यह शरीर अशुचि पदार्थोंका पिण्ड है और फिर उसमें एक रूप रंगकी भी बात देखो तो सांवला हो तो, काला हो तो, इसमें क्या

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

फर्क ? यह रूप रंग कहीं हाथसे पकड़नेमें तो आता नहीं, केवल एक दूरसे निरखने निरखनेकी बात है। और, जिसका मन पवित्र है वह तथ्य निरखकर अपने आपको शुद्ध बनाता है, तो ५वीं बाड़ है स्त्रीके अंगोपांग आदिकको न देखना।

(३४६) **शीलकी छठी सातवीं आठवीं व नवमी बाड़**—छठी बाड़ है स्त्रीका सत्कार पुरस्कार न करना। इसके मायने यह नहीं कि अपमान करे, किन्तु उमंग लेकर अधिक बोलनेकी आदत पुरुष बनावें स्त्रियोंसे तो वह बाड़के विरुद्ध है। कभी कोई साधारण काम हो तो बोले, मगर ऐसी भीतरमें उमंग बनाना कि मैं खूब प्रशंसा करूं, तो उसका अभिप्राय खोटा होता है। ७वीं बाड़ है पूर्व समयमें भोगे हुए भोगोंका स्मरण न करना। अगर पहलेके भोगोंका स्मरण करेंगे तो वहां भावोंमें अशुद्धि बढ़कर ब्रह्मचर्यके घातका अवसर आ सकता है। ८वीं बाड़ है आगामी कालमें भोगोंकी इच्छा न करना। मुझे ऐसी देवियां मिलें, ऐसे आगे भोग मिलें, यह चाह न करना। ९वीं बाड़ है इष्ट विषयों का सेवन न करना। जो कानोंको प्यारे लगें, ऐसे शब्दोंके सुननेकी रुचि न करना, सुनना ही नहीं, जो आंखका विषय बने, जैसे सिनेमा या गंदे थियेटर इनको देखनेका त्याग। सभी इन्द्रियके विषय जो इष्ट लगें उनमें लगाव मत रखें। जैसे सुगंधित इतर तेलके सूंघते रहनेका शौक लग गया, किसी भी इन्द्रियका किसीको शौक बन गया तो वह बाड़को तोड़ देगा और कुशीलकी ओर प्रवृत्ति करा देगा। सो इन ९ प्रकारसे ब्रह्मचर्यका पालन करें।

(३५०) **कामवासनाके फलमें दस दुर्दशायें**—देखिये—कुशील सेवनका जिसको कुछ भाव पड़ता है तो उसकी खोटी १० अवस्थायें बनती हैं कि पहले तो वह मामूली बात लगती है और उससे बढ़-बढ़कर मरण तकका मौका आता है। पहले तो स्त्रीविषयक चिन्तन चला, विचार चले, ख्याल करें, कैसा है, सुन्दर है, अमुक है; यों किसी प्रकार का चिंतन किया—वह चिन्तन जब चल रहा है तो फिर उसको देखनेकी इच्छा होने लगती है। जिसके बारेमें ऐसा सुनते हैं वह है कैसा ? फिर उसको देखनेकी चाह उत्पन्न होती। चाह हुई, देखनेको मिले अथवा न मिले, मगर वह चाह भीतरमें ऐसी दाह उत्पन्न करती है कि उसके फिर हाय की श्वांस चलती है। जैसे कभी कोई गहरी चिंता हो जाय तो एक श्वांससी निकलती जिसको सुनकर लोग पहिचान जाते है कि यह किसी रंजमें है। फिर वही बढ़ बढ़कर ज्वर तक आ जाता है। एक कामविषयक भावना अभिलाषा वासना रखनेसे धीरे-धीरे बढ़कर यहां ज्वर तकका नम्बर आता है। उसके बाद फिर दाह पड़ने लगती। जिसको कामकी वासना है उसकी दशा बतला रहे। आपने

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

पुराणोंमें कभी-कभी पढ़ा होगा कि कोई राजपुत्र किसीपर आसक्त हुआ तो उसकी क्या-क्या दशायें बनती रही हैं। वही दशा यहां बतलायी जा रही है। फिर भोजन आदिकमें अरुचि हो जाती है। भोजन न करना, दुर्बल होना, श्वास लेना, जिसके अज्ञान है उसको कितनी बड़ी विपत्ति होती है, भोजन आदिकमें अरुचि होना, ७वीं बात है मूर्छा हो जाय, बेहोश हो जाय, गिर जाय, यहां तक नम्बर आ गया। चिन्तनसे चलते-चलते कामवासना वालेको यहां तक खोटी दशायें हो जाती हैं। फिर पागल हो गया यह उसकी ८वीं दशा है। फिर प्राणोंमें भी संदेह होने लगा, आखिर मर भी गया। एक वश होकर ये १० अवस्थायें जीवकी होती हैं।

(३५१) **भावशुद्धिके लिये निर्दोष ब्रह्मचर्यके पालनका कर्तव्य**—वह बड़ा पवित्र है जिसका तत्त्वज्ञानमें उपयोग लगता है और उस ही ज्ञानप्रकाशमें बढ़नेकी धुन रखता है। गृहस्थ भी हो तो जितनी देर कमाईका कार्य करते हैं वह तो गृहस्थीमें आवश्यक है। उतनी देर कमाईका कार्य करें दूकानका, आफिसका, पर चूंकि शेष समय जो है वह आपको ऐसा अमूल्य जचना चाहिए कि हम सारे समयका पूरा सदुपयोग करें। स्वाध्यायसे, अध्ययनसे, सामायिकसे, मननसे, सत्संगमें बैठकर तो उसके सहज स्वय ही ब्रह्मचर्यका भली-भांति पालन होता है। ब्रह्मचर्यका पालन करो, ऐसा आचार्यव उपदेश करते हैं, क्योंकि यह जीव मैथुन संज्ञामें आसक्त होकर इस भयानक संसार समुद्रमें भ्रमण करता रहता है। तो हे मुनिवर! ब्रह्मचर्यमें रंच भी दोष आ गया तो उसके फलमें इस संसारमें परिभ्रमण करते रहोगे।

भावसहिदो य मुणिणो पावइ आराहणाचउक्कं च।
भावरहिदो य मुणिवर भमइ चिरं दीहसंसारे ॥६६॥

(३५२) **भावशुद्धिमें सम्यक्त्वाराधनाका उपदेश**—जो मुनि श्रेष्ठ आत्मभावनासे सहित हैं वे तो चार प्रकारकी आराधनाको प्राप्त होते हैं, और जो भावरहित हैं वे इस संसारमें चिरकाल तक जन्म मरण करते हैं। चार आराधनायें क्या हैं? (१) दर्शन आराधना (२) ज्ञान आराधना, (३) चारित्र आराधना और (४) तप आराधना। सम्यक्त्वके भावकी आराधना करना। सम्यक्त्व तो जीवका परम मित्र है। सम्यक्त्व ही जीवको सन्मार्ग दिखाता है। सम्यक्त्वके प्रतापसे जीव शान्त रहता है। यह सम्यक्त्व मेरा स्वरूप है। कुछ बाहरसे नहीं लेना है। जैसा मेरा सहजस्वभाव है उस रूपमें अपने आपका श्रद्धान करना यह है सम्यक्त्व। इसकी रूचि प्रतीति प्रयोग होना सम्यक्त्वकी आराधना है। इस सम्यक्त्वको प्राप्त करनेकी वही तो चाह करेगा जिसको

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

आत्मकल्याणकी इच्छा हुई है। देखो जो लोग समर्थ हैं, धनी हैं, खाने पीनेकी उनको चिन्ता ही कभी नहीं है, मौजसे सब आता है ऐसी स्थिति पाकर उनका कर्तव्य क्या है? इसी मौजमें रहना और दुनियासे अपनी गप्प लड़ाना यह तो कर्तव्य नहीं है। ये पुण्यके ठाठ कितने दिन रहेंगे? यदि हम उल्टे चल रहे हैं तो ये अधिक दिन न रहेंगे और चलें तो भी उस पुण्यमें रखा क्या है? ये विषयोंके सुख मिल गए तो उससे अशुद्धि कहां मिटी? तब अगर योग्य वातावरण मिल गया है तो सदुपयोग करें यह कि अपना अधिक समय तत्त्वज्ञानमें सम्यग्ज्ञानमें उपयोग लगे। और जिसको कुछ तंगी है, जो धनिक नहीं है, जिसके पास कोई अधिक काम नहीं है, किसी तरहसे अपना टूटा फूटा गुजारा कर लेता है तो वह भी यह ज्ञानप्रकाश चित्तमें लाये कि हमारा जो समय शेष बचता है तो मैं उसका ऐसा सदुपयोग करूं जो बड़े-बड़े धनिकोंको भी नहीं मिल सकता। तत्त्वज्ञानमें, पढ़नेमें, स्वाध्यायमें सत्संगमें अपना समय बितावें। दर्शन आराधना—सम्यक्त्वकी महिमा सम्यक्त्वका स्वरूप उपयोगमें बसे वह है दर्शन आराधना।

(३५३) **भावशुद्धिमें ज्ञानाराधना व चारित्राराधनाका उपदेश**—ज्ञानआराधना सम्यग्ज्ञान ही इस जीवका समस्त वैभव है। बाहरी वैभवकी तृष्णा क्यों करते? कुछ आवश्यक है इसलिए उसे बनायें रखें, मगर तद्विषयक तृष्णा क्यों करना? छूट जायगा सब। इस समय भी आपका कुछ नहीं है। आपमें आप हैं। प्रत्येक पदार्थमें वही है। यह तृष्णा दुःखदायी चीज है और आत्माका यह सहज ज्ञानस्वरूप इस ओर दृष्टि आये, यह मैं हूं ऐसा भाव बने, उसको शान्ति मोक्षमार्ग सब कुछ सम्पदा प्राप्त होगी। ज्ञानका अपूर्व महत्त्व है। ज्ञानमय ही तो यह जीव है, सो अपने ज्ञानस्वरूपकी निरन्तर उपासना करना यह है ज्ञान आराधना। चारित्र आराधना—मैं अपने ज्ञानस्वरूपको ही जानता रहूं, अन्य कुछ काम न बने, अन्य कहीं ख्याल न जाय मेरे ज्ञानमें यह ज्ञानस्वभाव ही रहे, ज्ञातादृष्टा रहूं, रागद्वेषकी वृत्ति न आये, ऐसा मात्र जाननहार रहनेकी भावना रखना यह है चारित्र आराधना। स्वरूपमें चलनेका नाम है चारित्र। ऐसा संयम बन जाय, ऐसा अपने आपमें फिट बन जाय कि इसका उपयोग जगतके किसी बाहरी पदार्थ में न रहे यह है संयम आराधना। इस चारित्र आराधनाके लिए अपने स्वरूपको अपने उपयोगमें निरन्तर लिए रहनेकी आवश्यकता होती है।

(३५४) **व्यवहारचारित्रकी उपयोगिता**—वास्तवमें चारित्र भेष नहीं है या जो विधि पूर्वक खाये, विधि पूर्वक चले, ऐसा चलना ऐसा बैठना जो कुछ भी क्रिया मन, वचन कायकी होती है वास्तवमें वह चारित्र नहीं है। चारित्र तो आत्माका उपयोग

Version 1

http://jainelibrary.jainanandvarnishastra.org/

आत्माके सहज स्वरूपमें लीन हो इसे कहते हैं चारित्र। मगर यह जो वास्तविक चारित्र है तो इस चारित्र को करनेके लिए जो चलेगा सो वह किन स्थितियोंसे गुजर कर अपना यह काम बना पायेगा। उन स्थितियोंका नाम है यह सब व्यवहार चारित्र। माचिसका नाम आग नहीं है। सींकका नाम आग नहीं है, सींकमें जो मसाला रखा है उसका नाम आग नहीं है, वह तो रगड़नेसे जो ज्वाला बनी उसका नाम आग है, मगर वह आग प्रकट कैसे बने उसके लिए ये स्थितियां हैं। तो आत्माका ज्ञान आत्मामें कैसे रमे उसके लिए ये स्थितियां हैं कि सब कुछ छोड़ दें। केवल शरीर मात्र ही रहे और निःशंक फिर अपने आपमें अपने स्वरूपकी आराधना करे, यह है चारित्र आराधना। जो चारित्राराधनाके लिए अपना प्रयोग कर सके उन महापुरुषोंको चूंकि शरीर साथ लगा है तो अनेक परीषह आयेंगे, उपसर्ग आयेंगे। तो यह ज्ञानी इतना धुनका पक्का है कि उन परीषह और उपसर्गोंसे विचलित नहीं होता और उसका वह कुछ खेल भी खेलता है। कौन ? मुनि महाराज ! वह क्या खेल खेलते हैं ? नहीं हैं परीषह, नहीं है उपसर्ग तो जान बूझकर तपश्चरण करना, यह उनका खेल है। बच्चे कैसे खेलमें रमते हैं, जवानोंका कुछ और खेल है, तो मुनियोंका खेल तपश्चरण है। तपश्चरण भी किस लिए करते हैं ? जानकर उपवास करें। कदाचित् अंतराय कर्मवश आहार विधि २–४ दिन न मिलें तो वहां वे समतासे अपने धर्मपालनमें रह सकें, उसके लिए यह अभ्यास है। समाधितंत्रमें बताया है कि बड़े मौजसे पाया हुआ ज्ञान, बिना कष्टके पाया हुआ ज्ञान कष्ट आने पर खतम हो सकता है। इसलिए आत्मकल्याणके धुनियाको जानबूझकर भी अपनेको कष्टमें डालना चाहिए, मायने तपश्चरण करना चाहिए ताकि इतनी दृढ़ता हो जाय कि कठिन स्थितियोंमें भी हम अपनी समतासे च्युत न हो सकें। ऐसे तपश्चरणकी आराधना करना तपआराधना है। सो इन चार प्रकारकी आराधनाओंको भावसहित मुनिश्रेष्ठ प्राप्त करते हैं।

(३५५) **भावकी प्रक्रियामें सुख दुःख व शान्तिका भाव**—जिसकी दृष्टिमें आ गया कि मेरी सारी दुनिया मेरा ही यह आत्मस्वरूप है। जो यहां ज्ञान जगता है यही मेरा वास्तविक वन्दन है, यह मेरा स्वरूप सत् है, यह कभी मिट ही नहीं सकता। स्वरूपमें किसी अन्य पदार्थका प्रवेश नहीं होता, फिर विपत्ति ही क्या ? किसी भी परपदार्थसे मेरेमें विपत्ति नहीं आया करती। आती हो तो बताओ। कोई धन कम हो गया या कोई मकान गिर गया, वहां से कोई विपत्ति आती हुई देखी क्या किसीने ? पर यह मोही खुद अपने आपमें अपनी कल्पनायें बनाकर अपनेको विपत्तिमें फंसाये रहता है। बाह्य

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

बीजसे विपत्ति नहीं, मान लो किसी का लड़का कुपूत हो गया तो लोग मानते कि यह बड़ा दुःखी है, इसका लड़का खोटा निकल आया और किसीका लड़का सपूत निकला आज्ञाकारी बड़े नम्र शब्द बोलता तो बताओ उसे सुख है कि दुःख ? अरे उसे ज्यादह दुःख है। कुपूतका दुःख अधिक नहीं होता। उससे मन हट गया तो एकदम सोच लिया कि जो इसका होना हो सो हो, हमें इससे कुछ मतलब नहीं। घोषणा करा दी कि मेरा इस पुत्रसे कोई मतलब नहीं। मगर सुपूत है घरमें तो रात दिन सभी लोग उसकी बड़ी फिक्र रखते। कैसे मैं इसे धनिक बना दूं, खूब पढ़ा लिखा दूं, इसको किसी प्रकारका कष्ट न होने दूं, यह मेरेको बड़ा प्यारा है। यों चिन्तन कर करके सारे जीवन भर उसके पीछे दुःखी रहेगा। फिर बतलावो सुख है कहां ? जो भी दुःख है वह क्या है ? यह जीव भीतरमें अपनी कल्पना बना बनाकर दुःखी होता है। तो ऐसे ही भावरहित मुनि इस दीर्घ संसारमें चिरकाल तक भ्रमण करते हैं, अतएव हे मुनिवरो, अपना हित चाहो तो अपने आत्माके स्वभावकी आराधनामें चलो।

पावंति भावसवणा कल्लाणपरंपराइं सोक्खाइं।
दुक्खाइं दव्वसवणा णरतिरियकुदेवजोणीए ॥१००॥

(३५६) **भावश्रमणके कल्याणपरम्परापूर्वक शाश्वतानन्द लाभ**—जो भावश्रमण है अर्थात् सम्यग्दृष्टि भावलिङ्गी मुनि हैं वह कल्याण परम्परासे सुखको प्राप्त करता है, किन्तु जो द्रव्यश्रमण है, मिथ्यादृष्टि मुनिभेषी है वह खोटा मनुष्य, तिर्यंच, खोटा देव इन योनियोंमें दुःखको प्राप्त करता है। भावश्रमण छठे गुणस्थानसे लेकर १२वें गुणस्थान तक है। १२वां गुणस्थान तो क्षपक श्रेणीमें है। जिसे १२वां गुणस्थान प्राप्त होता है वह नियमसे मोक्ष जाता है उसी भवमें, पर जो अन्य मुनि हैं, भावश्रमण हैं उनकी शुद्ध भावनाके कारण उनके तीर्थंकर प्रकृतिका बंध होता है और गर्भकल्याणक, जन्मकल्याणक तपकल्याणक, ज्ञानकल्याणक, निर्वाणकल्याणक, इन कल्याणकोंको प्राप्त कर मोक्ष पहुंचता है। गृहस्थ श्रावक भी सम्यग्दर्शन प्राप्त कर सोलह कारण भावनायें भाकर तीर्थंकर प्रकृतिका बंध करते हैं। यहां मुनियोंका प्रकरण है इसलिए भावश्रमणकी बात कही गई है। तीर्थंकर होना ही कल्याणकी बात हो सो बात नहीं है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र कल्याणकी बात है। न भी तीर्थंकर हो तो भी जो भी मोक्ष गए जैसे श्रीराम, हनुमान, अर्जुन, भीम, युधिष्ठिर आदि, वे सब मुक्तिमें समान हैं। मुनि मोक्ष गए तो उनके सुखमें, उनके ज्ञानमें और जो तीर्थंकर होकर मुक्त हुए उनके सुख व ज्ञान में कोई अन्तर नहीं। बस संसारमें रहते हुए उन मुनियोंमें अन्तर था कि जो तीर्थंकर

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

प्रकृतिबन्ध वाला मुनि है वह तीर्थंकर केवली होता, दिव्यध्वनि खिरती, विराट समवशरणकी रचना होती, अन्य मुनियोंके केवलज्ञान होने पर समवशरणकी रचना नहीं है। गंधकुटी है और जो उपसर्ग से सिद्ध हुए हैं उनके गंधकुटी भी नहीं बन पाती, मोक्ष हो जाता, पर मुक्त हुए बाद समस्त मुक्तोंका एक समान ज्ञान और आनन्द है। तो भावश्रमण पंचकल्याणक परम्पराओंमें पाकर शाश्वत सुखको प्राप्त करता है।

(३५७) **द्रव्यश्रमणके कुयोनिजन्मका व क्लेशका लाभ**—द्रव्यश्रमणने भेष तो मुनिका रख लिया, पर मिथ्यात्वविष नहीं छोड़ा। देहको आत्मा मान रहा, अपनेको मुनि मानकर प्रवृत्ति कर रहा, चैतन्यस्वरूप नहीं मान पाता और इसी कारण लोक व्यवहारमें लग रहा, जरा जरा सी घटनाओंपर क्रोध, मान, माया, लोभ उत्पन्न होता है। उसमें स्थिरता नहीं है ऐसा नग्नभेषी अज्ञानी मुनि नरकमें खोटे मनुष्योंमें तिर्यञ्चमें कुदेवमें उत्पन्न होता है। यह बात इसलिए कही जा रही कि मुनिवरोंको सम्बोधा है कि मिथ्यात्वका विनाश करें और सम्यक्त्व उत्पन्न करें, अपने आत्मामें रमण करनेकी दृष्टि बनावें, तब तो साधु साधु कहलाता है अन्यथा वह अपने आपको ही ठग रहा है।

छायालदोसदूसियमसणं गसिउं असुद्धभावेण।
पत्तोसि महाक्सणं तिरियगईए अणप्पवसो ॥१०१॥

(३५८) **मुनिपदमें दोष न लगानेका आदेश**—मुनिवरोंको सम्बोधा है कि हे मुनिजन! ४६ दोष दूषित आहारको खाकर, अशुद्ध भावोंसे जीवन बिताकर पराधीन होकर तू तिर्यञ्चगतिमें गया और महान दुर्दशाको प्राप्त किया। बताया है एषणासमितिमें कि छियालिस दोष बिना सुकुल श्रावकतने घर अशनको। लें तप बढ़ावन हेत नहिं तन पोषते तजि रसनको। जो अन्तरंगसे विरक्त हैं वे मुनि ४६ दोष टालकर आहार करते हैं। तो ४६ दोष कौनसे हैं सो अभी बतावेंगे। सो अशुद्ध भावोंसे दोषदूषित भोजनको करके यह पराधीन होकर अनेक प्रकारके दुःखोंको भोगता है, जन्ममरण करता है। वे अशुद्ध भाव क्या थे जिनके वश होकर अटपट क्रियायें कीं? ख्यातिकी चाहसे मुनि बने—मेरी विशेषता होगी, लोग जयकारा करेंगे। अनेकोंकी आज भी क्रिया चारित्र देखकर पहिचान सकते हैं कि किसके कौनसे भाव थे जिससे प्रेरित होकर वह मुनि हुआ। कोई पूजाकी चाहसे मुनि बना। तो जब मूलमें ही भूल रही, उद्देश्य ही गन्दा रहा तो साधु बनकर अटपट काम करते हैं और फिर वे कठिन दुःखको प्राप्त करते हैं, क्योंकि यहां कोई ठग ले तो ठग ले, पर खोटे भाव करेगा, कर्मबन्ध होगा, उसे कोई नहीं बचा सकता। एक बात और यहां जानना कि कोई साधु अशुद्ध परिणाम कर रहा

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

है तो श्रावक यह सोचें कि यह अपनी करनीका फल पायगा, हमें तो इसकी भक्ति करना है, तो यह जैनशासनमें नहीं बताया गया। जो अनुचित है, मिथ्यात्वसे ग्रस्त है, लोक-पूजाकी चाह आदिकमें मग्न है सो उनके साथ उनके सेवक भी खोटी गतिमें जाते हैं, ऐसा जैनशासनमें बताया है। तब थोड़ा अपनेको भी चेत होनी चाहिए, और गुरुजनोंके प्रति प्रीति होनी चाहिए कि उनके प्रति सही व्यवहार हो। अनेक व्यवहार ऐसे होते हैं कि कोई मुनि पहले दीखा तो उसकी परीक्षा करके नमस्कार करें, ऐसा नहीं है, किन्तु मुद्रा जब देखी तो उन्हें नमस्कार करना ही चाहिए। जब बहुत कुछ अपने परिचयमें आया है और सन्मार्गपर बिल्कुल नहीं है ऐसा जचा है तो उसकी उपेक्षा कर दें, किन्तु छोटे मोटे दोषोंसे मुनि नहीं गिरता, आखिर साधना कर रहा है तो दोष तो होंगे, मगर महादोष अगर आ जायें तो वहां मुनिपद नहीं रहता। इससे थोड़ी कुछ जानकारी करना चाहिए कि मुनिपद मायने क्या है ?

(३५९) **मुनिपदका संक्षिप्त परिचय**—प्रथम तो यह बात है कि आत्मामें ज्ञानका प्रकाश हो, निज सहज ज्ञानस्वभावमें रमनेकी धुन हो, जिससे बाहरी लोकमें न प्रीति करता, न द्वेष करता। यदि कोई प्रकट ऐसा दिखे कि अपमान करने वालेपर, निन्दा करने वालेपर उपेक्षा करने वालेपर कोई मुनि नाराज हो रहा तो समझो कि वहां मुनि-पना नहीं है। उसे नाराज या गुस्सा होनेकी क्या आवश्यकता है ? जब उसने व्रत ले लिया है—अरि मित्र महल मसान कंचन काच निन्दन थुति करन, अर्घावतारण असि-प्रहारणमें सदा समता धरन। चाहे शत्रु हो, मित्र हो, सबमें साम्य परिणाम। दुश्मनसे द्वेष न करे। चाहे कंचन हो या कांच हो, निन्दा हो या स्तुति, दोनोंमें समता रखें। अज्ञानवश हैं इसलिए अपनेको नहीं सम्हाल पाते, लेकिन जो लोकमें पूजा होती है आखिर वे शत्रु भी चरणोंमें नम जाते हैं उनकी समता निरखकर। तो मुनिमें समताकी मुख्यता हो, रागद्वेष न हो, अपने स्वरूपमें दृष्टि हो, आत्मकल्याणकी धुन हो, यह ही सब मुनिका परिचय है। इतनी बात तो होनी ही चाहिए। और कदाचित् कहीं ये बातें न मिलें, अंधभक्तिसे उनको बढ़ावा दिया तो यह उनका अकल्याण है। उन्हें समझाना चाहिये कि महाराज शुद्ध ढंगसे प्रवृत्ति बनायें तो आपका भी कल्याण है और हम भक्तों का भी उद्धार है।

(३६०) **निर्दोष आहार ही ग्रहण करनेका मुनिवरोंको आदेश**—यहां बहुत प्रकाशसे मुनिवरोंको भावशुद्धिके लिए सम्बोधा है। यह कुन्दकुन्दाचार्य द्वारा रचित भावपाहुड़ नामका ग्रंथ है। इसका विषय ही यह है। कहते हैं कि शुद्ध भावोंसे ४६ दोषोंसे दूषित

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

आहार करके मौज मानते हैं वे मनुष्य परवश होकर तिर्यंचगतिमें जन्म लेकर दुःख प्राप्त करते हैं। ४६ दोष क्या-क्या हैं सुनो–१६ उद्गम दोष, १६ उत्पादन दोष, १० एषणा दोष, ४ संयोजन दोष, ये सब ४६ दोष होते हैं। उद्गम दोष गृहस्थके सहारे हैं। आहार बनाने वाला गृहस्थ १६ प्रकारके दोषोंका अगर आहार बनाये तो वह मुनिजनोंके लिए अग्राह्य है। वे १६ उद्गम दोष क्या हैं उन्हें भी ध्यानसे सुनो, क्योंकि आहार चौका बनाने वालेके सहारे ये दोष उत्पन्न होते हैं। ये दोष गृहस्थसे बनते हैं। ऐसा दोष किया है गृहस्थने तो वहां मुनि आहार न लेगा, वे गृहस्थ द्वारा किए गए दोष कौन-कौन हैं ? इसे बतानेसे पहले एक बात समझें कि सबसे महान दोष होता है हिंसायुक्त भोजन याने बिना म्यादका आटा हो, पानी हो, अभक्ष्य हो, खूब घसीट-घसीटकर भोजन बनाया है, चौकी बारबार सरकाना, बर्तन फेंकना, ऐसी असावधानी रखते हुए जो भोजन बनता है उसे महादोष कहा है। इसका नाम है अधः कर्म। यह सबसे महान दोष है। अन्य दोष तो बादके हैं। तो अधःकर्म दोष जहां लगते हैं वहां चाहे अन्य दोष बचाया हो तो भी वह बड़ा भारी दोष है। और यह बात आगे तुलना में मिलेगी।

(३६१) **उद्दिष्ट नामक प्रथम गृहस्थाश्रित उद्गम दोष**–उद्गम दोषमें (२) प्रथम दोष है उद्दिष्ट दोष। मुनिके ही उद्देश्यसे बनाया हुआ भोजन उद्दिष्ट दोष है। इसको बहुत ध्यान देकर सुनना है। दो बातें होती हैं—उद्दिष्ट और अतिथिसम्विभाग। अतिथिसम्विभाग तो कायदेमें है। कोई व्रती है, रोजका नियम लिए हुए है यह कि मैं एक अतिथिको, मुनि आदिकको आहार कराकर भोजन करूंगा। न मिलें मुनि वह बात अलग है। मिलते हों तो उनको आहार कराकर भोजन करें। यह अतिथिसंविभागव्रत है। इसमें उद्दिष्टका दोष नहीं लगा। भले ही उसने सोचा कि मैं मुनिको आहार दूंगा, यों सोचे हुए भोजनसे उद्दिष्ट नहीं होता, किन्तु किस तरह उद्दिष्ट होता कि यह मुनिके लिये ही आहार बनाया है अथवा जितने भी मुनि आयें उनके लिए मैं यह आहार बना रहा हूं। याने खुद उसे निर्माल्य सा समझे, खुद न खाये और एक ऐसा सोच लिया कि यह तो मुनियोंके लिए ही बन रहा है तो वह उद्दिष्ट है। या अन्य साधुवोंके लिए बन रहा हो तो उद्दिष्ट है या जो कोई भी आयगा उसके लिए ही बन रहा है तो यह उद्दिष्ट है और चाहे मुनिका नाम लेकर भी बने, किन्तु खुद भी उसमें खा सके, ऐसा भाव रखकर भोजन बनाये तो वहां उद्दिष्ट नहीं है, वह तो अतिथिसम्विभाग है। यदि ऐसा न हो तो चौथे कालमें भी भोजन नहीं मिल सकता। आज जो उद्दिष्टका नाम

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

लेकर एक बहुत बड़ा तूल मचाया है लोगोंने मुनियोंके खिलाफ वह उचित नहीं है, क्योंकि एक तो उद्दिष्ट दोष महादोष नहीं है। प्रथम तो यह बात है। जैसे अन्य ४५ दोष हैं उनमें भी एक साधारण दोष है। अधः कर्म महा दोष है। फिर दूसरी बात मुनि मन, वचन, काय, कृतकारित अनुमोदना इन ९ बातोंसे उस आहारमें सामिल हो तो मुनिका दोष है, पर जो मुनि न तो मनसे सोचता कि यह ठीक बना रहा, बनाने दो, न बचनसे कहता न कायसे चेष्टा करता, स्वयं करता नहीं, कराता नहीं, अनुमोदना करता नहीं, चाहे गृहस्थ मुनिको ही सोचकर बना रहा हो शुद्ध भोजन पर उसमें मुनि का यदि मन, वचन, काय, कृतकारित अनुमोदना नहीं है तो वह मुनिके लिए उद्दिष्ट दोष वाला भोजन नहीं कहलाता। आलोचना करने वाले लोगोंका यदि आशय धर्म-सम्बन्धित हो तो उन्हें खुद शुद्ध भोजन करना चाहिये और अतिथिसंविभागव्रत पालना चाहिये तथा श्रावकोंकी आलोचना व उन्हें डाटना चाहिये कि उद्दिष्ट दोष गृहस्थके आश्रित है अतः गृहस्थको शुद्धभोजन करना कराना चाहिये व अतिथिसंविभाग करना चाहिये। कोई यदि रोज अमर्यादित भोजन करता है वह किसी दिन नियम करे कि आज मैं शुद्ध भोजन करूंगा व अतिथि संविभाग करूंगा तो भी उसका अनुद्दिष्ट आहार है।

(३६२) **अध्यधिनामक उद्गम दोष**—(२) दूसरा दोष है अध्यवधि, गृहस्थ भोजन बना रहा है और सुना कि अमुक मुनि आ रहे, उस बीचमें ही कुछ चावल और डाल दिए तो यह अध्यवधि दोष है। यह भी गृहस्थके आश्रित दोष है। उसे मुनि ने नहीं किया, गृहस्थने ऐसा सोचा और किया, अथवा भोजन बनानेमें देर हो रही है और मुनिको आहार चर्याके लिए उठनेका समय हो गया है तो उन्हें जरा देरमें उठना चाहिए, ऐसा भाव रखकर गृहस्थ उनको बातोंमें लगाये, किसी तरहसे वह उठनेमें देर कर दें तो वह भी अध्यवधि दोष है।

(३६३) **मुनियोग्य आहारका एक संक्षिप्त निर्देशन**—एक बात यह जानना कि मुनि का भोजन बहुत सुगम भोजन होता है। जब ही उसे क्षुधा लगी चाहे ९ बजे दिनमें, चाहे १० बजे, चाहे १ बजे चाहे २ बजे..., यों दिनमें किसी भी समय वह आहार चर्या के लिए उठना चाहे उठ सकता। उस समय सुगमतया जो आहार मुनिको मिल गया वह उसके लिए योग्य आहार है। तो दोष बतानेका अर्थ यह है कि आहारके लिए गृहस्थको कष्ट न उठाना पड़े। जब आप एक कुञ्जी जान जायेंगे तो ये सब बातें भली प्रकार विदित होने लगेंगी। आहार बनते हुएमें मुनि पहुंच जाय तो उस कालमें आरम्भ

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

स्थगित करके आहार दे दिया। अब यदि कोई एक घंटा पहलेसे ही चूल्हा बुझा दे, चूल्हे की राख साफ कर दे और चूल्हा पोत कर रख दे और पात्रदान करनेके पश्चात् फिर चालू करे तो यह तो एक बनावटी बात है और इतना बनावटी होकर भी आहार लिया जाय जानकर तो यह उनकी एक अजानकारी है। एक कुञ्जी रख लीजिए कि जिसमें गृहस्थको आहार सम्बन्धी कष्ट न उठाना पड़े, ऐसा सुगम भोजन मुनियोंका भोजन कहलाता है, हां शुद्ध जरूर होना चाहिए, क्योंकि अशुद्ध होगा तो उसमें अधःकर्म दोष लगता है, वह महादोष है। तो जितने भी दोष निर्दिष्ट बताये जायेंगे आप उनमें यही बात पायेंगे कि इसमें गृहस्थको अलगसे कष्ट कुछ उठाना पड़ा। यदि गृहस्थको आहार सम्बन्धी कष्ट उठाना पड़ा तो यह मुनियोंके लिए योग्य आहार नहीं है, अथवा उसमें किसी प्रकारकी हिंसाका दोष आया है तो मुनिके लिए योग्य नहीं है। पहले ऐसा ही रिवाज था। लोग एक अन्तराय बताते कि जलती हुई आग दिखे तो वह मुनिके लिए अंतराय है, मगर उसका प्रयोजन यह था कि नहीं ऐसी आग जल रही हो कि असावधानी हो कि कहीं कहीं कोई अङ्ग जल जाय, किसीकी साड़ी जल जाय, कपड़ा जल जाय तो ऐसी सम्भावना होती हो जिस अग्निके जलनेमें उसे देखकर अंतराय है, पहले यह बात खूब अच्छी तरह जान लें। मुनि कभी यह नहीं चाहता कि मेरे लिए गृहस्थ को कष्ट उठाना पड़े। गृहस्थ शुद्ध बना रहा, उस बीच मुनि पहुंच गया और आहार ग्रहण किया बस लौटकर अपनी धर्मसाधनामें लग गए। आहारका समारोह कोई मुख्य बात नहीं है, विशेषतया किसीको पता ही न पड़े कि कब आये और कब आहार कर गए। एक ज्ञान ध्यान ही उनका मुख्य कर्तव्य है।

(३६४) **पूतिनामक उद्गम दोष**—(३) तीसरा दोष है पूतिदोष। जिन बर्तनोंमें, जिन ढंगोंमें अन्य भेषी कुभेषी कुगुरुवोंको भोजन दिया जाता हो उसमें पकाया हुआ भोजन मुनिके लिए अग्राह्य है। देखिये गृहस्थ है, उस पर बहुत सी सम्हालकी जिम्मेदारी है। जो भी आया कोई मांगने वाला, उसे भी भोजन देना पड़ता और ऐसी साधारण सी बात है कि कोई खोटा गुरु अन्य भेषधारी भी आ गया तो गृहस्थका कुछ ऐसा कोमल मन है कि वह भक्तिसे तो नहीं देता मगर लोकाचार करुणावश या व्यवहारवश देना पड़ता है। तो ऐसे पात्रमें और ऐसी विधिमें बना हुआ भोजन मुनिके लिए अग्राह्य है। मुनिको तो केवल एक यह विचार है कि गृहस्थने शुद्ध भोजन बनाया, जैसा घर वाले खायेंगे, उसमेंसे उसे भी दे दिया। अतः एक बातका ध्यान रखना आवश्यक हो जाता कि आहार दान देनेके दिन घर वालोंको शुद्ध भोजन करनेका नियम रखना

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

चाहिए। चाहे वह रोज अमर्यादित भोजन करता हो, पर जिस दिन आहार दान करे उस दिन उस घर वालोंको शुद्ध भोजन करना चाहिए, तब दोषसे बच सकेगा अन्यथा नहीं बच सकता। वहां एक दो चार लोगोंका तो नियम होना ही चाहिए कि आजके दिन मैं शुद्ध भोजन करूंगा। फिर बने तो वह आहार उनके योग्य होता है।

(३६५) **मिश्र एवं स्थापितनामके उद्गम दोष**—(४) चौथा दोष है मिश्र नामका दोष। जो आहार अप्रासुक आहारसे मिला हो याने गर्म ठंडा मिलाकर जो भोजन रखा हो वह मिश्र दोष कहलाता है। वह भी आहार मुनिके लिए उचित नहीं है। देखिये मुनिको यदि इस प्रकारके दोषका पता पड़ जाय तो उसे स्वयं यह सोचना चाहिए कि इस प्रकारका दोष वाला आहार लेना योग्य नहीं। प्रासुकमें अप्रासुक मिला दिया जैसे प्रासुक पानीमें बिना प्रासुकका ताजा छना पानी मिला दिया तो यह प्रासुक दोष कहलाता है, और ये सब दोष गृहस्थके आश्रय हैं। मुनि तो कृत, कारित, अनुमोदना, मन, वचन, काय, नवकोटिसे विशुद्ध है। उसे कोई संकल्प ही नहीं है कि ऐसा खायें, ऐसा बने, न उसके प्रति आकर्षण है। वह तो ज्ञान ध्यानकी साधनाको अपनी जिन्दगीमें सहायक जानकर जिन्दगीकी रक्षाके लिए, केवल क्षुधा मेटनेके लिए आहार करता है। (५) पांचवां दोष है स्थापित। जिस बर्तनमें भोजन पकाया गया उसमेंसे निकाल कर जो अन्न अपने घरके या दूसरेके घरके या अन्य बर्तनमें रखा जाय तो वह स्थापित दोष है। इसके मायने यह है कि ज्यादह अदल बदल आहार क्रियामें न होना चाहिए, किन्तु उस बर्तनसे ही निकालकर सीधा उन बर्तनोंमें रख लें जिनसे कि आहार देना है, थाली सजाना है अनेक बर्तनोंमें अदल बदल नहीं की जानी चाहिए।

(३६६) **बलि एवं प्राभृत नामके उद्गम दोष**—(६) छठा दोष है बलि दोष—यक्षकी भेंटके लिए, भूत प्रेत आदिक कुछ मान्यतावोंके लिए जो भोजन बनाया जाता है उसी भोजनको मुनिको देना यह बलि दोष है। या कोई मुनि जन आयेंगे तो उनको आहार अलग रख दिया और भूत प्रेत आदिकको अलग रख दिया तो ऐसा अलग अलग रखना भी योग्य नहीं। अलग उस समय किया जाता जिस समय मुनि घर आ गया हो। पहले से अलग करके रखना कि यह आहार मुनिके लिए, यह आहार अन्य जनोंके लिए तो इसे कहेंगे स्थापन दोष। (७) सातवां दोष है प्राभृत दोष ये सब दोष गृहस्थको लगते हैं, मुनिको नहीं लगते, पर यह बतला रहे हैं कि ऐसा दोषयुक्त आहार लेना मुनिको योग्य नहीं। मैं आहार इस ऋतुमे दूंगा, इस दिन दूंगा, इस प्रकारका भाव रखना अथवा जिस दिनके लिए नियम रखा है कि मैं चतुर्थीको, पंचमीको आहारदान करूंगा और

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

उस दिनको टालकर दूसरे दिन सोचे तो प्राभृत दोष कहते हैं। यहां एक बात यह जानना कि पहले ऐसा नियम रहा करता था कि किसीने नियम लिया कि मैं पूर्णिमा को आहारदान दूंगा या दोजको आहारदान करूंगा, तीजको आहारदान करूंगा, इस तरहका नियम रखते थे। अन्य दिन अमर्यादित भोजन बनता था, एक दिन शुद्ध भोजन बनेगा शुद्ध भोजन करूंगा और अगर योग मिला तो आहार दान करूंगा, ऐसा नियम रहा करता था, तो उस नियमका हेर फेर करना यह प्राभृत दोष है।

(३६७) **प्राविष्कृत एवं क्रीत नामके उद्गम दोष**—(८) आठवां दोष है प्राविष्कृत दोष। पहलेसे ही यह जताना कि महाराज यह मेरा घर है अथवा बर्तनोंको बहुत-बहुत हेरफेर करना, बड़ी जल्दी-जल्दी टाल मटोल करना ऐसी स्थितिका जो आहार है वह मुनियोके लिए युक्त नहीं है। इस दोषको मुनि नहीं करता, गृहस्थ करता। चाहे गृहस्थ रोज शुद्ध भोजन नहीं बनाता, लेकिन जिस दिन बनाया गया उस दिन खुदके लिए नियम होना चाहिए कि मैं आज शुद्ध भोजन करूंगा। और ठीक समितिसे भली प्रकार करे, फिर उसमेंसे आहार दे तो दोष नहीं है। (९) नवां दोष है क्रीत दोष। मुनि आहार कर रहे और उसी बीच बड़ी भाग-दौड़ मचाना कि जावो सेव ले आवो, संतरा ले आवो, अमुक चीज ले आवो। यों खरीदकर आया अशन हो तो यह क्रीत दोष है। अरे ये सब सामान तो पहलेसे ही मंगाकर रख लेना चाहिए। और फिर अनुचित कमाये हुए द्रव्यसे खरीदकर लाये तो वह है सदैव ही क्रीत दोष।

(३६८) **प्राभृष्य नामक उद्गम दोष**—(१०) दसवां दोष है प्राभृष्य दोष। किसी से कर्ज लेकर आहार सम्बन्धी चीज सामान जुटाना यह भी दोषमें शामिल है। इन सब दोषोंको सुनकर एक कुञ्जी जानना कि जो सुगम भोजन हो, जिसमें श्रावकको कष्ट न हो वह आहार साधुके लिए आदेय है और उसके ही श्रावक और मुनिका यह सब व्यवहार निभता है। जिस आहारका इन्तजाम करनेमें बड़ी कठिनाई हुई हो, बड़ा श्रम करना पड़ा हो, एकदम कुछ नई घटनासी लग रही हो तो ऐसा आहार उचित नहीं होता, किन्तु कोई कष्ट न हो, सामान्यतया सीधे ढंगसे बने तो वह भोजन मुनिके लिए योग्य होता है। यहां इतनी बात जानना कि यदि चूल्हेकी सब राख निकाल दी और चूल्हा पोतकर रखा तो वह बनावटी कहलाता है। भले ही कुछ प्रथा चल गई तो ऐसा लगता है कि यह तो कुछ अयोग्य नहीं है, ऐसा ही करना चाहिए, मगर बच्चोंकी तरह का भोजन बताया है मुनिका। जैसे बच्चेको जब भूख लगी तो झट वह खानेके लिए पहुंचा और कहा—मां जी मुझे भूख लगी, खाना खिला दो, तो उसकी मां झट उसे

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

खाना खिला देती है, ऐसे ही मुनि मुखसे तो न कहेगा कि मुझे भूख लगी, किन्तु जो संकेत है—जैसे कंधेपर हाथ रखकर आहारचर्याके लिए मुनिका निकलना तो उसका अर्थ है कि मां मैं क्षुधानिवृत्तिके लिए आया हूं, तो झट उसे खिला दिया, तो इस प्रकार की पहले एक साधारण व्यवस्था थी। उसमें जो विशेष बनावटकी बात बनी तो वह अटपट दोषसे सहित बात बनती रहती है, और आज चर्चा तो इसीलिए बहुत है कि बहुत बनावट आ गई है आहारदान करनेमें। चाहिये तो यह था कि बन रहा था आहार सो थोड़ी देरको आरम्भ छोड़कर आहार दे दिया, जब आहार करके मुनि चले गए तो अपना फिर रसोईका काम कर लिया। उसमें यह बात न होना चाहिये कि बीचमें ही चूल्हा बुझाकर राख साफ कर दिया और चूल्हा पोत दिया। यह तो बनावटमें आ जायगा, क्योंकि रोज तो इस तरहसे चूल्हा पोतकर नहीं रखते थे। यदि जलती हुई आगको देखकर अंतराय मान लिया जाय तो फिर सुगम आहारका मिलना बड़ा कठिन पड़ जायगा। हां ज्वाला वाली आग न हो। बनावटीपनकी बढ़वारीसे मुनिधर्म के प्रसारमें कुछ कमीसी आ गई है। नहीं तो कितने ही मुनिराज हों. आहारदान शुद्ध होना चाहिए। बहुतसी बातें जो की जाती हैं विडम्बना की, जिनमें कष्ट है, उनको नहीं करना चाहिए। गृहस्थकी ओरसे जो दोष होते हैं वे बतला रहे हैं।

(३६९) **परिवर्तित नामका उद्गम दोष**—(११) एक होता है परिवर्तित दोष। कोई चीज किसीको देना, उसके एवजमें कोई दूसरी चीज उससे लेकर आहारदान देना, जैसे अपने घरमें मोटे चावल हैं और किसी दूसरेके घर जरा अच्छे वाले चावल हैं तो उन्हें बदलकर आहारमें देना, यह परिवर्त दोष कहलाता है। देखिये—सब जगह एक कुञ्जी मिलेगी कि गृहस्थको कष्ट न होना चाहिए। वह बनाये सीधा अपने लिए शुद्ध भोजन और उसी बीच भोजन करके मुनिराज चले गए, सो तो ठीक है, पर किसीसे चीज सामान अदल-बदलकर आहार लगाना यह परिवर्त दोषसे सहित होता है।

(३७०) **अभिहृत नामक उद्गम दोष**—(१२) बारहवां दोष है—अभिहृत दोष। किसी दूसरे गांवसे या किसी दूसरे मौहल्लेसे बना हुआ आहार आया हो वह आहार भी मुनिके लिए योग्य नहीं। देखिए सीधी पंक्तिमें दूसरे घरका आहार तो आ सकता है, पर कहीं सड़क पार करना पड़े या अनेक मार्गोंसे कैसा ही घूमकर आना पड़े इस प्रकार का आहार यहां योग्य नहीं बताया। कुंजी क्या है कि गृहस्थको कष्ट न होना चाहिए। कई गलियां छोड़कर आना है तो बचाकर आयगा, देखकर आयगा, उसे थोड़ा कष्ट होगा तो वह आहार योग्य नहीं। इन दोषोंके वर्णनसे आप निरखते जायें कि मुनिका

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

आहार कैसा सुगम आहार हुआ करता है। बस फर्क इतना है कि भोजन शुद्ध हो, मर्यादित हो, गृहस्थको कुछ आभास ही न हो कि कष्ट है, पर जहां ऐसी बनावट चल गयी कि कोई अगर दो तीन दिन आहार दे तो वह इतना थक जायगा कि कहो कुछ ज्वरसा भी आने लगे या चौका बंदसा करना पड़े, तो ऐसा आहार न हो। बन रहा है शुद्ध। उसीमें पहुंच गए, हो गया आहार। इन बातोंसे मुख्य बात एक वह लेना कि आपका बनता हुआ आहार है उसीमें पहुंच जाय और उस बनते हुएके समयमें ही थोड़ी देरको वह आरम्भ कार्य बंद करके आहार दे दिया तो उसमें कोई बनावट नहीं आती। मगर बहुत सुबहसे अंधेरेसे आहार तैयार करना और एक घंटा पहले तैयार करके रख लेना और फिर रसोईघरको पोतकर साफ कर देना, यहां तक कि वहां राख तक भी न दिखाई दे तो यह तो एक कष्टकी चीज है और बनावटकी चीज है। यह शिवपथमें अप्राकृतिक बात है, पर कुछ जिनको ज्ञान ध्यानसे फुरसत नहीं वे मुनिजन कुछ अधिक निगरानी नहीं करते, सीधे थोड़ा क्षुधानिवृत्ति की और वापिस आकर ज्ञान ध्यानमें लग जाते। कहीं-कहीं तो चौकेका सोला देखते ही बनता। वह सोला ऐसा चलता कि जिसमें बड़ी छू छैया चलती। चौकीकी लकीरसे जरा भी हाथ या पैरका अग लग गया या जरा भी किवाड़ वगैरहसे धोती छू गई तो बस चौका अशुद्ध। चौकेकी लकीर पार करना हुआ तो उसमें भी कई उचककर जाते। भला बताओ चौकेकी शुद्धिमें इतने छुआछूत बढ़ा रखनेकी क्या आवश्यकता थी? अरे मुनियोंका आहार तो जंगलोंमें भी हुआ करता था। जंगलोंमें तो अनेकों पशु-पक्षी पास भी आ जाया करते थे। बताओ उनसे भी अशुद्ध हो गए क्या ये घरके लोग? अरे उनसे तो अधिक शोध है ही गृहस्थके घर। तो मुनियोंका आहार तो एक उत्सर्ग मात्र है, पर एक इतना बड़ा शोध बढ़ा दिया कि जो एक मर्यादासे अधिक है तो वह सब बनावट फिर एक तीर्थके मुनिधर्मके प्रसार में बाधक हो जाती है। तो इन दोषोंसे यह ज्ञात होता कि श्रावकको कष्ट न होना चाहिए ऐसा आहार मुनिके लिए योग्य है।

(३७१) **उद्भिन्न एवं मालारोहण नामके उद्गम दोष**—यह जीव निराहार स्वभावी है। आहार करना इस जीवका स्वभाव नहीं है, इस कारण जो तत्त्वज्ञानकी रुचिसे निराहार रहकर समाधिमें स्थित होते हैं वह कार्य तो अपूर्व ही है, किन्तु जो कर्मविपाक-वश समाधिस्थ होनेमें समर्थ नहीं हैं, क्षुधाकी वेदनासे अधीर हो जाते हैं उनको आहार करना आवश्यक हो जाता है। सो यदि अपनी आयु बढ़ानेके लिए अर्थात् मैं खूब जिन्दा रहूं इसके लिए या शरीरको पुष्ट करनेके लिए आहार करता है तब तो वह मुनिके

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

व्यवहार धर्ममें नहीं आता, किन्तु संयमके प्रयोजनसे आहार चर्या करता है, तो वह व्यवहार चारित्रका अंग बनता है। मुनि किस प्रकार आहार करे, कौनसे दोष टाले, यह प्रकरण चल रहा है। १६ उद्गमके दोष जिन्हें श्रावक करता है, जिन दोषोंका भागी श्रावक है उन दोषोंका वर्णन चल रहा है। १३–तेरहवां दोष है उद्भिन्न। जो भोजन उघड़ा पड़ा है, ढका नहीं है उसे उद्भिन्न कहते हैं। जो उघड़ा पड़ा हो भोजन वह उद्भिन्न दोष क्यों है, कि उसमें हिंसाका संशय रहता है। कोई मक्खी बैठ जाय, मच्छर बैठ जाय तो उसको हिंसाका आश्रव जानकर मुनिजन उस आहारका त्याग कर देते हैं। (१४) चौदहवां दोष है मालारोहण। मुनि आहार कर रहे हैं, उस समय श्रावकका भाव हुआ कि अटारी पर मटकेमें लड्डू रखे हैं वे भी मंगाकर आहार दें, तो वह सीढ़ी पर चढ़ेगा और वहाँसे उतरेगा तो ऐसा लाया हुआ आहार मुनि नहीं लेते। उसमें दोष क्या आता कि यदि यह परम्परा रही कि सीढ़ीपर जल्दीसे उतरे, इसी प्रसंगमें कहीं पैर फिसल गया तो पैर टूट सकता है या कुछ भी चोट आ सकती है, इस प्रकारका आहार मुनिके योग्य नहीं है।

(३७२) **आच्छेद्य व अनिसृष्ट नामके उद्गम दोष**—(१५) पन्द्रहवां है आच्छेद्य दोष किसी राजा या चोरके भयसे कोई चीज छिपाकर यदि मुनिको दी जाती है तो वह आच्छेद्य दोष है। जैसे किसी चीजके प्रति राजाज्ञा है कि नहीं दे सकते, यों ही चोरों का भी डर है। अकाल जैसे जमाने भी अनेक आते कि दे रहे आहार, उन दिनों लोग भूखों मरते हैं, कहो हाथपर रखी हुई चीज भी उठा ले जायें, सभी तरहके जमानेकी सम्भावनासे बताया जा रहा है कि लुक छिपकर यदि मुनिको कोई चीज दी जा रही है तो उसमें आच्छेद्य दोष है, क्योंकि इसमें मुनिके सिंहवृत्ति नहीं रहती। (१६) सोलहवां दोष है अनिसृष्ट दोष। घरके मालिक की सम्मति बिना जो आहार दिया जाता है उसमें अनिसृष्ट दोष है। यदि घरका मालिक नहीं चाहता और उस घरके बच्चोंका भाव है कि मैं आहारदान दूं तो वह सदोष आहार है। मालिककी सम्मति अवश्य होनी चाहिए।

(३७३) **उद्गम दोष टालनेके लिये श्रावकोंको प्रतिबोधनकी आवश्यकता**—उक्त प्रकार १६ उद्गम दोष है। ये श्रावकके आश्रित दोष होते हैं। इनके जिम्मेदारी श्रावकके ऊपर है। इसीमें आया है वह उद्दिष्ट दोष जिसकी जिम्मेदारी श्रावकपर है। यदि मुनि-धर्मसे प्रेम हो तो आज उद्दिष्टका नाम लेकर मुनि धर्मका विरोध करने वाले श्रावकों को फटकारते कि हे श्रावक, शुद्ध भोजन कर ताकि उद्दिष्ट दोष न लगे तो एक श्रावक

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

को तो बोलते तहीं, न स्वयं शुद्ध भोजन करते और आलोचना करते तो नियमसे यह खोटे भाव पूर्वक ही प्रचार प्रसार कहलायगा, क्योंकि जब उद्दिष्ट दोष श्रावकके आश्रित हैं तो यदि खुद श्रावक है तो उसे अपनी गल्ती महसूस करना चाहिए। तो श्रावकको अधिक उपदेश करते कि उद्दिष्ट दोष न आ सके। मुनिको तो नवकोटिविशुद्ध आहार करनेसे दोष नहीं रहता।

(३७४) **प्रारम्भिक सात उत्पादन दोष**—अब १६ दोष हैं उत्पादन दोष। ये दोष मुनिके आश्रित हैं, मुनि करता है इन दोषोंको। सो उस आहारको मुनि नहीं लेता। (१) पहला दोष है धात्रीवृत्ति। गृहस्थको बच्चोंके पालनकी कलाका उपदेश देकर, बताकर प्रयोग कराकर गृहस्थको प्रभावित करना, फिर प्रभावित कर जो आहार लिया जाय वह धात्री दोष है। ऐसी एक कल्पना करो कि बहुत गरीब जनता है तो मुश्किल पड़ता है खुदका भी जीवन निर्वाह करना, तब ही लाजवश देना ही पड़ता ऐसा आहार। किसी क्षेत्रमें आहार मिलनेकी सम्भावना नहीं है तो आहार मिले इसके लिए मुनिजन कोई अपनी चतुराई बनायें तो वह दोषी माना गया है, उसीमें यह एक धात्री दोष है। बच्चोंको ऐसा पाले, ऐसा खिलावे ऐसी बात कहकर एक गृहस्थका अनुराग बने ताकि वह आहार प्रक्रिया बनाये यह धात्रीदोष है। (२) दूसरा दोष है दूतत्व, दूतपना। मुनि आहारको जा रहे हैं तो यहांके किसी आदमीका सन्देश लाना और वहां सुनाना, वह तुम्हारा अमुक सम्बन्धी है, उसने तुमको यों कहा है, ऐसा कुछ व्यवहार बनाकर अनुराग बढ़ाना गृहस्थका यह दूतदोष कहलाता है। (३) तीसरा दोष है भिषग्वृत्ति दोष, वैद्यपनेकी वृत्ति। लोगोको अनेक प्रकारकी दवाइयां बताकर आहार ग्रहण करना यह भिषग्वृत्ति दोष है। आशयकी बातें हैं, यह बात कभी किसीको बता भी दे पर आशयमें उसके एवजमें अपने आहारका जोग जुड़ाना, यह न हो तो यह बात नहीं आती अगर इसमें अपने आहारका जोग जुड़ाना, यह आशय बनता है तो यह सब दोष कहलाता है। (४) चौथा है निमित्त नामका दोष। निमित्तकी बातें दिखाकर श्रावकोंको अपनी ओर आकर्षित कर आहार लेना। जैसे ग्रह, तिल, मस्सा, हस्तरेखा आदिक, स्वप्नके फल वगैरह बताकर आहार ग्रहण करना, यह निमित्त दोष है। (५) पांचवां है इच्छाविभाषण दोष। कोई श्रावक पूछता है—क्या कुत्तोंको रोटी खिलानेसे पुण्य है? पुण्य हो या पाप हो, यह बात अलग है, मगर यह मुनि उस आशयसे उसकी इच्छाके अनुसार बोलते हैं—हां पुण्य है, ठीक है, मायने किसी प्रकार श्रावक आकर्षित हो, राजी हो और फिर वहां आहार लेना, यह इच्छाविभाषण दोष है। (६) छठा दोष है पूर्व-

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

स्तुति दोष। श्रावककी कुछ प्रशंसा कर देना, अहो सेठ तुम जगतमें प्रसिद्ध दातार हो ...यों कुछ भी वचन बोलकर उसे हर्ष उत्पन्न कराना और वहां आहार लेना यह पूर्व-स्तुति दोष है। यह दोष इस ध्यानसे जल्दी समझमें आयगा कि मानो कहीं आहारकी व्यवस्था नहीं बनती है, कम बनती है तो वहां ऐसा जोग जुड़ानेकी यदि मुनि चेष्टा करता है तो यह सब दोष है। (७) सातवां है पश्चात्स्तुति दोष। आहार करने बाद उस गृहस्थकी प्रशंसा करना—तुम बहुत धर्मात्मा हो, बहुत दानी हो, मुनियोंके प्रति तुम्हारा बड़ा ख्याल है, यों किसी प्रकार स्तवन करे, मानों ऐसा तैयार कर देना कि हम अभी कई दिन आगे पड़े हैं, सो व्यवस्था बनती रहेगी, यह पश्चात्स्तुति दोष है।

(३७५) **अन्तिम नौ उत्पादन दोष**—(८) आठवां है क्रोध दोष—क्रोध दिखाकर आहार करना क्रोध दोष है। आहारकी ठीक-ठीक व्यवस्था नहीं बनती सो खूब डांटना फटकारना इस तरहसे आहारविधि कराना क्रोध दोष है। (९) नवां है मान दोष-मान घमंड दिखाकर आहार करना यह सब क्या चतुराई है? वह दोषमें है। (१०) माया-दोष—माया दिखाकर कुछ कपट वृत्ति कर किसी प्रकार आहार प्राप्त करना माया दोष है। (११) लोभदोष—लोभ दिखाकर आहार प्राप्त करना लोभ दोष है। आहार-दान करनेसे अमृत मिलेगा, भोगभूमिके जीव बनोगे कुछ बात कहकर उसका जोग जुड़ाना यह लोभदोष है। (१२) वश्यकर्मदोष वशीकरणका, मंत्र-तंत्रका उपदेश देकर आहार प्राप्त करना वश्यकर्म दोष है। गृहस्थोंमें झगड़े तो चलते हैं। कोई स्त्री चाहती है कि पति वशमें नहीं है, उल्टा चलता है, यह मेरे वशमें हो जाय, तो वह स्त्री उस मुनिसे कहे और वह उसे उसका उपाय बताये—ऐसा जाप जपो, अमुक तंत्र करो और फिर आहार ले, ये सब दोष हैं। प्रथम तो कहना ही न चाहिए और फिर आशय बनाया आहारका तो यह दोष है। (१३) तेरहवां दोष है स्वगुणस्तवन। अपने ज्ञान, तप, जाति कुलका वर्णन करके अपनी एक प्रशंसा द्वारा लोगोंके दिलमें यह बात बैठाना कि यह बहुत ऊंचे साधु हैं, फिर आहार प्राप्त करे तो यह स्वगुणस्तवन दोष है। (१४) चौद-हवां दोष है विद्योपजीवन दोष। सिद्ध की हुई विद्याको दिखाकर आकर्षण कर आहार ग्रहण करना यह विद्योपजीवन दोष है। (१५) पन्द्रहवां दोष है मंत्रोपजीवन दोष—मन्त्रों का उपदेश देना, कोई लोग आकर पूछे कि मेरी बड़ी गरीबीकी स्थिति है. अब मेरा कोई कामकाज नहीं चल रहा, मेरे पास कैसे धन हो जाय? तो वह उसे तंत्र मंत्र बताये और फिर उनके यहां आहार ग्रहण करे तो यह मंत्रोपजीवन दोष है। (१६) सोलहवां दोष है—चूर्णोपजीवन दोष जैसे मंत्रादिक बताकर आहार लिया, ऐसे ही अनेक प्रकार

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

के चूर्ण आदिकका उपदेश देकर या अन्य कोई आजीविकाकी वस्तुके बतानेका उपदेश देकर फिर आहार ग्रहण करे तो यह चूर्णोपजीवन दोष है। तो सोलह दोष तो गृहस्थों के आश्रित थे, ये १६ दोष पात्रके आश्रित हैं। इन्हें कोई मुनि करता है। यहां तक ३२ दोष बताये गए।

(३७६) **अशन सम्बन्धी दस दोष**—अब १० दोष देखिये आहारसम्बंधी। १—शंकित दोष—जिस भोजनके बारेमें शंका हो जाय कि यह शुद्ध है या अशुद्ध है, फिर उस भोजनको न लेना चाहिए। (२) भ्रक्षित दोष—चिकने हाथसे या चिकने बर्तनसे जो आहार दिया जाय उसमें भ्रक्षित दोष लगता है, क्योंकि चिकनेका प्रयोग करनेसे कोई मक्खी, मच्छर वगैरह उड़ता हुआ चिपक जाय तो उसमें हिंसाका संदेह है। (३) तीसरा है निक्षिप्त दोष—निक्षिप्त वस्तुपर भोजन रखा हो तो वह निक्षिप्त दोष है। वह आहार नहीं लिया जा सकता। (४) चौथा दोष है पिहित दोष। सचित्त पत्ते आदिकसे ढका हुआ जो भोजन है उसमें पिहित दोष है। वह भोजन भी नहीं लिया जा सकता। (५) पांचवां है उज्झित दोष याने ज्यादह गुरु पदार्थ हो या जिसमें से थोड़ा ही खाने योग्य पदार्थ हो, बाकी सब फेंकना पड़ता है, ऐसा आहार मुनि नहीं लेते। ऐसे आहारमें उज्झित दोष होता है। (६) छठा है व्यवहारदोष—जल्दी-जल्दीमें जैसे मुनि आ रहे हैं तो केवल हड़बड़ाहट होती है या आदर अधिक करनेका भाव होता हो उस समय झट-झट काम करे बर्तन घसीटने, वस्त्र घसीटने आदिके तो यह व्यवहार दोष कहलाता है। (७) सातवां है दातृ दोष—याने कैसा व्यक्ति आहार देने वाला होना चाहिए, उसके विरुद्ध हो तो वह दातृ दोष है। जैसे कोई शराबी हो व शराब पी लेने से बेहोश हो गया हो या अंधा हो या मृतक श्मशानमें गया हो, तीव्र रोगी हो, जिसके शरीरमें फोड़ा फुंसीके बड़े-बड़े घाव हों, जिसने मिथ्यादृष्टिका भेष रखा हो···ये सब अयोग्य दाता हैं अथवा ५ मासंसे अधिक जिस स्त्रीके गर्भ हो, वेश्या हो, दासी हो, पर्दे के भीतर छिपकर खड़ी हो आदिक अनेक अयोग्य दातार हैं। अयोग्य दातारसे आहार ग्रहण करना दातृ दोष कहलाता है। ८वां अशन दोष है मिश्र—जिस आहारमें छह कायके जीव मिल गये हों वह मिश्रदोषदूषित अशन है। ९वां अशनदोष है अपक्व—अग्नि आदिसे जो पक न पाया हो, कच्चा हो, जिसके वर्ण गंध रसादि परिवर्तित न हुए हों वह अपक्व दोषदूषित अशन है। १०वां अशनदोष है लिप्त—घी आदिसे लिप्त चम्मच आदिसे जो आहार दिया जाय अथवा अप्रासुक जल मिट्टी आदिसे लिप्त बर्तनोंसे आहार दिया जाय तो वह लिप्तदोषदूषित अशन दोष है।

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

(३७७) **मुनिको आहारप्रक्रियामें टालने योग्य चार अन्य दोष**—साधु जनोंको ४६ दोष टालकर आहार करना चाहिए, यह प्रकरण चल रहा है जिसमें ४२ दोषोंका वर्णन हो चुका। १६ उद्गम दोष और १२ उत्पादन दोष और १० एषणा दोष। अब शेषके चार दोषोंका वर्णन करते हैं। ये चार दोष महादोष हैं। सबसे अधिक महान दोष तो अधःकर्म है। वह तो इतना बड़ा दोष है कि उसे दोषमें नहीं कहा, किन्तु वह तो अंगमें आता है। इन चार दोषोंमें प्रथम दोषका नाम है संयोजन। स्वादके लिए भोजनको एकमें दूसरा मिला देना वह संयोजन दोष है। जैसी ठंडी वस्तुमें गर्म मिलाना, गर्ममें ठंडा मिलाना, यह संयोजन दोष अनेक रोगोंका कारण है और इसमें असंयम होता है। दूसरा दोषहै अप्रमाण दोष। विधि यह है कि आहार आधा करना चाहिये। इसे कहते हैं आधा पेट आहार करें, चौथाई पेट पानीसे भरें और चौथाई पेट खाली रखे, जिसमें वायुका संचार होता रहे। इसके विरुद्ध अगर अधिक आहार करे तो वह अप्रमाण दोष है। इस अप्रमाण दोषसे क्या नुक्सान है? ध्यानमें भंग रहेगा, अधिक खानेसे आलस्य आयगा, पड़े रहेंगे, अध्ययन न कर सकेंगे। शरीरमें पीड़ा होगी, निद्रा अधिक आयगी, आलस्य विशेष होगा तब मोक्षमार्गमें प्रकट बाधा है, इस कारण आहार करना इस ढंग से बताया गया है। आधा पेट भोजन, चौथाई पेट पानी और चौथाई खाली। तीसरा दोष है अङ्गार दोष। जैसे भोजन रुचिकर हो ऐसा भोजन मिले तो रागभावसे उसे खाना, रुचिसे प्रेमसे मौज मान करके खाना यह अङ्गार दोष है, क्योंकि साधुवोंको इष्ट और अनिष्ट विषयोमें रागद्वेष न करना चाहिए। एक क्षुधानिवृत्तिके लिए आहार है, इसी कारण इसका नाम गर्तपूरण वृत्ति है। जैसे कि कोई गड्ढेको भरना है तो उसमें ईंट डालो तो, मिट्टी डालो तो, इसमें कोई यह ख्याल नहीं करता कि अरे इसमें कूड़ा क्यों डालते? चाहे टूटी ईंट डाले, चाहे कुछ डाले, कुछ भी पड़े वह गड्ढा भरना चाहिये, तो ऐसे ही साधु जन अपनी इस क्षुधानिवृत्तिके लिए गड्ढा जैसा भरते चाहे नीरस मिले, चाहे सरस मिले। हां इतना यहां विवेक रहता कि अशुद्ध ग्रहण न करेगा, उसमें इष्ट अनिष्टका भाव न रखेगा। अगर रागभावसे सेवन करे तो अङ्गार दोष है। चौथा दोष है धूमदोष। कुछ अच्छा न मिले, नीरस मिले, अनिष्ट मिले तो द्वेषपूर्वक उस आहारको करे, मनमें बुरा लगता, बराबर क्रोध भी आता जा रहा और कर रहे हैं तो यह धूम-दोष है। ये चार दोष भी साधुजन बचाते हैं।

(३७८) **आहार लेनेके मुनिके प्रयोजनका दिग्दर्शन**—आहार लेनेका प्रयोजन है। क्षुधा की शान्ति। खूब रसवान भोजन करनेपर जो रसीले भोजन करते हैं वे ही बतायें कि

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

उनको लाभ क्या मिलता है बादमें, केवल एक रागवश करते हैं और लाभकी तो बात छोड़ो, नुक्सान ही पाते हैं। तो आहार करनेका प्रयोजन है क्षुधाकी शान्ति। यह साधुवों की चर्चा चल रही कि जिनको आत्माके ध्यानकी धुन लगी है, इस ज्ञानप्रकाशमें ही रहनेका जिनका प्रयोजन रहा करता हैं उनको कहां ऐसी फुरसत कि आहार करनेमें मौज मानें, राग करें? हां क्षुधा एक ऐसी वेदना है कि आहार बिना जीवन नहीं चलता। तो क्षुधाकी शांतिके लिए आहार करना साधुवोंका होता है। आहारका प्रयोजन है की थोड़ा बल रहेगा तो आवश्यक कार्य अच्छी तरहसे किए जा सकते हैं। वंदना, स्तुति, प्रतिक्रमण, प्रायश्चित्त, स्वाध्याय, ध्यान आदि ये भले प्रकार होते रहें, इसके लिए आहार ग्रहण करते हैं, क्योंकि यह मानवजीवन ऐसा है कि जिसमें संयम सधता है, ज्ञानकी विशेष जागृति होती है। तो प्राणोंकी रक्षा रहे तो संयममें प्रवृत्ति चलती रहेगी। असमयमें मरणका फल अच्छा नहीं होता यहांसे मरकर न जाने किस गतिमें गए, संयम नहीं बने। इसलिए प्राणरक्षाके अर्थ आहार करते हैं, और मेरा धर्मपालन हो, चारित्रका पालन हो, अन्य मुनिजनोंकी सेवा करते रहें, इसके लिए मुनि जन आहार करते हैं। आहार प्रयोजन विषय नहीं है, किन्तु संयम, सेवा, ध्यान, ये सधते रहें, इसलिए आहार ग्रहण करते हैं मुनिजन कब कब आहार छोड़ देते हैं? ऐसी कौनसी स्थितियां हैं कि जब वे आहार ग्रहण नहीं करते? उनपर कोई बड़ा उपसर्ग आ रहा हो, कोई बड़े भयकी घटना चल रही हो अथवा सन्यास मरण ले लिया हो या अनशन, उपवास, तपश्चरण धारण कर लिया हो अथवा ब्रह्मचर्यमें कुछ दोष लगने जैसा वातावरण बनता हो तो वे आहारका परित्याग कर देते हैं। तो मुनिजन इन ४६ दोषोको टालकर आहार करते हैं। सो कुन्दकुन्दाचार्य यहां उपदेश कर रहे हैं कि टाले बिना अशुद्ध भावसे जैसा चाहे खाकर विषयोंमें मौज मानकर खोटी योनियोंको प्राप्त होता है यह जीव, इस कारण भावशुद्धिपर ध्यान देना चाहिए।

(३७९) मांसादिवीक्षण, काकाद्यमेध्यपात, वमन व स्वनिरोधन नामके अन्तराय—

अब निरखिये कि आहार करते समय या पहले ऐसी कौन सी घटनायें होती हैं जहां अंतराय कर देना पड़ता है? उनका भी परिचय करें। ऐसे अंतराय ३२ हैं उनमें पहला अंतराय है कि कोई पीप, हड्डी, मांस, रक्त चमड़ी, आदिक दिख जायें तो वहां अन्तराय है। उनके शरीर पर कोई पक्षी बीट कर दे, चर्याको जा रहे हैं, कोई उड़ता हुआ पक्षी बीट कर दे या घरमें आहार होते समय कोई मलोत्सर्ग कर दे तो अंतराय हो जाता है। थोड़ा ही आहार कर पाया, स्वयं मुनिको वमन हो जाय तो वहां अंतराय

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

हो जाता है। कोई पुरुष उन्हें आहार करनेसे रोक दे, कुछ कह दे कि आप मत जाइये मत आहार करें, किसी ढंगसे रोके तो अंतराय है, फिर वे आहार नहीं करते।

(३८०) अश्रुपात, पिण्डपात, काकादिपिण्डहरण व त्यक्तसेवन नामके अन्तराय— कोई ऐसा दुःख माने कि आंसू आ जायें या किसीको ऐसा दुःखी ले कि जो आंसू धार-कर रो रहा हो तो ऐसी स्थितिमें उनके भोजन करनेका भाव नहीं होता। ये तो अंत-राय बतलाये जा रहे हैं, सो इनमें कुछ तो हैं अशुद्धताके कारण और कुछ हैं व्यथाके कारण। या कायरता न जगे इस कारण अंतराय किए जाते हैं। मुनिजन आहार कर रहे हैं और हाथका ग्रास गिर जाय तो उन्हें अन्तराय हो जाता है। इस अंतरायमें कई बातें ऐसी मिलेगी कि अगर अंतराय न करें तो यों जंचेगा कि इसको खानेमें बड़ी आसक्ति है। जैसे कौर गिर गया और फिर भी लेते जा रहे हैं तो साधुजनोंके लिए यह आसक्ति जैसा सूचक बन जाता है। कौवा आदि कोई पक्षी उनके हाथमें ग्रास उठाकर भाग जाय क्योंकि खुले मैदानमें भी उनका आहार होता, हाथपर रोटी रखी गई और कोई पक्षी उड़ करके कौरको ले जाय तो उन्हें अंतराय हो जाता। यहां यह बात पर-खते जाइये कि साधु कितना मनस्वी पुरुष है कि उसके खानेके विषयकी लालसा नहीं है, तब ही ऐसी घटनाओंसे वह अन्तराय कर दिया करता है। कोई वस्तु छोड़ी हुई हो और वह खानेमें आ जाय तो वहां अंतराय हो जाता है। जैसे मान लो मीठा छोड़ रखा हो और दूधमें मीठा पड़ा हो और भोजनमें आ जाय, क्योंकि दूधमें मीठा दिखता तो नहीं है। जिस दिन आ गया तो वे अंतराय कर देंगे।

(३८१) पादान्तरालपञ्चेन्द्रियगमन, स्वोदरकृम्यादिनिर्गम व निष्ठीवन नामके अन्तराय— मुनिजन खड़े होकर आहार लेते हैं। इसके दो कारण हैं—एक तो यह कि वे यह परीक्षा करते हैं कि मेरे पैरोंमें जब तक खड़े होनेकी शक्ति है तब तक इस शरीर नौकरकी सेवा की जायगी। जब खड़े होनेकी शक्ति न रही तो इस शरीरकी सेवासे क्या लाभ? फिर तो वे समाधिमरण कर लेते हैं। एक तो यह कारण है। दूसरा कारण है यह जो हमको अपने ख्यालसे लग रहा है कि उन साधुवोंको इतनी फुरसत नहीं है कि वे ऐसा आरामसे खूब बैठकर मौज मानकर खायें। जैसे खेलने वाले बच्चेको आरामसे बैठकर खानेकी फुरसत नहीं, उसकी मां जबरदस्ती पकड़कर बैठा लेती और खाना खिला देती, बड़ी जल्दीसे वह थोड़ासा खाना खाता और खेलने निकल जाता ठीक इसी प्रकार मुनि-जन जो कि अपने आत्मामें रमण करते हैं, अपने आत्मवैभवसे खेलते हैं उनको इतनी फुरसत नहीं कि वे आरामसे बैठकर खायें। पैरोंके बीचसे कोई पशु या पक्षी निकल

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

जाय तो उनको अंतराय हो जाया करता है। कभी किसी रोगवश उनके पेटसे कीड़ा मल मूत्र रक्त पीप आदिक कुछ भी निकल जाय तो उनको अन्तराय हो जाता है। वे थूक दें तो अन्तराय है। तब ही चर्याके समय भोज्यके समय उन्हें कभी थूकते न देखेंगे। एक बात और जानना कि अधिक थूकनेकी आदत बहुत गन्दी है। थूक जब तक मुखके अन्दर है तब तक खराब चीज नहीं है, बल्कि थूक तो एक निरोगताको उत्पन्न करता है, जठराग्नि बढ़ती है, थूक कोई ऐसी अशुद्ध वस्तु नहीं है जब तक मुखके अन्दर है। कभी कोई खांसी हो, कोई बात हो तो थूक दे सो तो ठीक है, पर जरा जरासी बातमें थूकनेकी आदत भली नहीं होती। तो खास करके आहारके समय अगर थूक दे तो वह अन्तराय हो जाता है।

(३८२) **सदंष्ट्राङ्गिदर्शन, उपवेशन, पाणिवक्त्ररोमादिदर्शन प्रहर व ग्रामदाह नामके अन्तराय**—किसी हिंसक जानवरको या किसी भी विशिष्ट घटनाको देख लिया तो अंतराय है। खड़े हैं मुनिराज आहारके लिए, न खड़े रह सकें, बैठना पड़ जाय तो फिर अंतराय हो जाता है। उनके हाथमें या मुखमें कोई बाल आदिक दिख जाय तो अंतराय है। कोई उनपर प्रहार करे तो अंतराय है। कहीं गांव जलता हुआ दिख जाय तो अंतराय है। देखिये यहां रसोईघरमें आग दिखी उसका अंतराय नहीं आया। खूब ग्रन्थोंमें देखलो कोई बात बहुत बढ़ा चढ़ाकर की जाती है तो वह मार्गको सुगम नहीं बनाती। रोटियां कहीं आकाशसे नहीं उतरती। हां कोई लकड़ीकी आग ऐसी जले कि जिसमें यह सन्देह रहे कि किसीकी साड़ी कपड़ा या कोई शरीरका अंग न जल जाय, कोई प्रकारका अनर्थ न हो जाय, उसकी तो टाल होती है, मगर यहां बतला रहे हैं ग्रामदाह। ऐसी तेज आग दिख जाय कि जिससे गांव जला जा रहा हो तो वह अंतराय है।

(३८३) **अशुभोग्रवीभत्सवाक्श्रवण, उपसर्ग, पात्रपतन, अयोग्यगृहप्रवेशन व जान्वधः स्पर्श नामके अन्तराय**—कोई खोटी वाणी बोल जाय या कोई निर्दयताके भयानक शब्द सुनने में आ जायें तो वह अन्तराय है। कोई उपसर्ग आ जाय तो अन्तराय है। दातारके हाथ से गिरता हुआ कोई बर्तन दिख जाय तो वह अन्तराय है किसी अयोग्य घरमें प्रवेश हो जाय, किसी हिंसकके घरमें, क्योंकि उनकी तो चर्या है। मुनि घरमें वहां तक जा सकता है जहां तक आंगन हो। जहां प्रायः अनेक लोग जाते रहते हैं। वहां तो द्वार पर ही कोई पड़गाहन करता है तब भीतर जाते हैं। न भी कोई द्वार पर मिले तो भी घर के भीतर वहां तक जा सकता है जहां तक प्रायः और लोग भी जाया करते हैं। वैसे भी पड़गाहा हो तो चले जायेंगे चौकेमें, नहीं तो लौट आयेंगे। तो ऐसे अगर किसी

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.vardhmanbh.org

अयोग्य घरमें प्रवेश हो गया तो वह अंतराय है। कभी घुटनेके आस-पास या घुटनेके नीचे कोई मान लो मच्छरने काट लिया हो, किसी भी कारणसे मुनिका हाथ यदि घुटने या घुटनेके नीचे तक चला जाय तो वह अन्तराय है। अब देखना कि कितना वह गम्भीर महापुरुष है। शंका कर सकते कि इसमें क्या अन्तराय हो गया कि अगर घुटने खुजा लिये ? तो देखो—वहां यह बात तो जाहिर होती है कि शरीरमें इसके बहुत तीव्र राग है। चर्यामें जा रहा है सिंहवृत्तिसे और न सहा गया थोड़ासा भी काटना तो वह बीचमें अपने पैर खुजा रहा है। तो यह स्थिति साधुके लिए शोभायुक्त नहीं है। वह अन्तराय है। ऐसी कुछ घटनायें घटी कि दिल खुद स्वीकार कर लेता है, मनुष्यमें कमी आयी या जीवदयामें कमी आयी, ऐसी घटनाओंको देखकर उनके अन्तराय हो जाता है। इस कारण साधुजनोंको उपदेश है कि वे योग्य द्रव्य, क्षेत्र काल भाव जानकर उस प्रकारसे चेष्टा करें तो ऐसी शुद्ध निर्दोष चर्यासे तो आत्मध्यानके लिए उमंग रहती है और जो इस चर्यामें चल रहे याने उन दोषोंको छुपाकर आहार लें तो उसका भाव अशुद्ध हैं और ऐसे अशुद्ध भावसे रहने पर वह स्फूर्ति नहीं आती है कि जिससे आत्मध्यानके लिए उमंग बढ़े। अतः इन दोषोंको टाल कर चर्या करके जीवन यापन करें और आत्मध्यानमें बढ़ें।

सच्चित्तभत्तपाणं गिद्धीं दप्पेणऽधी पभुत्तूण।
पत्तोसि तिव्वदुक्खं अणाइकालेण तं चिंत ॥१०२॥

(३८४) **गृद्धि व दर्पसे सचित्तभक्तपानका फल तीव्रदुःखसहन**—हे आत्मन् ! तूने बुद्धि बुद्धीहीन होकर याने विवेक छोड़कर आहारकी तीव्र इच्छा की। ऐसा गर्व हुआ, अहंकार हुआ या लोभ आया कि सचित्त वस्तुओंको भी ग्रहण किया, तो मुनिव्रत धारण करके भी निर्दोष वृत्ति न रहनेसे अनादिकालसे दुःख ही पाता रहा, अशुद्धतासे दुःख ही पा रहा था, और कभी मुनिभेष भी धारण किया और गृद्धता न छोड़ी तो वह अपना जन्ममरण नहीं मेट सकता। भोजनकी लम्पटता अज्ञानदशामें होती है। लोकमें कहावत है कि घाटी नींचे माटी, इस गलेसे जहां ग्रास नीचे उतरा कि वह माटी हो गया, लेकिन मोह ऐसा होता कि खाते समय स्वाद लेते वह तो लेते ही हैं, मगर खा चुकनेके बाद भी घटों या अनेक दिन अपने स्वाद लेनेका अहंकार बताते हैं कि मैंने ऐसा ऐसा बढ़िया खाया। अरे जो खाया सो तो मिट्टी हो गया, पर अब वह लगाव रख रहा है। तो अज्ञानदशामें भोजनकी लम्पटता की, बल पाया या कोई चमत्कार पाया तो गर्वसे यथा तथा भोजन किया, बारबार उपभोग कर अनादिकालसे नरकादिक गतियोंके तीव्र दुःख

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

पाये। यहां तो खूब खाने पीनेका मौज है और मरकर नरक गये तो क्या हाल होगा ? बताया है ना कि "तीन लोकका नाज जु खाय। मिटे न भूख, कणा न लहाय।" सारा अन्न खा ले नारकी जीव फिर भी भूख नहीं मिटती। मगर वहां खानेको एक दाना नहीं मिलता।

(३८५) **ज्ञानानुभूतिके प्रकरणोंसे ही सुयोग्य सुविधा पानेकी सफलता**—जरा अपने आपके बारेमें तो चिंतन करें। आपके इस भिन्ड नगरमें देखनेमें आता कि सभी गलियोंमें सैंकड़ों सुवर फिरा करते हैं। उनका सारा शरीर मलसे लिपटा रहता है। उनका मुख हमेशा गंदी चीजसे भिड़ा रहता है, वे कितनी अशुद्ध दशामें हैं। बताओ हम आपकी भी क्या ऐसी स्थिति न हो सकती थी ? आज हम आप कितना पवित्र स्थितिमें हैं। इन घोड़ा खच्चर गधा, झोंटा, भेड़, बकरी आदि पशुओंकी दशायें देखो, उनकी अपेक्षा हम आपकी कितनी अच्छी स्थिति है। आपके इस नगरमें तो ऊंट भी बहुत दिखते, जिनके नाकमें नकेल लगी है, जिन्हें लोग डंडोंसे मारते, वे चिल्ला चिल्लाकर इधर-उधर भागते फिरते। उनकी अपेक्षा तो हम आप बहुत कुछ ठीक स्थितिमें हैं, सब प्रकार के आरामके साधन मिले हैं फिर भी सन्तोष नहीं है। तृष्णा बनी हुई है। धन वैभवके संचयका बड़ा ख्याल रखते हैं। यदि अपने आत्माके अनुभवकी तृष्णा बन जाय तब तो कल्याण हो जाय, पर यह क्यों नहीं बनती ? मैं अपनेको ज्ञानस्वरूप ही निरखा करूं ऐसा ध्यान मेरे निरन्तर रहे, यह बात धुनमें आनी चाहिए। तब तो मनुष्य जीवन पाना सफल है, और यदि एक विषयोंकी ठाठ बाटमें ही अपना समय गमाया तो उससे अपनी बरबादी ही है। आज तो मन करता कि अच्छे महल चाहिए, सोफा सेट चाहिए, बड़े ठाठ बाटके साधन चाहिए, पर क्या लाभ मिलेगा उनसे। क्या पहले कभी ये सब साधन नहीं पाये ? अरे कितने ही बार पाये और छोड़े फिर भी आज कुछ पास नहीं है। ज्यों के त्यों हैं। आज भी बहुत कुछ संग्रह करके धर जायें मगर मरनेके बाद क्या है मेरा ? मरे और सब गया। तो बाहरी बातोंमें तृष्णाका होना इस जीवपर बड़ी विपत्ति है। अब आप समझलो, चैन नहीं पड़ती। तो जो हो सो हो, जो होगा सो भाग्यके अनुकूल अल्प प्रयाससे ही हो जायगा। उसके लिए अधिक क्या सोचना ? सोचिये तो अपने आत्म-स्वरूपको कि जिसके जाने बिना अनन्त काल भ्रमण किया। तो इस जीवने आत्मज्ञान बिना विषय साधनोंमें रह रहकर, नरकादिक गतियोंमें उत्पन्न हो होकर अनेक कष्ट पाये। अब हे मुनि तुमने मुनि अवस्था प्राप्त की तो कुछ विवेक जगाओ। अगर विवेक न जगा और दोष होते ही रहे तो उसी प्रकार दुःख उठाना पड़ेगा जैसेकि भोगते आये

Report any errors at vikasnc@gmail.com

http://www.jainkosh.org

इस कारण अपनी चर्यामें दोष मत लगे, ऐसा आचार्य कुन्दकुन्द देव इस अष्टपाहुड ग्रन्थ में मुनिश्रेष्ठको समझा रहे हैं।

कंदं मूलं बीयं पुप्फं पत्तादि किंचि सच्चित्तं।
असिऊण माणगव्वे भमिओसि अणंतसंसारे ॥१०३॥

(३८६) **कंद मूल आदि सचित्त भक्षणके फलमें संसारभ्रमण**—हे जीव! तूने अपनी मान्यताके घमंडमें आकर कन्द मूल बीज पुष्प पत्र आदि सचित्त पदार्थोंको खाकर अनंत संसारमें भ्रमण किया है। देहबुद्धि होनेसे घमंड बनता है। घमंड आनेसे एक तरहका शौक बनता है और जैसा चाहे खानेकी प्रवृत्ति बन जाती है। सो गर्ववश अनेक प्रकार के अभक्ष्य पदार्थ खाये। अनेक सन्यासी जन मात्र कंद मूल खाकर ही अपनेको धर्मिष्ठ समझते हैं सो यहां यह जानना कि इसमें तप तो क्या किन्तु हिंसाका दोष लगता है। साधुवोंको तो स्वयं कोई आरम्भका काम करना ही न चाहिये।

(३८७) **पञ्च प्रकारके अभक्ष्य**—अभक्ष्य ५ तरहके बताये गए हैं—(१) एक तो वे अभक्ष्य जिनमें त्रस जीवोंका घात होता है, जैसे गोभीका फूल, बाजारकी जलेबी, बाजारकी सड़ी गली चीजें, और ये अचार मुरब्बा, इनमें त्रस जीवका घात है। तो इनमें एक ख्याल दिला रहे हैं गोभीके फूलका। वह तो छूने लायक भी नहीं है, खरीदनेकी बात तो दूर जाने दो। गोभीके फूलमें बहुत कीट होते हैं, बड़े भी होते हैं, छोटे भी होते हैं, तो उनको जब बनाया छौंका तो वे सब जीव उसीमें भुरता हो गए, मांस बन गया। गोभीके फूलमें मांसका साक्षात् दोष है, वह ग्रहण करने लायक वस्तु नहीं है। (२) दूसरा अभक्ष्य बताया अनंत स्थावरघात—जैसे सूरन, लहसुन, प्याज, मूली, गाजर आदी ये सब अनन्त स्थावर घात वाले पदार्थ हैं, ये अभक्ष्य हैं, मगर इनसे अधिक अभक्ष्य त्रसघात वाले हैं। तो इतना खुद सोच लो की अगर कोई गोभीका फूल खाता हो तो उसे छोड़ देना चाहिए, क्योंकि उसमें साक्षात् मांसका दोष आता है। रही यह बात कि अच्छा लगता है तो उसकी भी बात सुनो—एक बार हमने गोभीका फूल खाने वाले एक भाईसे पूछा की बताओ गोभी फूलका स्वाद कैसा होता है? तो उसने बहुत-बहुत बतानेकी कोशिश की, पर सही-सही न बता सका। उसने बताया कि गोभीके फूलमें यों तो कोई स्वाद नहीं होता, हां मिर्च मसाले आदि पड़ जानेसे उसमें विशेष स्वाद तो ऐसा समझो जैसे कि बाजरेके पेड़में ऊपरी भागमें जो एक डंठलसा होता उसको यदि आगमें भूना जाय तो उसमें गोभीके फूल जैसे अंश निकलते हैं, उनको खानेमें जो स्वाद आता वैसा ही स्वाद गोभीके फूल का होता है। याने जैसे उसमें एक भुरभुरासा

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

स्वाद होता, ठीक वैसा ही स्वाद गोभीके फूल में होता। गोभीके फूलमें खुदमें कुछ स्वाद नहीं। अच्छा मान लो गोभीके फूलमें स्वाद हो तो भी उसे न खाना चाहिये। उसमें त्रस जीवोंका घात है। अंडा और मांसकी तरह ही अभक्ष्य इस गोभीके फूलको भी समझो। कोई अच्छी तरह निरखे तो मालूम पड़ेगा। कुछ तो होते हैं त्रसघात वाले अभक्ष्य और कुछ होते हैं अनन्त स्थावरघातवाले अभक्ष्य (३) कुछ भक्ष्य अनिष्ट कहलाते हैं। चीज शुद्ध है, उसमें कोई दोषन हीं, मगर किसीको खांसी आ रही है खूब तेज, तो चाहे कैसी ही शुद्ध बर्फी हो, उसे अभक्ष्य बताया है। किसीके बुखार चढ़ रहा हो तो चाहे कैसा ही शुद्ध पकवान हो उसके लिए अभक्ष्य है इसे कहते हैं अनिष्ट अभक्ष्य। (४) एक होता है प्रमाद (नशा) उत्पन्न करने वाला अभक्ष्य और (५) एक होता है अनुपसेव्य। जिससे कुछ नुक्सान भी न हो फिर भी सज्जन पुरुष उसका सेवन न कर सकें, जैसे मूत्र पशुओंका या गायका मूत्र। एक बार तो हमने सुना कि जो आज अपने नामके पूर्व भगवान लगाते हैं उन्होने खुद लोगोंको औषधि बतायी कि तुम लोग अपना-अपना मूत्र पियो। अब कैसी क्या कब तक बात थी सो पता नहीं, तो यह अनुपसेव्य चीज है। लार–मुखसे जो लार गिरती है, तत्कालकी लारमें कोई दोष नहीं न कोई जीवहिंसा है, मगर उसे कोई खा सकता है क्या ? अरे वह तो अभक्ष्य है। ऐसे ५ प्रकारके अभक्ष्य होते हैं। तो जो गर्वमें आकर छककर अभक्ष्य सेवन करता है वह इस संसारमें परिभ्रमण करता है।

विणयं पंचपयारं पालहि मणवयणकायजोएण।
अविणयणरा सुविहियं तत्तो मुत्ति न पावंति ॥१०४॥

(३८०) **त्रियोगसे पञ्चप्रकारविनयपालनका उपदेश**—हे आत्मन् ! यदि अपना अभ्युदय चाहता है, सदाके लिए अपनेको संसारके सकल संकटोंसे दूर रखना चाहता है तो मन, वचन, कायसे ५ प्रकारके विनयका पालन कर, क्योंकि विनयरहित मनुष्य सुविहित अर्थात् विधिसे प्राप्त होने वाले अभ्युदय और मोक्षको प्राप्त नहीं कर सकते। विनय ५ प्रकारके कहे गए—(१) सम्यग्दर्शन विनय अथवा सम्यग्दृष्टि पुरुषका विनय, (२) सम्यग्ज्ञान विनय सम्यग्ज्ञानके धारी पुरुषोंका विनय, (३) सम्यक्चारित्र विनय–सम्यक्चारित्रके धारण करने वाले मुनिवरोंका विनय, (४) सम्यक् तपविनय–तपस्वी पुरुषोंका विनय, और (५) उपचार विनय–पूज्य पुरुषोंके प्रति यथायोग्य हाथ जोड़ना, यह उपचार विनय है। पूज्य पुरुष सामने दृष्टिगत हों तो उस समय क्या हाथ लटकाये खड़े रहकर मेढ़ेकी तरह देखते रहना चाहिये ? भावविनयसे गुरुजनोंके प्रति हाथ जोड़कर

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.vitragvani.com

यथायोग्य वचन कहना यह उपचार विनय है। उनके चरणोंमें पड़ना, चरणोंका स्पर्श करना यह उपचार विनय है। जिनके अभिमान है और अपने आपको कुछ समझ रहे हैं अज्ञानवश, ऐसे पुरुष अभिमानसे भरे हुए होते हैं, उन्हें चाहे तुच्छ जीवोंके भी हाथ जोड़ने पड़ें, जैसे ग्राहक आया कोई नीच है, चांडाल है फिर भी हाथ जोड़ें, विनय करें, मनायें, मगर पूज्य पुरुषोंके प्रति उनके हाथ नहीं जुड़ सकते, महापुरुषोंके प्रति सद्-भावना नहीं बन सकती, गुणप्रमोद नहीं हो सकता, सद्वचन नहीं कहे जा सकते, यों धर्मके विषयमें इतनी तीव्र कषाय होना अनन्तानुबंधी कषाय कहलाती है। जिनको अपने उद्धारकी भावना है उनका कर्तव्य है कि धर्मीजनोंको देखकर उपचार विनय करना। पूज्य पुरुष आ रहे हों उनको आते देखकर उठकर या भले पधारे आदि किसी प्रकार उस शुभागमनके प्रति शब्द कहना, यह उपचार विनय है।

(३८९) **विनयपालनका माहात्म्य व अविनयका फल**—हे निकट भव्य, तू इन सब विनयोंका मन, वचन, कायसे पालन कर। मन भी विनयशील हो, वचन भी नम्र हों और कायकी चेष्टा भी सही हो। विनयका बड़ा महत्त्व है। विनयसम्पन्नता तीर्थंकर प्रकृतिके बंधके कारणभूत सोलह कारण भावनाओंमें दूसरी भावना है विनयसम्पन्नता। विनयका इतना माहात्म्य है। इन भावनाओंके प्रतापसे जिसके तीर्थंकर प्रकृतिका बंध होता है वह अवश्य ही मोक्षको प्राप्त होता है। तीर्थंकर प्रकृतिके बंध बिना भी मोक्ष होता है, किन्तु एक यह विशेषता है कि उस आत्माका विशिष्ट सद्भाव है कि जिसके प्रतापसे तीर्थंकर होता हुआ मोक्षको प्राप्त करता है। किन्तु विनयरहित पुरुष न तो सांसारिक अभ्युदय प्राप्त कर पाते हैं और न मुक्तिको प्राप्त कर सकते हैं। इस कारण हे निकट भव्य! तू त्रियोगसे पंच प्रकारके विनयोंका पालन कर।

णियसत्तीए महाजस भत्तीरायेण णिच्चकालम्मि।
तं कुण जिणभत्तिपरं विज्जावच्चं दसवियप्पं ॥१०५॥

(३९०) **मुनिवरोंको दसविध वैयावृत्य करनेका उपदेश**—हे महायश, हे साधुधन अपनी शक्तिके अनुसार भक्तिसे, अनुरागसे जिनभक्तिमें तत्पर पुरुषोंकी वैयावृत्ति करो। पहले बताया गया था, वैयावृत्तिके १० भेद हैं—आचार्यवैयावृत्य, उपाध्यायवैयावृत्य आदि। उन १० प्रकारके धर्मात्माजनोंकी तू विनयपूर्वक वैयावृत्ति कर। जिसको धर्मके प्रति प्रेम होता है उसका धर्मात्माजनोंसे लगाव होता है। यह एक प्राकृतिक बात है। जिसको पुत्रमें मोह है उसको पुत्र ही पुत्रका स्वप्न आता है। जिसको धर्मकी धुन है उसे धर्म-भाव और धर्मभावके धारण करने वाले धर्मात्मा पुरुष इनमें भक्ति पहुंचती है। और

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

जिनमें भक्ति पहुंची उनकी हर प्रकारसे सेवा करनेका परिणाम रहता है। तू यह तो निर्णय कर कि अपना साथी वास्तवमें है क्या ? "धर्म बिन कोइ नहीं अपना।" खूब निर्णय कर लो, जगतमें अनेकों मनुष्य मिलेंगे, मगर उनसे क्या लाभ होता है अपने आपमें विशुद्ध सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और संयमी जनोंके प्रति रुचि करते हैं तो उसका फल उत्तम है शान्ति है। मगर अवशिष्ट रागवश कर्मबंध चल रहा है तो ज्ञानीके सातिशय पुण्यबंध चलता है। जिसके उदयमें स्वयं ही अनेक ऐसे साधन मिलते हैं कि जिनमें निश्चिन्त रहते हुए आगे धर्मसाधनामें बढ़ते रहते हैं।

(३६१) **सर्व परतत्त्वकी उपेक्षाकर ज्ञानानुभवमें लगनेका कर्तव्य**—एक बात यहां यह जानें कि इस समय भी कोई असुविधा वाले पुरुष नहीं हैं, जो भी बैठे हैं सभी समाजके बन्धु यथायोग्य सुविधा वाले हैं और तृष्णाके द्वारसे देखें तो किसीको भी शान्ति नहीं है और शान्ति रखकर मोक्षमार्गमें बढ़नेकी रुचि हो सो सबके लिए सुविधा है। जितना जो कुछ अर्जन होता है उतने ही में गुजारा करते हुए धर्ममार्गमें आगे बढ़ सकते हैं। कोई कहे कि हमारे पास कुछ सामग्री नहीं है कि हम भले प्रकार गुजारा करलें तो जरा अपनेसे अधिक गरीबोंपर दृष्टि करके तो देखें, कममें भी गुजारा होता कि नहीं। अरे संसारकी अन्य स्थितियोंपर क्या ज्यादह ध्यान देना। जो कर्मोदयको मंजूर है सो हमें मंजूर है, क्योंकि उसमें मेरा कुछ लगाव नहीं। मुझमें यह कला है कि जो भी स्थिति होगी उसीमें गुजारा कर सकेंगे। आत्मानुशासनमें बताया है कि कर्म ज्यादहसे ज्यादह कष्टकी बात कोई कर सकेंगे तो दो बातें कर सकेंगे (१) निर्धनता और (२) मरण, किन्तु ज्ञानी यह कहता है कि मैं तो निर्धनता और मरण दोनोंका स्वागत करता हूं। उसको अन्तरंगमें ऐसा ज्ञानबल मिला है कि वह निर्धनतामें अधिक आनन्दमग्न रह सकता है। और मरणको समझता है कि यह तो माया स्वप्नकी बात है, मेरा कहीं मरण हो सकता है क्या ? मैं तो सद्भूत पदार्थ हूं। किसीकी भी सत्ताका कभी नाश नहीं हो सकता। मेरा मरण ही नहीं है। जैसे कोई पुराना कमरा बदलकर नये कमरे में पहुंचता है, ऐसे ही यह मैं पुराने शरीरको छोड़कर नये शरीरमें पहुंचता हूं। फिर एक बात और समझें—जन्मके बाद किसीका कल्याण नहीं होता, मरणके बाद कल्याण होता है। जन्मके बाद मोक्ष कभी नहीं मिलता, मरणके बाद मोक्ष मिलता है। मरण-शून्य जन्म कोई नहीं होता, पर जन्मशून्य मरण हुआ करता है। तो जन्म और मरण इन दोनोंकी तुलना करें तो मरणका महत्त्व विशेष है। जो निर्धनताको ही वास्तविक धनिकता समझें और मरणको ही अपना सत्य जीवन समझें उनके लिए कर्म और क्या

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainelibrary.org

करेंगे ? तो धर्मके प्रति जिनको अनुराग है उन धर्मात्मा जनोंकी भक्ति सेवामें रहें। सेवाका विशिष्ट पुण्य भी होगा और परम्परामें मोक्ष भी प्राप्त होगा।

जं किंचि कयं दोसं मणवयकाएहिं असुहभावेणं।
तं गरहि गुरुसयासे गारव मायं च मोत्तूण ॥१०६॥

(३९२) **अशुद्धभावविहित दोषोंको मान माया तजकर गुरुसे निवेदन करनेका कर्तव्य**—हे मुने ! अशुद्ध भावसे मन, वचन, कायके द्वारा कदाचित् कोई दोष किया गया हो तो घमंड और कपट छोड़कर गुरुके समक्ष अपने आपके दोषकी गर्हा करें। अपने दोष अपने मुखसे प्रकट करना बहुत बड़े साहसका काम है। इस जीवको यह डर बहुत रहता है कि कहीं कोई मुझको तुच्छ हीन आचार वाला न समझ ले। हीन आचरण करते हुए ही यह भाव रखते हैं कि मुझे कोई हीन आचरण करने वाला न समझ ले। उच्च आचरण करने वालेको यह विकल्प नहीं रहता, फिर जिन्होंने इस समस्त संसारको माया समझा है और इससे अपना रंच भी सम्बन्ध नहीं है, ऐसा जिनका पूर्ण निर्णय है वे अपनी रक्षाके लिए अपने दोषोंको अपने मुखसे कहनेमें रंच भी संकोच नहीं करते, क्योंकि वे जानते हैं कि दोष किये जायें, छिपाये जायें, उन्हें प्रकट न करे तो एक दोष करने की आदतसी बन जाती है और फिर मुझे तो चाहिए संसार-संकटोंसे मुक्ति, आत्माके सहज सत्य स्वरूपका विकास। इतने बड़े वैभवके पानेके समक्ष दोष प्रकाशन यह कुछ महत्त्व नहीं रखता ऐसा लोकदृष्टिमें कि जिसे छिपाया जाय। तो हे मुने ! तू साधु है, साधना करने वाला है, दोष कदाचित् लगते रहते हैं, पर किसी प्रकारका दोष लगा हो तो उस दोषको अपने गुरुके समक्ष अभिमान और कपट छोड़कर प्रकट करें। दोष छिपानेके दो कारण होते हैं। मुख्य कारण है अभिमान। जिसके अभिमान है वह इस मायापर अपने दोष मुखसे प्रकट नहीं कर सकता। दूसरा कोई ऐसा समझकर कि दोष तो कुछ बताना ही चाहिए तब वे दोष दूर होंगे अन्यथा उनके जबरदस्त पाप लगा रहेगा। दोष बढ़ते रहेंगे तो इस लोभसे भी कुछ दोष कहना भी चाहिए, किन्तु अन्तरंग की कषाय नहीं छूटी, वह हीन आचरण वाला अपनेको हीन सिद्ध नहीं करना चाहता, इसलिए वह कुछ कपटसे बोलता है। कुछ दोष छिपा लेता है और कुछ दूसरे ढंगसे कहता है। वचनोंकी कला नाना तरहकी होती है। किन्तु हे मुनि तू किसी प्रकारका कपट न करके और रंच भी अभिमान न रखकर तू यथार्थ जैसाका तैसा दोष प्रकट कर दे।

(३९३) **बालकवत् सरलतासे आलोचना करनेका प्रभाव**—सरलतासे तथ्य कह देना

Version 1

 http://sahjanandvarnishastra.org/

यह गुण बच्चोंमें पाया जाता है, उनसे कोई दोष हो गया हो तो पंच बैठै हों वहां भी अपने दोष कहनेमें उन्हें कुछ संकोच नहीं होता। उन्हें कुछ पता ही नहीं है कि ऐसा कठिन दोष होता है जो छुपाने लायक है। यह बात बच्चोंके हृदयमें नहीं होती है। बच्चे तो बिल्कुल सीधे सरल होते हैं। एक ऐसी घटना है कि एक बाबू साहब किसी सेठके कर्जदार थे। एक दिन बाबू साहबने अपने घरकी खिड़कीसे देखा कि वह सेठ तकादा करनेके लिए आ रहा है, वह कुछ तंग करेगा सो उसने अपने बच्चेसे कह दिया कि बेटा, तुम बाहर चबूतरेपर खड़े हो जावो। देखो वह सेठ आ रहा है। वह अगर हमको पूछे तो कह देना कि बाबू जी घरमें नहीं हैं। ···ठीक है। जब वह सेठ द्वारपर आया और उस बच्चेसे पूछा कि क्या बाबू जी घरपर हैं तो वह बच्चा बोला—नहीं, बाबू जी घरपर नहीं है।···कहां गए ? तो वह बच्चा बोला—अच्छा ठहरो, यह भी बाबू जी से पूछकर बतायेंगे। तो बच्चे कुछ छुपाना नहीं जानते। बड़े सरलहृदय होते हैं। तो हे मुने उन बच्चोंकी तरह सरल हृदय रखकर तू अपने दोषोंको ज्योंका त्यों निकाल दे, अपने गुरुवोंके प्रति आदरकी बुद्धि कर।

(३६४) **गुरुप्रदत्त प्रायश्चित्तको निःशङ्क पालनेका प्रभाव**—गुरुजन तुझे जो प्रायश्चित्त बतायें उसे आदरसे, उमंगसे कर और यह दृढ़ श्रद्धान रख कि गुरुके बताये हुए मार्ग पर चलनेसे फिर कभी दोष नहीं आया करते। सो यहां मुनि जनोंको अपने किए हुए दोषोंकी आलोचना करनेका उपदेश किया है। दोष हुआ करते हैं अशुभ भावसे। अशुभ भाव मायने रागद्वेष मोह आदि विकार। काम, क्रोध, मान, माया, लोभ आदिक किसी भी विकारसे प्रेरित होकर इस जीवसे दोष हुआ करते हैं, और उन दोषोंके होनेमें मन, वचन, काय इन तीन योगोंका सम्बन्ध रहता है।

(३६५) **मन वचन काय कृत समस्त दोषोंकी आलोचनादिसे शुद्धि**—कुछ दोष ऐसे होते हैं जो मनसे किए जा रहे हों, कुछ दोष वचन बोलकर किए जाते हैं। कुछ दोष शरीर से ही किए जाते हैं। इन दोषोंमें बड़ा अन्तर है, तारतम्य है फिर भी यह कौन निर्णय कर सकेगा किसी दोषके प्रति कि मनसे किए गए दोष छोटे हैं या बड़े ? या शरीरसे किए गए दोष छोटे हैं या बड़े हैं ? अनेक उत्तर आयेंगे और उसका कारण है कि जीव के अभिप्राय नाना तरहके हुआ करते हैं। मनसे कोई पापकी बात विचारी और उसको न वचनसे बोला, न उस दोषको शरीरसे किया, वह दोष छोटा माना जा सकता है शरीरसे दोष करे उसकी अपेक्षा। तो शरीरसे दोष बन जाय यह बड़ा दोष है और मन में विचार मात्र आया वह कम दोष है, ऐसा क्यों ? कि मनमें विचार आया तो वह

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

थोड़ा आया। अगर अधिक आता तो वह कायसे चेष्टा जरूर कर डालता। तो जब कायसे दोष किया है तो वह इस बातका अनुमान करता है कि बहुत बड़ा दोष बना है। अच्छा, एक घटना और लीजिए एक मनुष्यसे कायसे दोष बन जाता है, पर उसका मन नहीं है जरा भी दोष करनेका, ऐसी भी स्थितियां होती हैं। किसीके ऐसा कठिन आग्रह होता है कि वह कायसे दोष बन जाता है मगर मन उससे विरक्त रहता है। तो अब यह निर्णय दीजिए कि कायसे किया हुआ दोष बड़ा है या मनसे किया हुआ दोष बड़ा है? वहां कायकृत दोष बड़ा नहीं रह पाता। मनसे विचारा तो दोष बड़ा है। तो यों अनेक ढंगोंसे १०८ तरहके पाप कहे गए वे दोष बनते हैं, उन दोषोंकी विशुद्धिके लिए हे मुने! तू गुरुके समीप दोषोंकी यथार्थ आलोचना कर।

दुज्जणवयणचडक्कं निट्ठुरकडुयं सहंति सप्पुरिसा।
कम्ममलणासणट्ठं भावेण य णिम्ममा सवणा ॥१०७॥

(३९६) **आत्महितके अर्थ निष्ठुर कटुक दुर्जनवचन सह लेनेका उपदेश**—जिन पुरुषोंको आत्माके सहज स्वभावकी रुचि हुई है उन दिगम्बर मुनियोंका एक ही लक्ष्य रहता है कि मेरी दृष्टि स्वभावमें ही रमे। ऐसी धुन रखने वाले पुरुष दुर्जन मनुष्योंके वचनकी चपेट समतासे आनन्द पूर्वक सह लिया करते हैं। वचनोंकी चपेट बहुत कठिन चपेट है। हर एक आदमी की बात सह ली जाय, यह जरा कठिन है जिसको ज्ञानबल है, अपने आत्माके स्वरूपकी सुध है, जो सत्यस्वरूप जानता है। मेरा सर्वस्व मुझमें है, मेरा सब कुछ मेरे ही परिणामसे होता है, सर्व कुछ जिसको भली भांति निर्णीत है उस पुरुषको दुर्वचनकी चपेट सह लेना आसान है। वह तो उल्टे वचन बोलने वाले पर भीतरसे दया रखता है। क्या करे बेचारा, यह तो बड़ी विपत्तिमें फंसा है। इसपर अज्ञानकी विपत्ति छायी है। इसको अपने स्वरूपकी सुध नहीं है, सो यह सब निमित्तनैमित्तिक भाववश हो रहा है। परमार्थतः तो यह परम ब्रह्मस्वरूप चेतन पदार्थ है, मगर कर्म-विपाकका ऐसा संयोग चल रहा कि यह घटना घट रही है इसपर। ज्ञानी पुरुष तो खोटे वचन बोलने वालेपर भीतरमें करुणा रखता है, वह उसपर रोष क्या करेगा? तो हे मुने! अपने आपके स्वरूपकी सुध रख और किसीपर रोष मत कर।

(३९७) **कर्ममलविनाशके अर्थ दुर्जन कटुकवचन सुनकर भी ज्ञानीके क्षोभका अभाव**—जो दुष्ट मिथ्यादृष्टि हैं, नाम मात्रके श्रावक हैं वे गुरु और देवकी निन्दा करते हैं और अप्रिय शब्दोंसे उनको सम्बोधते हैं उनको कोसते हैं, किन्तु उनके निर्दयता पूर्ण ये शब्द ज्ञानी जनोंको चुभते नहीं हैं। वे जानते हैं कि जैसे किसी मांका कोई बेटा कुपूत निकल

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

गया तो वह बेटा अपनी मां को अटपट शब्द बकता है पर वह मां उससे बुरा नहीं मानती। वह जानती है कि मेरा बेटा कुपूत निकल गया, इसलिए ऐसे दुर्वचन बोलता है, तो ऐसे ही धर्मात्मा साधु त्यागी ज्ञानी मुनि ये इस धार्मिक समाजके मां हैं, मानों समाजके सब लोग इनके पुत्र हैं. उनकी कोई निन्दा कर रहे तो वे यह देखते हैं कि मेरे ही परिवारके लोग ये कुपूत पैदा हुए सो उनकी बातका क्या बुरा मानना ? वे तो जानते हैं कि ऐसा ही हो रहा। तो ज्ञानी दिगम्बर सम्यग्दृष्टि मुनि अथवा धर्मात्मा सम्यग्दृष्टि गृहस्थ अपने कर्ममलको धोनेके लिए दुर्जन पुरुषोंके दुर्वचनोंको समतासे सह लेते हैं। वे अपने आपमें क्षोभ उत्पन्न नहीं करते, क्योंकि ज्ञानी जन जिनको आत्मस्वरूप में धुन लगी है उनका लक्ष्य इन बाहरी थोथी बातोंमें नहीं जाता। इस कारण इन मुनि जनोंको दुर्वचन सुनकर भी क्षोभ उत्पन्न नहीं होता। सो हे महा मुने ! तुमने जब सर्व संगोंका त्याग किया है, निर्ग्रन्थ दिगम्बर मुद्रामें रहते हो तो कर्ममलके नाशके अर्थ ज्ञानमें रुचि रखकर, ज्ञानकी धुन रखकर अपने इन व्रतोंको सफल करो।

पावं खवइ असेसं खमाए परिमंडिओ य मुणिपवरो।
खेयरअमरणराणं पसंसणीओ धुवं होइ ॥१०८॥

(३६८) **क्षमाके लिये ज्ञानीका चिन्तन**—जो क्षमासे सहित है वह मुनि समस्त पापोंका क्षय करता है और जगतमें विद्याधर, देव, मुनि सभी उसकी प्रशंसा करते हैं। क्षमा मायने क्या है ? क्रोध न आने देना। क्रोध न आने देवे इसका उपाय क्या है ? अपने आत्माका जो स्वरूप है अविकार स्वरूप, ज्ञानस्वरूप, सहज आनन्दमय स्वरूप, उस चैतन्यस्वरूपमें यह ध्यान रखना कि मैं तो यह हूं और इस मुझको यह कोई लोक जानता भी नहीं, जो मेरा वास्तविक स्वरूप है उसे कोई नहीं जान रहा। तो जब मुझे कोई नहीं जान रहा तो कोई मुझे गाली ही क्या दे सकेगा ? तो अपनेको चैतन्यमात्र अनुभव करें तब ही असली क्षमा आ सकती है। लौकिक क्षमामें तो एकने दूसरेसे माफी मांग ली तो उससे भीतरमें क्षमा हो ही गई सो बात नहीं है। पर ज्ञान अपने ज्ञानमें आये तो उसने अपनेको क्षमा कर लिया।

(३६९) **क्षमा द्वारा ज्ञाताकी मुक्ति**—उत्तम क्षमाके द्वारा समस्त कर्म दूर होते हैं। जब ६३ प्रकृतियां नष्ट होती हैं तब अरहंत भगवान होते हैं। पूजामें कहते हैं ना—कर्मनकी त्रेसठ प्रकृति नाश। कर्मोंकी ६३ प्रकृतियोंको नष्ट करके अरहंत भगवान होते हैं, फिर बाकी बची ८५, तो उनमेंसे ७२ का तो नाश अरहंत भगवानके उपान्त्य समय में होता है सो वे सिद्ध हो जाते हैं। यह सब क्षमाका फल है। जब मुनि थे तब खूब

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

क्षमा धारण किया, अंतरंग क्षमा, बहिरंग क्षमा। उस क्षमाके कारण कर्मका नाश होता है। इसलिए हे मुनिवरो! क्षमाको धारण करो। क्षमा होनेसे तत्काल शान्ति है और भविष्यमें भी शान्ति है। गृहस्थ भी क्षमा धारण करता है तो उसको भी परम्परया मोक्ष मिलेगा। तेज क्रोध अज्ञानमें होता जब यह जीव जानता है कि यह देह मैं हूं और दूसरेको जानता है कि जो देह है सामने वह दूसरा जीव है तो जब ही उसके मुखसे कुछ अपशब्द निकले कि तब ही इसने यह माना कि इसने यह मुझसे अपशब्द बोला और उसके चित्तमें बुरा लगता है तो वह भीतर कुढ़ता है या उसपर प्रहार करता है। दोनों ही दशाओंमें इस जीवकी दुर्गति होती है, इसलिए क्षमाभाव धारण करें। गृहस्थ क्षमाके प्रतापसे स्वर्ग जायगा और वहांसे चलकर मनुष्य होकर मुनि होकर मोक्ष चला जायगा।

इय णाऊण खमागुण खमेहि तिविहेण सयलजीवाणं।
चिरसंचियकोहसिहिं वरखमसलिलेण सिंचेह ॥१०६॥

(४००) **क्षमासलिलसे क्रोधाग्निका शमन**—इस ग्रन्थका नाम भावपाहुड़ है। यह कुन्दकुन्दाचार्य द्वारा रचित है। वे मुनियोंको समझा रहे हैं। तो जो बात मुनियोंको समझा रहे उसे अपनेको भी समझना चाहिए कि हमें भी समझा रहे। हे मुनिवर, हे क्षमागुणधारी मुनिराज तुम मन, वचन, कायसे सब जीवोंको क्षमा कर दो। जैसे कोई लोभी पुरुष अपने धनकी हानि समझकर गम खाते हैं और दूसरेको माफ करते हैं। चाहे वह कितना ही प्रहार कर रहा हो, पर जहां समझते हैं कि इनसे हमको इतनी निधि मिलनी है, वहां अपनी शक्तिके अनुसार सब सह लेते हैं और उसपर क्रोध नहीं करते। यह तो है लोभी जनोंकी कथा। अब ज्ञानी जनोंकी कथा सुनो—ज्ञानीको लोभ है तो अपने ज्ञान और धर्मकी रक्षाका। ज्ञानी जानता है कि दूसरे लोग जो बुरा बोल रहे हैं या प्रहार कर रहे हैं, यदि में उनमें लग जाऊं तो हमारी ज्ञान और आनन्दकी निधि खतम हो जायगी। हमारा जो आत्मध्यान है वह नष्ट हो जायगा। सो अपनी आत्मनिधि बचानेके प्रयोजनसे ये मुनि ज्ञानी गृहस्थ सब जीवोंको क्षमा करते हैं। तुम्हें जो करना हो सो करो, हमें कुछ प्रयोजन नहीं। मैं तो अपने इस ज्ञानस्वभावमें ही रमूंगा। तो अपना धर्म बचानेके लिए, अपना ज्ञान और आनन्द सही रखनेके लिए वे सब जीवोंको क्षमा करते हैं। सो क्या करें? चिर कालसे संचित जो क्रोधरूप अग्नि है उस क्रोध अग्निको उत्तम क्षमारूपी जलसे सीचिये याने क्षमारूपी जल क्रोधअग्निपर डाल दीजिये जिससे क्रोध कषाय बुझ जाय। कितने जीवोंको क्षमा करें? क्या इन

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

मनुष्योंको ? बाकी मनुष्योंको क्षमा न करें क्या ? सब मनुष्योंको। तो बाकी पशु-पक्षियोंको क्षमा न करें क्या ? अभी कोई मच्छर काट ले तो झट उसे चपटा मारकर खतम कर देते। तो ऐसा करना चाहिये क्या ? नहीं, सब जीवोंको क्षमा करें। एकेन्द्रिय से लेकर पञ्चेन्द्रिय तकके सब जीवोंको क्षमा करें। उन्हें सतायें नहीं, और उनके द्वारा कोई तकलीफ पहुंचती हो तो भी उन्हें क्षमा कर दें। कभी भी किसीके प्रति खोटे भाव मत करें।

(४०१) **धर्मधुनमें अन्य सबकी उपेक्षा**—जिनको अपने धर्मकी रक्षाकी धुन है और अपनेको ज्ञान प्रकाशमें रखनेकी धुन है वह विशुद्ध चिन्तन करता है। यदि दूसरेने गाली दी वह मुनि सोचता है कि इस भाईने मुझे गाली ही तो दी, मारा तो नहीं, इतनी तो खैर है और कदाचित् उसने पीट भी दिया तो इसने पीटा ही तो है मुझे, जानसे तो नहीं मारा, यह भी खैर है। कभी जानसे भी मार दे तो वह ज्ञानी मुनि यह सोचता है कि इसने मेरा धर्म तो नहीं नष्ट किया, आखिर प्राण ही तो नष्ट किया, क्योंकि वह तो स्वभावकी धुनमें लगा है—मैं ज्ञानमात्र हूं, ज्ञान ही मेरा स्वरुप है, अन्य कुछ मेरा स्वरुप नहीं है. मैं भगवानके स्वरुपकी तरह हूं। यहां इतना सोचनेकी बात है कि यहां तक मुनि जन क्षमाभाव रखते हैं। सो अपनेको शान्तिमें रखना पसंद करें, और यह बन सकती है कि दूसरे लोग कुछ भी करें उनकी उपेक्षा कर दें। कैसे उपेक्षा बने ? मानों दूसरा अपशब्द बोल रहा तो उसका मुख है, उसका हृदय है, उसका अज्ञान है सो वह अपनी चेष्टा कर रहा है, वे शब्द मेरेमें नहीं आये, और न उसने मुझको गाली दी। मैं भी यदि उसकी ही तरह अज्ञानी बन जाऊं तो अपने आप दुःखी होऊंगा। तो हम अपने ज्ञान विवेककी संभाल करें और अपने पर क्षमा भाव लायें।

दिक्खाकालाईयं भावहि अवियार दंसणविसुद्धो।
उत्तमबोहिणिमित्तं असारसाराणि मुणिऊण ॥११०॥

(४०२) **विरक्तिको कायम रखनेके लिये उपदेश**—जो मुनि अपने व्रतके माफिक ठीक नहीं चल रहा उसे समझाया है इस गाथामें कि हे विचारहीन साधु ! इस सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रकी प्राप्तिके लिए असार और सार बातको जानो और अपने सम्यग्दर्शन को निर्मल कर। और थोड़ा ध्यानमें लावो कि जब तुमने दीक्षा ली थी उस समय तुम्हारा कितना ऊंचा भाव था, अब उसी भावमें रहो। प्रायः ऐसा होता है कि जब कोई दीक्षा लेता है तो उस समय उसके बहुत ऊंचे भाव रहते हैं, खूब विरक्ति, किसीसे प्रयोजन नहीं। जब मुनि हो गए तो कुछ समय बाद उसके भाव उतने ऊंचे

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

नहीं रह पाते। और ऊंचे भाव न रह सके तो कुछ प्रमाद करने लगा, कुछ दोष करने लगा, तो ऐसे मुनियों को समझाया है कि हे मुने! दीक्षाके समय तुम्हारे जैसे ऊंचे परिणाम थे उनका ख्याल करो। अब कहां भाग रहे हो? अतः विश्रामसे बैठ जावो और अपने अंदर चिन्तन करो कि अनादि कालसे मैंने विषयोंमें लीन होकर संसारमें परिभ्रमण करते हुए अनगिनते दुःख पाये और निरन्तर चाहता रहा कि मेरेको सुख मिले, पर रंच भी सुख न मिला, बल्कि ज्यों ज्यों सुखके लिए विषयोंके साधन बनाये त्यों त्यों मेरे दुःख बढ़ते गए। सो मैंने अपने ही हाथों अपने पैर पर कुल्हाड़ी मारी, मोह राग बढ़ाया और कष्ट पाया। उस रागको दूर करनेके लिए और भी राग बढ़ाया फल यह हुआ कि दुःख और भी बढ़ता गया।

(४०३) **व्यामोहमें अपने ही प्रयत्नसे अपना ही घात**—एक उदाहरण है कि कोई कसाई किसी बकरेको कत्ल करनेके लिए जा रहा था, कसाईखाना दूर था, वह रास्ते में एक पेड़के नीचे ठहर गया और कसाईका बहुत खोटा भाव ऐसा चल रहा था कि उसको मारनेमें देर हो रही थी, वह यह चाह रहा था कि मैं इसे जल्दी ही मारुं। तो उसी समय बकरे ने क्या किया कि वहीं अपने पैरोंसे मिट्टी खरोंचने लगा, कुछ ही खरोंच पाया था कि उसमें से कोई गड़ा हुआ चाकू निकल आया। कसाईने उस बकरेका वहीं वध कर दिया। बताओ उसके बध होनेमें अभी कुछ तो देर थी ही, पर अपने ही पैरोंसे खुरोचकर अपनी जल्दी ही हत्या करवा ली। यही कहलाता है अपने हाथों अपने पैरमें कुल्हाड़ी मारना। तो ऐसे ही समझो कि संसारके ये सब जीव अपने हाथों अपने आप पर छुरी चलवा रहे हैं, कैसे कि हो रहे हैं दुःखी, आकुलित और उस आकुलताको दूर करनेके लिए विषय साधनोंमें लग रहे हैं, कुटुम्बके प्यारमें लग रहे, परिग्रहके संचय में लग रहे तो उसका फल क्या होता है कि और भी दुःख बढ़ते रहते हैं। तो दुःख दूर करनेके लिए प्रयत्न करते हैं, मगर उसी प्रयत्नसे दुःख और भी बढ़ता रहता है।

(४०४) **व्यग्रताके साधनोंसे हटकर शान्तिके साधनोंमें अपनेको लगनेका उपदेश**—जो ज्ञानी पुरुष है वह चिन्तन कर रहा है कि इस संसारमें, इन नारकादिक गतियोंमें मैंने ऐसे दुःख भोगा कि जिनका स्मरण आये तो दिल दहल जाय। अच्छा जो दुःख भोगा उनकी तो चर्चा छोड़। तू इस ही भवके दुःखका ख्याल कर, एक ही दुःखका स्मरण कर ले। तू ने निर्धन अवस्थामें कामकी बाधासे युक्त होकर स्त्री जनोंमें राग किया और काम शस्त्रके द्वारा तेरे चैतन्य प्राणका घात होता रहा, पर जरा मन स्वस्थ हुआ, कुछ भोग सामग्री मिल गई तो उस दुःख रूपी अग्निकी ज्वालाको तू ने भुला

Version 1

 http://sahjanandvarnishastra.org/

दिया, कितने दुःख पाये यह भुला दिया कोई जरा सा विषय पाकर। सो उस समय जब तेरेको दुःख हो रहा था उस दुःखके होते समय जो तेरे बुद्धि जग रही थी वह अगर स्थिर रहती तो आज तुझे दुःख न होता। सो हे मुने खूब चिंतन कर और अपनेको विषय कषायके भावोंमें मत लगा। तू अपने अविकार ज्ञानस्वरूपका चिन्तन कर। जब तू दीक्षा ले रहा था या जब तेरे पर और दुःख आ रहे थे तो कैसा आत्मा निर्मल बना रहा था, अब उन सब बातोंको तू भूल गया है और विषयोंकी ओर चित्त लगा दिया है। सो हे अपात्र मुनि! यदि तू रत्नत्रयको पाना चाहता है तो अपने विवेकको बना और सार असारका सही निर्णय कर, अविकार अपने स्वरूपको निरख। देख यह ही तो यह देह है। इसको अगर विषयोंके साधनोंमें जुटाया तो जीवन व्यर्थ गमाया और इस अस्थिर शरीरसे अगर स्थिर आत्माका ध्यान बनाया तो तूने एक बड़ा लाभ पाया। सो देख अगर इस अस्थिर शरीरसे कोई स्थिर बात बनती है, स्वच्छ बात बनती है तो क्या उसे न करना चाहिए? अर्थात् अवश्य ही करना चाहिए। याने इस भवको मोक्ष-मार्गमें लगाओ जिससे कि निर्मल अनंत गुणोसे श्रेष्ठ वह मोक्षपद प्राप्त हो। तो तू सार असारका निर्णय कर कि सार क्या है और असार क्या है?

(४०५) **आलोचना, निजनिन्दा व आराधनाकी सारभूतता**—प्रथम तो यह बात जान कि दोष शरीरसंगसे होते हैं, पर दोषोंकी आलोचना न करें तो वह असार है और दोषों की आलोचना करें तो सार है। आलोचना कहते हैं उसे कि अपने गुरुवोंसे दोषको प्रकट कर देना कि महाराज हमसे यह अपराध हो गया है। वे गुरु उसे कोई प्रायश्चित बता-येंगे और उससे वह शुद्ध हो जायगा। दूसरेकी निन्दा करना असार है और अपनी निन्दा करना सार है। खुदसे जो अवगुण बना, अपराध बना, उसकी निन्दा कर रहा, मैंने बुरा किया, अब यह न करना चाहिये। यदि बहुत बहुत सम्पदा मिल गई और दूसरोंकी निन्दामें ही चित्त जाता रहा तो उससे मार्ग अच्छा न मिलेगा। जो व्रत ग्रहण किया उनका निर्दोष पालन करे तो सार है और व्रतमें दोष लगाना असार है।

(४०६) **सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, सम्यक्चारित्र व सम्यक् तपकी सारभूतता**—सच्चा ज्ञान बनाना सार है और अज्ञान रखना, मोह रखना, वस्तुस्वरूपका परिचय ही नही सो अंधेरेमें बना रहना असार है। मिथ्यात्व असार है और सम्यग्दर्शन सार है। यह जीव अनन्त कालसे अब तक जो भटका वह मिथ्यात्वमें ही भटका। मिथ्यात्व दो तरहका है—अगृहीतमिथ्यात्व। शरीरको माना कि यह मैं हूं उसको तो हुआ अगृहीत मिथ्यात्व, क्योंकी इसकी कहीं पाठशाला नहीं होती कि इस शरीरको मानो कि यह मैं

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

हूं, यह जीव स्वयं अज्ञानी बन रहा, पर जो कुदेवको पूजता, वृक्षोंको पूजता, अनेक प्रकारके कुदेवोंको पूजता वह उसका गृहीत मिथ्यात्व है। इसे अच्छा समझता है तब करता है या अपने माता पिताको उस तरह करता हुआ देखता है तो इस मिथ्यात्वको करता है। तो मिथ्यात्व तो असार है और सम्यग्दर्शन सार है। विषयोंमें रमण करना असार है और आत्मस्वरूपमें रमण करना सार है। खोटा तप असार है, योग्य तप सार है। जो करने योग्य कार्य नहीं हैं वे सब असार हैं। जो विषय दिलानेके काम हैं, करने योग्य नहीं हैं वे सब असार हैं। तो हे मुनि ! तू सार असारका निर्णय कर। असारसे हट और सारमें लग।

(४०७) **अभयदान, सत्यवाद, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह व रात्रिभुक्तित्यागकी सारभूतता**— जीवोंकी हिंसा करना असार है और जीवोंको अभयदान देना सार है। कोई चींटीपर पानी आ रहा तो उस चींटीको वहांसे उठाकर अन्यत्र कहीं बैठा दे, यह अभयदान हुआ। किसीको कोई घबड़ाहट है, व्यग्रता है तो बड़े नम्र शब्दोंमें उसे ऐसा सम्बोधे कि उसकी घबड़ाहट दूर हो जाय, यह अभयदान है। यह अभयदान सार है। मिथ्या भाषण करना असार है। यहां किसके लिए झूठ बोला जाता ? कोई यह मत समझे कि ये जगतके पुण्य समागम झूठ बोलनेसे मिले। हां पुण्यका उदय है सो मिल गए हैं। झूठ बोलकर तो व्यर्थ ही अपने आत्माको ठगा जा रहा है। उससे होता पाप बंध और उसका फल बहुत काल तक भोगना पड़ेगा। तो झूठ, चोरी, कुशील, और परिग्रह ये सब असार हैं और सत्य भाषण करना, चोरी का त्याग करना, शीलसे रहना, निर्ग्रन्थ रहना यह सब सार हैं। रात्रिभोजन असार है और दिनमें ही एक बार प्रासुक भोजन करना सार है। जैन धर्ममें रात्रिभोजनके त्यागकी बड़ी मुख्यता थी, रात्रि भोजन त्यागका उपदेश न देना पड़ता था, कोई समय ऐसा था। अधिकसे अधिक, पानीके त्यागकी बात कहते थे कि रात्रिजलका त्याग कर सकते हो तो करो, पर रात्रिभोजनके त्यागका उपदेश नहीं करना पड़ता था, किन्तु आजका इतना श्रद्धाहीन समय है कि जा रहे और रात्रिके १२ बजे हैं, जा रहे धर्म करने, पर आधी रातको ही कुछ न कुछ खाते पीते रहते हैं, मुख चलता ही रहता है, शुद्ध अशुद्धका कुछ विचार नहीं करते, अभक्ष्य भक्षण करते, उसमें बड़ा मौज मानते और अहंकार भरी मुद्रामें जा रहे, पर कहां जा रहे ? किसी तीर्थ क्षेत्रकी वंदना करने, धर्म करने। अरे यह रात्रिभोजन बड़ा पाप है। सो रात्रिभोजनमें केवल इतनी ही बात नहीं हिंसा हो गई, किन्तु उसका मन खराब हो गया, मन स्वच्छंद हो गया, आत्माकी वहां सुध नहीं ले सकते, मोह अज्ञानमें बढ़ गए

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

हैं। यों सभी खराबियां होती हैं। तो रात्रिभोजन करना असार है और रात्रिभोजन छोड़ना सार है।

(४०८) **शुद्धध्यान आदिकी सारभूतता**—आर्तध्यान, रौद्रध्यान जैसे खोटे ध्यान करना असार है और धर्मध्यान तथा शुक्ल ध्यान ये सारभूत हैं, तो हे मुने, तू सार असारका विवेक कर। सारसे प्रीति कर और असारको छोड़। असंयम तो असार है और संयमपूर्वक रहना सार है। जो मुनियोंके मूल गुण बताये गए हैं वस्त्ररहित रहना केशलुञ्च करना, स्नानका त्याग करना, भूमि पर शयन, खड़े-खड़े आहार लेना, दंत धोवन न करना हाथमें ही आहार लेना आदि ये तो सब सार हैं मायने मार्गके अविरुद्ध हैं और इनके विरुद्ध चेष्टा करना वह सब असार है। क्रोध असार है। क्रोध करनेका फल बहुत ही खोटा होता है और क्षमा सारभूत है। सभी कषायें असार हैं, घमंड करना, मायाचार करना, लोभ करना यह सब असार है और इनका त्याग सार है। संतोषमें सार है, किसी प्रकारकी शल्य रखना असार है। और आत्माको सबसे निराला अकेला ज्ञानमात्र निरखकर निःशल्य रहना यह सार है। अविनयकी चेष्टा करना असार है। किसीका अपमान करना दुर्वचन बोलना यह सब दुःख रूप है और विनयभाव सार है॥ ममता करना असार है और समता तजना सार है। ममता करके किसीने सुख नहीं पाया और कर रहा ममता। बताओ जिनमें ममताकी जा रही उनका संयोग कब तक रहेगा ? उनका वियोग नहीं होगा क्या ? अरे कोई समय शीघ्र ही आने वाला है जब कि उनका वियोग हो जायगा तो ममता करके जो पापबंध हुआ है उसका फल तो भोगना ही पड़ेगा। तो ममता असार है और निर्मोह होना सार है। विषयोंका उपभोग असार है और विषयोंसे विरक्त रहना यह सार है। सो हे मुनिवर ! तू सार और असार का निर्णय रखकर सारको तो ग्रहण कर और असारको छोड़। यही बात सब गृहस्थों को करना चाहिए। असारसे प्रीति न करें और जो सार चीज है उसमें अपनी प्रीति बनायें तो इस तरहके शुद्ध भाव रखकर जो अपना जीवन व्यतीत करता है उसको अब भी आनन्द मिलेगा और मोक्षमार्गको भी पा लेगा।

सेवहि चउविहलिंगं अब्भंतरलिंग सुद्धिमावण्णो।
बाहिरलिंगमकज्जं होइ फुड भावरहियाणं ॥१११॥

(४०९) **अन्तरङ्गशुद्धिको प्राप्त करते हुए बाह्यलिङ्गके धारणकी कार्यकारिता**—यह श्रीमत्कुन्दकुन्दाचार्य द्वारा रचित भावपाहुड़ ग्रन्थ है। यहां मुनिजनोंको सम्बोधित किया है। जो मुनिजनोंको सम्बोधित किया है उसके अनुसार श्रावकजन भी अपने योग्य

Papanaadi.varnishastri@gmail.com

http://www.jainkosh.org

सम्बोधन समझ सकते हैं। हे मुनिजनों अन्तरङ्ग लिङ्गकी शुद्धिको प्राप्त होते हुए तुम बाह्य लिङ्गका सेवन करो, क्योंकि भावरहित मुनियोंका बाह्यलिङ्ग अकार्य होता है। अन्तरङ्ग लिङ्ग क्या ? सम्यग्दर्शनमें जो मार्ग दिखा उसपर चलना। सम्यग्दर्शनमें तो मोक्षमार्गका देखना होता है और पंचम और ऊपरके गुणस्थानमें मोक्षमार्गपर चलना होता है, मोक्षमार्ग जिनको दिखा उनको इतनी शुद्धि है चित्तमें कि देख लेनेमें भी निर्जरा होती है फिर मोक्षमार्गपर जो चलते हैं उनके विशेषतया निर्जरा होती है।

(४१०) **मोक्षमार्गदर्शन व मोक्षमार्गगमनके तथ्यका दृष्टान्तपूर्वक विवरण**—जैसे कोई पुरुष किसी जंगलमें फंस गया, टीले पर पहुंच गया तो जरा भी विवेक करता है तो वहीं ठहर जाता है अचानक अंधेरी रात्रिमें। सो जंगलमें फंसा है तो वह सोचता है कि अब आगे बढ़ना योग्य नहीं। उसको रात्रिमें बिजलीकी चमकमें सामने कुछ ही दूरीपर सड़क नजर आ गई अब फिर वही अंधेरा। सड़कपर चल तो नहीं पा रहा मगर वह सड़क है, वहां चलना है इतनी समझ आनेपर उसको धीरता आ गई और जैसे ही सवेरा हुआ, मौका मिला कि वह सड़कपर चढ़कर आगे बढ़ जाता। तो मिथ्यात्व बनमें घूमते हुए इस प्राणीको एक सम्यग्दर्शनका प्रकाश मिला और उस प्रकाशमें इसको मार्ग दिख गया यह है सहज आत्मस्वरूप और इसमें मग्न होना यह ही है मोक्षमार्गपर चलना, पर अभी अप्रत्याख्यानावरण कषायके उदयमें वह इतना निर्बल है कि उस अनुभवमें नहीं आ पा रहा। कभी-कभी स्पर्श तो होता है, पर उसमें रमे यह बात नहीं बन पाती। तो ऐसे एक उसके स्पर्शसे या उस सहज शुद्ध आत्मस्वरूपके दर्शनसे उसको धीरता है और अनेक प्रकृतियोंका सम्वर बना है और निर्जरण भी चलता रहता है।

(४११) **सम्यक्त्वशून्य बाह्यव्रतमें मोक्षमार्गस्थताका अभाव**—जिसने अपने उस शुद्ध आत्मस्वरूपको नहीं निरखा और ज्ञानी पुरुषोंका मुनिपद आदिक देखकर इतना भी भावसे भी चित्तमें आया हो कि मुनि होना चाहिए, हो गए मुनि तो ऐसे मुनिजनोंको यहां प्रतिबोधा है कि आभ्यंतर लिङ्गकी शुद्धिको प्राप्त करते हुए इस बाह्य लिङ्गका सेवन करो। मुक्ति मिलती है शुद्ध अंतस्तत्त्वके आश्रयसे। और शुद्ध अंतस्तत्त्वका चिर आश्रय कर सके यह बात मिलती है बाह्य परिग्रहके त्यागने जैसे वातावरणमें, इस कारण बाह्य निर्ग्रन्थ भेष बिना यह आत्मा सिद्धि न पायगा, तिस पर भी मुक्ति जो मिली है सो उपादान कारणपर दृष्टि दें, क्योंकि वही सिद्ध हुआ है ना, तो शुद्ध अंतस्तत्त्वके आश्रयसे ही मुक्ति मिली है। जिसे कहेंगे कि सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र के भावसे सिद्धि मिली है, पर वह भाव बाह्य परिग्रहके त्याग वाली मुद्रामें आये बिना

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

नहीं बन सकता। तो इस बाह्य भेषमें गुजरकर ही वह अंतरङ्ग शुद्धि प्राप्त होती है जिससे मुक्ति मिलती है और इसी कारण दोनों बातोंका सिद्धान्तमें उपदेश है कि अन्तरङ्ग शुद्धि बनाओ और उसको प्राप्त होते हुए बाह्य लिङ्गका सेवन करो तो मुक्ति प्राप्त होगी। अंतरंग शुद्धि बिना, सम्यग्दर्शनकी लब्धि बिना बाह्य लिङ्ग अकार्य होता है। बाह्य लिङ्गोंमें मुख्य क्या है जो लोगोंको तुरन्त दिखे ? एक तो नग्नता, दूसरा केशलोच और तीसरा पिछी कमण्डल। जो तुरन्त ही नजर आता है। यह जो बाह्य लिङ्ग है सो इसमें रहते हुए अपनी शुद्धिकी ओर प्रगति करो। ऐसा मुनिजनोंको इस गाथामें उपदेश किया है।

आहारभयपरिग्गहमेहुणसण्णाहि मोहिओसि तुमं।
भमिओ संसारवणे अणाइकालं अणप्पवसो ॥११२॥

(४१२) **संज्ञामोहित जीवका अनादिसे संसारभ्रमण**—हे जीव ! तू आहार, भय, मन बिना मैथुन, परिग्रह इन चार संज्ञाओंमें मुग्ध होकर पराधीन होकर बस संसारबनमें अनादिकालसे भ्रमण कर रहा है। जो जीव संज्ञी पञ्चेन्द्रिय नहीं हैं, जिनके मन नहीं है वहां एक यह जिज्ञासा हो सकती है कि जिसके मन नहीं वह खानेकी इच्छा कैसे करेगा ? यह तो मनका काम है कि कुछ चाहे, या अन्य विषयोंकी अभिलाषा करे ? प्रवृत्ति कैसे करेगा ? पर मनका काम यह है सो बात नहीं। यह काम तो संज्ञाओंका है। चाहे एकेन्द्रिय हो, दोइन्द्रिय हो, तीन इन्द्रिय हो, चौइन्द्रिय हो, चाहे पञ्चेन्द्रिय हो, सैनी हो, यह काम संज्ञाओंका है, पर संज्ञी पञ्चेन्द्रिमें इतनी बात अधिक बन गई जो अज्ञानी हैं कि उन संज्ञावोंके बलसे अन्य विषयोंमें प्रवृत्ति हो तो रही थी पर इस मनने उसमें और तेजी ला दी। इस मनके दोनों ही काम हैं, अच्छी ओर लगना चाहे तो अच्छी ओर लगा दे, बुरी ओर लगना चाहे तो बुरी ओर लगा दे। यद्यपि मनका लक्षण तो यह किया गया है कि जिससे हितोपदेशकी शिक्षा ग्रहण कर सके उसे मन कहते हैं, इतनी योग्यता है संज्ञी जीवमें कि वह हित और उपदेशको ग्रहण कर सकता है, सम्यग्दर्शन प्राप्त कर सकता है, पर यही मन संज्ञाओंकी ओर अगर आकृष्ट है तो यही मन उन विषयोंको और भी कला पूर्वक सेवन कराता है।

(४१३) **अज्ञानी संज्ञी जीवोंमें विषयसाधनके लिये मनकी प्रेरणाकी अधिक विपत्ति**—साधारण जीव, मनरहित जीव भी विषयोंका सेवन करते हैं, मगर इनको कलायें अधिक याद नहीं हैं कि अच्छे ढंगसे विषयसेवन किया जाय। वहां एक ही ढंग है, जो संज्ञी तिर्यंच हैं गाय, बैल, घोड़ा वगैरह इनके यद्यपि मन है और उन दो तीन इन्द्रिय आदिक

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

की अपेक्षा थोड़ी इनमें कला आयी है, पर मनुष्य जितनी कलायें इन पशुओंमें भी नहीं हैं विषयसेवनकी। इन मनुष्योंमें विषयसेवन साधनाकी बहुत अधिक कला है कितने ही साहित्य बनाना, उपन्यास बनाना, सनीमा थियेटर वगैरह देखकर मनको उत्तेजित करना, विषयोंमें प्रवृत्ति करना, कितने ही प्रकारके भोजन बनाना आदि। एक चनेका बेसन ही ले लो उससे सैकड़ों प्रकारके भोजनके आइटम बनाते हैं। ऐसे ही एक एक चीजके सैकड़ो आइटम बनाते हैं। तो कितनी कलायें हैं इन मनुष्योंमें विषयोंका सेवन करनेमें। इस मन वाले मनुष्यने बड़ी कलाओंका विकास किया। (हंसी)। तो यह मन विषयसेवनकी ओर लगे तो वहां भी बड़ी कलाके साथ लगता है और यदि यह मन आत्महितकी ओर लगे तो यह सर्वविषयोंसे विरक्त होकर एक सहज ज्ञानानन्दधाम सहज परमात्मतत्त्व कारणसमयसार निज अंतस्तत्त्वकी ओर झुकता है, निर्णय करता है, तत्त्वज्ञानमें बढ़ता है और जो विषयोंमें प्रवृत्त है उसका मूल पेंच मन नहीं है। उसका मूल पेंच ये संज्ञायें हैं जो एकेन्द्रिय आदिकमें भी हैं, मनुष्योंमें भी है। मन तो ऐसा है कि जैसे चलती हुई गाड़ीमें और भी धक्का लगा दे। यह स्वयं विषय सेवनका प्रारम्भ नहीं करता। विषयसेवनका प्रारम्भ होता संज्ञाओंसे पर जिनके मन है, मनका उस कला में और धक्का लगता। तो ये संसारके प्राणी आहार, भय, मैथुन, परिग्रह इन संज्ञाओं से विमुग्ध हैं। कितने विमुग्ध हैं, इसका उदाहरण लेना है तो मनुष्योंका ले लो। इतना तेज उदाहरण अन्य गतिमें न मिलेगा। एक मनुष्यका ही उदाहरण ऐसा है कि ज्यादह से ज्यादह बुरे कामके लिए अगर कोई उदाहरण मिलता है तो मनुष्यका मिलता है और साथ ही यह भी बात है कि भलेसे भले कामके लिए भी उदाहरण मिलेगा तो मनुष्यका मिलेगा।

(४१४) **संसारी जीवकी आहारसंज्ञा व भयसंज्ञासे मोहितताका दिग्दर्शन**—कितनी तरह के पकवान बनाकर अपने भोजनकी इच्छाको पूर्ण करना यह कला मनुष्योंमें है। खूब भरा पेट होनेपर भी थोड़ी चाट पकौड़ी खानेके लिए पेटमें जगह निकाल लेना यह मनुष्योंसे सीखो। इन गाय, बैल, भैंस आदिकमें यह कला न मिलेगी। यदि उनका पेट भरा होगा तो कितना ही बढ़ियासे बढ़िया भोजन उनके सामने रखा हो तो भी वे उसकी ओर देखते नहीं। इतना संज्ञाओंसे पीड़ित है यह जीव। भय संज्ञासे यह जीव पीड़ित है। इसके लिए भी उदाहरण मनुष्यका मिला। उतना डर किसीको नहीं है जितना मनुष्योंको लगा है। जिसके मन है ऐसे पशु पक्षी भी उतना अधिक नहीं डरते। उनपर कोई लाठी चलाये या कोई जोरसे बोले तो डरेंगे, पर यह मनुष्य बहुतसे गढ्ढों तकियों

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

पर पड़ा हो, उसके चारों ओर खूब गद्दे तकिये लगे हों, कमरेमें कूलर भी फिट हो, पखा भी फिट हो, अनेक लोग जी हजूरीमें लगे हों, हर प्रकारके आरामके साधन हों इतने पर भी उनको डर इतना तेज लगा होता कि बहुतसे लोग तो आत्महत्या कर डालते हैं। कहीं चोर डाकुओंका भय, कहीं सरकारी कायदे कानूनका भय, कहीं कोई भय, हमसे तो ज्यादह आप लोग इस भयके सम्बंधमें बता सकते, क्योंकि आप सबको उनका विशेष अनुभव होना चाहिये।

(४१५) **संसारी जीवकी मैथुनसंज्ञासे मोहिततका दिग्दर्शन**—मैथुन संज्ञाका भी सबसे बड़ा उदाहरण मनुष्योंका मिलेगा। मैथुन प्रसंगकी जितनी कलायें मनुष्य जानते, उतनी कलायें और जीव नहीं जानते। पशु पक्षी हैं, क्या हैं, जहां रहते हैं, ठीक, मगर यह मनुष्य न जाने किस किस तरहसे कमरे सजाता, बढ़ियासे बढ़िया पलंग, कोमल गद्दे तकिये और न जाने क्या क्या नग्न नृत्य किए जाते हैं तो ये सब मैथुन संज्ञाके उदाहरण हैं। और तिस पर भी एक कला और है। पशु पक्षीयोंके तो सालमें कुछ दिन नियत हैं उनके कुछ समयको, दो चार महीने, वे इस मैथुन प्रसंगमें आते हैं, पर मनुष्योंको तो सालके बारहों महीनों एक समान। मैथुन संज्ञाका उदाहरण देख लो, कितना पीड़ित हो रहे, फिर एकेन्द्रिय आदिक जीव, ये भी हैं संज्ञाओंसे पीड़ित। कुछ पता नहीं पड़ रहा। कर्मके उदय किस ढंगसे चल रहे यह पता नहीं पड़ता। यह नहीं आपका भी हमें पता पड़ नहीं सकता। आपका दूसरेको तो पता पड़ सकता। पर चूंकि आपपर भी वही बात बीतती है तो अनुमानसे भी वही बात दूसरोंकी भी समझ सकते हैं। जैसे कभी कोई त्यागी आहार कर रहा हो तो कोई गृहस्थ बोलता, महाराज इस चीजको चटनीके साथ खाइये, तो उससे वह त्यागी यह अनुमान कर लेता है कि इसने इसका ऐसा स्वाद पाया होगा तब ही तो बता रहा, तो ऐसे ही उन मनुष्योंपर जो बात बीतती है वही दूसरोंपर भी बीतेगी। अनुमानसे जाना परन्तु एकेन्द्रिय आदिक की संज्ञाओंका अनुमान भी हम मुश्किलसे कर पाते, मगर अनुमानसे जानते। ये संसारी प्राणी चार संज्ञाओं से बुरी तरह पीड़ित हैं।

(४१६) **संसारी प्राणीकी परिग्रहसंज्ञामोहिततका दिग्दर्शन**—परिग्रह संज्ञा—बाह्य तत्त्व को अपनाना यह है बाह्यका परिग्रह। तो यह परिग्रह संज्ञा एकेन्द्रियसे लेकर पञ्चेन्द्रिय संज्ञी तक सर्व जीवोंमें लगी है। हम नहीं समझ पाते कि एकेन्द्रियमें क्या परिग्रह पड़ा है वहां मन भी नहीं और एक ही इन्द्रिय है फिर भी परिग्रह संज्ञा लगी है। तो ये संज्ञायें सभी संसारी जीवोको प्रेरित करती है। वृक्षमें नीचे मूल (जड़) में खाद डाले,

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

अच्छी मिट्टी डाले, पानी डाले तो उनको वृक्ष ग्रहण करता है, यह तो सब लोग जान रहे हैं। जैसे कि यह मनुष्य है ना तो इसकी जड़ ऊपर है और शाखायें नीचे हैं और वृक्ष बिल्कुल सीधा खड़ा है। यह मनुष्य वृक्षसे उल्टा है, वृक्षकी जड़ नीचे है और वहींसे वह अपना आहार पानी ग्रहण करता है और शाखायें सब जगह पुष्ट होती हैं। किन्तु मनुष्यकी जड़ ऊपर है, यह मुख लगा है अगर यह मनुष्य शीर्षासन करे तो यह वृक्षकी तरह सीधा मनुष्य बन जायगा, मगर यह उल्टा है, इसकी जड़ ऊपर है और शाखायें नीचे फैल रहीं हैं, हाथ पैर आदिक। वेदमें एक एक शब्द आया है—ऊर्ध्वमूलमधःशाखम्। यह मनुष्य अपनी जड़से आहार ग्रहण करता है तो वृक्ष भी अपनी जड़से आहार ग्रहण करते हैं, उनके भी परिग्रह संज्ञा है। दो इन्द्रिय आदिककी संज्ञा कुछ अधिक ज्ञानमें आती है और मनुष्यका तो फिर कहना ही क्या है। लाखका धन है तो भी तृष्णा लगी है कि करोड़ होना चाहिए, करोड़का धन है तो अरबकी तृष्णा, यों तृष्णा कर रहे और उसीमें अपना सारा जीवन व्यतीत कर रहे। अरे मर जानेपर एक धेला भी तो साथ न जायगा। इस परिग्रहानन्दका दूसरा नाम है विषयसंरक्षणानन्द। याने प्रत्येक विषयके संरक्षणमें आनन्द मानना। सभी प्रकारकी संज्ञाओंसे पीड़ित होकर यह जीव अनादि कालसे पराधीन होकर इस संसारमें भ्रमण करता रहा और अनेक प्रकारके दुःख भोगे, फिर भी यहीं यह रमता है।

(४१७) **मोहनशाका उत्पात**—अहो, मोहका नशा तो देखिये कि यह जीव दुःख भी पाता जाता और उन्हीं दुःखकी बातोंमें लगता जाता। दुःख हो रहा है मोहसे। इस समय भी देख लो अपनी जिन्दगीमें जब भी कोई दुःख आता है तो उसका कारण बनता है मोह। मोहसे दुःख आता है और उस दुःखसे पीड़ित होकर इस मनुष्यको दुःख से छूटनेका उपाय मोह करना ही समझमें आता है। सो मोहसे दुःखी होता जाता है और मोह करता जाता है। साथ ही अपनेको बुद्धिमान भी मानता जाता। सो यह जीव इन संज्ञाओंसे पीड़ित होकर इतनी कठिन विपत्तिमें पड़ा है। एक ऐसा कथानक है कि चार लोगोंने कोई एक चोरीकी। चारों ही उस चोरीमें पकड़े गए। जजने उनसे बयान लिया और चारोंको समुचित दण्ड दिया! तो उनमें से एकको बस इतना दण्ड दिया कि कहा धिक्कार—धिक्कार है तुझे जो ऐसा खोटा काम किया। इतनी बात सुनकर उसने बड़ा पछतावा किया और अपने घरकी कोठरीमें जाकर आत्महत्या कर ली। यों ही दूसरे चोरको कुछ दण्ड दिया, तीसरेको कुछ, और चौथेको यह दण्ड दिया कि उसका मुख काला करके गधेपर बैठाकर नगरकी गलियोंमें घुमाया जाय। सो जब वह नगर

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

की गलियोंमें मुख काला करके गधे पर बैठकर घूम रहा था सो रास्तेमें उसका भी द्वार पड़ा। उस द्वारपर उसकी स्त्री भी खड़ी हुई उसको उस दशामें देख रही थी। वह भी बड़ी शर्मिन्दा हो रही थी, मगर वह पुरुष इतना निर्लज्ज था कि उसको कुछ भी शर्म नहीं लग रही थी, बल्कि द्वार पर खड़ी हुई अपनी स्त्रीसे बोला—देखो पानी गरम करके रख लो मुख धोनेके लिए, बस थोड़ी सी जगहमें घूमना और शेष रह गया है। तो हमको तो यह दिखता कि ये संसारी जीव प्रायः उस चौथे पुरुषकी तरह हैं, जो कि मोह करते जाते, मोहसे ही दुःखी होते जाते, फिर भी उस मोहको ही अपनाते जाते।

(४१८) **अज्ञानमोहित प्राणियोंकी बेसुधी**—मोही प्राणियोंको अपने आत्मस्वरूप का कुछ पता नहीं, मैं क्या हूं यह बात उनके ज्ञानमें नहीं है, जो मैं हूं—उसके अतिरिक्त जो भी पदार्थ हैं उनमें बुद्धि कर रहे कि मैं यह हूं। देखो कितनी सी गल्ती है? बस जरा सी? जैसे कोई चीज एक सूत इस तरफ नहीं धरी है तो कहते हैं कि एक सूत जरा यहां आ जाय, तो कोई अधिक अन्तर है क्या? ऐसे ही यह उपयोग भीतर ही भीतर है बाहर किसीका उपयोग नहीं है। बाह्यमें उपयोग कहीं नहीं गया। यह तो उपचार कथन है। यह उपयोग भीतर ही भीतर रहकर जिस जिस पदार्थको विषय करता है, जो जो पदार्थ ज्ञेय बनते हैं उनका क्षेत्र भी नाम लेकर बोला जाता है कि यह उपयोग बाहर घूमता रहता है। अज्ञानीका भी उपयोग बाहर कहीं नहीं घूमता किन्तु यह अपने ही प्रदेशोंमें रहता हुआ बाह्य पदार्थ विषयक कल्पनाओंका व्यायाम करता रहता है। इसीको कहते हैं कि उपयोग बाहर गया। सो यह जीव यहीं अन्दर जो स्वयं है उसको नहीं समझ पा रहा और यहां ही जो सहज शुद्ध अन्तस्तत्त्व है आत्म-स्वरूप, उसके अतिरिक्त जो बाह्य पदार्थ हैं उनमें आत्मीयताकी बुद्धि कर रहा। मूलतः तो यहां यह बात हुई कि कर्मोंका अनुभाग खिला उस कालमें उन कर्मोंमें बुरी बात गुजरी, क्योंकि जो कर्म बड़े आरामसे सत्तामें रहते हुए एक परमात्मतत्त्वके क्षेत्रावगाह हो रहे थे और सत्तामें रहते हुए उनमें समता थी, क्षोभ न था, कोई बात न थी, तो इस स्थितिको छोड़कर जब वह जा रहा है तो यह बेचारा क्षुब्ध होकर ही तो जायगा, एक अलंकारमें समझिये, और, होता क्या? यहां जो अनुभाग बंध हुआ था कर्मबंधके समय में तो उदयके मायने यह है कि वह अनुभाग खिल जाता है। जैसे कुछ महीनेकी धरी हुई कलईकी डली अपना समय पूरा करनेपर खिल जाती है ऐसे ही ये कर्म भी खिल गए, मायने अनुभागका उदय हुआ, उस कालमें यहां एक ऐसा वातावरण बना कि वह प्रतिफलित हुआ और उसे इस जीवने अपना डाला। यहां बाह्य तत्त्वको अपनाया। तो

Report any errors at vikasnd@gmail.com

https://www.jainelibrary.org

जिसने अपने घरके भीतर ही गड़बड़ी मचायी है और योग्य ही नहीं कि घरकी सम्हाल बना सके तो वह बाह्य पदार्थोंको विषय करके यहां गड़बड़ी मचाता है और सम्हाल नहीं कर पाता। तो यह जीव एक स्वयं अपने आपके सहज ज्ञानस्वरूपको भूला है।

(४१९) **बाह्यतत्त्वमुग्धता हटनेपर ही शान्तिकी संभवता**—सहज ज्ञानमें ज्ञानकी शुद्ध वृत्ति चले, जाननमात्र, जहां विकल्प नहीं, राग नहीं, द्वेष नहीं, ऐसी अन्तर्वृत्ति, यह ही इसका काम था किन्तु इस जीवने उस बाह्य तत्त्वको अपनाकर अपने सहज स्वरूपको तो ढक दिया और उस ज्ञानवृत्तिको एक मलिन रूपमें बना डाला, पर यही इसकी एक छोटी सी कहानी है, जिसके आधारपर लम्बी लम्बी कथायें बन गई हैं। तो यह जीव इन चार संज्ञाओंसे व्यामुग्ध होता हुआ अपने आपके वश नहीं रहता, क्योंकि इसमें अपना लगाव ही नहीं, इसकी सुध ही नहीं, अनात्मवश होकर पराधीन होकर यह संसारबनमें अनादिसे अब तब भ्रमण करता चला आया। सो हे मुनिजनो! जीवकी ऐसी कथा जानकर और वर्तमानमें दुर्लभ इस जैनशासनको पाकर और ऐसे बाह्य परिग्रहके त्यागकी मुद्रामें आकर एक ही ध्यान बनावें कि आत्माको जानना और उस आत्माकी ओर ही, उस ज्ञानस्वरूपकी ओर ही धुन बनाये रहना, इस विधिसे आत्माका कल्याण होगा।

बाहिरसयणत्तावण तरुमूलाईणि उत्तरगुणाणि।
पालहि भावविसुद्धो पूयालाहं ण ईहंतो ॥११३॥

(४२०) **बकुश साधुवोंको सम्बोधन**—श्रीमत्कुन्दकुन्दाचार्य मुनिवरोंको उपदेश करते हैं कि तुम भावोंसे विशुद्ध होकर पूजाके लाभको न छोड़ते हुए तीनों ऋतुओंके योगोंका और उत्तर गुणोंका पालन करो। साधु अनेक प्रकारके हैं। उनके संयम साधनाके असंख्यात भेद हैं, इस कारण एक ही तरहके पूर्ण निर्दोष साधुओंको ही साधु कहना यह आगमकी अवहेलना है। उन असंख्याते संयम स्थानोंमें सभी स्थानोंके संयमी साधु कहलाते हैं और उनमें छोटेसे छोटे साधु जो कुछ एक मूल गुणकी विराधना भी कर लेते हों तब भी उन्हें साधु माना गया है वे कहलाते हैं पुलाक नामके साधु। जो मूल गुणोंका तो पालन करते पर उत्तर गुणोंका पालन नहीं कर पाते वे बकुश नामके साधु हैं। इन दोनो प्रकारके साधुवोंका व्यवहार अधिक है। जो रत्नत्रयमें रुचि रखते हैं ऐसे धर्मात्मा ही रत्नत्रय धारियोंके प्रति प्रीति रखते हैं। अगर रत्नत्रयधारियोके प्रति प्रीति न उमड़े तो वह इस बातका द्योतक है कि उसका रत्नत्रयके प्रति प्रेम नहीं है। तो पहिले कुछ साधुवोंका ऐसा वर्णन किया जो सम्यक्त्व हीन हैं उन साधुओंको समझाया कि तुम्हारी

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

इस बाह्य वृत्तिसे कुछ लाभ नहीं है। यहां लाभके मायने मोक्षमार्ग।

(४२१) **पूजालाभाभिलाषाको मूलसे उखाड़ कर उत्तरगुणोंके पालनका सन्देश**—अब यहां यह बतला रहे हैं कि तुम भावसे विशुद्ध होकर पूजा लाभकी रंच भी वाञ्छा न करके उत्तर गुणोंका पालन करो। ये कषायें ६ वें गुणस्थान तक रहती हैं, और १० वें गुण-स्थानमें सूक्ष्म लोभ रहता है। छठे ७वें गुणस्थानमें तो संज्वलन कषाय बर्तती है, पर शेष १२ कषायें नहीं हैं, साधुवोंसे दोष होते रहते हैं और इसी कारण सुबह शामका प्रतिक्रमण उनके चलता ही है। रात्रिमें हुए दोषका प्रतिक्रमण साधु सुबह करते हैं और दिनमें हुए दोषका प्रतिक्रमण सायंकालमें करते हैं। तो यहां उन साधुवोंको समझाया जा रहा कि जो बहुत कुछ विधिपर जम गए हैं, किन्तु कभी थोड़ी व्यवहार बुद्धि बनती है जिसमें कुछ अपनेपर ही दृष्टि होती है जिसमें कहो पूजा लाभकी चाह हो सके। चारित्रमोहके इतने तीव्र उदय होते कि सम्यग्दृष्टि गृहस्थ हो और उसके चारित्र मोह का उदय हो तो वह ऐसी चेष्टा करने लगेगा कि जिससे लोग यह ही कहेंगे कि यह तो पागलसा हो गया है। ऐसी पुराणोंमें बहुत सी कथायें आती हैं। जिसको खुद मोक्षमार्ग पर चलनेका भाव है उसको मोक्ष मार्गपर चलते हुए भी कैसे कब कब दोष होते है और वे दोष होकर भी वह मार्गपर चल रहा है यह बात समझमें आती है, और जिसकी मोक्षमार्गपर चलनेका भाव ही नहीं किन्तु लौकिक प्रतिष्ठा आदिक कषायोंमें ही चित्त रहता है उसको यह बात विदित नहीं होती। तो यहां उन साधु जनोंको तो बहुत कुछ कहा गया कि जो सम्यक्त्वहीन हैं वे निर्ग्रन्थ भेषसे जो मोक्ष मानते हैं, अन्तरंग शुद्धि नहीं पायी है उनका प्रकरण बहुत निकला। अब वहां कुछ साधुमार्गस्थ साधुवोंको कह रहे कि कुछ उत्तर गुणोंमें प्रयत्न करते हो सो रंच भी रागवासना न रखकर करो।

(४२२) **अनीहवृत्तिसे वर्षायोग उत्तरगुणको पालनेका सम्बोधन**—उत्तर गुणोंमें अनेक तपश्चरण हैं, पर यहां तीन योगोंका जिक्र किया है—वर्षायोग शीतयोग और ग्रीष्मयोग। वर्षायोगमें बरसातके कालमें वृक्षके नीचे खड़े होकर ध्यान करना। यह कठिन योग है, क्योंकि मैदानमें खड़े होकर वर्षा सह लेना सरल है। पर वृक्षके नीचे जो एक एक मोटी बूंद टपककर गिरती है उसका सहना कठिन होता है और यह भी लाभ है कि पत्तों पर से गिर कर जो पानी गिरता है मुनिके शरीरपर वह पानी प्रासुक है तो ऐसे वर्षायोग को हे मुने तू यशके लाभको मूलसे उखाड़कर पालन कर। जिनकी गुणदृष्टि होती है वे साधुजन उस दोषको कर्मविपाककी जोरावरी जानते हैं और जिनको दोषपर दृष्टि होती है तो मात्र एक उस जीवका ही अपराध जानता है। दृष्टि दृष्टिमें फर्क है। जैसे माता

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

की दृष्टि पुत्रपर हितकारी होती है तो उसकी दृष्टि और भांति होती है, दूसरे लोगों की दृष्टि और भांति होती है। जिसको चरित्रसे प्रेम है वह चरित्रधारियोंके प्रति कुछ दोष होकर भी उन दोषोंको कर्मविपाकके खातेमें डालकर उनके रत्नत्रयगुणोंमें ही अनुराग बढ़ाता है और जिनको चरित्रमें प्रीति नहीं है। केवल देहात्मबुद्धि होनेसे अपनेको ही सब कुछ समझकर अभिमानमें रहते हैं उनकी दृष्टि गुणोंपर रंच भी नहीं पहुंचती और दोषको ही ग्रहण करके ये अपने उपयोगको गंदा करते रहते हैं। यहां आचार्य कुन्दकुन्ददेवको कितना अनुराग है कि मन, वचन, कायसे सम्बोध रहे हैं। बड़े-बड़े ऊंचे मुनि होकर भी दोष होते ही रहते। न दोष हों तो अन्तर्मुहुर्तमें केवलज्ञान हो जाना चाहिये। और उन दोषोंको जो शुद्ध करे याने दूर करे उसे ही साधु कहते हैं। साधुता क्या है ? जो ऊपर चढ़ चुका वह साधना वाला नहीं है। जो ऊपर चढ़नेके लिए उद्यम करता है उसे साधना वाला कहते हैं। तो हे मुने तू यशके रागको न करके मात्र एक आत्माकी धुन पूर्वक इन योगोंको ग्रहण कर।

(४२३) **अनीहवृत्तिसे शीतयोगनामक उत्तरगुणको पालनेका प्रतिबोधन**—दूसरा योग है शीतयोग। शीतकालमें नदीके तटपर मैदानमें किसी जगह ध्यानमें रहा। ऐसा करना साधुत्वके लिए नियम नहीं है किन्तु उस पंथमें आगे बढ़नेके ये रास्ते हैं। नियम तो केवल मूल गुणका है। आज जब श्रावकोंपर दृष्टिपात करते हैं तो श्रावकोंके मूल गुण भी आज श्रावकोंमें प्रायः नहीं पाये जाते। यात्रामें जा रहे, शिखर जी या किसी तीर्थक्षेत्रको जा रहे पर रास्तेमें चाहे रात्रिके १० बजे हों चाहे १२ बजे हों, और प्रायः सफरमें जगते ही तो रहते हैं, तो बड़े-बड़े स्टेशनोंपर चाय, डबलरोटी, मिठाई, बिस्कुट आदि न जाने क्या-क्या चीजें खाते पीते रहते हैं। मुख चलता ही रहता है। कभी कुछ खाया कभी कुछ। न जाने कितना रसनाइन्द्रियके लोलुपी बन रहे हैं। आज देशमें खुद का ही प्रभाव घटा है, मान्यता घटी है, जबकि एक जैन नाम सुनकर ही लोगोंमें क्या आदर होता था जैसे ये कभी रात्रिको नहीं खाते, कभी झूठ नहीं बोलते, ये कभी चोरी नहीं करते, बड़े-बड़े खजांची बनाये जाते थे। बड़ी प्रतिष्ठा थी। तो अपने आचरणसे अपनी प्रतिष्ठा गिरायी और श्रावकोंके हीन आचारके समक्ष जब देखते हैं साधु जनों का आचार तो आज अन्य लोग उन साधुओंके त्याग नियम संयम साधुताकी प्रशंसा करते हैं। सबको अपने आपकी करुणा करनेके लिये अपनी सम्हाल करना चाहिये। यह जीवन कितने दिनोंका है ! और थोड़ेसे जीवनमें व्यर्थकी बातोंमें भटक-भटक कर जीवन गमा देना, अपने आत्मतत्त्वकी आराधना न कर सकना यह एक बड़े दुर्लभ मानव

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

जीवनको खो देना है। कुछ अधिक दो हजार सागर त्रस पर्यायके मिलते हैं असंख्याते सागरोंके बाद। इतनेमें न चेते तो इसका अर्थ है कि एकेन्द्रिय ही होना पड़ेगा। त्रस पर्यायका काल व्यतीत हो गया और न चेत सके तो समझो कि एकेन्द्रिय ही बनना है, उसके भाग्यमें दूसरा भव नहीं है। आज तो कुछ मन पाकर, बुद्धि पाकर इतराते हैं, स्वच्छंद होते हैं, कुछ जैनशासनका उत्तरदायित्व भी नहीं समझते हैं और जब एकेन्द्रिय आदिक भव सहने पड़ेंगे तो फिर क्या हाल होगा ? तब तो फिर न की तरह रह गए। सो नम्रना, क्षमा आदिक गुणोंको अपने में प्रकट करनेका यत्न कर। केवल एक कीर्ति की चाहसे कुछ चेष्टायें कर लीं तो वह लाभदायक नहीं है। तो यहां मुनिजनोंको सम्बोध रहे कि रागसे विहीन होकर भावसे विशुद्ध होकर उत्तर गुणोंका पालन करो।

(४२४) **अनीहवृत्तिसे ग्रैष्मयोग तपश्चरण करनेका प्रतिबोधन**—तीसरा योग है ग्रैष्म-योग। ग्रीष्मकालमें पहाड़पर तपश्चरण, खुले तपश्चरण करना ग्रैष्मयोग है। यह एक बढ़कर बात है। जैसे जो परीषह मूल गुणोंसे सम्बन्ध रखते हैं उन परीषहोंको सहना तो अनिवार्य है और अन्य परीषहोंको बनाना अनिवार्य नहीं, किन्तु उत्तरगुण रूप है। अगर उत्तरगुण कोई न पाया जाता तो उससे साधुता नष्ट नहीं होती। यह ग्रैष्मयोग है। जो भी उत्तर गुण हैं और उनमें भी ऐसे योगोंका धारण करना इसका स्वयं प्रत्येक मुनिको अधिकार नहीं दिया गया। जो समर्थ हैं वे ही करते हैं और जो इसको चाहते हैं उन्हें आचार्यकी आज्ञा लेनी पड़ती है। जैन एक ऐसा मार्ग है जो सबके लिए उप-कारी हैं। इसे कहते हैं आतापन योग। जैसे रात्रिप्रतिमा योग। रात्रि भर बनमें कहीं खड़े होकर ध्यान करना यह समर्थ तो करते हैं और संघस्थ मुनि आचार्यसे आज्ञा लें, वे मना करें तो इस योगको न धारण करें। हे मुने यह योग धारण करें तो रंच भी चित्त में पूजाकी वाञ्छा न हो। मैं ठीक कर रहा हूं, मैं इससे महान बन रहा हूं, इत्यादिक लगावका चित्रण चित्तमें नहीं आये। केवल एक ज्ञानानन्दस्वरूप सहज अंतस्तत्त्वमें प्रवेश करनेकी धुन रखें।

भावहि पढमं तच्चं विदियं तदियं चउत्थपंचमयं।
तियरणसुद्धो अप्पं अणाइणिहणं तिवग्गहरं ॥११४॥

(४२५) **आत्महितभावनाका महत्त्व**—हे आत्मन् ! तू ७ तत्त्वोंकी श्रद्धा रख। जीव अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष और मन, वचन, कायसे शुद्ध होता हुआ आत्माको ध्यानमें रख। जो आत्मा मोक्षस्वरूप है याने आत्माका जो सहज स्वरूप है याने अपने सत्त्वके ही कारण जो इसका स्वरूप है उसे ध्यानमें लें। वह तो ज्ञानमात्र

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

हैं और उसकी परिणति मात्र ज्ञानपरिणति है, जो स्वतः होता है, जहां औपाधिकता नहीं, केवल अपने स्वरूपको निरख। मोक्ष पानेका उपाय अपने सहजस्वरूपका ध्यान है। मगर सहजस्वरूपका ध्यान मुनि अवस्थाके बिना नहीं बन पाता, जो मोक्षका कारण-भूत होता है, ऐसी जिसको सहजस्वरूपके ध्यानकी धुन है उसके निरन्तर निर्ग्रन्थपनेका आदर है। आत्महितकी भावना, जिसका होनहार भला है उस भव्य पुरुषके होती है। और आत्महितकी भावना तो अन्तः नहीं बनी, किन्तु बातोंसे उसे पूरा करना यह तो एक मनोविनोदका ढंग है। एक यही मनोविनोद पसंद आता है, पर अपनेपर दया हो कि मैं संसारमें अब तक अपने आत्माकी सुध लिए बिना रुलता रहा। अब तो मैं केवल अपने आत्माके नातेसे ही धर्मपालन करूंगा। आत्माका नाता अपनेसे रखें और आत्मा का स्वरूप है ज्ञान, वही धर्म है उस अपनेको प्रतीतिमें लें, चेष्टा तो करना है ऐसी कि अपना ज्ञान अपने आपके आत्ममार्गमें ऐसा लगे कि कुछ [illegible] यह निर्विकल्प हो और अपने ज्ञानस्वरूपके अनुभवसे ही ज्ञानामृतका पान करे। ऐसे ज्ञानामृतके पानेके लिए दुर्भावके त्यागकी आवश्यकता है। और त्याग हो सके तो आगे चलेगा मगर थोड़ा बहुत ज्ञानानुभव मिले उसके लिए क्रोध, मान, माया, लोभ सम्बंधित मनके विषय कीर्ति यश से सम्बंधित खोटी भावनाओंका बलिदान करना होगा, तब हम अपने सहजस्वरूपके ध्यानके अधिकारी बन सकेंगे।

(४२६) **ध्येय जीव तत्त्वकी भावना करनेका उद्बोधन**—हे मुने ! तू प्रथम जीव तत्त्व को जान। जो ७ तत्त्वोंसे सम्बन्ध रखकर जीवको जानेगा तो जिससे ७ आदिक बने, उस जीवका ध्यान किया, मगर ७ तत्त्व या ९ तत्त्वोंका सम्बन्ध बनाये बिना मात्र जीव के सहजस्वरूपको जानेगा तो वह परमार्थस्वरूपको जानेगा, कारण समयसारको जानेगा, सहज परमात्मतत्त्वको जानेगा। पर अनेकान्तको छोड़ कर इस सहजपरमात्मतत्त्वका ही एकान्त किया तो वह भी विवाद बनता है। जैसे ऊपर छत है, वह चारों ओर बनी दीवाल या खम्भों पर सधी है, पर इसके सामने केवल एक ही भींत दिखती है और यही निर्णय बना कि बस एक ही भींत है और यदि हमारे इस निर्णयका पालन यह छत करे तो यह अभी हो जायगी, पर वह छत बेचारी हमारी आज्ञाका पालन नहीं कर रही, इसलिए सधी हुई है और कभी किसी भींतपर कुछ उपासना तत्त्वकी बात चित्रित हो तो दृष्टि तो एक पर ही की जाय और करते ही हैं, मगर श्रद्धामें रखे हैं कि और भी भीतें हैं। यहीं किसीके गल्ती हुई जो एक ब्रह्म एकान्त बना जीवका स्वभाव सहज ज्ञानस्वरूप है, उसमें परिणमन नहीं निरखे जाते। तो वह पारिणामिक परमार्थ तत्त्व

http://sahjanandvarnishastra.org/

दिखता है, किन्तु ऐसा ही है, परिणमन है ही नहीं ऐसा एकान्त होनेपर वह स्याद्वादसे बाहर हो गया। सब ओरकी खबर जानकर अपने ध्येयमें लगा हुआ निर्विघ्न सफल होता है और अज्ञानवश किसी एक ही बातका एकान्त करने वाला कहीं टिक नही पाता। फल यह होता है कि अस्थिरतामें ही जीवन व्यतीत हो जाता है। जानना सब और लक्ष्य होना शुद्ध तत्त्वका। तो जीव तत्त्वके परखनेकी दो पद्धतियां हैं। एक ७ तत्त्वका प्रकरण बनाकर जीवको परखना और केवल ७ तत्त्वोंका प्रकरण न बनाकर मात्र अभेद बुद्धिसे एक सहजस्वरूपको निरखना, मगर यह अलग अलग चलनेकी पद्धति नहीं है। दोनोंकी ही समझ रखने वाले ७ तत्त्वोंके भेदमें न पड़कर अभेद अखण्ड अंतस्तत्त्वकी आराधना करें तो उसका अर्थ बनता है, नहीं तो उसके मिथ्या शल्य रहती है। तो सर्वप्रकारसे हे मुने इन ७ तत्त्वोंको जानो। अजीव कर्म। आस्रव-जीवमें कर्मका आना तो आस्रव, बंध-बंध जाना, संवर-कर्मत्वका आना बंद हो जाना, निर्जरा बद्ध कर्मोंका खिरना, समस्त कर्म खिर जायें वह है मोक्ष। इसको पर्यायरूपसे जानें, द्रव्यरूप से जानें, भावरूपसे जानें और तीनोंको ही छोड़कर केवल सहज आत्मस्वरूपको जानें ऐसे इस अनादि निधन आत्मतत्त्वका ध्यान करें मन, वचन, कायसे शुद्ध होकर। जिसका मन शुद्ध नहीं, वचन शुद्ध नहीं, काय शुद्ध नहीं वह चारित्रमार्गमें चलनेके योग्य आगे नहीं बढ़ पाता। अतः कह रहे इस गाथामें कि तीन चीजोंसे शुद्ध होकर धर्म, अर्थ काम इन तीन वर्गोंसे विविक्त एक शुद्ध ज्ञानमात्र अंतस्तत्त्वका ध्यान कर।

जाव ण भावइ तच्चं जाव ण चिंतेइ चिंतणीयाइं।
ताव ण पावइ जीवो जरमरणविवज्जियं ठाणं ॥११५॥

(४२७) परमार्थ तत्त्वकी भावना न होने तक जरामरणविवर्जित स्थानका अलाभ—

जब तक यह जीव जरा तत्त्वकी भावना नहीं करता, चिन्तनीय तथ्योंका चिन्तन नहीं करता, तब तक यह जीव जरा मरणसे रहित स्थानको नहीं प्राप्त कर पाता। ज्ञानि जीव तत्त्वकौतूहली होता। किन्तु इन दृष्टियोंसे कब कब क्या तत्त्व चिन्तनमें आते हैं यह उसके लिए कौतहल सा बन गया है अर्थात् स्पष्ट एकदम समझमें आने वाला बन गया। जीवतत्त्वकी भावनामें यह अपने आपमें सहज सिद्ध शाश्वत चैतन्यमात्र निजको निरखता यह और जब कभी ७ तत्त्वोंके प्रकरणसे सम्बंधित ढंगसे जीवतत्त्वको निरखता है तो जाना कि यह जीव अजीवोपाधिके सम्पर्कसे आश्रय और बंध अवस्थाको प्राप्त हुआ यह जीव अपने आपके सम्यक् स्वभावके परिचयसे सम्वररूप हुआ और वैराग्यके बलसे कर्म-निर्जरा भी हुई और यहां स्वयं विभावोंका निर्जरण हुआ। विभावका तो निर्जरण होता

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

ही है क्षणके बाद, किन्तु उनका संस्कार निर्जीर्ण होनेके बाद विभावोंकी निर्जीर्ण है, तो ऐसे ही निर्जीर्ण हो होकर मुक्त हो जाते हैं। मुक्त होनेपर क्या कुछ नवीन पदार्थ हुआ? जो वास्तवमें परमार्थतः स्वरूप था वही मात्र केवल प्रकट हुआ। अब अन्यका संपर्क यहां कुछ न रहा। खालिस आत्मा ही आत्मा रहे, उसके साथ कुछ भी सम्बंध न रहे उसही का नाम है सिद्ध भगवान। तो सिद्ध भगवान बनने का उपाय क्या है कि यहां ही अपने विविक्त स्वरूपको निरखिये। जैसा होना है प्रकट, वैसा स्वरूप है यहां, अन्यथा सिद्ध हो नहीं सकते। तो उस स्वरूपकी भावना जब तक नहीं करता है जीव, तब तक वह जरा मरणसे रहित निज धामको नहीं प्राप्त करता।

(४२८) **चिन्तनीय तथ्योंमें व्यक्त विकार होनेकी विधिका दिग्दर्शन**—चिन्तनीय तथ्योंका चिन्तन ज्ञानी नाना प्रकारसे करता है, पर परमार्थ तत्त्व भावना उसकी प्रतीतिमें, मूलमें पड़ी हुई है। जीवमें व्यक्त विकार होते हैं उसका ढग भी जान रहा। उसका चिन्तन भी कर रहा व्यक्त विकारके प्रसंगमें बात क्या होती है कि कर्मविपाक उदित हुआ याने कर्म में उसका अनुभाग खिला, सो उसी क्षण उपयोगमें प्रतिफलन हुआ और उसके प्रतिफलन की चपेटको न सहता हुआ वह बाह्यमें विषयोंकी ओर उपयोग लगाने लगा, यह प्रक्रिया है विकारके व्यक्त होनेकी। इस प्रक्रियामें उपादान कारण तो वह जीव है, जैसा वह योग्यतामें है, अज्ञानमय अध्यवसायके संयोगमें है और निमित्त कारण हुआ कर्मप्रकृतिका उदय और आश्रयभूत कारण हुआ इन्द्रियका विषयभूत पदार्थ। अपने स्पष्ट निर्णयके लिए यह बात ध्यानमें रखना कि मेरे विभाव भावके लिए कर्मातिरिक्त अन्य कोई भी पदार्थ निमित्त कारण नहीं होता। निमित्त कारण एक कर्मविपाक है। जगतके अन्य पदार्थ ये निमित्त कारण नहीं किन्तु आश्रयभूत हैं। इसलिए इनको आरोपित कारण कहते हैं। हम इन विषयोंमें अपना उपयोग लगाते हैं, यही तो एक बात है। मेरेमें विभाव जैसे बने उस तरहके व्यापारसे परिणत नहीं हो रहे ये विषयभूत पदार्थ, किन्तु ये जहां धरे हैं, जहां खड़े हैं सो धरे हैं। उनमें अज्ञानी उपयोग देता है सो विकार व्यक्त होते हैं, उपयोग न दें या अन्यत्र उपयोग रहे, आत्मस्वरूपमें उपयोग रहे, विकार तो होगा कर्मविपाकके कालमें, पर वह व्यक्त न हो पायगा, अव्यक्त रहेगा।

(४२९) **विकारविधिपरिचयसे शिक्षा**—अध्यात्मग्रन्थोंमें बुद्धिपूर्वक कथनोंका जिक्र हुआ करता है। अबुद्धिपूर्वक तथ्यों का विवेचन करणानुयोगमें मिलता है। तो यहां निमित्त कारण और आश्रयभूत कारणमें अन्तर जानना। आश्रयभूत कारणके उदाहरण दे देकर उस ही कोटिमें कर्मविपाक निमित्तकारणको नहीं रखा जा सकता, क्योंकि नि-

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

मित्त कारणके साथ कार्यका, विभावका अन्वयव्यतिरेक सम्बन्ध है, पर आश्रयभूत कारण का विभावके साथ अन्वय व्यतिरेक सम्बन्ध नहीं। अभी ये कर्मविपाक हमारे ज्ञानमें नहीं आ रहे, ज्ञानमें आ रहे हैं रागद्वेष भाव, तो कार्य देख करके कारणका ज्ञान होना इसमें ज्ञप्ति मात्रसे निमित्त कारण आरोपित न कहलायगा। वह मात्र ज्ञप्तिमें आरोपित है, उत्पत्तिमें आरोपित नहीं। जैसे धूमको देखकर अग्निका ज्ञान हुआ अर्थात् धूम कार्य है, धूमकार्य को देखकर अग्नि ज्ञान हुआ, इससे अग्निमें कारणत्वका आरोप नहीं है, किन्तु ज्ञप्तिके प्रसंग में आरोपित है। इससे शिक्षा क्या लेना कि ये आश्रयभूत कारण तब कारण कहलाते हैं जब इनमें हम उपयोग दें, हम इनका आश्रय करें। यदि उपयोग नहीं देते, इन विषयभूत पदार्थोंका आश्रय नहीं करते तो ये कारण भी नहीं हैं। पड़े हैं जहांके तहां और कर्मविपाक यह निमित्तकारण है। जिस उदय क्षणमें उदित हैं उस क्षण में ये प्रतिफलित होते ही हैं किन्तु हम विषयभूत पदार्थोंमें उपयोग न दें तो ये विकार व्यक्त नहीं हो पाते। सो व्यक्त विकारको तो ज्ञानबल से दूर करना, फिर इसी उपायसे अपने समयपर अव्यक्त विकार भी दूर होते हैं। तो अपना उपयोग आत्माके परमार्थ स्वरूपपर लगानेका पौरुष करना, सारे हितापेक्षित काम स्वयं हो जायेंगे। अगर हमको आत्मस्वरूपमें उपयोग लगानेमें कोई बाह्य अड़चन आती है, जैसे घरका ख्याल, दूकानका ख्याल, अन्य अन्य पदार्थोंका ख्याल, तो इतने बड़े आत्मस्वरूपमें मग्न होनेके कार्यके लिए इन सबका त्याग करनेमें संकोच न करना चाहिए, यह अपने लिए शिक्षा है, और साथ जितना बन सके इस ही समय इन बाह्य पदार्थोंका त्याग करना चाहिए ताकि जितना भी निशल्य हो सकें उतनी निशल्यताके साथ हम आत्मस्वरूपका ध्यान कर सकें, यही है चरणानुयोग और द्रव्यानुयोगका एक सहयोग। सो ऐसे सहज अंतस्तत्त्वकी भावना जब तक नहीं जगती तब तक जरा मरणसे रहित स्थान प्राप्त नहीं होता।

(४३०) **घटना प्रसगोंमें आदेयोंका वैविध्य**—एक बहुत ऊंचा लक्ष्य लेकर मुनि भी चला तो भी उसके अनेक घटित हेय उपादेयके परिणाम होते रहते हैं, तो गृहस्थोंके तो और भी अधिक रूपसे तथ्योंके हेय उपादेयके परिणाम होते रहते हैं। जगतमें ये बाह्य कुटुम्ब समागम ये रागके नोकर्म हैं, शस्त्र, विष कंटक, शत्रु आदिक ये द्वेषके आश्रयभूत कारण हैं, तो ऐसे समागम हेय हैं, पर जैसे मुनि अनेक घटनाओंसे गुजरता है तो उसके ध्यानमें यह रहता ना कि शुद्ध विधिसे चर्यासे शुद्ध आहार करना यह उपादेय है और अधः कर्मदूषित आहार करना हेय है, ऐसी भी बातें बीच-बीच आती रहती हैं। पर मौलिक बात यह है कि चाहे शुभ हो चाहे अशुभ हो, सभी प्रसंग आत्महितार्थीके लिए

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

हेय हैं। पर घटना तो सब पर नाना घट ही रही है। अगर घटनागत बातोंमें अच्छे बुरेका निर्णय न रखे तो भी काम आगे न बढ़ेगा। सो जैसे कोई भवन बनानेके लिए पुरुष भवन बनाता है तो यह उसका मूल लक्ष्य रहता है, पर रोज रोज उसके अनेक उपलक्ष्य चलते रहते हैं, जैसे आज कारीगरसे मिलना, आज इतने मजदूर तय करना, सीमेन्टकी परमिट पास कराना, लोहा, ईंटा आदिके सम्बन्धमें अमुक-अमुक जगह जाकर बात करना आदि ? ये सब उसके उपलक्ष्य हैं। लक्ष्यके समीप पहुंचनेके प्रयास में उसके ये लक्ष्य आते रहते हैं। ऐसी बहुत सी बातें घटित होती रहती हैं। तो जीवन पर जो घटित है उसमें जो हेय उपादेयका निर्णय न रख सका तो वह कहांसे भूलकर कहां पहुंच सकेगा। बीत रही है, उसे सम्भालना तो बहुत आवश्यक है और उसकी मौलिक सम्भाल मूल लक्ष्यमें होती है। भले ही जाना है ५ मील दूरके गांवपर, अब चलने वाले के भावोंको देखिये—जहांसे वह चल रहा है वहांसे वह प्रत्येक कदम पर अपनी उमंग रखता चला जा रहा है। हां अब आ गए इतनी दूर, अब थोड़ी दूर और रह गया, अभी इतनी दूर और चलना है, मूल लक्ष्य तो उसका अन्दरमें है, पर उसके साथ घटनाओंको कहां छोड़े, वहां का भी चिन्तन चलता है। तो जो चिन्तनीय तथ्य हैं उनका जब तक चिन्तन नहीं करता और जो परमार्थभूत भाव है उसकी भावना नहीं करता तब तक यह जीव जन्म जरा मरणसे रहित स्थानको नहीं प्राप्त कर सकता।

(४३१) **अखण्ड द्रव्योंके स्वरूप व प्रदेशोंका चिन्तन**—कभी अखण्ड द्रव्यके अवयवके चिन्तनमें भी चलता है। जो द्रव्य बहुप्रदेशी है और अखण्ड है उसके अवयव अथवा अंश या कहो प्रदेश, उनपर जब यह दृष्टि रखकर ध्यान देता है तो वहां अनेक चिन्तन चलते हैं। वे धर्मद्रव्यके प्रदेश उपादेय है जो निमित्त बने कि जीव उत्तम गतिके स्थान पर पहुंच गया। अरे वे धर्मद्रव्यके प्रदेश हेय हैं, जो निमित्त रहे कि जीव नारकादिक दुर्गतियोंके स्थानमें पहुंच गया, ये सब उसके ज्ञानके कौतूहल चलते रहते हैं। धर्म अधर्म द्रव्य एक है मगर वह अखण्ड धर्मद्रव्य समग्र निमित्तभूत नहीं होता। प्रदेश उसके भिन्न नहीं हैं, अभिन्न हैं तो भी गति स्थिति आदिकमें वे अवयव निमित्तभूत होते हैं। इसके आधारपर कुछ दार्शनिकढंगसे न्याय शास्त्रोंके अनुसार भी चिन्तन चलता है। अहो वह आकाश प्रदेश तत्त्व उपादेय है जहां सिद्ध भगवानका अवस्थान है, वे ठहरे हैं। और जो नारकादिकमें है वे हेय है। चीज यह बिल्कुल बाह्य है, पर चिन्तन ही तो चल रहा। यों कितनी प्रकारके तत्त्वकौतूहलोंमें रहते हुए यह परमार्थ तत्त्वको कभी नहीं भूलता। ये ज्ञानके विकास, ज्ञानकी कलायें इन सब तथ्योंके कौतूहलोंको बनाता

http://sahjanandvarnishastra.org/

है। तत्त्वचिन्तनमें भी युक्ति पूर्वक चल रहा, सर्व अखण्ड द्रव्योंका जैसा स्वरूप है वहां ध्यान ला रहा। द्रव्य अखण्ड यों कहलाता कि कोई एक परिणमन हो तो वह समग्रमें होता है। उस पर भी वह सांश है। आकाश सर्वव्यापक है, फिर भी सांश है। अनन्त अवयव, अनन्त प्रदेश ये स्वक्षेत्रके अवयव हैं, इस कारणसे अनेक द्रव्यों के संयोगसे बने इन स्कंधो की तुलना नहीं होती, जहांके अवयव एक-एक द्रव्यरूप हैं, अखण्ड पदार्थके अवयव एक एक प्रदेशरूप हैं, परमाणु एक प्रदेशमें रह रहा। यदि आकाश निरंश होता तो आकाश या तो परमाणु बराबर रहता या परमाणु आकाश बराबर हो जाता। जगत की इन व्यवस्थाओं को भी यह ज्ञानी अपने तत्त्वकौतूहलपनेसे जान रहा है। सब कुछ जानते हुए भी निजका जो परमार्थ स्वरूप है उसकी प्रतीति कभी नहीं हटती।

(४३२) **प्रायोजनिक अनुभूत तत्त्वके स्मरणकी प्राकृतिकता**—मैं स्वयं अपने ही सत्त्व से किस स्वरूप हूं इसका परिचय अनुभव इस ज्ञानीको हुआ है। तो जो बात अनुभवमें आ जाय वह कैसे भूली जा सकती? जो बात अनुभवमें आ जाय और प्रयोजनभूत न हो वह तो कभी भूली भी जा सकती। और, भूलती ही है और जो प्रायोजनिक हैं और अनुभवमें आयी हुई है वह बात कभी नहीं भूली जा सकती। यों तो रोज-रोज अनगिनते अनुभव बनते रहते हैं, भोजन किया, बात की, नफा है, नुकसान है, सम्मान है, अपमान है, यों अनेक अनुभवमें आते, पर उनसे प्रयोजन कुछ नहीं, इसलिए उस कालमें अनुभव आया, बादमें ख्याल नहीं रहता। पर ज्ञानी जीवको तो इस परमार्थ स्वरूपसे प्रयोजन बना हुआ है। क्योंकि सार ही यही एक मात्र है। और इस अनुभवमें ही वास्तविक शान्ति है। तो इस स्वभावका स्वरूपका अनुभव करनेपर इसको कभी नहीं भूल पाता, और कभी अन्य प्रसंगमें लग जाय उपयोग तो वह अनुभवरूप भूल रहा है। पर उस कार्यके निपटते ही प्रतीति इसकी निरंतर बनी रहती है। अपने स्वरुपकी ओर अभिमुख होना, परकी ओर लग कर भी अपनी ओर खिचनेका योग रहना यह प्रतीतिको जाहिर करता है। तो ज्ञानी के निरन्तर अपने सहज चैतन्यस्वभावकी प्रतीति रहती है। मैं हूं यह, अन्य रूप नहीं।

(४३३) **पर्यायबुद्धिमें आत्महितभावनाका घात**—पर्यायबुद्धिसे यह घरमें रहे तो वहां मोह करता है। कहीं बाहर रहे, यात्रामें रहे, सफरमें रहे तो वहां भी यह अपने अज्ञानमय भावका विस्तार करता है और कभी माने गए धर्मके प्रसंगमें रहे तो वहां भी अज्ञानमय अध्यवसानका ही प्रसार करता है। आत्महितकी सच्ची लगन नहीं बन पाती। जैसे कहीं भी गृहस्थ रहें तो वे अपने कुटुम्बकी वासनाको नहीं छोड़ते, ऐसे ही किसी भी प्रसंगमें रहें पर्यायबुद्धि वाले जीव, तो वे अपने संगकी, सोहबतकी, पक्षकी,

Siddhanta eGangotri Gyaan (sgbasnet@gmail.com)

http://www.jainkosh.org

पार्टीकी बातको भीतरसे भूला नहीं पाते। और जिनको केवल आत्मासे ही नाता है उनके इन बातोंका कुसंग नहीं आता। केवल एक स्वतन्त्र निःशल्य अपने आपके स्वरूप की ओर अभिमुख रहते हैं। तो जब तक इस परमार्थ चैतन्यमात्र अंतस्तत्त्वकी भावना नहीं बनती तब तक यह जन्मजरामरणरहित परम पदको प्राप्त नहीं होता।

(४३४) **आत्माका परमपद व उसकी प्राप्तिका उपाय**—वह परमपद क्या है? ज्ञान से ज्ञानमें ज्ञान ही हो, यह स्थिति बनना परम पद है और इसका परिणाम क्या होता है कि कर्म नोकर्मके बन्धनसे रहित हो जाता है और तीन काल वर्ती समस्त पदार्थोंका जाननहार केवलज्ञान प्रकट हो जाता। कल्याणके लिए केवल एक ही कार्य करना है, सहज ज्ञानस्वभावरूप अपने आपको मानना और ऐसा ही उपयोग बनाना कि जिसमें सहज ज्ञानस्वरूप ही स्वयं अनुभवमें रहे। कठिन भी बात बराबरके अभ्याससे सहज हो जाती है और कठिन जानकर उससे अलग रहनेका निर्णय रखने वाले उस तत्त्वको कभी प्राप्त कर ही नहीं सकते। निजकी निजमें दुविधा ही क्या? मैं हूं, ज्ञानस्वरूप हूं, जाननका निरन्तर कार्य करता रहता हूं सो सदा निजको ही जाननेका कार्य करता रहता हूं। चाहे मिथ्यात्वमें रहा कोई जीव चाहे सम्यक्त्वमें रहा, सभी जीव निजको ही जाननेका काम करते हैं, पर अन्तर यों बन गया कि निजको पर रूपसे जाननेका काम तो हुआ मिथ्यात्वमें ओर निजको निज रूपसे जाननेका काम हुआ सम्यक्त्वमें इतना ही तो अन्तर तोड़ना है। कोई अधिक दुविधाकी बात नहीं है। तो निज ज्ञानस्वरूप मात्र अपने आपको अपने ज्ञानमें अनुभवना, यह ही एक वह कार्य है कि जिसके प्रतापसे परम कल्याणमें पहुंचनेके लिए जो होना है सो हो जाता है।

पावं हवइ असेसं पुण्णमसेसं च हवइ परिणामा।
परिणामादो बंधो मुक्खो जिणसासणे दिट्ठो ॥११६॥

(४३५) **भावसे पापकी निर्जीर्णता**—भाव ही समस्त पापोंको पचाता है अर्थात् विस्तीर्ण करता है। जिन शासनमें भावसे ही बंध और भावसे ही मोक्ष कहा गया है। भाव उत्तम होनेके लिए प्रारम्भिक बातें तो होनी ही चाहिए जैसे विनय, भक्ति तथा देव, शास्त्र और गुरूके प्रति उमंग। यदि यह प्रसंग नहीं है तो उसका कारण प्राक् पदवीमें अहंकार है। जहां अहंकार है वहां कुछ सिद्धि नहीं हो सकती। विनय दूसरोंके एहसानके लिए नहीं है किन्तु अपने आपकी पात्रता बनानेके लिए है। नम्रता, सरलता ये कुछ दूसरोंपर एहसान धरनेके लिए नहीं है किन्तु ये अपने आपकी पात्रता बनाता है। तो जहां भाव विनययुक्त है, सरलतासे सहित है, गुणीजनोंके प्रति उमंग लिए हुए हैं

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

चारित्रके प्रति जिनके उत्सुकता बनी रहती है तो ऐसे भाव आगे बढ़ते हैं और बढ़कर इतना विशुद्ध होते कि पापोंको पचा डालते हैं, निर्जीर्ण करते है। सब लाभ अपनी संभालसे है।

(४३६) **भावसे पुण्यकी विस्तीर्णता**—भाव ही इस पुण्यको विस्तीर्ण करते हैं। जिसके सम्यक् बोध है उसके परिणामोंमें उज्ज्वलताके साथ राग भी बसा हुआ है तो उसके पुण्य विशेष बढ़ता है, यह एक मोक्ष मार्गमें चलने वालेकी कथा ही ऐसी है कि जब तक संसार शेष है, उसका पुण्य विशेष चलता है और जब मोक्ष होता है तो सब खतम हो जाता है तो यह सब भावोंसे ही बंध और भावोंसे ही मोक्षकी व्यवस्था है। वह भाव क्या है जो मोक्ष का हेतुभूत है? वह है अपने सहज अपने ही सत्त्वके कारण जो कुछ इसका भवन है ज्ञानमात्र चैतन्यस्वरूप उसकी दृष्टि। यह एक आधार है कि जहां बंध हो तो पुण्यका विशेष बंध हो। और इन भावोंमें शुभकर्मोंमें निर्जराकी बात तो है ही मूलमें और उसमें भी पापकर्मकी निर्जरा विशेष है। जब ऊंचे परिणाम होते हैं तो पापका अनुभाग घटता है और पहले बंधे हुए पुण्यकर्मका अनुभागरस बढ़ता है पापके चार दर्जे बताये गये। पापके दर्जे हैं नीम, कांजी, विष और हलाहल। जैसे नीम कड़वी है, पर कम खतरनाक है और कांजीर उससे अधिक कड़वी चीज है, विष उससे अधिक खतरनाक है और हलाहल सबसे अधिक खतरनाक है। तो जब सम्यग्दृष्टिके चारित्रमें वृद्धि चलती है तो वहां जो पहलेके बंध हुए विष और हलाहल वाले पाप थे वे घटकर नीम और कांजीर जैसे रह जाते हैं। और पुण्यके भी चार विभाग हैं—गुड़, खांड शक्कर और अमृत, या ऐसे कुछ भी कहो। तो गुड़ और खांड वाले पुण्य बढ़कर शक्कर और अमृतके अनुभागमें पहुंचते हैं। पहले तो ये हुआ करते हैं और हो रहे ये सब स्वयं जीवके शुद्ध भावोंका निमित्त पाकर और आगे जब बढ़ते हैं, ये पाप कर्म नहींके बराबर रह जाते तो अब शुद्ध परिणति किसपर मिसमिसाये? पुण्य बचा सो उसको शुद्धभाव निर्जीर्ण करता है। तो यों भावोंसे ही बंध और भावोंसे ही मोक्षकी व्यवस्था है।

(४३७) **योग्य भावोंमें सुवासित होनेका कर्तव्य**—वर्तमानमें सर्व जीवोंसे मित्रताका भाव बढ़ा कर, गुणीजनोंसे प्रमोदभाव बढ़ाकर अपने अहंकार भावको उखाड़कर दयालु-चित्त होकर अपने आपकी पात्रता बनाना चाहिए। यह मनुष्यभव बड़ी कठिनाईसे प्राप्त हुआ और संयमकी सम्भावना इसी मनुष्यभवमें बतायी, सो कोई कर्मोदय आया तीव्र पापका उदय आया तो उसे विवश होकर सहना पड़ता है सो जबर्दस्तीका संयम बन जाता (हंसी)। पापका उदय है, कष्ट आ ही पड़ा है, भोगोपभोगकी सामग्रीमें ही

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.vijayvanishri.com

साधनाविहीन है तो वह सह लेगा, सहना ही पड़ेगा, पर स्ववश कुछ थोड़ा संयममें भी चले तो यह कठिन पड़ता है। सोचनेकी बात है। जिसको आजकल लोग बोलते—क्या रखा है संयममें ? बस भाव ठीक हों तो सब ठीक हो जायगा। परिणाम यह देखते हैं कि न भावोंमें निर्मलता है और न कुछ संयमके भाव बनते हैं। तो मनुष्यभव एक संयम का धाम है। अन्य गतियोंमें संयम नहीं होता। तिर्यञ्च गतिमें संयमासंयम होता तो वह न के बराबर है। कैसे ? जैसे मानो संयमासंयमकी साधना ५० से लेकर ५० करोड़ तक की डिग्रीकी है तो मनुष्योंमें ५० नंबरका भी संयमासंयम रह लेगा और ५० करोड़ डिग्रीका भी संयमासंयम रह लेगा, पर तिर्यञ्चोंमें यों समझिये कि जैसे मानो १०० से लेकर २०० तक की डिग्रीका संयमासंयम है, तिर्यञ्चके जघन्य संयमासंयम नहीं होता, उत्कृष्ट तो हो ही नहीं सकता। उसके संयमासंयम होता है तो जघन्यसे कुछ आगेका अंश ही चलता है, और थोड़ा ही ऊंचा चलता है फिर समाप्त हो जाता है।

(४३८) **संयमासंयम भी न ले सकनेकी मनुष्यभवमें बड़ी भूल**—संयम विशिष्ट संयमासंयम इस मनुष्यभवमें ही है। तो ऐसा मनुष्यभव पाकर संयमकी दृष्टि न हो और संयमकी खिल्ली उड़ाये तो यह योग्य नहीं। प्रायः आजका नवयुवक वर्ग संयमी जनोंकी दिल्लगी करता है। जैसे देखा होगा कि किसी शादी बारातमें कोई रात्रिभोजनका त्यागी पहुंच गया तो उसके लिए कुछ नवयुवक लोग दिल्लगीसे शब्द बोल उठते। जैसे ये देखो बड़े धर्मात्मा महाराज आ गए···। अब आप देखिये ऐसे लोगोंमें कितनी तीव्र कषाय है। वे तो यह भी कह देते कि इस संयममें धरा क्या है वह तो एक मामूली सी बात है, सिर्फ ज्ञान बढ़ाइये। सो होता क्या कि न तो ज्ञान बढ़ पाता और न संयम धारण कर पाते। अरे इस मनुष्यभवको पाकर तो इस संयममें लगना चाहिये था। पर वह मामूली लगने वाली चीज भी उनसे क्यों नहीं बन पाती ? इस ओर जरूर कुछ ध्यान देना चाहिए और इसकी बाट न जोहना चाहिए कि जब मेरेको सम्यग्दर्शन होगा तब संयममें लगूंगा अरे इस जिन्दगीका कुछ भरोसा नहीं, पता नहीं फिर कभी संयम धारण किया जा सकेगा या नहीं ? चाहे पूर्ण संयम न बन पावे फिर भी संयमकी ओर दृष्टि रहे। चाहे वह द्रव्य संयम हो। भले ही वह मोक्षमार्गमें न बढ़ पाये फिर भी असंयमसे तो अच्छा ही है, मिथ्यात्वमें ही सही, पर दोनोंमें अंतर तो देखो, जैसे कोईदो आदमी प्रतीक्षा करते हों रास्तेमें तो एक तो धूपमें बैठा हुआ प्रतीक्षा कर रहा और एक वृक्षकी छायामें बैठा हुआ प्रतीक्षा कररहा तो प्रतीक्षातो दोनों ही कर रहे, पर कुछ बाहरी घटनामें उनमें अन्तर तो है। ऐसे ही असंयमी और संयमी दोनोंकी बाहरी घटनाओंमें

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

अन्तर मिलेगा। तो संयमकी ओर हमारी वृत्ति रहनी चाहिए और संयमकी ओर लगनेकी भावना रहना चाहिये। मिथ्यात्व व सम्यक्त्वका लेखा तो कोई लगा सकता नहीं, पर कर्तव्य है ज्ञानाराधनाका, उसमें चलना है। जो होता है वह भीतर चलता रहता है पर ऐसे इस अशुचि शरीरको पाकर जो मरणके बाद जला दिया जाता है और कुछ कठिनाईकी बात भी नहीं है, तो साधारण संयमसे भी नहीं रह सकते तो फिर यह मनुष्यभव पानेसे लाभ क्या मिला ?

(४३६) **मनुष्यभवका शृङ्गार संयम**—सम्यक्त्व तो चारों गतियोंमें होता, पर सम्यक् चारित्र या विशिष्ट ज्ञान संयम केवल मनुष्यभवमें होता। जैनधर्ममें व्रतकी, परम्परा त्यागकी जरूर चलती आयी है, उसको चलाइए, खुद भी कीजिए। और, कुछ नहीं तो मंदकषायका लाभ तो है। अन्यथा फिर जैन धर्मकी मुद्रा ही क्या है ? यह भी समझमें न रहेगा। तो इस मनुष्यभवको पाकर भीतर तत्वज्ञानको बढ़ाइये। ऐसा इसमें प्रमाद न करना कि जब हमको कोई जनताके लोग जानले कि अब हुआ इसको सम्यक्त्व तब लें हम कुछ नियम संयम, ऐसी प्रतीक्षा न करें। अपने आपपर दयालु बनें और यथायोग्य चूंकि मनुष्य हुए हैं तो अपनी यथाशक्ति संयमकी प्रवृत्ति करते हुए भीतरमें अन्तः ज्ञान प्रकाशका भी भाव रखें, उसका भी पौरुष करें। तो भाव ही सर्व अपने भविष्यका मूल है। हम क्या बनेंगे, क्या होंगे, क्या हमारा भविष्य होगा ? इन सबका उत्तर भाव है। और, भावोंकी पहिचान खुद करना चाहें तो खूब कर सकते हैं। दूसरेकी पहिचान करना तो कठिन है, हम कुछ समझ भी न सकेंगे। कोई मायाचारी ऐसी भी हो सकती कि अपनी वचनकलापर अपनेको बहुत शुद्ध साबित कर सके, पर हम भीतर की बात नहीं कह सकते कि क्या है। कोई नहीं कह सकता। भले कोई न कह सके, पर अपने अपने परिणाम तो अपने ध्यानमें सबके हैं। थोड़ा अहंकारभाव छोड़कर, देहात्मबुद्धि छोड़कर अंतरंगमें निरखने चलें तो अपने परिणामोंको बराबर निरख सकता है। सो अपने आप पर करुणा करनेकी बात है। कोई किसीपर एहसान रखनेकी बात नहीं है।

(४४०) **कीर्तिचाहकी असारता**—जगतमें जीव अनन्त हैं। कुछ लोगोंमें अपनी शान, अपनी प्रतिष्ठा। अपना प्रभाव डालनेकी चाह रखने वाले पुरुष यह तो सोचें कि जब अनन्तानन्त जीवोंको मैं अपनी शान नहीं बता सकता, प्रथम तो सभी मनुष्योंमें हमारी शान नहीं फैल सकती, कुछमें ही फैल पाती है। पशु पक्षियोंकी तो बात छोड़ो, सभी मनुष्योंमें ही शान नहीं फैल सकती। जीव अनन्तानन्त है। इन अनन्तानन्त जीवों

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

ने जब मेरी शान न समझ पायी तो दो चार दसको अपनी शान दिखाकर क्यों व्यर्थमें कलुषता बढ़ायी जा रही है ? अनन्त काल व्यतीत हो गया तो शानपर कमर कसने वाले व्यक्ति कितने काल तक क्या बता पायेंगे ? उस अनन्त कालके समक्ष यह २, ४, १०, २०, ५०, १०० वर्षका काल समुद्रके बराबरमें एक बिन्दु बराबर भी नहीं है। तो जब सारे समयोंमें हम अपनी शान न फैला सके तो फिर इस थोड़ेसे जीवनके लिए कमर कस कर क्यों अपनी जिन्दगी बिगाड़ी जा रही ? यह लोक ३४३ घनराजू प्रमाण है। एक राजूका विस्तार बहुत बड़ा है और अन्दाज यों करलो कि जहां हम रह रहे इसका नाम है जम्बूद्वीप। यह गोल है। और इसकी सूची अर्थात् आमने सामनेका नाप एक लाख योजन प्रमाण है। दो हजार कोशका एक योजन होता है। और ऐसे ऐसे एक लाख योजन प्रमाण लम्बा है और उस जम्बूद्वीपको घेर कर लवण समुद्र है, और एक तरफ दो लाख योजन विस्तारका है। इतना ही सब ओर दूसरी तरफ भी है। जैसे कहते तो हैं ऐसा कि जम्बूद्वीपसे दुगुना है और उतकी जगह अगर क्षेत्रफल निकालें तो कई गुना बैठेगा। उससे दूने विस्तार वाला दूसरा द्वीप उससे दूने विस्तारका दूसरा समुद्र, इस तरह उसके बाद द्वीप, उसके बाद समुद्र यों अनगिनते हैं करोड़ अरब शंख नहीं, असंख्याते हैं। तो अब समझिये आखिरी समुद्रका विस्तार कितना है और सारा विस्तार यह कितना हुआ ? यह सब मिलकर भी पूरा एक राजू नहीं कहलाता है। यह हुआ एक आमने सामनेका राजू। उतना बड़ा हो और फिर उतना ही चौड़ा हो, उतना ही मोटा हो, घनराजू जिसे कहते घनफुट जैसा, ऐसा ३४३ घनराजू प्रमाण लोक है, इस सारे क्षेत्रके आगे आपका यह नगर, या आपका यह थोड़ा सा परिचित क्षेत्र कौन-सी गिनती रखता है। इतनेसे क्षेत्रमें अपनी शान बनाना अपना प्रभाव बनाना और नाना प्रकारकी कल्पनायें बनाना इन थोथी बातोंको करके क्यों जिन्दगी बिगाड़ी जा रही है।

(४४१) **संयत जीवनसे उन्नतिके मार्गका लाभ**—अपने भावोंको तो संभालें। आत्मा का नाता रखकर सर्व बातोंका अध्ययन करें तो भावविशुद्धिका मार्ग मिलता है। तो ये भाव ही बंधके कारण हैं, भाव ही मोक्षके कारण हैं। वर्तमान समयमें अपने आपको किस तरह बनाना चाहिए, ढालना चाहिए सो वह करतूत सोचो तो सही। दया भक्ति आदिकके परिणाम जहां न हो सकें वहां शुक्ल ध्यानकी बात सोचना यह तो अपने आपको ठगना है, भैया, प्रभुभक्ति रखते हुए, रत्नत्रयकी प्रीति रखते हुए, ५ प्रकारके विनयमें चलते हुए आत्माके स्वभावकी सुध रखते जाइये। नीरस, शुष्क बातसे, गप्पसे

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

अपना काम न बनेगा, उद्धार न होगा। आचार्यजन बताते हैं कि परमात्माके नाम मात्र की कथासे ही भव-भवके संचितपापोंका क्षय होता है। तो जहां प्रभुकी भक्ति है वहां प्रभुके स्वरूपका भी तो स्मरण है और अपने आपके स्वरूपका भी तो कुछ संस्पर्श है। वहां ही शुद्ध भक्ति बने अपने आपमें जैसी कि अपनी परम्परामें चली आयी हुई बात है —देवपूजा, गुरूपास्ति, स्वाध्याय, संयम, तप, दान और जैसा जो कुछ चला गया, गुणीजनोंको देखकर हृदयमें प्रमोद होना, उनकी सेवाका परिणाम होना। उस प्रकार की जिन्दगी रहेगी तो भीतर अंतस्तत्त्वकी साधनाका अधिकार भी है और यदि जीवन को ऐसा नीरस बनाया, भक्तिविहीन, दयाविहीन लोगोंके नाम ले लेकर यदि जीवनको ऐसा बनाया गया तो यह तो अपने आपको ठगना है, यों समझो कि फिर तो यह जीवन व्यर्थ ही गमाया जा रहा है।

(४४२) **जीवनको मर्यादित रखनेकी आवश्यकता**—भैया, ऐसे गाड़ी न चलेगी कि जैसे गाड़ीके एक तरफ जुआमें ऊंटको जोत दें और दूसरी ओर बिल्लीको जोत दिया जाय। एक तरफ तो व्यापार करके, सर्विस करके ग्राहकोंसे अनेक तरहके खूब मौज करके ये सब बातें भी करते रहे और देव, शास्त्र गुरु चूंकि ये पर द्रव्य हैं, ऐसा सुन रखा, इनको हेय समझना और अपने आपको ऐसा समझना कि मैंने तो सब कुछ खूब पाया, ऐसी भीतरमें श्रद्धा रखकर ऐसी बेतुकी जिंदगी बिताना यह अपने लिए कार्यकारी नहीं है। तो जो परम्परा आधार चला आया उसमें बहुत बल है। बहुत कुछ समझनेकी बातें हैं। कानून आज बना है तो वह आज ही से सिद्ध नहीं हो जाता। धीरे धीरे कुछ वर्षोंमें वह कानून सिद्ध हो पाता है। तो ऐसे ही हमारे आचार्यपरंपरासे हमारे महा-पुरुषोंसे जो कुछ हमने पाया है व्यवहार रत्नत्रयके रूपमें व उसके साधनके रूपमें, वैय-क्तिक अपनी चर्चाओंके रूपमें उन सबमें उस मूल आधारमें उस प्रकार से जीवन व्यतीत करते हुए फिर तत्वज्ञानमें बढ़ें तो इसमें धोखा न मिलेगा। जैसे तलवार और ढाल सहित सजकर तलवार लेकर संग्राममें उतरियेगा तो धोखा न रहेगा ऐसे ही अपने संयम सहित जो कुछ आवश्यक कार्य हैं उन कर्तव्योंसहित रहकर फिर तत्वज्ञानमें बढ़ियेगा और अन्तः आराधना चले तो धोखा न रहेगा। और अन्तः आत्माकी आरा-धना चले तो धोखा न रहेगा। इस प्रकारकी हमारी जिन्दगी बन जाय और हम एक सही रूपसे ज्ञानवासित होकर जीवन बितायें तो यह इस मनुष्य भवकी बहुत बड़ी देन होगी अन्यथा यों ही जीवन खो दिया।

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

(४४३) **मनुष्यभवकी दुर्लभता जानकर भावोंकी सम्हालका अनुरोध**—भैया, क्या पता कि इस त्रस पर्यायके बीच अवकाश होगा या न होगा। कुछ अधिक दो हजार सागर प्रमाण त्रसका काल रहता है। यदि यह ही पूरा कर रहे हों तो एकेन्द्रिय ही होना निश्चित है। संयमकी बात हर जगह सम्भव नहीं, चाहे वह द्रव्यलिंग ही हो, ज्ञानका तो किसीने ठेका नहीं लिया ना ? पर थोड़ा ज्ञान तो सभीको है। आत्माके बारेमें बोध तो है ही। सो संयममें प्रमाद न करना चाहिए। जिसको लोग तुच्छ समझते हैं, मामूली समझते हैं वह क्यों नहीं रुचता है ? क्यों उसके करनेमें कष्ट माना जाता ? तो वह सब विधिपूर्वक है। बल्कि श्रावककी तो जो परम्परा है, नियमसे रहना, शुद्ध भोजन करना, दूसरोंसे पूछना, भक्ति, विनय व्यवहार करना, वह ढंगसे रहकर फिर तत्वज्ञानमें बढ़ें तो कोई शल्य न रहेगी उसे। और निःशल्य हो वह अपनी साधनामें बढ़ेगा। सो यहां यह बता रहे कि भाव ही आपका सर्वस्व है, भावसे ही आप विजय पायेंगे, इसलिए भावोंकी सम्हाल यत्न पूर्वक होनी चाहिए।

(४४४) **प्रभुभक्तिसे भावविशुद्धि**—प्रकरण यह चल रहा है कि भावोंसे पापका नाश है, भावोंसे पुण्यका विस्तार है और भावोंसे कर्मोंका क्षय है। पापके नाश करनेमें मुख्य तो अन्तर्दृष्टि रही, पर प्रयोग व घटना अपने जीवनसे सम्बन्धित प्रोग्राम है तो उनमें सर्वोपरि है प्रभुभक्ति। प्रभुभक्तिमें नाममात्रकी कथासे ही जन्मजन्मकृत पाप नष्ट होना बताया है, फिर परमात्मासम्बन्धी ज्ञान और चारित्र व श्रद्धान हो इस मनुष्यको, तो यह जीव निष्पाप तो बनता ही है, वह तीन लोकका नाथ भी बन जाता है। ऐसे ही जिन भावोंसे पुण्यका विशेष आश्रव होता है उनमें भी मुख्य है जिनभक्ति। यह जिनभक्ति ही एक दुर्गतिका निवारण करनेमें समर्थ है और पुण्यको करनेमें समर्थ है और जिनभक्ति इस सद्मनुष्यको मोक्ष लक्ष्मी प्रदान करनेमें समर्थ है, ऐसा स्तोत्रोंमें कहा गया है। परमात्माके उस शुद्ध निर्मल स्वरूपको सोचनेसे चूंकि यह शुद्ध निश्चयनय का विषय है सो अभेद विधिसे निश्चयनयकी गति होती है। तो जहां परमात्माके निर्मल परिणमनको निहारा, वहां केवल अब दो ही बातें दृष्टिमें रहीं। एक तो वह स्वरूप जिसकी उपासना करके यह स्वभावपरिणमन चल रहा और एक यह स्वभावपरिणमन। और, इस ही का चिन्तन करते करते स्वभावपरिणमन और स्वभाव ये परस्पर अपनी बुद्धिमें विलीन होकर केवल एक स्वभावदृष्टि रहती है और स्वभावाश्रयणमें स्वभाव-चिन्तनमें विषय व्यक्त नहीं रहता है और इस विधिसे अपने स्वभावका स्पर्श हो जाता है। क्योंकि स्वभावके चिन्तन करनेमें पर जीव तो विषय होता नहीं, और स्वयं कहीं

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

जाता नहीं। पारिशेष्य न्यायसे स्वयं उसका विषय बन जाता है और इस तरह जिन भक्तिके प्रसादसे यह अपने आपके स्वरूपमें उतर जाता है और यही मोक्षमार्गमें बढ़ाने वाला हैं। तो भावोंसे पुण्यका विस्तार है और भावोंसे ही मोक्षमार्गमें वृद्धि हैं। तो वह मोक्षका कारणभूत भाव क्या है ? आत्माका भाव तो है आत्मस्वरूप अपने आपके एकत्व में लीन होना। ज्ञानसे ज्ञानमें ज्ञान ही हो। तो इस तरह हमारा उद्धार कल्याण हमारे भावपर है। ऐसा जानकर परभावोंको आदर न दें और स्वक्षेत्रको आदेय मानें और लीन होनेका पौरुष करें।

मिच्छत्त तह कसायाऽसंजमजोगेहिं असुहलेसेहिं।
बंधइ असुहं कम्मं जिणवयणपरम्मुहो जीवो ॥११७॥

(४४५) **एकान्त व विपरीत मिथ्यात्वमें जीवके विभ्रमपना**—जो जिनेन्द्रवचनसे परान्मुख है ऐसा जीव मिथ्यात्व, कषाय, असंयम योग और अशुभ लेश्यावोंके द्वारा अशुभ कर्मका बंध करता है। मिथ्यात्व ५ प्रकारके कहे गए हैं सो मिथ्यात्व भाव तो वह एक ही है, पर आश्रव भेदसे ५ भेद बताये। एकान्तमिथ्यात्व—वस्तुस्वरूपकी जानकारी स्याद्वादसे होती है, और स्याद्वादको छोड़कर किसी एक नयके एकान्तसे अपनी श्रद्धा बनाना, आस्था बनाना यह एकान्त मिथ्यात्व है। वस्तु द्रव्यपर्यायात्मक है, शाश्वत कोई रहता है उस ही में तो परिणमन चलता है। परिणमन होते रहना यह वस्तुका स्वरूप है। परिणमन बिना वस्तुत्व नहीं रहता इसलिए इन दो में से किसी एककी अभेद कल्पना करे तो दूसरेका अभाव स्वयं बन जाता है। उस पर्यायात्मक वस्तुमें एकको न मानकर किसी एक के ही एकान्तमें जो कुछ बुद्धि बने वह एकान्त मिथ्यात्व है (२) विपरीत मिथ्यात्व—वस्तु है और प्रकार, और आस्था हो रही और प्रकार तो यह विपरीत मिथ्यात्व है।

(४४६) **स्याद्वादका सहारा छोड़नेसे एकान्तादि मिथ्यात्वोंका पालन पोषण**—स्याद्वादके अंतस्तत्वको न जानकर और उसका सहारा न लेनेसे यह सब मिथ्यात्व बन जाता है। जिसे एक स्थूल रूपसे बताया ही है। सप्रतिपक्ष अस्तित्व बताया है। जैसे घट और पट ये शब्द अधिक प्रयोगमें आते हैं और इसके साथ ही एक शब्द चलता है रज्जु मायने रस्सी ये तीन शब्द घट, पट और रज्जु अधिक मिलेंगे जैन दर्शनमें, इनका क्रमशः अर्थ है—घड़ा, कपड़ा और रस्सी। देखिये पहले जमानेमें अक्सर करके ऐसा होता था कि लोग जब मुसाफिरीके लिए घरसे बाहर निकलते थे तो अपने साथ ये तीनों चीजें रखा करते थे, लोटा, छन्ना, और डोर, काहेके लिए ? पानीके लिए। आज कल

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.vitragvani.com

तो यह रिवाज बिल्कुल हट गया। अनछना पानी पीनेमें लोग जरा भी संकोच नहीं करते। सो अब लोटा, छन्ना, डोर इन सबका काम खतम हो गया, याने न घट रहा, न पट रहा और न रज्जु रहा। ये सब बातें लोग भूल गए और लोग झट कह उठते कि पानीको छाननेकी क्या जरूरत, वह तो यों ठीक है, अनेक युक्तियां भी देते कि देखो नगरपालिकाकी टंकीमें इन्जीनियर लोग काम करते, वे पानीको दवासे साफ कर भरवाते, उसका बड़ा निरीक्षण रखते, उसमें जीव नहीं आने पाते, वह तो प्रासुक रहता है···यों अनेक प्रकारके उदाहरण भी देते, पर बात यह है कि जल तो एक ऐसा पदार्थ है, जीवोंकी उत्पत्तिका एक ऐसा आधार है कि जिसमें थोड़ी ही देरमें स्वयं अनेक जीव उत्पन्न हो जाते हैं।

(४४७) **स्याद्वादमें विरुद्धधर्मोंका विभिन्न अपेक्षाओंसे अविरोध**—यहां स्याद्वादमें उदाहरणार्थकी बात कह रहे हैं, (१) घट स्वरूपसे है, अन्यरूपसे नहीं है। स्याद्वादकी बात विचारनेके लिए यह एक बात रख रहे हैं। (२) घटका घटरूपसे अस्तित्व है, घटमें पररूपसे नास्तित्व है। अब तीसरे कदम पर चलो—घटमें अस्तित्व है, घटमें नास्तित्व है। अब इसी बातको यदि यों कहें कि घट-घट है, पट नहीं तो यह स्याद्वादका रूप नहीं बना। मोटे रूपसे तो ध्यानमें आता है कि बात तो ठीक कह रहे, पर अस्तित्व और नास्तित्व दोनों ही परस्पर प्रतिपक्ष धर्म एक वस्तुमें रहे तब तो स्याद्वादकी विधि हो, अगर यों ही कहा जाय कि होगा स्याद्वाद, घट घट है, पट नहीं, तो यों स्याद्वाद सब एकान्तवादियोंका बन जायगा और सभी कहते ही हैं, मेरा कहना सच है, झूठ नहीं, अमुक बात यों है अन्य नहीं, वस्तु क्षणिक है अक्षणिक नहीं, पर स्याद्वादका मर्म तो यह था कि एक वस्तुमें परस्पर विरुद्ध धर्मोंका अविरोध रूपसे स्वीकार करना। जो अभी दृष्टान्त दिया घट पटका उसमें तो एक समव्याप्ति है, बन भी गया, मगर ऐसी ही मुद्रा अगर सर्वत्र बनाई जावेगी तो अनेक जगह व्यभिचार मिलेगा और स्वच्छंदता बन जायगी, इसलिए अस्तित्व और नास्तित्व इन दोनों का एकत्र विरोध बने उस भाषाके प्रयोगसे स्याद्वाद बनता है। तो स्याद्वाद शासनको न माननेसे अनेक एकान्तवाद हो गए। स्याद्वादियोंमें कोई एकान्तवादी घुस कर कहे देखो—पदार्थ क्षणिक है अक्षणिक नहीं तो हमारा स्याद्वाद बन गया कि नहीं ? हर एक लोग यों बोल सकते। जिसको एकान्तवादकी बात रखना है वह इस नकली स्याद्वादकी मुद्रामें अपनी बात भी रख सकता है। सबको छुट्टी। नकली मुद्रामें सबको अवसर मिलता है, असली मुद्रामें सबको अवसर नहीं मिलता। ब्रह्म नित्य है, अनित्य नहीं, लो बन गया हमारा स्याद्वाद इस

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

एकान्तको भी नकली मुद्रामें आप स्याद्वादका रूप दे सकते, पर स्याद्वादका यह रूप नहीं है। परस्पर दो धर्मोंको भिन्न अपेक्षासे अविरोध रूपसे सिद्ध करना यह स्याद्वादकी असली विधि है। इसको छोड़कर अनेक अनेकान्त विपरीत आदिक सिद्धान्त बन गए।

(४४८) **सांशयिक व वैनयिक मिथ्यात्व**—(३) संशयमिथ्यात्व—संशय रहना कि आत्मा है या नहीं, यह बात सही है या नही, स्याद्वादशासन मानने वालोंको कभी भी किसी से विरोध नहीं बनता और खास कर जैनमें परस्पर जितने भी कथन हैं उन सबको स्याद्वादकी अगर भक्ति है तो उनको पचानेका सामर्थ्य है। और स्याद्वादमें भक्ति नहीं तो एकान्तवाद होनेसे वह स्याद्वादशासनसे भी बहिर्भूति है, तो उनको अपने आत्मस्वरूपमें मान्यताका आनन्द कैसे मिल सकता है ? ये सब आश्रयके भेदसे मिथ्यात्व के भेद बढ़ गए। मूलमें बात यही है मिथ्यात्वकी कि जो सम्यक्त्व नहीं है ऐसा परिणाम वह सब मिथ्यात्व है। (४) विनयमिथ्यात्व—हमारे लिए तो सब गुरू हैं, तापसी हो, संयासी हो, जटाधारी हो, पंचाग्नि तप तपना हो, निर्ग्रन्थ हो, सवस्त्र हो, मेरे लिए तो सब गुरू हैं, आजके युगमें इस प्रकारसे कहना तो बड़ा भला लगता है और इसे कहते हैं राष्ट्रप्रगतिका विचार वाला, मगर वस्तुस्वरूपकी ओरसे देखो तो चूंकि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्रका आशय इस निरीक्षकमें नहीं है इस कारण वह विनय मिथ्यात्व है।

(४४९) **अज्ञानमिथ्यात्वका पसारा**—(५) अज्ञानमिथ्यात्वमें सारा जगत पड़ा है, बोध किया ही नहीं अपने आपका। यह प्रवृत्ति क्यों चलती है मनुष्योंमें ? जरा जरासी बातमें क्रोध आये, दूसरोंको देख करके मान आये, अपनी अपनी बात चलानेका लोभ आये और अपनी ही बात चलानेके लिए माया कपटका जाल रचे, यह प्रवृत्ति क्यों हुआ करती है मनुष्योंमें ? उसका कारण है अज्ञान मिथ्यात्व। भीतरमें सुलझ नहीं है, उसमें यह बल नहीं आया कि वह अपने आत्माके स्वरूपको और पर जीवके स्वरूपको एक समान समझ सके। यह दृष्टि नहीं प्राप्त हुई इसलिए ये खोटी प्रवृत्तियां, कषाय वाली प्रवृत्तियां सब चलती हैं और उससे आकुलित होते हैं। अरे बड़ी कठिनाईसे यह मनुष्य जन्म मिला उसे यों ही क्यों खोते। अहो यह संसारी अज्ञ जीव कैसी उदारता बर्त रहा है कि जहां अनन्त भव हैं वहां एक यह भव भी उन्हींमें शामिल हो जाय हमें कुछ फिकर नहीं। देखो इस संसारी सुभटकी कितनी बड़ी उदारता है। क्यों उन अनन्तमें से एक कम करें ? खूब रहनेमें अनन्त भव और उनमें यह वर्तमानका भव भी मिला दें, ऐसा उदार बन रहा है यह संसारी सुभट। (हंसी) तो इन ५ प्रकारके मिथ्यात्वोंके वश

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

होकर यह जीव अशुभ कर्मोंका बंध करता है। जीवने तो अशुद्ध परिणाम किया, उसका निमित्त पाकर वहीं एक क्षेत्रावगाहमें अवस्थित कार्माण विश्रसोपचय वर्गणायें भावानुरूप कर्मत्वरूपसे परिणम जाती हैं, इनको कौन रोकेगा ?

(४५०) **समझवाला व बेसुधीवाला पाप**—लोग प्रायः सब जानते हैं कि यह पाप है और यह नहीं है हम आपकी तो बात छोड़ो, कुत्ता, बिल्ली वगैरह पशु भी समझते हैं कि यह पाप है यह नहीं। देखो कोई कुत्ता अगर रोटी चुराकर खाता है तो क्या करता है कि खूब लुक छिपकर पूछ झुकाकर धीरेसे बिना किसी प्रकारकी आवाज किए रोटी चुराकर ले जाता और किसी एकान्त स्थानमें बैठकर उस रोटीको खाता, वह बीच बीच इधर उधर देखता भी जाता कि कोई देख तो नहीं रहा। तो उसको यह समझ है कि यह पापका काम है। और अगर किसी कुत्तेको मालिक रोटी खिलाता तो उसकी बात देखो कैसा वह खुश होकर अपनी दुम हिलाकर एक ठसकके साथ खाता। तो जो पाप का परिणाम रखता है उसका दिल कमजोर रहता है। मगर चूंकि एक व्यसन लग गया है इसलिए उसीको ही लगाये जाता है। तो पापकी बात या अपापकी बात यह भगवान आत्मा बड़ी सरलतासे समझ लेता है और मूल पाप तो ऐसा है कि जिसकी समझ नहीं बन पाती। तो पाप करके भी पापकी समझ न बने, ऐसा पाप है मिथ्यात्व। बाकी प्रवृत्तिरूप पाप तो अज्ञानीके भी प्रायः समझमें आ जाते और ज्ञानीके भी। तो यह मिथ्यात्वभाव जहां है वहां विकट अशुभ कर्मका बन्ध है।

(४५१) **अशुभभावसे सर्वत्र अलग रहनेका कर्तव्य**—लोग पाप करते हैं एकान्तमें कि कोई देख तो न ले, हमारी निन्दा न हो, हम पर विपत्ति न आये, पर कहां एकान्त ढूंढ़ोगे ? कहीं एकान्त मिलेगा क्या पाप करनेके लिए ? चाहे गुफामें चले जायें, चाहे कमरे के भीतर रहें, जहां भी अशुभ भाव है, खोंटा भाव है तो उसको निमित्त पाकर कार्माण वर्गणायें कर्मरूप बन जाती हैं। इन्हें कोई नहीं रोक सकता। और सबसे बड़ा दण्ड दे सकने वाला निरीक्षक कह लीजिये यह साथ लगा हुआ है जीवके, ये विश्रसोपचय कार्माण वर्गणायें बंध गई, इनके अनुभाग उदयके समय यह जीव विपत्तिमें पड़ जाता है। इससे ऐसी जागरूकता रखना कि मैं कभी भी अशुभ भाव न करूं, क्योंकि उसका फल नियमसे मिलेगा। दूसरा कौन दण्ड देगा जिससे छुपकर पाप कर रहे ? जो दण्ड देगा उससे छुपकर कोई रह नहीं सकता। तो यह सब समझ कर कि ऐसी घटनायें घटा करती हैं, अशुभ भाव हुए तो वहां अशुभ कर्म बंधते ही हैं, वहां रंच भी रुकावट नहीं है कि इसने नहीं जान पाया। यदि ये कर्म जाननहार होते, चेतन होते तो उनसे

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

छिपकर भी कोई भाव हम बना सकते थे, परन्तु ये बध्य कर्म चेतन नहीं, जाननहार नहीं। यहां तो निमित्त नैमित्तिक योग अनिवार्य है। धोखा दिया जा सकता है, किसी जानने वालेको, जीवको, पर अचेतनको कहां धोखा है? जैसे ही जीवने अशुभ भाव किया वैसे ही वहां कार्माण वर्गणाओंका कर्मरूप परिणमन हुआ और कषायके अनुसार वे बंध गई, तो यह जीव विपत्तिमें आयगा, इसे कौन बचायगा?

(४५२) **कर्मत्वहेतुभूत अशुद्ध भावोंसे हट कर शुद्ध अन्तस्तत्त्वमें उपयुक्त होनेका कर्तव्य**— इस जीवके साथ अबसे सैंकड़ों हजारों लाखों करोड़ों भवों पूर्वके ही नहीं, बल्कि अनगिनते भवों पहिले कर्म बंधे हुए इस समय पड़े हैं, क्योंकि सागर उपमाप्रमाणके अन्दर असंख्यात लब्ध्यपर्याप्त भव बीत जाते हैं। उन कर्मोंका अपने अपने समयपर या परिणामके वशसे समयपर विपाक उदय होता है। कोई बड़ा धर्मात्मा पुरुष हो, जिसने कभी कोई दोष नहीं किया, सारे जीवन भर अच्छे परिणामसे रहा फिर भी बड़ी विपत्ति में रहा, ऐसा भी देखा जाता है। वह ऐसे रोगसे ग्रस्त होकर मरण भी कर सकता कि जिसे देखकर लोग यह कह सकते कि इसको बड़ी बुरी मौत हुई, भाई इस जीवनमें तो कुछ नहीं किया, फिर ऐसा उदय कहांसे आया? तो ये करोड़ों अरबों भव पहलेके भी उदयमें आ सकते हैं, आते ही हैं सब स्थिति पाकर उदय। सो एक इसी भयसे अशुभ भाव न करो। शुद्ध अंतस्तत्त्वकी रुचिसे अशुभ भाव न हो तो यह एक मौलिक कदम है। तो यह जीव ऐसे मिथ्यात्वके वश होकर अशुभ कर्मका बंध करता है। और, उसमें प्रेरणा मिली है जैन शासनसे परान्मुखतासे। जिन वचनका श्रद्धान हो, उसके अनुसार आत्महितकी भावनासे अपने आपपर दयाके भावसे मोक्ष मार्गमें ही गमन हो तो यह पाया हुआ दुर्लभ मानव जीवन सफल होता है।

(४५३) **सत्संगके अभावमें दुर्भावोंकी अहानिसे, वैराग्यकी हानिसे आकुलतामें वृद्धि**— अशुभ भावोंसे अशुभ बंध होता है। इस प्रकरणमें अशुभ बंधके कारण बताये जा रहे हैं। मिथ्यात्व कषाय आदि। मिथ्यात्वका वर्णन किया, अब कषायका वर्णन करते हैं। जो कषे उसे कषाय कहते हैं याने विलक्षण ढंगसे दुःख दे, वह है कषाय। अपनेको दुःख देने वाला कषाय भाव है अर्थात् क्रोध, मान, माया, लोभसे ये प्राणी दुःखी रहते हैं, इनको दुःखी करने वाला कोई दूसरा नहीं। दूसरा प्राणी तो इनके दुःखमें निमित्त भी नहीं है। दुःखका निमित्त है अशुभकर्मका उदय, और दूसरा योग है आश्रयभूत कारण। तो आत्माको कष्ट देने वाली ये कषायें हैं। हम सब सुनते भी आये, पढ़ते भी आये, बड़ी-बड़ी चर्चायें भी करते, स्वाध्याय भी करते, और इसी बातका प्रतिपादन करते,

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

पर वैराग्यमें वृद्धि नहीं है, वैराग्यकी ओर चित्त नहीं जाता, केवल रोज-रोज एक चर्चा भी कर लेते, चित्तमें यह बात नहीं आती कि हमको किसी लक्ष्यमें पहुंचना है तो उसका कारण क्या है कि चर्चा करके भी हमारा राग नहीं घटता, वैराग्यकी ओर नहीं आते, स्वाध्यायतो बहुत कर लेते, कभी सारा दिन करते कभी थोड़ा करते। तो इसमें मुख्य कारण है सत्संगका अभाव। जब कोई बात प्रयोगात्मक करने चलें तो उसका पता पड़ता है। जब प्रयोग पर चलते हैं तब पता पड़ता है कि बात क्यों नहीं बनती। कमी कहां है। तो जब उस प्रयोगपर चलनेका भाव रखें और उद्यम करें तो वे सब बातें ठीक-ठीक समझमें आ जायेंगी। कैसे और क्या किया जाय कि सिद्धि प्राप्त हो ? एक बात सोचना तो चाहिए कि राग, कषायें घटे बिना तो उद्धार नहीं हो सकता। मेरा राग घटे, कषाय घटे यह उद्यम करना है, और स्वाध्याय करते, सुनते, पढ़ते, बोलते बहुतसा समय गुजर जाता फिर भी यह पाते हैं कि वैराग्यकी ओर नहीं चल सके, राग नही घट सका। तो कुछ सोचना चाहिए कि कौनसी कमी रह गई। तो वह कमी है सत्संग की। जिसके राग घटा हो, जिसके मंद कषाय हों ऐसे पुरुषोंका संग रहे तो वह एक ऐसा वातावरण है कि अपनी भी विरक्तिकी ओर उमंग चले। सो दो ही तो बातें हैं—स्वाध्याय और सत्संग। ये दोनों प्रयोग अमृतपान हैं। आज स्वाध्याय तो बनता है, पर सत्संग नहीं मिलता, और इसके बजाय बाकी समय देखो तो कुसंगके प्रसंग मिलते रहते हैं याने जिनको संसार, शरीर, भोगोंसे वैराग्य नहीं है, ऐसे जीवोंका संग अधिक मिलता रहता है, तो परिणाम क्या होता कि ये स्वाध्याय चर्चा आदि भी एक मनोविनोदके साधनमात्र रह जाते हैं। जब प्रयोगरूपसे चलें तब नम्रता भी आयगी, सत्संगमें भाव भी होगा, धर्मानुराग भी चलेगा, अहंकार दूर होगा। जो बात जिस विधिसे होती है वह उसी विधिसे बनेगी। मोक्षमार्ग ज्ञान और वैराग्यसे चलता है तो यों ही चलेगा। यहां अशुभ बंधका कारण कषायभाव बतला रहे हैं। कषाय १६ हैं, ९ नोकषायें हैं, यों २५ कषायें हैं। अनंतानुबंधी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन, ये चार प्रकारके क्रोध, मान, माया, लोभ होते हैं। अनन्तानुबंधी कषाय क्या है ? मिथ्यात्वका सम्बन्ध बनाये उस कषाय को अनन्तानुबन्धी कहते हैं। तेजी और गैरतेजी पर दृष्टि न डालें, उससे इन कषायोंका पता न पड़ेगा, किन्तु वह भाव जो मिथ्यात्वका सम्बन्ध बनाये सो अनन्तानुबन्धी। अंतस्तत्त्वके प्रतिबोध बिना मैं वास्तवमें क्या हूं, ऐसे परिचय बिना जो भी भाव होता है वह मिथ्यात्वका सम्बन्ध बनाये रहता है। कोई धर्म कर रहा है, कहनेके लिए मन्दिर भी आते, व्रत भी करते, तप भी करते,

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

स्वाध्याय भी करते और भाषण भी देंगे और आत्माकी बड़ी चर्चा भी करते, पर उनसे यह भी नियम न बनेगा कि हम अनन्तानुबंधी कषाय न करें। कभी कोई तेज कषाय करता हुआ न भी दिखे तो भी यह नियम नहीं किया जा सकता कि इसके अनन्तानुबंधी कषाय नहीं है। यह है सन्सारकी जड़। अपने आपके स्वरूपका परिचय न हो और फिर जो भी भाव चलते हैं वे अज्ञानमय भाव हैं। ये अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ प्रायः ये प्रचंड होते हैं, पर किसी समय नहीं है कषायकी प्रचंड प्रवृत्ति और अनन्तानुबंधी हो ऐसा भी होता। तो इस कषायको दूर करनेके लिए आत्मस्वरूपकी भावना करना आवश्यक है। उसके प्रतापसे कषायें दूर होंगी।

(४५४) अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण व संज्वलन कषायकी बन्धहेतुता—

अनन्तानुबंधी कषायोंके दूर होनेपर फिर भाव अप्रत्याख्यान चलेगा। मोक्षमार्गपर गमन होने लगेगा। इसका बाधक है अप्रत्याख्यानावरण। अ के मायने थोड़ा प्रत्याख्यान मायने त्याग। अ का थोड़ा यह भी अर्थ होता है, जहां नञ् के साथ समास हो उसका ईषत् अर्थ होता। अ मायने थोड़ा, प्रत्याख्यान मायने त्याग और आवरण मायने ढकना। जहां थोड़े त्यागसहित भावका आवरण हो उसे अप्रत्याख्यानावरण कहते हैं। थोड़ा त्यागके मायने संयम नहीं, किन्तु संयमासंयमकी वृत्ति न होने देना ऐसे कषायको अप्रत्याख्यानावरण कहते हैं। कर्मबन्ध अशुभ बंधके हेतुके प्रकरणमें यह बताया जा रहा है। इस कषायका शुद्ध नाम है अप्रत्याख्यानावरण। इसे कुछ लोग ऐसा भी बोलते—अप्रत्याख्यानावरणी, अब इसमें यदि उनकी कृपा हो जाय तो जी शब्द और लगा दें तो क्या हो जायगा अप्रत्याख्यानावरणी जी (हंसी), तो यहां वरणी शब्द बोलना ठीक नहीं, शुद्ध शब्द है अप्रत्याख्यानावरणीय या अप्रत्याख्यानावरण इतना भर बोलना। यह कषाय देश संयम उत्पन्न नहीं करने देती। तीसरी जाति है प्रत्याख्यानावरण, यहां अ शब्द नहीं लगा है, इसलिए थोड़ा अर्थ नहीं लगा। प्रत्याख्यान मायने सकलसयम। प्रत्याख्यान जो न होने दे उस कषायको प्रत्याख्यानावरण कहते हैं, जो सकलसंयम न होने दे। जैसे जैसे ये बाह्य त्यागमें चलते हैं तो जो विवेकी हैं, वे निःशल्य रहते हैं और उन्हें उस वातावरणमें आत्मानुभूतिके अनेक अवसर आते हैं। इस कारण त्यागकी भावना नियमतः होनी चाहिए। चौथी कषाय है सज्वलन। सं ज्वलन, सं के साथ जो ज्वलन रहे, संयमके साथ भी जो ज्वलन रहे, नियम भी बना रहे और कषाय भी बनी रहे, ऐसी छोटी कषायका नाम है संज्वलन। जहां बड़ी कषाय है वहां छोटी तो है ही। जिसके अनन्तानुबन्धी है उसके ये सब कषायें हैं। पर

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

कोई पुरुष ऐसे होते हैं कि अनन्तानुबन्धी अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण नहीं है और संज्वलन है। बन्ध सभीसे हो रहा है। ये कषाय अशुभकर्म बन्धके कारण कहे गये हैं।

(४५५) **नव नोकषायोंकी बन्धहेतुता**—नव नो कषाय, ये चार तो समझ लिये। इस कषाय वृत्तिके इन्जनके चलनेके लिए स्टीम जैसी है, इनमें कैसी स्टीम भरी है? और फिर फल क्या भोगते हैं? हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, पुरुषवेद, स्त्री-वेद, नपुंसकवेद, हंसना, मजाक करना, दिल्लगी करना या दूसरेकी कोई हंसी उड़ाना न जाने क्या-क्या ये सब हास्य होते हैं। इसे आनन्द आ रहा मगर वह इन कषायोंसे पीड़ित होकर ऐसी चेष्टा कर रहा है। रति प्रेमका नाम है। इष्ट विषयमें राग जगता, प्रेम जगता। अरति द्वेषको कहते हैं। अनिष्टमें द्वेष जगा। शोक रंजका नाम है। भय डरका नाम है। जुगुप्सा ग्लानि करनेको कहते हैं और तीन वेद ये काम सम्बन्धी हैं। यों २५ कषायोंके द्वारा यह जिन वचनसे परान्मुख जीव अशुभ कर्मका बंध करता है।

(४५६) **संयमकी बन्धहेतुता**—अब बतला रहे हैं असंयम। असंयम १२ प्रकार का होता है—६ प्राणका असंयम और ६ विषयका असंयम। पृथ्वीकाय, जलकाय, अग्निकाय, वायुकाय, वनस्पतिकाय और त्रस काय इन ६ प्रकारके प्राणियोंके प्रति संयम न होना, इनकी हिंसासे विरक्त न होना ये ६ असंयम हैं और स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र और मन इन ६ के विषयोंसे विरक्त न होना ये ६ विषयके असंयम हैं। तो इन असंयमभावोंसे यह जीव अशुभ बन्ध करता है।

(४५७) **सम्यग्दृष्टिके संयमका भाव**—संयमकी भावना हो, अपनी शक्तिके अनुसार संयमकी साधना करे संयमके धारण करने वालोंके प्रति प्रीति जगे। ये सब मोक्षमार्ग के उत्साहक भाव हैं। जहां यह संयम नहीं है, असंयम है तो असंयमके कारण अशुभ बन्ध होता रहता है, आत्मामें गुण भी होते, दोष भी होते, जिनको आत्महितकी धुन होती है, सो जो गुण हुए सो तो हुए, पर दोषोंको निरख निरखकर दूर करना चाहिये। और जब आत्मकल्याणकी भावना नहीं होती तो वहां गुण भी प्रकट नहीं हैं तो भी पुण्यमें ये गुण आ गए, उन गुणोंमें सन्तोष करके अपना जीवन गुजारते हैं। ये सब लगन के अनुसार भेद पड़ जाते हैं। जो ज्ञानी है। सम्यग्दृष्टि है—(१) उसके संयमकी भावना, होती है। (२) यथाशक्ति संयम भी वह पालता और (३) सम्यग्दृष्टिके संयमधारी महंतोंके प्रति अनुराग भी होता। यदि ये तीन बातें नहीं हैं तो उसमें वह गुण भी प्रकट नहीं हुआ कि जिससे वह अपने दोष दूर कर सके। संयम मनुष्यभवमें ही तो मिलता

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

है और इस भवमें भी संयमकी भावना, संयमकी पालना न बनायी जाय तो यह एक भूलकी बात है, प्रमादकी बात है। असंयमसे अशुभ बन्ध होता है।

(४५८) **योगोंसे अशुभबन्ध**—अब कह रहे हैं योग। मन, वचन, कायका हलन चलन। ध्यानमें तो यह आता कि कभी शरीरके हिलनेसे आत्मा हिलता, कभी आत्मा के हिलनेसे शरीर हिलता। लगता है ऐसा, पर हर जगह बात यही मिलेगी कि आत्म-प्रदेशमें परिस्पंद होता है उसका निमित्त पाकर यह शरीर हिलता। कभी लोग ऐसी शंका करते हैं कि सोते हुएमें भी तो कभी-कभी हाथ, पैर आदि हिल जाया करते, तो, सुनो, यह कैसे निषेध किया जाता कि वहां आत्मपरिस्पंद नहीं होता? इसकी सीधी निमित्त नैमित्तिक योगकी प्रक्रिया यह है कि अज्ञानवश जीवमें कषाय उत्पन्न हुई, और उसके कारण फिर आत्माके प्रदेशोंमें तदनुरूप परिस्पंद हुआ, उसका निमित्त पाकर इस शरीरमें बातका संचरण हुआ। हुआ परिस्पंदके अनुरूप और उस वायुके संचरणका निमित्त पाकर यह हाथ उठा, इसमें क्रिया हुई, फिर आगे उस हाथके सम्पर्कमें जो वस्तु आयी सो हाथकी क्रियाका निमित्त पाकर वह वस्तु चली। यद्यपि हो रहा है सबका स्वयंकी क्रियासे स्वयंमें परिणमन, पर जितना भी विकार परिणमन होता वह निमित्त पाये बिना कभी हो ही नहीं सकता। अगर निमित्तके पाये बिना विकार भाव जगने लगें तो विकार स्वभाव कहलायगा और फिर विकार कभी नष्ट नहीं हो सकेंगे। सो यह योग, यह आत्मप्रदेश परिस्पंद यह है कर्मोके आस्रवका निमित्त कारण योगसे भी अशुभ कर्मोंका आस्रव होता है।

(४५९) **अशुभलेश्याओंसे अशुभबन्ध**—अशुभ लेश्यावोंसे अशुभबन्ध होता है। यहां अशुभकी प्रधानतामें बात कह रहे हैं। अशुभ लेश्यायें हैं कृष्ण, नील, कापोत। कृष्ण प्रचंड क्रोध हो अथवा क्रोध न दिखे तो भीतर बड़ा गुर्राता सा रहता हुआ मौका तकता हुआ रहैं और कैसे मैं दूसरेका बध करूं आदिक आशय रहे ऐसी कुवृत्तिके पुरुष कृष्ण लेश्या वाले कहलाते हैं। कृष्ण लेश्यासे अशुभ कर्म बन्धता है। नील लेश्यामें कुछ कम, कापोतमें उससे भी कुछ कम, मगर अशुभ भाव तीनोंमें पाये जा रहे। तो इन लेश्याओं के कारण ये जिनवचनसे परान्मुख जीव अशुभ कर्मका बन्ध करते हैं।

तव्विवरीओ बंधइ सुहकम्मं भावसुद्धिभावण्णो।
दुविहपयारं बंधइ संखेपेणेव बज्जरियं ॥११८॥

(४६०) **भावशुद्धिप्राप्त ज्ञानीके शुभकर्मका बंध सबका अबंध**—जो मिथ्यादृष्टिसे उल्टा है अर्थात् सम्यग्दृष्टि है, जो जिन वचनका आदर रखता है वह ज्ञानी जीव भावशुद्धिको

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

प्राप्त होता हुआ शुभ कर्मका बन्ध करता है। सम्यग्दृष्टि ज्ञानी जीवके कर्मबन्ध हो तो पुण्यकी विशेषता चलती है और जो रत नही नाही विरत है ऐसे अंतस्तत्त्वकी लीनतामें हो, उसके अभिमुख हो तो वह दोनों प्रकारके बन्धोंको टाल देता है। यह मैं आत्मा स्वयं सहज सिद्ध अपनी सत्तामात्र, बस ज्ञानमात्र स्वयं जो है परसम्पर्क बिना, जिसकी परिणति है शुद्ध ज्ञान तरंग, शुद्ध जानन, मोटे रूपसे यह कहो कि कुछ जाना नहीं जाता है वह है शुद्ध जीव। जान रहा, पर आदत प्राणियोंको ऐसी पड़ी है कि जिसमें कुछ विकल्प सा बने, वह जानन कहलाता है। चीज क्या आयी जाननमें, यह बात ठीक करके बताओ, यदि बता सकते हो तो जानन कहलायगा। जहां ठीककरके बत नेका विकल्प है उसे लोग जानना कहते। किन्तु शुद्ध जानन सहज विभक्त तत्त्व है ऐसे ज्ञान का शुद्ध तरंग जो अपने ही अगुरुलघुत्व गुणके परिणामसे होता रहता है वह है मेरा रोजगार और वह है मेरा सर्वस्व और इतना ही मैं वास्तविक हूं, इसका जिसे परिचय है उसके पाप और पुण्य दोनों ही नाशको प्राप्त हो जाते हैं याने वह मोक्षके निकट पहुंचा और मुक्त हो जायगा।

(४६१) **तेरह गुणस्थानोंकी आस्रवहेतुताकी दृष्टि**—बन्धन १०वें गुणस्थान तक है और कर्मोंका आस्रव १३वें गुणस्थान तक है सयोग केवली अरहंत भगवान, वहां तक आस्रव है परन्तु वह ईर्यापथास्रव है, जहां बंध है वहां साम्परायिकास्रव है। वहां आस्रव है, तो इसके मायने हैं कि वह गुणस्थान आस्रवका हेतुभूत है। तब इसका अर्थ क्या निकला कि वह गुणस्थान कभीसे बना हुआ है, तब इसके आगे और क्या बात आयी कि उस प्रकारका वहां विपाक उदय है। जब आस्रवके ख्यालसे निगरानी करे गुणस्थानोंकी तब वहां दोष मिलेंगे और जब गुणोंके विकासकी भक्ति करेंगे तब सम्यग्दृष्टि के उन दोषपर भी उसकी निगाह न होगी, जो रह गए हैं दोष। यह तो दृष्टिसे निर्णय चला। अब उन्हीं निर्णयोंमें एक दृष्टि का हठ कोई कर ले, बस विवाद हो गया। जैन शासनमें विवाद रंच भी नहीं है, न कहीं भी शंका है, क्योंकि यहां स्याद्वादका आश्रय है। एक बार किसी राजाने अपने मंत्रीसे पूछा कि हमारे राज्यमें अच्छे लोग अधिक हैं कि बुरे लोग? सो मन्त्रीने कहा—महाराज सभी बहुत अच्छे हैं और सभी बुरे है। तो यह बात राजाकी समझमें ठीक-ठीक न आयी। तो राजाको समझानेके लिए उसने दो फोटो बनवायी एक जैसी, और उनमेंसे एक फोटो किसी ऐसी जगह टंगवा दिया कि जहांसे अनेकों लोगोंका आना जाना बराबर बना रहता था। उस फोटोमें नोटमें लिख दिया कि कृपया इस फोटोमें जिसको जो अंग बुरा जंचे उस पर निशान लगा दीजिए।

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

तो हुआ क्या कि जो भी उसे देखता और उस फोटोमें बने अंगोंमें बुरा देखनेकी दृष्टि बनाता तो उसे हर एक अंग बुरा दिखता। यों हर एक अग निशानसे भर गए मतलब यह हुआ कि लोगोंको हर एक अंग बुरे जचे। दूसरे दिन दूसरी फोटो टंगवा दिया और नोटमें लिख दिया कि कृपया इस फोटोमें आपको जो अग भले लगें उनमें निशान लगा दीजिए सो हुआ क्या कि देखने वाले लोगोंने उसको भली दृष्टिसे देखा तो उसके सारे अंग निशानसे भर गए। मन्त्रीने जब राजाको दोनों ही फोटो दिखाये तो राजा देखकर दंग रह गया और समझ लिया कि मन्त्री ठीक ही कह रहा था कि सब अच्छे और सब बुरे हैं। तो एसी ही सर्वत्र दृष्टि है। अध्यात्ममें बताया है कि १३ गुणस्थान आस्रवके हेतुभूत है तो यह बात सुनकर लोग चौकन्ना हो जाते कि क्या बात कही जा रही है। १३वां गुणस्थान तो अरहन्त भगवान का है, इसमें आस्रव कैसे कहां ? पर बताया गया है कि चौथे गुणस्थानसे गुणोंका विकास चला तो अनेक गुणोंका विकास हो जाता। कैसे शुद्धोपयोग होता जाता, यह भी वर्णन है। पर इसकी दृष्टि इससे अलग बन गई। एकने गुणविकासकी दृष्टि ली। एकने विपाकोदय और कमीकी दृष्टि ली, तो ऐसे ही सर्वत्र दोनों नयोंसे, दोनों दृष्टियोंसे दोनों ही तथ्य नजर आते हैं, अब रही अपनानेकी बात, तो जिसके अपनानेमें इस सहज सत्त्वकी लीनता बन सके उसे प्रधान करके अपना लीजिए। तो इस तरह अन्तस्तत्त्वके जाननेसे भक्तिमें लीनतासे ये समस्त उपाधियां दूर हो जाती है। और यह मोक्षमार्गमें बेगसे गमन करने लगता हैं।

णाणावरणदीहिं य अट्ठविं कम्मेहिं वेढिओ य अहं।
डहिऊण इण्हिं पयडमि अणंतणाणाइगुणचित्तं ॥११६॥

(४६२) **कर्म भस्मसात् करनेका ज्ञानीका चिन्तन**—जिस वचनके अनुसार चिन्तन और परिणति रखने वाला सम्यग्दृष्टि ज्ञानी चिन्तन करता है कि ज्ञानावरणादिक अष्ट कर्मोंसे मैं वेष्टित हो रहा हूं सो अब इन्हें भष्म कर अनन्त ज्ञानादि गुणरूप चेतनाको प्रकट करता हूं। किसी भी पदार्थकी बुरी दशा नहीं हो सकती यदि वह केवल हो। पर प्रसंगसे ही पदार्थकी बिगड़ी दशा हुआ करती है। सत्त्व सबका अपने आपमें है और अपने ही द्रव्यत्वगुणके परिणामसे अपनी ही परिणतिसे सब परिणमते हैं। किन्तु परिणमने वाले पदार्थोंमें यह कला है कि वे इस प्रकारके निमित्तसन्निधानमें विकाररूप परिणम जायें। तो यहां चिन्तन चल रहा है कि मैं ज्ञानावरणादिक अष्टकर्मोंसे बिगड़ा हुआ हूं, ऐसा ही योग चलता रहता है। जीवके साथ कर्मउपाधि लग रही है जिसका फल है संसारभ्रमण। ये कर्म मूलतः ८ हैं, इनके उत्तर भेद १४८ हैं। और उनके भी भेद किए

Report any errors at vkasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

जायें तो असंख्यात हैं। इन असंख्यात अनगिनते कर्मप्रकृतियोंसे मैं वेष्टित चला आ रहा हूं अब इन्हें भष्म करके, नष्ट करके अपनी अनन्त ज्ञानचेतनाको प्राप्त करूंगा।

(४६३) **कर्मोंको नष्ट करनेका उपाय**—कर्मोंको नष्ट करनेका उपाय क्या है ? जो बन्धनेका उपाय है उससे उल्टा चलें तो उनसे छूटनेका उपाय बनेगा। बन्धनेका उपाय क्या था ? अपने स्वरूपको भूलकर उन कर्मविपाकोंको अपना लेना। तो इससे उल्टा कहा जा रहा कि अपने स्वरूपकी सुध करके उन कर्मविपाकोंसे उपेक्षा कर लेना और अपने आपके ज्ञानस्वरूपमें उपयोग रखना, ये कर्म अपने आप दूर हो जायेंगे। किसी से मित्रता तोड़ना हो, किसी महिमानको हटाना हो तो उसका अस्त्र है उपेक्षा और अपने आपसे काम रखना। जब यह कर्मोंका भी प्रसंग चला है तो इनसे दूर होनेका अस्त्र है उनकी उपेक्षा और अपने स्वभावका आश्रय। तो अपने स्वरूपका आश्रय करके मैं अनन्त ज्ञानादिक परिणामोंको पाऊंगा ऐसा ज्ञानीका भीतरमें उत्साह और चिन्तन चल रहा।

सीलसहस्सट्ठारस चउरासी गुणगणाण लक्खाइं।
भावहि अणुदिणु णिहिलं असप्पलावेण किं बहुणा ॥१२०॥

(४६४) **शीलके मूल ९ भेद**—हे मुने, अधिक प्रलाप करनेसे क्या लाभ ? तू प्रतिदिन शीलके अटठारह हजार तथा उत्तर गुणोंके चौरासी लाख भेदोंका बार-बार चिन्तवन कर यही चिन्तन चलेगा, उसकी वृत्ति जगेगी अतएव इसका भाव बनाना अति आवश्यक है। १८ हजार प्रकारके शील इस प्रकार हैं कि शील कहते हैं दुर्भावनाओंका विनाश करने को ऐसा सद्भाव होना जिससे कि खोटे भाव नष्ट हों, उसे कहते हैं शील। तो दुर्भाव हुआ करते हैं मन, वचन, कायकी प्रवृत्तिसे इन दुर्भावनाओंकी उत्पत्ति चलती है, उसका मूल कषाय है और भी सभी बातें आयेंगी अभी। तो तीन योग जिनके शुभ अशुभ दो प्रकारके भेद हैं और कुछ ऐसे हैं कि शुभ और अशुभसे मिले हुए हैं। तो तीन तरहकी बातें हो गई, शुभ, अशुभ और शुभाशुभ, ऐसे ही तीन होते हैं मन वचन, काय इस तरह ३×३=९ भेद हुए। अब इनके शीलकी व्यवस्था यों है कि अशुभ मन, वचन, काय योग शुभ मनसे घाते जाते हैं और वे ही तीनों अशुभ योग शुभवचनसे घाते जाते हैं। और वे भी तीनों अशुभ योग शुभ कायसे नष्ट किए जाते हैं। ऐसे ये ९ प्रकार के शील हुए। अथवा ९ भेद इस प्रकार हैं। मनसे, वचनसे, कायसे करना, कराना और अनुमोदना तो ऐसे ९ प्रकारके पापोंको दूर करें तो ये ९ भेद शीलके हुए।

(४६५) **शीलमूलप्रतिपक्ष नौ के चार संज्ञाओंसे हुए छत्तीस कुशीलोंपर पञ्चेन्द्रियके विजय**

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

से जीत पानेके कारण शीलके एकसौ अस्सी भेद—ये ६ प्रकारके पाप चार संज्ञाओंके वश होकर किए जाते हैं, तो चार संज्ञाओंसे ये ६ बातें बनीं तो यों ३६ भेद हुए। इन ३६ प्रकारके दुर्भावोंको पञ्चेन्द्रिय विजयसे दूर करना स्पर्शनविजय, रसनाविजय, घ्राण-विजय, चक्षुर्विजय और कर्णविजय। हम आप सैनी हैं तो हम सबमें मनकी प्रेरणा रहा करती है। तो पहले तो मनोभावोंको ज्ञानबलसे परास्त करना, मैं ज्ञानस्वरूप हूं, स्वरूप में अकेला हूं, अपने आपमें परिपूर्ण हूं और अपनेमें ज्ञानपरिणमन रूपसे निरन्तर रहा करता हूं। यही मेरा सारा लोक है और इसमें ही मेरी सारी व्यवस्था है। इस ही को निरखना है। यदि बाहरमें मेरा उपयोग कहीं जाय तो वही मेरा घात है। जैसे मछली अपने पानीके स्थानको तजकर बाहर फिक जाय जमीनपर, रेतपर तो वह तड़फ-तड़फ कर मर जाती है ऐसे ही यह उपयोग अपने आत्मस्वरूपको छोड़कर बाहरमें किसीभी इन्द्रिय विषयपर जाय तो यह भी संक्लिष्ट होकर बरबाद हो जाता है संसारमें जन्म मरणके चक्कर लगाता रहता है। आत्मचिन्तन यह ही एक बल है कि जिससे हम शान्त सुखी हो सकते हैं। और यह बिल्कुल प्रायोगिक बात है। बाहरमें उपयोग किसी भी विषयपर गया तो (१) परपदार्थसे हमने अपना जुड़ाव लेना चाहा और जुड़ाव होता नहीं, ये अनहोनीको भी होनी करना चाहते हैं, इसलिए कष्ट है। (२) दूसरे जिस पदार्थपर यह उपयोग देता है वह पदार्थ स्वयं स्वयंके आधीन है। वह मेरे आधीन नहीं बनता। तो अपनी कषायवृत्तिके प्रतिकूल निरखकर या कल्पनायें करके यह कष्ट पाता है। (३) तीसरा यह उपयोग अपने शान्तिधाम चैतन्यस्वरूपको तजकर अन्य प्रकार चलने लगा तो जैसे कोई कुलीनता छोड़कर अन्य ढगसे व्यवहार करे तो उसको संक्लेश होता है। ऐसे ही इस उपयोगने अपनी कुलीनता छोड़कर बाहरमें लगाव बनाया है तो इसमें दुःखी होना प्राकृतिक बात है। तो उन सबका विजय करना। पञ्चेन्द्रियका विजय जबरदस्तीके त्यागसे तो नहीं होता मगर वह भी एक साधन बनता। विजय होती है विशुद्ध ज्ञानके बलसे, क्योंकि विषयवृत्तिमें भी ज्ञानका ही योग रहा था, वह रहा विकार रूपसे। तो ज्ञानके ही प्रयोगसे वह दूर किया जा सकता है। तो उन ३६ प्रकारके दुर्भावोंको पञ्चेन्द्रियविषयविजयोंसे दूर करना। यों ३६ में ५ का गुणा होने पर ३६+५=१८० प्रकारके शील बने।

(४६६) शीलके १८० भेदोंको दस दयासे गुणित कर दस धर्मोंसे गुणित करनेपर शीलके अट्ठारह हजार भेद—शीलमें केवल एक ब्रह्मचर्य वाली ही बात नहीं है। वह तो है, पर अहिंसात्मकता आये ये सब शीलमें गर्भित हैं। तो १० प्रकारके जीवोंकी दयाके १० का

Report any errors at vkasnd@gmail.com

https://www.jainelibrary.org

गुणा उनमें किया जाय। वे १० कौन हैं ? पृथ्वीकाय, जलकाय, अग्निकाय, वायुकाय, वनस्पतिकाय, दोइन्द्रिय, त्रिइन्द्रिय, चारइन्द्रिय, सैनी पंचेन्द्रिय, असैनी पंचेन्द्रिय, इन १० प्रकारके जीवोंकी दया करना यह उसके साथ गुणित है। यों १८०० भेद हुए और वे १८०० प्रकारके शील १० धर्मोंसे गुणित हो जाते हैं, उनके साथ पाले जाते हैं तो वे १८००० भेद हो जाते हैं। सर्व जीवों पर दयाका भाव—खुदको क्षमा करें तो सबपर क्षमाका भाव बनता और खुदमें कषाय रखे, दूसरों को पीड़ा पहुंचानेका भाव रखे, चा वह खुदगर्जीमें हो, चाहे वह किसी विरोधसे हो तो वहां न खुदको क्षमा है और न दूसरेको क्षमा है। और जहां क्षमा नहीं आत्माका जो स्वभाव है वह स्वभाव जैसे विकसित हो उस प्रकारकी वृत्ति उसका नाम है शील। तो उसके विकासके लिए घमंडका त्याग चाहिए। ज्ञानबलसे उस घमंडको दूर करना। यदि मैं अपने गुणों पर दृष्टि दूं तो वे गुण हैं प्रभुसमान और यदि दोषों पर दृष्टि दूं तो यह हूं मैं अनेक कषायोंसे दूषित। घमंड होता है बीचकी बातमें। अगर अनन्त गुणों पर दृष्टि हो तो अभिमान न जगेगा और दोषों पर दृष्टि हो तो अभिमान न जागेगा। जैसे कहते हैं—'अधजल गगरी छलकत जाय। जो बीचकी बातोंपर दृष्टि दी तो उससे होती अभिमान वृत्ति। तो शील प्राप्तके लिए अभिमानका छोड़ना, मायाचारका छोड़ना, सरल रहना आवश्यक है। जैसे किसी को धनकी तीव्र तृष्णा है तो वह उस धनप्राप्तिके लिए अपना सब कुछ बलिदान करने के लिए तैयार रहता है ऐसे ही जिसको अपने आत्मस्वभावमें लीन होनेकी धुन है वह अपनी सब प्रकारकी कषायोंका बलिदान कर सकता है। यहां किसके लिए मायाचार करना ? सरल रहना, लोभका त्याग करना। लोभ धनका भी होता, लोभ यशका भी होता, लोभ ख्यातिका, प्रशंसाका नामका, अनेक तरहके लोभ हुआ करते है सभी प्रकारके लोभोंका त्याग करना और स्वयंको यथार्थ सत्य और प्रवृत्ति भी सत्य वचनकी रखना। अहितकारी वचन नहीं, मृषा वचन नहीं, अपरिमित वचन नहीं, और इस प्रकारसे अपनेको संयममें रखना तो यही होता है अपने चैतन्यमें एक प्रतपन। यह एक बड़ा तपश्चरण है। लोग कहते हैं कि चित्त लगाना है अपने आत्मामें और नहीं लगता है, सो कोई लगाये तो वह तपश्चरण है कि नहीं ? वहां भी प्रतपन चलता है, चेतनका प्रताप भी चलता है। तो अपने आपके स्वरूप में अपने उपयोगको स्थिर करना यह एक चैतन्यप्रताप है, तपश्चरण है, फिर समस्त परभावोंका त्याग स्वयं होता, उनमें उपेक्षा करना, एक भी परभाव मेरे हितके लिए नहीं है। परभाव क्यों कहलाते हैं ये विकार ? परका निमित्त पाकर होने वाले जो अपने भाव हैं वे परभाव कहलाते हैं।

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

जितने भी विकार होते उनमें निमित्त परसंग ही होता है। यदि आत्मा ही निमित्त बन जाये और आत्मा ही विकार करने वाला है तब तो सदा विकार करते रहना चाहिए। परभावोंका त्यागी जो होगा वह अपने आपमें अपनेको अकिञ्चन अनुभव करेगा। इसने अपनेको न जाने क्या क्या मान रखा था। मैं पंडित हूं, त्यागी हूं, मुनि हूं, श्रावक हूं, जैन हूं, अमुक हूं, तमुक हूं···इस देहके नातेसे इसने अपनेको नानारूप मान रखा था। तो हूं मुनि, अब तू उन सब किंचनोंको त्याग और अपनेको ज्ञानमात्र अनुभव कर। मैं ज्ञानस्वरूप हूं और यह भी एक लक्ष्यरूपमें, इस तरहके विकल्प रूपसे नहीं, अन्यथा वह भी एक किंचन बन जायगा। तो ऐसे अकिंचनभावमें जब यह जीव आता है तब इसके ब्रह्मचर्य बनता। जिसे कहते हैं शीलकी परिपूर्णता। जो आत्मतत्त्व है, ब्रह्मस्वरूप है उसमें मग्न होना, लीन होना, सिद्ध भगवानका स्वरूप विचार कर अपने आपके लिए वही भावना करना यही स्थिति सर्व संकटोंसे परेकी स्थिति है। सो हे मुने, इन अट्ठारह हजार शीलोंका चिन्तन कर अपनेको परिपूर्ण शीलमय रखो।

(४६७) **ब्रह्मचर्यकी मुख्यतासे शीलके अट्ठारह हजार भेद**—अट्ठारह हजार शील इस प्रकारसे भी परखिये जो ब्रह्मचर्यकी मुख्यतासे हैं। इनमें ७२० तो अचेतनसम्बन्धी शील हैं और शेष चेतनसम्बन्धी। अचेतनसम्बन्धी ७२० व चेतनसम्बन्धी १७२८० यों कुल १८००० शील हुए। तीन प्रकारकी अचेतन स्त्री—एक तो काठकी बनी स्त्री, एक पत्थरकी मूर्ति वाली स्त्री और एक कागज आदि पर स्याही आदिका लेप करके बनी स्त्री, इन तीनमें मनोयोग और काययोगसे वृत्ति होना, तो ये ६ भेद हुए। वचनयोग की यों बात नहीं यहां लिख रहे हैं कि अचेतनसे वचन कौन बोलता। सभी लोग जानते हैं कि यह सुनेगा नहीं। तो तीन अचेतन स्त्रीमें मनोयोग व वचनयोगसे। इन ६ विकारोंको कृत कारित अनुमोदनासे किया तो १८ भेद और ये स्पर्श आदिक ५ विषयों से किया तो ९० भेद हुए और इनमें द्रव्यरूप और भावरूप हुआ तो १८० और ये क्रोध, मान, माया, लोभके वश किए गए इस तरह १८० गुणा ४ करनेपर ७२० अचेतन संबंधी कुशील हैं। और, चेतन संबंधी कुशीलमें तीन गतिमें स्त्रियां हैं देवी, मानुषी और तिर्यंचिनी, नरकमें नहीं होती स्त्री। इनमें कृत कारित अनुमोदनासे दुर्भाव, तो ये ९ हुए, और मन, वचन, कायसे ९ हुए तो २७ गुना फिर पांच विषयोंके साथ १३५ हुए, १३५ ये द्रव्य-रूप अथवा भेदरूप होनेसे २७० भेद हुए। और ये सब बोलना है ४ संज्ञाओंके साथ तो २७० को ४ से गुणा करनेपर १०८० भेद हुए, और ये होते हैं १६ कषायोंमें तो इनमें १६ का गुणा करनेसे १७,२८० भेद हुए। इन कुशीलोंका परित्याग हो तो ये १८००० Report any errors at vikasnd@gmail.com

https://www.jainkosh.org

शीलके भेद कहलाते हैं।

(४६८) **मुनियोंके चौरासीलाख उत्तरगुण**—हे मुने ! इस शीलके प्रकारोंका चिंतन कर और ८४ लाख उत्तरगुणोंका चिन्तन कर। उत्तरगुण क्या कहलाते हैं कि दोषोंमें सूक्ष्मसे सूक्ष्म दोषोंका जो निवारण किया जाता है वे उत्तरगुण हैं। अब उनमें मूल बतला रहे कि २१ दोष छोड़ने योग्य होते हैं। हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह ये सब दोष हैं, क्रोध, मान, माया, लोभ, रति, अरति, भय, जुगुप्सा, रतिके साथ हास्य आ गया, अरतिके साथ शोक आ जाता, उनको अलगसे नहीं गिन रहे, मनकी दुष्टता, वचनकी दुष्टता, और कायकी दुष्प्रवृत्ति, मिथ्यात्व, प्रमाद, चुगली। चुगली—यह बहुत बड़ा दुर्गुण है। यहांकी बात वहां भिड़ाना वहांकी यहां भिड़ाना यह सब चुगली है। अज्ञान और ५ इन्द्रियका निग्रह न करना ये सब २१ दोष त्याज्य हैं। ये दोष बनते हैं चार ढंगोंसे—(१) अतिक्रम, (२) व्यतिक्रम, (३) अतिचार और (४) अनाचार। कोईसा भी नियम लिया हो उसका विनाश अतिक्रमसे, उससे बढ़कर व्यतिक्रमसे, उससे बढ़कर अतिचारसे और उससे बढ़नेपर अनाचारसे होता है। मनकी शुद्धि न रहे तो वह अतिक्रम, फिर विषयोंकी अभिलाषा जगे तो वह व्यतिक्रम, फिर उन नियम और क्रियावों के करनेमें आलस्य हो तो वह अतिचार और उनका भंग हो जाय तो वह अनाचार। ये २१ बातें ४ प्रकारोंमें चलती हैं तो ये २१ गुणा ४ करनेपर ८४ भेद हुए और ये सब दश कायिकोंके दयारूप संयमोंका १०० जीवससे गुणा करनेपर ८४०० भेद होते हैं। कुशीलकी १० विराधनायें हैं—(१) स्त्रीसंसर्ग, (२) सरसाहार, (३) सुगन्ध संस्कार, (४) कोमल शयनासन (५) शरीरमण्डन (६) गीत वादित्र श्रवण (७) अर्थग्रहण (८) कुशील संसर्ग, (९) राजसेवा और (१०) रात्रिसंचरण इन १० प्रकारकी विराधनाओंसे फिर इनकी आलोचनामें १० प्रकारके दोषोंका परिहार न हो तो भी ऐब है। उन १० दोषोंका त्याग करें, उनमें इन १० का गुणा करनेसे ८ ४० ००० (आठ लाख चालीस हजार) भेद हुए, फिर ये दस धर्मोंसे गुणा किए जायें तो यों ये चौरासी लाख उत्तर गुण होते हैं। बतलावो ५ पापोंका सूक्ष्म विधिसे भी त्याग होना ही तो उत्तर गुण हो रहा है, सो हे मुने ! तू ८४ लाख उत्तर गुणोंका भी चिंतन कर।

(४६९) **भावनाकी सफलता**—जो बात विचारमें आयगी बारबार, वह करनेमें भी आयगी। तो यह हुई एक प्रवृत्तिरूप बात और उस सबका मूल साधक है अविकार ज्ञानस्वरूप अपने आपके स्वभावको निरखना। मैं हूं। एक ही हूं। जो सत् हूं सो स्वयं हूं। और मैं जो स्वयं हूं सो अविकार हूं। मेरे स्वभावमें विकार नहीं। विकार होते हैं परका

Version 1

 https://sahjanandvarnishastra.org/

निमित्त पाकर। जैसे द्रव्य गुणसे निरन्तर परिणमन चलता इस तरह विकार भी स्वभावसे चलना होता असाधारण गुण रूपसे या साधारण गुण रूपसे तब तो इसके विकार हटना असम्भव था। पर मैं स्वयं ज्ञानमात्र अविकार स्वरूप हूं। ये विकार पर प्रसंगसे आते हैं। मैं परकी उपेक्षा कर अपने स्वभावमें दृष्टि रखूं तो ये मेरे सब परप्रसंग दूर हो जायेंगे। इस प्रकार हे मुने! तू इन शील और उत्तर गुणोंका चिन्तन कर।

झायहि धम्मं सुक्कं अट्टरउद्दं च झाण मुत्तूणं।
रुद्दट्ट झाइयाइं इमेण जीवेण चिरकालं ॥१२१॥

(४७०) **आर्तध्यानकी त्याज्यता**—आर्तध्यान और रौद्रध्यानको छोड़कर धर्मध्यान और शुक्लध्यानको ध्यावो। इस जीवने चिर कालसे आर्त और रौद्रध्यानको ही ध्याया। एक ओर एकाग्रसे उपयोग लगनेका नाम ध्यान है। ध्यानोंमें ८ तो खोटे ध्यान हैं और ८ ठीक हैं। १६ प्रकारके ध्यान होते हैं—४ आर्तध्यान—इष्टका वियोग होने पर उस इष्टके मिलनेके लिए जो इच्छा प्रतीक्षा आशा चिन्ता रहती है उस ध्यानको इष्टवियोगज आर्तध्यान कहते हैं। अनिष्ट पदार्थका संयोग होनेपर उसके वियोगके लिए चिन्तन चलना वह है अनिष्टसंयोगज आर्तध्यान। शरीरमें कोई वेदना हुई, फोड़ा फुंसी खांसी आदिक वेदनायें होनेपर जो संक्लेश होता है, ध्यान बनता है, विचार चलता है वह वेदनाप्रभव आर्तध्यान है। अपने सुखके साधनोंकी इच्छा रखना, परभवमें भी ऐसा सुख मिले, इस तरहकी इच्छा करना, निदान बांधना यह निदान नामका आर्तध्यान है। इन चारों ध्यानोंमें क्लेश है, दुःख है।

(४७१) **रौद्रध्यानकी त्याज्यता**—रौद्रध्यान—रौद्र कहते हैं क्रूर भावको उसमें आनन्द मानना—क्रूरता की जाय, खोटा काम किया जाय उसमें आनन्द मानना जीवहिंसा करने कराने, अनुमोदनेमें आनन्द मानना हिंसानन्द रौद्रध्यान है। कुछ लोग जो ऊपरी धर्मात्मा होते हैं ऐसे घरमें मान लो कोई सांप निकल आया तो उस पुरुषके मनमें तो है कि कोई आ जाय लट्ठ लेकर, पर इस बातको वह स्पष्ट नहीं कहता अरे भाई देखो यह सांप पड़ा है, जो मारने वाले हैं उनको इस तरहसे आवाज करता है तो यह उसका रौद्रध्यान है। इस तरहसे कहीं हिंसा नहीं बचती। एक बुढ़िया अपना घर लीप रही थी। सो लीपनेके दो तरीके होते हैं—एक तो गोबरमें पानी डालते जाना और लीपते जाना दूसरे—पानीमें गोबरको घोल दिया और फिर डालते गए, लीपते गए। तो वह बुढ़िया इस दूसरी विधिसे घर लीप रही थी। वहां लीपते हुएमें कहती जा रहीं थी "चींटी चींटा चढ़ो पहार। तुम पर आयी गोबरकी धार॥ तुम न चढ़ो तो तुम पर

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

पाप। हम न कहें तो हमपर पाप। " तो रौद्रध्यान के कितने ही तरीके हैं। झूठ बोलनेमें, झूठ बुलानेमें, झूठ बोलनेकी अनुमोदना करनेमें, असत्य प्रलाप करनेमें आनन्द मानना, चाहे दूसरे पर कुछ भी होता हो, यह सब है मृषानन्द रौद्रध्यान। कोई झूट बोलने वाला तो इस पर भी नौकरी कर सकता कि हमें कुछ मत दो, खाना देते जावो और सालमें सिर्फ दो बार झूठ बोल लेने दिया करो। झूठ बोलने की एक ऐसी चौक सी रहती कि बोले बिना रहा नहीं जाता। जैसे बीड़ी पीने वालोंसे बीड़ी पिये बिना नहीं रहा जाता ऐसे ही झूठ बोलनेकी आदत वालोंसे झूठ बोले बिना नहीं रहा जाता। तो झूठ बोलनेमें आनन्द मानना मृषानन्द है। चोरी करनेमें, करानेमें, अनुमोदना करनेमें आनन्द मानना चौर्यानन्द है। किसीसे झगड़ा करके न रहना चाहिए उससे द्वेष बढ़ता है और उस द्वेषसे इसको चोरी करनेके करानेके या अनुमोदना करनेके प्रसंग आ जाते हैं। जैसे सुन लिया कि अमुकके घर चोरी हुई तो उसे सुनकर खुश होना, कितनी ही तरह से चोरीके बाबत खुशी मानना चौर्यानन्द है। विषयसंरक्षणानन्द—विषयोंके साधनोंमें आनंद मानना विषयसंरक्षणानंद रौद्रध्यान है, विषयका साधन होता है परिग्रह, सो परिग्रहके संचयमें आनन्द, मानना परिग्रहानन्द (विषयसंरक्षणानन्द) है। ये ८ ध्यान खोटे हैं।

(४७२) **आर्त रौद्रध्यानोंको छोड़कर धर्मध्यान शुक्लध्यानमें आनेका उपदेश**— आर्त व रौद्र ध्यानोंके फलमें क्या लाभ मिला आत्माको ? रौद्रध्यान आर्तध्यानसे भी खोटा है। आर्तध्यानमें कर्मविपाक है, पीड़ा सही नहीं जाती। यहां अज्ञान और ज्ञानकी बात कुछ नहीं कह रहे, पर आर्तध्यानमें विवशता बहुत रहती है। पर रौद्रध्यानमें क्या विवशता है, किसकी चोट पड़ रही है सिरमें जो रौद्रध्यान किया जा रहा ? कभी झूठ बोलना तो परवश होता, पर खोटे काम करके इसमें आनन्द माननेकी कौनसी परवशता है ? उदयकी बात कहो तो वह तो दोनों जगह साधारण है। बाहरी बातोंकी कौनसी विवशता है, पर योग्यता ऐसी है, वातावरण ऐसा है कि इन ८ प्रकारके दुर्ध्यानोंमें इस जीवने बहुत काल बिता दिया। सो इन दुर्ध्यानोंको छोड़कर धर्मध्यान और शुक्लध्यान में आवें। शुक्लध्यान तो इस पंचमकालमें है नहीं। शुक्ल मायने सफेद। सफ़ेद ध्यान कैसा कि रागद्वेषका कोई रंग जिसपर न चढ़े ऐसा बिल्कुल साफ स्वच्छ ध्यान याने रागरहित ध्यान। जहां राग अवस्थामें शुक्लध्यान है तो वह राग अबुद्धिपूर्वक है इसलिए वह रागरहित ही बोला जाता है और जो वीतराग है वह तो है ही। शुक्लध्यान आजकल सम्भव नहीं।

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

(४७३) **धर्मध्यानकी आदेयता**—धर्मध्यान–धर्मके सम्बंधमें होने वाला ध्यान धर्मध्यान है। ये चार प्रकारके बताये गए—(१) आज्ञाविचय (२) अपायविचय, (३) विपाक विचय और (४) संस्थानविचय। और इस जगह १० भेद भी बता रहे—(१) अपायविचय (२) उपायविचय, (३) विपाकविचय, (४) विरागविचय, (५) लोकविचय, (६) भवविचय (७) जीवविचय, (८) आज्ञाविचय, (९) संस्थानविचय और (१०) संसारविचय। इनमें कोई विरोध न समझना, चाहे चारको १० कहो और चाहे १०-२० बना लो। मर्यादा यह है कि धर्मसे सहित चिन्तन होना चाहिए। तो ये दो प्रकारके कथन आते हैं। आज्ञाविचय—जिनागमकी आज्ञाको प्रधान करके जो चिन्तन चलता है वह आज्ञाविचय है। भगवान वीतराग सर्वज्ञ हैं, अतः उनकी वाणीके असत्यताका कोई कारण नहीं। जो उनका उपदेश है वह शिरोधार्य है, आज्ञा मात्रसे ग्राह्य है, ऐसा चिन्तन आज्ञाविचय है। अपायविचय—अपाय कहते हैं विनाशको। विनष्ट करनेका चिन्तन करना। अब धर्मध्यानमें किसके नाशका चिन्तन होना चाहिए? रागके नाशका कि राग नष्ट हो। यह जीव स्वयं सहज आनन्दमय है, स्वरूप इसका आनन्द है, पर स्वरूपको मुध न रखे कोई और अन्य वस्तुओंमें राग बनाये तो उसका फल कष्ट ही है। तो उस रागके विनाशका चिन्तन करना कि यह राग कैसे नष्ट हो, उसका उपाय सोचना उसके लिए उत्साह बनाना यह सब अपायविचय धर्मध्यान है। विपाकविचय धर्मध्यानमें कर्मविपाकसे सम्बन्धित चिन्तन चलता है। कर्मोंका विपाक कैसा? कैसे कैसे लोगोंने कर्मोदयमें कष्ट पाया, सुख पाया, जो कुछ चिन्तन प्रथमानुयोगसे सम्बन्धित है, वह विपाकविचय है। संस्थानविचयमें लोकके आकारका विचार है, और भी पिण्डस्थ पदस्थ आदिक ढगसे ध्यान करे। संस्थानविचयमें लोकके आकारकी मुख्यता क्यों दी जा रही कि रागके हटानेमें लोकका ध्यान बड़ा सहयोगी है। मानलो किसीपर पचास हजार रुपयेका कर्जा है और पंच लोगोंने उसके लिए यह फैसला कर दिया कि यह बेचारा बहुत गरीब हो गया है, इसका सारे कर्जकी फारकतीपत्र दिया जाय, सिर्फ सौ रुपये दिला दिया जाय। तो वह कर्ज देने वाला तो यही कहेगा कि जब ५०,०००) माफ करा दिया तो फिर १००) भी क्यों लेना? जैसे सब गए वैसे ही १००) भी गए। उनका क्या लेना? तो ऐसे ही यह ज्ञानी जीव सोचता है कि जब इस ३४३ धन राजू प्रमाण लोकमें कितने ही बार जन्मे मरे, बड़े-बड़े सुख समागम मिले, भोगे, छोड़े। वे सब समागम अब मेरे पास कुछ नहीं रहे, किसी भी भवका न धन है, न इज्जत है तो आज इस थोड़ी सा जगहका समागम यश, धन, परिग्रह, इनके जोड़नेसे, इनके रमनेसे

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

क्या लाभ है ? जब वे सब न रहे तो इतना और न सही, ऐसी उमंग जगती है।

(४७४) **उपायविचय विरागविचय व लोकविचय धर्मध्यान**—जो १० प्रकारसे धर्मध्यान बताया उनमें ४ तो वे हैं ही। इनके अतिरिक्त जो नाम आये उनमें एक है उपायविचय। इसका सम्बंध अपायविचयसे लगाया जाता है। यहां स्पष्ट हो गया कि दुःख से बचनेके जो उपाय हैं—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र, उनका चिन्तन करना, उनके योगका विचार करना उपायविचय है। एक है विरागविचय। रागी जीव सदा दुःख पाता है, रागसे सदैव बंध है, किन्तु आत्माका स्वभाव रागरहित है, ऐसा चिन्तन विरागविचय कहलाता है। यह भी अपायविचयमें गर्भित हो सकता है। विपाकविचयमें विरागविचय अन्तर्गत किया जा सकता है। फिर भी चूंकि उपयोगी है यह चिंतन, इसलिए इनको अलग करके बताया गया। लोकविचय—यह समस्त लोक ३४३ घनराजू प्रमाण है इसमें ऐसा कोई स्थान नहीं बचा कि जहां मैं उत्पन्न नहीं हुआ हूं। यह बात तो सम्भव है ही। कोई ठेका थोड़े ही है कि मनुष्य ही पैदा होंऊं। या मनुष्यभवसे आकार मनुष्य ही बने। सब जगह घटावो कि यहां पैदा हुए। कोई निगोदसे निकलकर अभी करीब निकट आया हो तो कहां उसने मनुष्यभवमें मनुष्य क्षेत्रको व्यापा ? पर सामान्यतया देखो तो निगोद बनकर तो सब जगह पैदा हुआ जा सकता है। जहां सिद्ध विराजे हैं सिद्धालयमें भी, जहां आपकी याने मनुष्यादिकी भी गति नहीं है कि पहुंच जायें वहां भी ये निगोद जन्मे। वहां भी रहे, इससे कहीं यह बात न समझना कि हमसे बड़े हुए ये निगोदिया जीव, क्योंकि वे भगवानसे मिल रहे। जहां भगवानके प्रदेश हैं उस आकाशक्षेत्रमें निगोदिया जीव भी पड़े हैं, मगर यह अन्तर नहीं है कि चलो सिद्धालयकी जगह पर निगोदिया हैं तो उन्हें कुछ आराम होगा। कर्मविपाक जिसके जैसा है सो होता ही है। जैसे—यहांके निगोदिया दुःखी, वैसे ही वहांके भी निगोदिया दुःखी।

(४७५) **भवविचय धर्मध्यान**—भवविचय—जीवके चतुर्गतिरूप भवोंका विचार करना यह भवविचय है। अनन्त परिवर्तन किये जीवने। देखिये—परिवर्तन ५ प्रकारके बताये। सो कोई अगर यह समस्या रख दे कि अच्छा बताओ भवपरिवर्तन सभी जीवों का कहां हुआ ? मायने जैसे नरकगतिमें जन्मा, १० हजार वर्षकी आयु लेकर जन्मा, उसमें जितना समय है उतनी बार अटक भटककर फिर नरकमें जन्मे, फिर एक-एक समय अधिक स्थिति बढ़ाकर सान्तरतया नरकमें जन्मता रहे। देखो नरकसे एकदम नरकमें जन्मता नहीं, सो सान्तर जन्म मरण कर ऐसी ३३ सागर प्रमाण स्थिति बना

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

ले तो वह एक नरकभव परिवर्तन है। ऐसे ही सभीके परिवर्तन है, देवगतिके परिवर्तन हैं वहां ३१ सागरसे अधिक आयु लेकर परिवर्तन नहीं घटाया जा सकता है। इससे ऊंची स्थितिके सम्यग्दृष्टि होते, उनका फिर परिवर्तन नहीं चलता। फिर वह एक या दो मनुष्यभव पाकर मोक्ष जाते। अब कोई पूछे कि बताओ जो निगोदसे अब तक नहीं निकला उसने कहां किया यह नरकभव परिवर्तन, ऐसे ही अन्य परिवर्तनोंके बारेमें भी समस्या रखी जा सकती है। किसीने परिवर्तन किया है ऐसा ? मगर इन परिवर्तनोंमें जितना समय लगता है उतना समय तो सबको लगा। चाहे वह निगोदमें ही रहा, पर एक परिवर्तनमें जितना समय बुद्धिमें आता है उतना सबके चलता है, तो चतुर्गतिरूप भवोंका विचार करना। चारों गतियोंमें न जाने कैसे-कैसे दुःख हैं ? मरणका दुःख और जन्मका दुःख, ये तो निरन्तर लगे हैं। जन्ममें भी दुःख होता क्या ? मरणमें दुःख हो, चाहे नहीं, मगर जन्ममें दुःख होता है। मरणमें तो कोई समाधिके शब्द सुन रहा, समाधि से मर रहा, जिन्दगी भर जो आत्मज्ञान अर्जित किया उसका प्रयोग कर रहा, समतासे मरण कर रहा, पर जन्ममें कहां समता होती ? उस जन्मके समय बड़ा कठिन दुःख है, और उस जन्म लेने वालेको कुछ खबर भी नहीं रहती तभी तो बच्चा जब पैदा होता तो उसकी सबसे पहले यही आवाज निकलती—कहां कहां···याने मैं कहां आ गया ? अब देख लो गर्भवासका दुःख, जन्मका दुःख यह कितना कठिन है ? ये सब दुःख इस जीवने बार बार पाये, फिर भी इनमें ही यह राजी है। अब उसका कुछ इलाज नहीं है। जैसे जिस चीजके खानेसे वह रोग बढ़े उसीको बार बार खाता रहे तो डाक्टर भी उसका इलाज करनेसे जवाब दे देता, भाई हमारे वशका नहीं है, परिणाम यह होता कि उसका रोग कभी दूर नहीं होता, बल्कि और भी बढ़ता रहता है, ठीक इसी प्रकार की दशा इन संसारी जीवोंकी है। जिन बातोंसे ये दुःखी होते रहते उन्हींको अपनाते रहते, परिणाम यह होता कि उनका दुःख कभी दूर नहीं हो पाता। तो आत्मस्वरूपका परिचय होना एक अद्भुत रत्नत्रयका लाभ है। यह तीनों लोकका वैभव मेरे लिए कुछ सारभूत चीज नहीं। ये मेरे लिए कल्याणकारी नहीं पर कल्पनासे मान लेते कि इनसे मुझे सुख मिल रहा। परिणाम यह होता कि उनके पीछे रात दिन तृष्णा करते, उनका संचय करनेकी होड़ मचाते और सारे जीवनभर निरन्तर दुःखी रहते। भले ही कुछ कल्पित सुख मिल गया, पर वह भी वास्तवमें दुःख है। कितना कठिन दुःख लगा है इस जीवपर कि जो बाह्य पदार्थोंमें यह मैं हूं, ये मेरे हैं इस तरहकी कल्पनायें उठती हैं, इनसे दुःख ही बना रहता है। यद्यपि यह जीव है आनन्दस्वरूप। जैसा है वैसा ही स्व-

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

रूपमें रहे तो कष्टका नाम नहीं, पर अनादिसे वासना बुरी लगी है। और उस वासना के साधनाभूत उपाधिका सम्बन्ध बना है और उसमें कष्ट है। ये सब बातें विचारना भवविचय है।

(४७६) **जीवविचय और संसारविचय धर्मध्यान**—जीवविचय—जीवकी भिन्न-भिन्न जातियोंका चिन्तन करना जीवविचय है, रास्ता चलते हुएमें कितने ही दुःखी जीव नजर आते। इन घोड़ा, गधा, खच्चर, झोंटा, सूकर आदि पशुओंकी दशाओंपर भी तो कुछ ध्यान करो ये बेचारे कैसे कैसे दुःख सह रहे हैं। जरा भी कमी दिखी तो उनपर डंडों की बौछार होती। इन सूकरोंको तो देखो—विष्टामें ही इनका मुख भिड़ा रहता है, जिन्दा ही अग्निमें भून दिये जाते या फिर इनकी गर्दनपर छुरियां चलतीं। कहां तक इन जीवोंके दुःखकी कहानी कहें, आप सब देख ही रहे हैं। तो जीवोंकी इस प्रकारकी दुःखद स्थिति देखकर खुदपर भी तो एक ऐसी वासना आनी चाहिये। उन जीवोंपर भी करुणा आनी चाहिये। दोनों ही बातें एक हैं। स्वरूपकी समता होनेसे उनके बारेमें करुणा करना अपनी ही करुणा है। और जो भी किसी जीवका दुःख दूर करता है तो वह अपनेपर करुणा कर रहा। देखा होगा कि जाड़ेके दिनोंमें भिखारी लोग बड़े सवेरे कैसा करुणा उत्पन्न करनेवाले कंपनके स्वरमें वचन बोलकर भीख मांगते तो उसका फल क्या होता कि उनकी दुःखभरी आवाज सुनकर सुनने वाले भी स्वयं दुःखी हो जाते, और फिर उन सुनने वालोंने जो कुछ भोजन, वस्त्र आदि दिया तो बताओ निश्चयसे उसका दुःख दूर करनेके लिए दिया या खुदका दुःख दूर करनेके लिये ? खुदका ही दुःख दूर करनेके लिए दिया। कर्मदशाओंका निमित्त पाकर हुए सुखी दुःखी पशु पक्षी आदि भिन्न-भिन्न जातिके जीवोंका चिन्तन करना जीवविचय है। पञ्च परिवर्तनोंका स्वरूप चिन्तन करना संसारविचय है। इस तरह शुभ चिन्तन द्वारा आर्तध्यानसे रौद्रध्यान हट-कर धर्मध्यानमें आना चाहिए।

(४७७) **धर्मध्यानके लिये एक प्रेरणा**—हम आप चारों प्रकारके धर्मध्यान करने के अधिकारी हैं, कर सकते हैं भावोंकी ही तो बात है। भावोंसे ही खोटा कर सकते और भावोंसे ही हम अच्छा कर सकते। कभी देखा होगा कि छोटे-छोटे बच्चे प्रीति-भोजका खेल खेलते हैं, तो वे क्या करते कि कुछ कंकड़ परोसते हुए कहते लो गुड़, पत्ते परोसते हुए कहते लो रोटी। है वहां कुछ चीज नहीं खानेकी। केवल भावोंका खेल है। पर उन बच्चोंको कोई समझा दे कि रे बच्चो जब तुम भावोंका ही खेल खेलते हो तो भावोंमें कंजूसी क्यों करते ? अरे रोटीकी जगह पूड़ी कचौड़ी बोल दो, गुड़की जगह

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

लड्डू बोल दो, भावोंकी ही तो बात है। यहां भी भावोंका सब खेल है, परसे क्या बात आयी, परमें क्या बात जाती ? कर रहा तो यह खुद खुदमें ही। तो भावोंमें खोटा चिन्तन क्यों करना ? जब भाव ही कर रहे तो खोटा चिन्तन न करें, शुभ चिन्तन करें, शुद्ध चिन्तन करें तो ऐसा धर्मसम्बंधित भावोंका चिन्तन करना यह है धर्मध्यान।

(४७८) **पृथक्त्ववितर्कवीचार व एकत्ववितर्क अवीचार शुक्लध्यान**—यह कुन्दकुन्दाचार्य द्वारा रचित भावपाहुड ग्रन्थ है। यहां मुनिजनोंको सम्बोधा है कि हे मुनिवरों आर्त रौद्र ध्यान छोड़कर धर्मध्यान और शुक्लध्यानको ध्यावो। धर्मध्यानका वर्णन हो चुका, अब शुक्ल ध्यानका वर्णन किया जा रहा है। शुक्ल ध्यानके मायने है रागरहित ध्यान। जो ८ वें, ९ वें, १० वें गुणस्थानमें राग है वह गौण है, अबुद्धिपूर्वक है और सूक्ष्म है। वहां भी शुक्लध्यान कहा है। और ११ वें १२ वें गुणस्थानमें तो स्पष्ट वीतराग है। वहां भी शुक्लध्यान है। १३ वें १४ वें गुणस्थानमें उपचारसे शुक्लध्यान है अर्थात् मनकी वृत्ति नहीं चलती है, किन्तु ध्यानका फल कर्मनिर्जरण देखा जानेसे कहा गया है। प्रथम शुक्लध्यान है पृथक्त्ववितर्कवीचार, पृथक्त्व मायने अलग-अलग वितर्क मायने ज्ञानको कहते हैं, पृथक्त्व चिन्तनमें जहां योग भी बदलता। विषय भी बदलता ऐसे बदल वाले ध्यानको पृथक्त्ववितर्क वीचार कहते हैं, पर एक ही पदार्थके बारेमें बदलें चल रही हैं। अन्यथा एकाग्रचिन्तानिरोध नहीं बन सकता। एक ही पदार्थमें द्रव्यरूपसे चिन्तन और पर्यायरूपसे चिन्तन यह तो है अर्थकी बदल और शब्दकी भी बदल और योगमें भी कभी मनोयोगमें रहते हुए ध्यान, कभी वचनयोगमें कभी काययोगमें रहते हुए ध्यान यह है योगकी बदल। यों पृथक्त्ववितर्कवीचार अष्टम गुणस्थानसे ग्यारहवें गुणस्थान तक चलता है और १२ वें गुणस्थानमें भी, प्रारम्भमें थोड़ा रहकर एकत्ववितर्क अवीचार बन जाता है। यह सब एक ज्ञानमें ही ज्ञप्तिपरिवर्तनसाधक क्षयोपशम जब तक है तब तक यह बदल चल रही है और केवल ज्ञान होनेकी जब योग्यता हुई बारहवें गुणस्थान में वहां यह बदल नहीं रहती। एक ही पदार्थपर उन ही शब्दोंसे, उस ही योगमें रहकर ध्यान चलता है।

(४७९) **सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति व व्युपरतक्रियानिवृत्ति शुक्लध्यान व अनन्त सिद्धदशा**—एकत्ववितर्क अवीचारके बाद केवलज्ञान होता है जहां सयोगकेवली गुणस्थान बना वहां सारी उम्र तक कोई ध्यान नहीं, किन्तु अन्तमें अन्तिम अन्तर्मुहूर्तमें सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती शुक्लध्यान बनता है। जब स्थूल काययोग भी दूर हो गया, वचनयोग पूरा दूर हो गया, वचनयोग पूरा दूर हो गया, मनोयोग भी जो द्रव्यमन साथ चलता था वह भी पूरा दूर

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

हो गया, केवल सूक्ष्म काययोग रहा, उस समयमें सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती शुक्लध्यान होता है। १३वें गुणस्थानमें तीसरा शुक्लध्यान सदैव नहीं। इसके बाद १४ वें गुणस्थानमें प्रवेश हो तो वहां कोई योग नहीं। सो व्युपरतक्रियानिवृत्ति नामक शुक्लध्यान है। इस ध्यानके बाद १४ वें गुणस्थानके बाद फिर सिद्ध दशा होती है। मोक्षमार्गमें जो कुछ करनेका पौरुष है वह मौलिक यह है कि अपने आपका जो सहज चैतन्यस्वरूप अपने ही सत्त्वके कारण परसे विभक्त अपने आपमें जो कुछ स्वरूप है उस रूप मैं हूं, उसको ही लक्ष्यमें रखना, उसमें ही आपा अनुभवना, ऐसे सहज स्वभावका आश्रय है प्रारम्भसे अन्त तक यही एक मोक्षमार्ग मौलिक आधार है, फिर सिद्ध दशामें भी इसी सहज ज्ञान-स्वभावको उपादान कारणरूपसे उपादान करके याने उपादान कारण रूपसे ग्रहण कर करके प्रतिसमय अति निर्मल ज्ञानवृत्ति रूपसे परिणमता रहता है। यह वहां एक सहज बात रहती है, ऐसे इस शुक्लध्यानके ध्यानमें आवो, ऐसा मुनि जनोंको आचार्यदेवने सम्बोधा है।

जे के वि दव्वसवणा इंदियसुहआउला ण छिंदंति।
छिंदंति भावसमणा झाणकुढारेहिं भवरुक्खं ॥१२२॥

(४८०) द्रव्यश्रमणोंकी इन्द्रियसुखव्याकुलता एवं संसारविषवृक्षछेदनकी अशक्यता— जो कोई भी द्रव्यश्रमण है, सम्यक्त्वहीन द्रव्यश्रमण, वे इन्द्रियसुखमें व्याकुल होकर इस संसारका छेदन नहीं कर पाते। द्रव्यलिङ्गी मुनि अनेक प्रकारके होते हैं। मूल लक्षण यह है कि भेष तो निर्ग्रन्थ दिगम्बर है, पर छठे ७वें या ऊपरके गुणस्थानका परिणाम नहीं है वह द्रव्यलिङ्गी है। ५ वां गुणस्थान हो ऐसा निर्ग्रन्थ दिगम्बर द्रव्यलिङ्गी है, चतुर्थ गुणस्थान वाला मुनि हो वह दिगम्बर द्रव्यलिङ्गी है, तीसरा, दूसरा पहला किसी भी गुणस्थानमें हो, वे सब मुनि द्रव्यलिङ्गी कहलाते हैं। यहां मिथ्यात्ववासित द्रव्य-लिङ्गी मुनिको कह रहे हैं कि इन्द्रियसुखमें व्याकुल होकर वह संसारवृक्षको नहीं छेद सकता, किन्तु भावश्रमण ध्यानकुठारसे संसारवृक्षको छेद देता है। जिसको अपने आपके सहज स्वरूपका परिचय नहीं है वह कहां रमें? दर्शन, ज्ञान, चारित्र इनके परिणमन प्रत्येक जीवमें चल रहे हैं, चारित्रका परिणाम है रमना। खुदका जिसे पता नहीं, जो स्वयं ज्ञानानन्दस्वरूप है उसका जिसने परिचय पाया नहीं और रमण सो अवश्य होगा ही, सो उनके बाह्य विषयोंमें रमण चलता है। बाह्य विषयोंमें रमण नहीं है परमार्थतः वहां भी निश्चयतः खुदमें ही रमण हो रहा है, मगर वह खुद अखुदसा बना, जो यथार्थ स्वरूप है उस रूपमें अपने आपको नहीं पा रहा। क्रोध, मान, माया, लोभ, इच्छा, ऐसे

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

जो भीतरमें ज्ञानपरिणाम जग रहे हैं उन कषाय परिणामोंमें रम रहा है, पर वे बाह्य परिणाम व्यग्र हो रहे है बाह्य पदार्थोंका उपयोग बनानेसे। अतः यह कहा जाता है कि यह अज्ञानी विषयोंमें रम रहा। निश्चयतः तो बाह्य विषयक उपयोग बना बनाकर जो व्यक्त कषाय हो रही हैं उन कषायोंमें रम रहा। सीधीसी बात है कि कोई जीव कषायों में रम रहे कोई अविकार स्वभावमें रमते। रमते हैं वे खुदके ही परिणाममें। तो जिन जीवोंको निज सहज ज्ञानानन्दस्वरूप अंतस्तत्त्वका परिचय नहीं हुआ उनका उपयोग बाह्य विषयोंमें ही रमण करता है और बाह्यमें रमनेका फल है व्याकुलता।

(४८०) **इन्द्रियसुखोंके भोगमें व्याकुलताका दिग्दर्शन**—जीव किसी भी इन्द्रियका विषयकषाय भोगे तो वहां आकुलता ही पायी जाती है, और जो लोग थोड़ा मौज मानते हैं वह भी व्याकुलतापूर्ण परिणति है, शांतिकी परिणति नहीं है। जैसे मानों एक रसना-इन्द्रियका भोग भोगा तो भोगनेके समय निरीक्षण करके निरख लो कि कोई शान्ति-पूर्वक खाता है या क्षोभपूर्वक। जो मौज माना जा रहा वह भी क्षोभ। एक ग्रास मुखमें है, एक हाथमें है, एकको उठानेका विकल्प बन रहा कि कौनसी चीज उठायी जाय? तो देखिये उसके भोगनेमें भीतरमें कितनी विह्वलता मच रही। इसका बहुत अच्छा स्वाद है, इसे जल्दी खाना चाहिए, इसको बादमें खा लेंगे, यों कितनी ही आकुलतायें मचायी जा रहीं। शान्तिपूर्वक कहां भोगा जा रहा? जो मोज माना जा रहा वह एक दुःखकी कमीका मौज है। शान्ति और आनन्द वहां नहीं है, किन्तु क्लेश कम रह गया वह भी मौज कहलाता है। जैसे किसीको १०५ डिग्री बुखार चढ़ गया था और अब उतरकर १०१ डिग्री रह गया। अब उससे कोई आकर पूछता कि कहो भाई कैसी तबियत है? तो वह कहता है कि अब तो ठीक है, बड़ा चैन है? ...अरे कहां चैन है? अभी तो १०१ डिग्री बुखार चढ़ा है। बात वहां यह है कि बुखार कुछ कम हुआ उससे वह चैन मानता है, वस्तुतः तो चैन नहीं है। यही बात सभी इन्द्रियसुखोंकी है। इन इन्द्रियसुखोंमें व्याकुलता भरी है। तो यह सम्यक्त्वहीन द्रव्यश्रमण इन्द्रियसुखमें व्याकुल होकर इस भववृक्षका छेदन नहीं कर सकता। और भावश्रमण छठवें और ७वें से ऊपर के गुणस्थानवर्ती श्रमण इस ध्यानरूपी कुठारसे संसारवृक्षको काट डालते हैं।

(४८१) **मोही और निर्मोहीकी वृत्ति**—मोह एक बड़ी भारी विपत्ति है। मिथ्यात्व मोह, अज्ञान ये सब एक ही अर्थको बताने वाले हैं, जिसको अपना परिचय नहीं वह व्याकुल ही रहता है और चूंकि यह परमैश्वर्य स्वभाव वाला है तो यह कुछ ज्ञान भी इसका रहता है कुछ आनन्द भी मानता है। तो जो कुछ यह प्रवृत्ति करता है वह मोह-

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

वश मिथ्याभ्रमको दृढ़ करता हुआ प्रवृत्ति करता है। जगतमें ऐसा कौनसा पदार्थ है जो अनेक बार देखा न गया हो या इस ही भवमें मिल जाये। अनेक बार देखा है फिर भी आज देखनेको कुछ नया देखना मानता है, सनीमा, थियेटर, रूपादिक बहुत बहुत देखे जानेपर भी ऐसा समझते हैं कि मैं आज कुछ नया सा देख रहा हूं, रोज रोज वही खाना खानेपर भी ऐसा समझते कि आज कुछ नया सा भोग रहा हूं, तो ऐसा कौन पदार्थ है जो नहीं देखा गया मगर इसे यह मोही नया ही मानता है। अनेक बार स्पर्श किया सभी पदार्थोंका, पर यह मानता कि मैं आज कुछ नया सा स्पर्श कर रहा हूं। नया ही कुछ स्वाद ले रहा, नया ही सुन रहा। परन्तु जिनका मन सरलतासे सम्पन्न है उनके किसी भी भोगमें अभिलाषा नहीं। कर्मविपाक है, होता है, भोगना पड़ता है मगर विरक्ति साथ चलती है, ऐसी अनेक घटनायें मिलेंगी कि जो करनी पड़ रही हैं, पर अभिलाषा नहीं है करनेकी। विरक्ति चल रही है। जैसे कैदीको चक्की पीसनी पड़ती, फावड़ा चलाना पड़ता या जो भी काम दे दिया गया सो करना पड़ता, और उस काम को करनेमें कुछ कमी करे तो ऊपरसे उसपर डडे भी बरसते, तो देखिये उसे कैदमें रह-कर परिस्थितिवश सब काम करने पड़ते हैं, पर उसे उनमें कुछ राग नहीं है, बल्कि वह तो उन दंदफंदोंसे हटना चाहता है। कैसा विलक्षण परिणाम है कि भोग भोगते हुए भी उस भोगसे हटा हुआसा रहता है। कैसा विपाक है कि प्रवृत्ति भी करनी पड़ती और कैसा अद्भुत ज्ञानबल है कि उससे वह हटा हुआ भी रहता। तो समतासुखसे सम्पन्न पुरुष कामभोगमें आसक्त नहीं होता।

जह दीवो गब्भहरे मारुयबाहाविवज्जिओ जलइ।
तह रायाणिलरहिओ झाणपईवो वि पज्जलइ ॥१२३॥

(४८२) **रागानलरहित ध्यानप्रदीपका प्रज्वलन**—ध्यानका माहात्म्य देखिये—जैसे गर्भ गृहमें स्थित दीपक वायु बाधासे रहित होकर प्रज्वलित होता रहता है ऐसे ही जहां राग रूपी वायु न लग सके ऐसी स्थितिमें यह ध्यान दीपक प्रकट रूपसे जलता रहता है। ध्यानमें बाधा देने वाला है राग और यह बैठे ही बैठे कहां राग चल रहा, किस ओर दृष्टि जा रही, किसका कैसा भाव है, कहां आकर्षण है, यों सारी चक्की चलती रहती है। ध्यान कैसे बने ? अविकार स्वभाव अंतस्तत्त्वका दृढ़ लक्ष्य लिए बिना और ऐसा पौरुष बनाये बिना, मेरेको मेरा वश एक ही काम है दूसरी कोई धुन नहीं ऐसी धुन बनाये बिना यह ध्यानकी स्थिरता नहीं बन सकती। बाह्य पदार्थोंका चिन्तन कर करके ध्यानको स्थिर कैसे बनाया जा सकता। जिसका चिन्तन करते वह विनाशीक है

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

और जिसका चिंतन चल रहा वह मुझसे अत्यंत भिन्न है। अन्य पर मेरा कुछ अधिकार नहीं और उन बाह्य पदार्थोंपर उपयोग जाता है तो यह उपयोग भी कुछ हल्कासा छितर बितरसा या अपनी जड़ सी नहीं रख रहा, इस तरहके प्रयोगमें रहता है, तो बाह्य-विषयक उपयोग कैसे स्थिर चल सकेगा ? अतएव आत्माका स्वरूप जानकर इस स्वरूप में ही रुचि हो, यही आदेय है, इस ही के आश्रयसे वह निर्विकल्पता जगती है कि कर्म-बन्धन अपने आप दूर होता है। वही मेरे लिए श्रेयस्कर है, ऐसा आदर जब रहता है तो वहां यह जीव अपने आपमें सहज आनन्दको अनुभवता हुआ पवित्र होता हुआ पवित्रतामें बढ़ता चला जाता है। तो राग वायुसे रहित हुआ ध्यान स्थिर हो पाता है।

झायहि पंच वि गुरवे मंगलचउसरणलोयपरियरिए।
णरसुरखेयरमहिए आराहणणायगे वीरे ॥१२४॥

(४८३) **अर्हत्सिद्धसाधुधर्मकी उपास्यता**—हे आत्मन् ! पंचपरमेष्ठियोंका ध्यान कर। दर्शन करनेमें सर्वप्रथम णमोकार मंत्र और चत्तारिदण्डक बोलनेका एक रिवाज है, और वह होना भी चाहिए। इसके बाद फिर कोई भी स्तुति पढ़े। चत्तारि दंडकमें चारको मंगल कहा, लोकोत्तम कहा और शरण कहा। उन चारमें अरहंत, सिद्ध और साधु कहनेसे परमेष्ठी बनता है। साधुमें आचार्य उपाध्याय और साधु तीनों आते हैं और अरहंतसिद्ध ये अलगसे कहे ही गए हैं। और चौथी बात है केवलीके द्वारा कहा गया धर्म। इसमें अपने करने योग्य कार्य क्या है यह सब लक्ष्यमें आ जाता है। धर्म है आत्म-स्वभाव। आत्माका स्वभाव है मात्र जानन, चेतना, और सदा उसकी वृत्ति चलती ही रहती है, चाहे उपाधिके सम्बन्धवश कुछ विभावरूप चले, पर चलना यह है ज्ञानकी परिणति। जैसे क्रोध, मान, माया, लोभ इनमेंसे कोई भी कषाय निरन्तर नहीं रहती, यह बतला रहे हैं। देखो क्रोधके समय मान, माया, लोभ होता ही नहीं उदयमें, ऐसे ही मानके समय तीन बातें नहीं होती, माया और लोभमें भी शेष बातें नहीं होतीं। जिस जीवके अज्ञानभाव है और क्रोधमें लग रहा है तो उस समय उसके १६ कषायें नहीं हैं विपाकके अनुभवमें किन्तु चार क्रोध हैं—अनन्तानुबंधी क्रोध, अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, प्रत्याख्यानावरण क्रोध और संज्वलन क्रोध। जब वही जीव मानमें आया तो चार मान हैं, शेष १२ बातें नहीं हैं। तो ऐसी ये कषायें सबकी सब एक साथ नहीं चल पातीं। पर ज्ञान कैसा ही जाने, ज्ञानकी वृत्ति चलती ही रहती है।

(४८४) **सर्व परिणमनोंका ज्ञानपरिणमनमें अन्तर्भूतता**—भैया ! अन्तः निरखें तो सब कुछ ज्ञानमें ही बात आती है। ज्ञानका इस तरह प्रवर्तना यह ही दुःख है, यह ही

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

सुख है, यह ही कषाय है मूल चीज तो वह एकरूप है। उस ज्ञानके ही इस प्रकारके परिणमन होते हैं सम्पर्कमें कि वे ही इन सब रूप कहलाते हैं। अभेदसे देखें उस अशुद्ध परिणतिको तो वह ज्ञान ही इन रूप परिणम रहा है। जिस ज्ञानने सोचा कि यह मेरे को बड़ा इष्ट है तो वह समागम होनेपर यह द्वेषरूप परिणमता है। इन परिणमनोंसे हुआ क्या ? ज्ञानकी ही इस ढंगसे परिणति हुई कि उसने सुख दुःख माना। मान लो किसीके घर कलकत्तेसे तार आया कि इस बार अमुक व्यापारमें १ लाख रुपयेका फायदा हुआ, अब यही तार पढ़नेमें मानो ऐसा आया कि १ लाख रुपयेका नुक्सान हुआ तो अब उसकी हालत देख लो कैसी हो जाती है। कहां तो आया सुखद समाचार, पर उसकी समझमें आयी उससे उल्टी बात तो झट वह बड़ा दुःखी हो जाता। अब देख लो बाह्य पदार्थोंके होनेसे सुख दुःख कुछ नहीं होता, किन्तु उन परपदार्थके विषयमें जैसा ज्ञान बनता है सुखरूप अथवा दुःखरूप, उस प्रकारकी उसकी परिणति हो जाती है। यदि बाह्यपदार्थसे सुख मिलता होता तब तो चाहे वह तार आता या न आता, पर इसे सुखी हो ही जाना चाहिये था, पर ऐसा तो नहीं होता।

(४८५) **विकारोपपत्तिविधान व उसके न्यक्कारका साधन**—यहां एक बात खूब ध्यान से समझना कि हमारे विकारके व्यक्त होनेमें तीन कारण होते हैं—(१) उपादान (२) निमित्त और (३) आश्रयभूत। उपादान तो है यह स्वयं योग्यता वाला जीव और निमित्त कारण हुआ उस प्रकारका कर्मोदय और शेष इन्द्रिय मनके विषय ये सब आश्रय-भूत कारण हैं। इनमें हम उपयोग फंसायें तो विकार व्यक्त होते हैं। यदि हम उपयोग को जितनी हममें सामर्थ्य है ज्ञानबलसे, उसे अपने आत्मस्वरूपकी ओर ले जायें और उसीमें ही ध्यान लगायें तो विपाक उदय होनेपर विकार तो प्रतिफलित हो गए मगर व्यक्त रूप न बन पायगा, वह अबुद्धिपूर्वक कहलायगा। तो अपना कर्तव्य क्या होता है कि इन बाह्य आश्रयोंको उपयोगमें न लें और इनके लिए करना क्या चाहिए कि इन बाह्य आश्रयभूत पदार्थोंका परिहार करें, त्याग दें, इस ही बुनियादपर चरणानुयोगमें त्याग बताया है। न रहेगा सामने तो उसका ख्याल भी न होगा। यद्यपि यह नियम नहीं कि बाह्य त्यागका ख्याल ही न रहेगा। मगर प्रायः यह होता कि जब दूर रहते, त्याग दिया, अलग हैं तो उसका ख्याल नहीं होता। और, उपयोग दूसरी ओर चलने लगता। तो आश्रयभूत पदार्थोंमें उपयोग न जाय, यह एक बड़ा पौरुष है। इसके फल में विकार व्यक्त नहीं होते और इस ही के बलसे अपने आप सहज ही अव्यक्त विकार भी दूर होते तो विपाक भी दूर होने लगता है। तो करनेका काम एक यही है, परन्तु

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

इस कामके करने में बाधायें बहुत आती हैं तो उन बाधाओंको दूर करें। उसका उपाय है ये ग्यारह प्रतिमा, मुनिव्रत, ये प्रक्रियायें बनानें। इन प्रक्रियावोंसे उन बाधाओंको दूर करें, जिससे हम निःशल्य होकर इस सहज अंतस्तत्त्वके ध्यानमें अधिकाधिक प्रगति कर सकें। तो अपने कल्याणके अर्थ करने योग्य कार्य एक यह ही है कि निजको निज जान लें।

(४८६) **परत्वविज्ञानसे वैराग्यवृद्धि होने योग्य पद्धतिका प्रयोग**—भैया! परको पर जानना भी आवश्यक है ताकि हम निजको निज भली भांति समझ सकें। मैं यह हूं और इस पर ध्यान जमे एतदर्थ अन्य ज्ञान विज्ञान भी आवश्यक बनते हैं। लोकरचना जानें। इतना बड़ा लोक जिसके समक्ष यह आजकी परिचित दुनिया एक बूंद बराबर है। इतनेसे क्षेत्रमें यदि कुछ अपना रोब जमाया, शान बनायी तो बाकी क्षेत्रमें तो कुछ नहीं हुआ इतने की ही तृष्णा क्यों करते? थोड़ेसे लोगोंमें शान, प्रभाव बनाना यह विकार व्यर्थ है। पर जीव तो सब अनन्त हैं। सबने तो आपकी महिमा नहीं जान पायी। उन अनन्त जीवोंमें से अगर १०-२० हजार या कुछ अधिक लोगोंको जानकारी करायी तो यह तो बिन्दु बराबर भी गिनती नहीं है। तो यह समस्त लोक काल जीवका जितना विज्ञान है वह विज्ञान हमें सहयोग देता है वैराग्यकी मुद्रामें। तो जिस तरहसे हम बाह्य पदार्थोंसे, आश्रयभूतोंसे हटें और अपने सहज अन्तस्तत्त्वमें लगें तो यह ही हमारा एक कल्याणका उपाय है। इसके लिए चाहिये स्वाध्याय और सत्संग। मात्र स्वाध्याय से भी हमारी वृत्ति आगे नहीं चलती। संसार, शरीर और भोगोंसे विरक्त आत्मध्यान की धुन रखने वाले संत पुरुषोंका समागम यह भी एक प्रेरक वातावरण है। तो सत्संग में रहते हुए, स्वाध्यायमें विशेष उपयोग देते हुए आत्ममनन करें, यह ही एक ऐसा उपाय है कि हम इस संसारके संकटोंसे दूर हो सकेंगे।

चत्तारिदण्डकमें जितने पद हैं वे सब एक एक रूप हैं। यदि पदके पूर्व ॐ ऐसा बीजाक्षर लिखा जाय अथवा ह्रीं साथमें लगाया जाय तो यह पूरा मन्त्रका रूप हो जाता है। (१) पहला पद है अरहन्ता मंगलं, याने अरहन्त भगवान मंगल हैं। मंगलका अर्थ है जो पापोंको गलाये और सुख उत्पन्न करे। अरहन्त भगवानका ध्यान करनेसे पापोंका क्षय होता है और सुख उत्पन्न होता है। ध्यान उपयोगीकी स्थिरताका नाम है। इस देहमें उपयोग किस जगह समाया जाय तो ध्यानमें सहयोग मिले? इसके लिए कई साधन बताये हैं। जैसे दोनों नेत्रोंके बीचमें चित्तको संलग्न करें और ध्यान करें। दोनों कर्णोंमें या उनकी संधियोंमें ध्यान लगायें। नासिकाके अग्रभागपर दृष्टि लायें। ध्यान

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

की एकाग्रताके लिए ये साधन बताये जा रहे हैं। पूर्वमें कोई सहारा लिया जाय उसका यह कथन है। ललाटमें चितको रोक कर ध्यान करें, इसी प्रकार मुख, नाभि, सिर, हृदय, तालु और इन भौंहोंके बीचमें चित्तको स्थिर करें। जिसे कहते हैं कि यहां उपयोग लगायें और फिर तत्त्वका ध्यान बनायें, और बीच-बीच एक स्थानसे हटाकर शरीर के अंगोंमें से दूसरे स्थानपर ध्यान करें।

(४८७) **अरहन्तध्यानपद**—पहला ध्यान बना अरहन्ता मंगलं अरहंत भगवान मंगल हैं, दूसरा ध्यान है—अरहन्ता लोगुत्तमा, याने अरहन्त भगवान लोकमें उत्तम है। लोग लोकमें बड़ा आदमी ढूंढते हैं तो किसीको धनी विदित होता है, किसीको नेता, किसीको कोई उच्च पदाधिकारी, पर वस्तुतः महान वह पद है जिसके बाद पदसे नीचे न गिरना पड़े। मान लो आज कोई बड़ा धनिक है और इसी जिन्दगीमें वह हो गया अत्यन्त गरीब, तो काहेका बड़प्पन, और मान लो आज कोई बड़ा ऊंचा अधिकारी है और कुछ दिनोंमें वह उस पद से हट गया तो कहां रहा उसका बड़प्पन ? तो ये कुछ बड़प्पन नहीं हैं, पर जो आत्मा ज्ञानी हुए, अरहंत हुए, उनका पद अब घट नहीं सकता, वे सिद्ध ही होंगे। तो अरहंत भगवान लोकमें उत्तम हैं। तीसरा ध्यानपद है अरहंता सरण याने अरहंत भगवान शरण हैं। कहां उपयोग जाय, कहां चित्त बसाया जाय कि कुछ अपने को ऐसा महसूस हो कि मुझको कुछ शरण मिला है, कुछ परवाह नहीं है। अब आनन्द का विस्तार बनाया जा सकता है, ऐसा कोई शरण है क्या लोकमें ? केवल एक शुद्ध आत्मदेव। उसका ध्यान ही एक शरण है।

(४८८) **सिद्धध्यान पद**—चौथा पद है—सिद्धा मंगलं याने सिद्ध भगवान मंगल हैं। सिद्ध स्वरूप आत्माका सर्वोत्कृष्ट स्वरूप है। बाहरी मलोंसे रहित, अंतरंग दोषोंसे रहित जैसा आत्माका सहज स्वरूप है वैसा ही जहां प्रकट है वे सिद्ध भगवान मंगल हैं, उनका ध्यान करनेसे पापोंका क्षय होता है और सुखकी प्राप्ति होती है। ५वां पद है सिद्धा लोगुत्तमा, याने सिद्ध भगवान लोकमें उत्तम हैं। लोक वहां तक है जहां तक सिद्ध पाये जा रहे। लोकका अन्तिम प्रदेश और सिद्ध भगवानकी आत्माके आखिरी प्रदेश ये एक जगह हैं। उसके आगे लोक नहीं है। तो वह लोक है स्वयं। उसमें वे विराजे हैं तो वे उत्तम हैं। छठा पद है सिद्धे सरणं। सिद्ध भगवान शरण हैं। सिद्धभगवानका स्वरूप अत्यन्त विशुद्ध है, स्वभावके अनुरूप, परसम्पर्क भी जहां नहीं है ऐसे उस स्वभाव विकास पर दृष्टि देनेसे चूंकि स्वभाव और स्वभावविकास ये अनुरूप हैं तो अभेद होकर स्वभाव में दृष्टि रहती है। तो स्वभावमें दृष्टि रहती है। तो स्वभावमें दृष्टि पहुंचनेपर फिर

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

अन्य व्यक्ति लक्ष्यमें नहीं रहता, किन्तु वह स्वयं निज स्वरूपमें अनुभूत होता है और यही दृष्ट वास्तविक शरण है, अपना परिणाम निर्मल करनेके लिए सिद्ध भगवंतोंका सदा ध्यान रखना चाहिए उससे यह बल मिलता है और आत्माको एक सन्मार्ग प्राप्त होता है।

(४८६) **साधुध्यानपद**—७ वां पद है साहू मंगलं याने साधु मंगल हैं, देव और गुरु इनमें देव तो होते हैं आदर्श, हमको भी यही बनना है और गुरु होते हैं तत्काल एक प्रतिबोध कर सकने वाले पुरुष। सो दोनोंके बिना बात नहीं बनती। लक्ष्य और ध्यान किसका बने और तत्काल हमें प्रेरणा कौन दे ? दोनों ही आवश्यक हैं, जैसे कोई संगीत कला सीखता है तो सीखने वालेके चित्तमें उसके भावानुरूप कोई पुरुष रहता है लक्ष्यमें कि मुझको तो ऐसा बनना है। किसी भी प्रसिद्ध व्यक्तिका नाम ले लिया जो कि संगीत कलामें सर्वनिपुण है। अब वह मिलेगा कहां सिखानेको ? सो वह अपने ही गांवका, मौहल्लेका कोई उस्ताद जो कि संगीत कलाका जानकार हो उसे अपना उस्ताज बनाता है। तो अब देखो उस संगीत कलाका देव तो उसे समझो जिसका जैसा बननेका लक्ष्य बना और गुरु वह हुआ जिसके द्वारा संगीत सीखा। तो ऐसे ही समझो कि देव मिला अरहंत सिद्ध, सो मंगलस्वरूप हैं, मगर इस समय जिससे प्रेरणा मिली आत्महितके लिए वह तो है साधु, तो साधु मंगल हैं। ८वां पद है साहु लोगुत्तमा, याने साधु लोकमें उत्तम हैं। जो आत्मदृष्टि करता है, आत्माकी साधना करता है और जिस साधनाके लिए जिसने सर्व परिग्रहोंका त्याग कर रखा है उसे आत्मतत्त्व दृष्टिगत हुआ। ऐसी भावना वाले पुरुष साधु लोकोत्तम कहलाते हैं। ९वां पद है साहू सरणं याने साधु शरण हैं। अपनेसे कोई गल्ती हो तो किससे निवेदन किया जाय कि वह गल्ती दूर हो। जो स्वयं गृहस्थ है, श्रावक है, गल्ती कर रहा है उससे निवेदन करनेमें तो कोई लाभ नहीं है याने अपने जीवनमें गुरुसे सम्बन्ध बनाना कितना आवश्यक है। अन्यथा याने गुरु न हो तो उसका उत्थान होना कठिन है। अनेक बातें जानें। केवल इतना ही न समझिये कि इस पुस्तकको पढ़ जाऊं, कुछ ज्ञान सीख लूं, इतने मात्रसे किसी गृहस्थको गुरु मानकर एक अपने जीवनको निर्दोष समझकर सन्तोष न करें। दोष स्वयं होते ही रहते हैं। तो गृहस्थोंमें तो प्रतिदिन अनेक दोष होते हैं। जिनका होना उस पदमें उचित नहीं है तो किसी गुरुसे निवेदन करें, तो एक आन रहती है, चित्त रहता है कि मुझसे इतने दोष न बनें तो गुरुकी आन, विनय, भक्ति मान्यता बिना इस जीवनमें सूनापन है, उत्थानका मार्ग नहीं है। तो उत्थानके लिये ये साधु शरण हैं।

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

(४६०) धर्मध्यानपद—१० वां पद है केवलिपण्णत्तो धम्मो मंगलं, याने केवली भगवानके द्वारा कहा गया धर्म मंगल है। वह धर्म क्या ? तो उसके आंशिक पारमार्थिक सभी प्रकारके रूपोंको लेकर चलना होगा और तब ही धर्मके लक्षण चार बताये हैं। आचार्योंने उनमें सबसे प्रथम कहा है जीवदया। परदया भी लीजिए स्वदया भी लीजिए। दयाहीन मनुष्य व्रत तपका पालन कर ले तो भी वह स्वर्ग नहीं जा सकता और दयाशील मनुष्य बाह्य व्रतादिक भी चाहे न करे तो भी उसे स्वर्ग मिलना सुगम है, वह सद्गतिका पात्र होता है। दयालु पुरुष ऐसा समझता है कि किसी प्रकारका अनुचित कार्य करके अपने आपमें दयाहीनता बढ़ा लेना यह जीवदयामें बाधक है। श्रावक पदमें तो इस दयालु पुरुषकी पद-पदपर प्रतिष्ठा होती है। हां मुनि पदमें स्वदयाकी विशेषता है। धर्मका एक लक्षण बताया है रत्नत्रय (सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र)। तीसरा लक्षण कहा है उत्तम क्षमा आदिक दस लक्षणरूप और चौथा कहा गया है आत्माका स्वभाव वस्तुदर्शन। पद्मनंदी आचार्यने प्रथम परिच्छेदमें धर्मकी इन लक्षणोंसे व्याख्या शुरू की है। मेरा धर्म मंगल है, ऐसी वृत्ति बने तो पाप दूर होता है और आनंद उत्पन्न होता है। ११वां पद है धम्मो लोगुत्तमो, याने लोकमें धर्म उत्तम है। कभी किसी पुरुषके प्रति यह समझ बनती है कि यह पुरुष महान है तो उसका अर्थ क्या है कि इस पुरुषमें धर्म विराजमान है और उस धर्मकी बदौलत महान है। वास्तवमें महान धर्म कहलाता है वह जिसके प्रतापसे यह पुरुष महान बना। तो लोकमें उत्तम धर्म है। १२ वां पद है धम्मं शरणं याने लोकमें धर्म शरण है। अपने भावोंमें आयें स्वभावमें आये तो उसको संकट नहीं रहता। तो यह ही वास्तविक शरण है। सो ये अरहंत सिद्ध साधु और धर्म देव, मुनि, विद्याधर आदिकके द्वारा पूज्य हैं और वर्तमान नायक तीर्थंकर वीर प्रभु हैं जिससे यह धर्मप्रसार है। वे आराधनाके लायक हैं। उनका भी ध्यान करें।

णाणमयविमलसीयलसलिलं पाऊण भविय भावेण।
बाहिजरमरणवेयणडाहविमुक्का सिवा होंति ॥१२५॥

(४६१) ज्ञानमयविमलशीतलसलिलप्राप्तिसे व्याधिजरादाहविमुक्तता—मुक्ति कैसे होती है, मुक्तिका उपाय क्या है इसका दिग्दर्शन इस गाथामें है। भव्य जीव अपने भावोंसे ज्ञानमय, निर्मल शीतल सलिलको प्राप्त होकर रोग, बुढ़ापा, मरण वेदनाकी दाहसे विमुक्त होकर शिवस्वरूप हो जाते हैं। जैसे यह शान्त करनेका उपाय है शीतलता। तो देख लो—जीवोंके कितनी दाह पड़ी है ? व्याधि—शरीरमें रोग हो गया, कितने रोग हैं ?

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

उनकी गिनती करोड़ों तक होती। जितने रोम हैं उतने रोग हैं। सब रोगोंके नाम भी नहीं बताये जा सकते। लिखे भी नहीं जा सकते। कुछ प्रसिद्ध रोग हैं जिनके कुछ और भेदों से अनेक उपरोग हो जाते हैं, और इस दृष्टि देखें तो यहां बड़ासे बड़ा कोई पहलवान भी यह नहीं कहा जा सकता कि इसको किसी प्रकारका रोग नहीं है। यह शरीर रोगोंका घर है। इसकी बड़ी दाह है। बुढ़ापेकी दाह—बूढ़े हो गए, खाना पचता नहीं, तृष्णा लगी हैं, खुद खा नहीं पाते, दूसरोंको खूब खाते पीते देखकर मन ही मन कुढ़ते हैं। इन्द्रियां शिथिल हो गई हैं, शरीरसे तो दुःखी हैं ही मगर बूढ़ा जानकर, बेकाम जानकर नाती पोते भी कुछ फिक्र नहीं करते। व्याधि और बुढ़ापाकी दाह बड़ी कठिन है और यह दाह जब तक चलती रहेगी तब तक संसार है, जन्म मरण है। तो जिन कारणोंसे दुःखी होते जाते उन कारणोंको नहीं छोड़ सकते। विषय कषायोंके कारण दुःखी होते, परिवारके मोहके कारण दुःखी होतेपर उन्हें छोड़ नहीं सकते। ऐसा अपने आपमें निरखें कि कैसी बड़ी निर्बलता है कि दूसरोंके दोष देखना बहुत आसान है, पर उससे आत्म-लाभ कुछ नहीं मिलता और अपने दोषोंको अगर निरखें तो ऐसी श्रद्धा जगेगी कि मुझसे तो ये सब भाई अच्छे हैं।

(४९२) **ज्ञानविमलशीतलसलिलप्राप्तसे मरणवेदनादाहविमुक्तता**—एक दाह है मरण। जो जीव मरता है तो उसके किस तरहसे प्राण निकलते हैं, वह बड़ी विलक्षण घटना है, यह जीव एक साथ निकलता है। यद्यपि देखनेमें कुछ ऐसा लगता कि देखो पैर ठंडे हो गए। फिर टटोलते हैं छाती। फिर टटोलते हैं हाथकी नाड़ी। उससे यह परख करते हैं कि प्राण कहां अटके हैं कहां नहीं। भिन्न भिन्न अंगोंमें देखनेसे कुछ ऐसा लगता कि यह जीव भिन्न-भिन्न अंगोंसे अलग-अलग निकलता मगर ऐसी बात नहीं है। सब अंगोंसे जीव एक साथ निकलता। इस मरणका भी बहुत बड़ा कष्ट हैं, इसी कारण तो लोग मरणसे डरते हैं। तो मरण भी एक दाह है जहां वेदना होती शरीरमें। इन सब दाहोंसे विमुक्त होता है वह पुरुष जो ज्ञानमय निर्मल शीतल जलमें अवगाह करता है। मैं ज्ञानस्वरूप हूं। ज्ञानमात्र मेरा स्वरूप है। ज्ञानमें रहना बस यही मेरा घरमें रहना है। ज्ञानातिरिक्त अन्यसे मेरा कुछ सम्बन्ध नहीं। ऐसे निज सहज ज्ञानस्वभावको निरखें, उस ही में तृप्त हों, उस ही में रमें तो वह इन संसारसकटोंसे विमुक्त होगा। ये सब ज्ञान कैसे मिलें तो उसके लिए वस्तुका स्वरूप समझना भेदविज्ञानसे प्रत्येक पदार्थोंको जुदा जुदा जानना, फिर जो प्रयोजनभूत स्वतत्त्व है उस निजमें मग्न होना यह विधि है ज्ञानमय जलसे स्नान करनेकी। सम्यक्त्वलक्ष्मी इस जीवको सुख प्रदान करती है। संसार

Report any errors at yikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

के अन्य विषय साधन कुछ भी इसे सुख प्रदान नहीं कर सकते ।

जह बीयम्मि य दड्ढे ण वि रोहइ अकुरो य महिवीढे ।
तह कम्मबीयदड्ढे भवंकुरो भावसवणाणं ॥१२६॥

(४९३) **कर्मबीजके दग्ध होनेपर भवांकुरकी अनुपपत्ति**—जैसे बीजके जल जानेपर पृथ्वीपर नया अंकुर उत्पन्न नहीं होता, ऐसे ही कर्मरूपी बीजके जल जानेपर मुनिके संसार रूपी अंकुर उत्पन्न नहीं होता । गेहूंका बीज क्या है ? गेहूंका दाना, चनेका बीज है चनेका दाना तो ऐसे ही संसारका बीच है कर्मचेतना, कर्मफलचेतना । ये संसारके बीज हैं । जो बाह्य क्रियायें करके अहंकार करता कि मैं यह सब कर रहा हूं तो उसे अपने अविचल सहजस्वभाव की सुध नहीं है और उस क्रियामें आत्मत्व जोड़कर अनुभव करता । वह मानता कि इसका मैं करने वाला हूं, ऐसे ही कर्मके उदयमें जो फल प्राप्त हैं, जो प्रतिफलित होता है उसे यह मानता है कि मैं इसका भोगने वाला हूं, उसे अपने सहज ज्ञानस्वरूपकी सुध कहीं और उस ज्ञानकी सहज शुद्धवृत्तिकी सुध नहीं कि शुद्धवृत्ति स्वभावका अर्थपरिणमन है । अगुरुलघुत्व गुण की षड्गुण हानि वृद्धि होती है, भगवान अरहंत सिद्धमें भी यह शुद्ध वृत्तिका परिणमन चलता ही रहता । उस वृत्तिकी हानि वृद्धि बिना द्रव्यकी सत्ता ही नहीं रह सकती । केवल ज्ञानके अनन्त अविभाग प्रतिच्छेद हैं । कितने अविभाग प्रतिच्छेद हैं उसका कोई उदाहरण जगतमें नहीं है । कोई कहे कि आकाशके अनन्त प्रदेश होते हैं तो फिर ज्ञानके भी अनन्त अविभाग प्रतिच्छेद हो गए । जैसे बताते हैं ना कि भगवानके ज्ञानमें लोकालोकके सब पदार्थ झलकते है ऐसे ही ये लोकालोक कितने ही हों वे सब ज्ञानमें आ जाते हैं । ज्ञानके अविभाग प्रतिच्छेद सर्वाधिक अनन्तानन्त हैं, वहां हानि वृद्धि होती है, पर वहां यह समस्या न आयगी कि इनमें क हो होकर कभी इतनी कमी हो जाय कि वे पदार्थ जाननेमें ही न आयें । कुछ सर्वज्ञतामें कमी आ जायगी, ऐसा नहीं होता । उसे यों समझिये कि जैसे मानो समस्त लोकालोक १०० सख्या प्रमाण है और केवलज्ञानके अविभाग प्रतिच्छेद हजार हैं, उनमें हानि हो जाय तो १०० तो हैं ही, उनमें हानि नहीं हुई । उतनी हानि हुई यह अर्थ परिणमन है । और ऐसा होता ही हैं । तो अपने ज्ञानस्वरूप और उस ज्ञानकी शरण शुद्ध वृत्तियां यह ही मेरा स्वरूप है, यह ही मेरा काम है इस ओर दृष्टि न होना यह मोह है, अज्ञान है और यह ही संसारका बीज है ।

(४९४) **ज्ञानचेतनाके द्वारा अज्ञानचेतनाका विनाश**—अज्ञानचेतना, संसारका बीज है । बीज अगर जल जाय तो पृथ्वीपर उस बीजकी राख बोनेसे अंकुर पैदा नहीं हो

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

सकते, ऐसे ही यह अज्ञानचेतना समाप्त हो जाय, नष्ट हो जाय, ज्ञानचेतना प्रकट होवे तो फिर संसारका बीज जल गया, अज्ञान चेतना मिट गई। अब संसार अंकुर कैसे पैदा हो ? भावमुनियोंकी यहां महिमा बताते हुए आचार्यदेव यह कह रहे कि बीजके नष्ट होनेपर इस पृथ्वीके ऊपर उससे नवीन अंकुर उत्पन्न नहीं हो सकता। कर्मबीजके नष्ट होनेपर कर्मचेतना, कर्मफलचेतनाके पूर्णतया नष्ट होनेपर सम्यक्त्वसहित दिगम्बर मुद्राके धारक भावसंयमीके इस सहज परमात्मतत्त्वकी भावनासे यह बीज नष्ट होता है, फिर संसाररूपी अंकुर उत्पन्न नहीं होता। यह अंतस्तत्त्व दुर्लक्ष्य है। बड़ी निष्काम साधनासे, जैसे कोई कार्य इतना सावधानीका हो कि थोड़ा भी प्रमाद हो तो वह लाइनसे बाहर हो जानेसे कार्य बिगड़ ही जायगा ऐसे ही यह दुर्लक्ष्य सहजपरमात्मतत्त्वकी आराधनाका काम ऐसी ही सावधानीका है कि एकचित्त होकर उसी मार्गसे वहां तक दृष्टि ले जांय तो अपने उपयोगसे इसे प्राप्त कर सकें। इसे लोग अलख निरंजन कहते हैं। अलखके मायने आंखसे न दिखे अथवा बड़ा प्रयोग करनेसे बड़ी कठिनाई से लक्ष्यमें आये, ऐसा स्वभावतः निरञ्जन अन्य समस्त पदार्थोंसे विभक्त केवल सहज नित सत्तारूप है। यह अन्तस्तत्त्व है जिसकी भावनासे फिर संसार संकट नहीं आते, मायने सहज परमात्मतत्त्वकी भावना यह ही एक उत्कृष्ट वैभव है। इस भावनासे वासित होकर हमें सदा सहज परमात्मस्वरूप अरहंत सिद्ध भगवन्तोंका स्वरूप ध्यानमें रखना चाहिए।

भावसवणो वि पावइ सुक्खाइं दुहाइं दव्वसवणो य।
इय णाउं गुण दोसे भावेण य संजुदो होह ॥१२७॥

(४६५) **भावश्रमणके सहज आनन्दका लाभ**—भावश्रमण सम्यग्दृष्टि मुनि सुखको प्राप्त होता है और द्रव्यश्रमण मिथ्यादृष्टि मुनि दुःखको प्राप्त होता है। तो उन दोनों गुणों व दोषोंको जानकर भावोंसे युक्त होना चाहिए। अपने आपका याने स्व आत्माका जो सहज स्वरूप है, अपने सत्त्व मात्रके कारण जो कुछ व्यवस्था है उस शाश्वत ज्ञानस्वभावरूप अपनेको मानना स्वीकार करना, ऐसी ही रुचि करना यह ही आदेय है, यह ही शरण है, इसके लेनेमें ही कल्याण है। इस तरह निर्णय कर अपने आपको ज्ञानस्वरूप मानना यह ही कल्याण है, इस तरह निर्णय कर अपने आपको ज्ञानस्वरूप मानना यह ही है कल्याणका बीज। प्रारम्भसे लेकर याने चतुर्थ गुणस्थानसे लेकर अन्त तक जहां तक साधनाकी जा रही है सर्वत्र एक यही साधना मूलमें चाहिए, पर परिस्थितिवश चूंकि गृहस्थ हैं, घरमें रहते हैं तो उसकी कुछ विवशतायें हैं जिससे राग

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

करना होता है। आरम्भ करना होता, अनेक समागम करने होते तो उनमें यह कैसे विरक्त रह सके, उस प्रक्रियाको करता है। जिसे कहते हैं अणुव्रत पालन। तो वह एक अपने आपका बचाव है कि यह आत्मा विपत्तिमें, व्यसनोंमें न पड़े, जब मुनि हो जाता है तो वहां सर्वका त्याग करके हुआ है। ताकि निज सहज स्वभावरूपसे अनुभवते रहने में बाधायें न आयें और ऊपर भी जहां जितना जितना राग है उसकी निवृत्तिके लिए जो पौरुष है वह भी स्वभावावलंबन है। सर्वत्र वहां भेद तो पड़ गया, पर मूल काम सबका एक ही रहा मोक्षमार्गका। जैसे ठंड मेटनेका साधन एक गर्मी है इसी प्रकार आत्माके विकासका साधन आत्माके सहजस्वभावका आलम्बन है। उस सहज स्वभाव को देखना है यह मैं अपनी सत्ता मात्रसे जो हूं उसमें विकारका प्रसंग नहीं बसा है अर्थात् स्वभावतः मैं अविकार हूं, स्वरूप ऐसा है मगर अनादिसे उपाधिका मिलना होता है और ये सब विडम्बनायें चलती हैं तो इन विडम्बनाओंके होनेपर ही कल्याण मार्गमें चलनेके लिए भव्य जीवोंका प्रथम पौरुष होता है। स्वरूपज्ञान। इनमें भेदविज्ञान बने और आदेय जो स्वतत्त्व है। स्वरूप है उसमें अभेद बन सके, यह प्रयास होता है।

(४९६) **विकारोत्पादविधि**—यहां यह बात जानना कि जिससे हमें हटना है वे विभाव वे विकार ये हो कैसे रहे हैं, जबकि अविकार स्वरूप है तो इनके उत्पन्न होनेकी विधि क्या है? तो विधि यही है कि चूंकि ये विकार मेरे स्वभाव नहीं हैं सो मैं ही निमित्त होऊं, मैं ही कुछ अपने आपमें परिणमूं, ऐसा यहां स्वरूप नहीं है, "तस्मिन्निमित्तं परसंग एव वस्तुस्वभावोऽयमुदेति तावत्" विकारके होनेमें निमित्त परसंग ही है यह एक वस्तुस्वभाव विदित हुआ। कैसा स्वभाव कि इस अविकारस्वभावी आत्मामें पर्याय-योग्यता आयी, उसमें ऐसी कला बसी है कि इस प्रकारके विपाकोदयके सन्निधानमें ऐसे विकाररूप परिणम जाते, ऐसा इनमें एक पर्यायस्वभाव पड़ा हुआ है। तो विकार हुए तो अन्य निमित्त कर्मविपाकके सन्निधानसे हुए हैं, मैंने नहीं किया मेरी परिणति नहीं है मगर होता इस ही ढंगसे है। अगर पर निमित्त पाये बिना विकार हो तो मोक्षमार्ग कुछ न चल सकेगा, क्योंकि फिर तो विकार स्वभाव होनेसे नित्य होता रहेगा। नैमित्तिक होनेसे कोई सदा नहीं रह सकता। और फिर स्वभावपर दृष्टि रहे तो कुछ भी गड़बड़ियां नही हो सकतीं।

(४९७) **आश्रयभूत कारणके अनुपयोगका विराट् प्रभाव**—कर्मनिमित्तके सन्निधानमें विकार हुआ, पर वे विकार दो प्रकारके हैं—(१) अव्यक्त विकार और (२) व्यक्त विकार अबुद्धिपूर्वक, बुद्धिपूर्वक। जो अनुभवमें आया, बुद्धिमें महसूस होवे वह तो व्यक्त विकार

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

है और जो हमारी बुद्धिमें महसूस नहीं होता वह अव्यक्त विकार है। तो व्यक्त विकार होने में तीसरा कारण होता है आश्रयभूत। दो तो ये हैं उपादान और निमित्त मगर व्यक्त विकार जब हो तो पर पदार्थ आश्रयभूत है अर्थात् उपयोगने परपदार्थका आश्रय किया, उसको ज्ञानमें लिया ऐसा वह बाह्य विषय आश्रयभूत कहलाता है। निमित्त नहीं कहलाता। जगतके ये समस्त बाह्य पदार्थ मेरे विकारमें निमित्त नहीं कहलाते, पर निमित्त कहनेकी प्रथा है, निमित्त कहकर बात की जाती है मगर वहां यह विवेक रखना कि ये बाह्यपदार्थ मेरे विकारके निमित्त नहीं हैं, किन्तु ये आश्रयभूत हैं, मैं उपयोगमें इनको ग्रहण करता हूं और विकार व्यक्त होते हैं। ये निमित्त क्यों नहीं हैं? निमित्त वह हुआ करता है कि जिनका परस्पर अत्यंताभाव तो है मगर अन्वयव्यतिरेक सम्बन्ध भी साथ है। जिसके होनेपर ही हो, जिसके न होनेपर विकार न हो उसे अन्वयव्यतिरेक सम्बन्ध कहते हैं।

(४६८) **कारणमें कारणत्वके आरोपका तथ्य**—इन बाह्य पदार्थोंके साथ मेरे विकार कार्यके लिए अन्वयव्यतिरेक सम्बन्ध नहीं है, अतः ये आश्रयभूत हैं। और यही कारण है कि इसे आरोपित करना भी कहते हैं। पर निमित्त आरोपित कारण नहीं कहलाता। हां निमित्तका ज्ञान बने इतने मात्रसे आरोपित कहा तो वह ज्ञप्तिकी बात है। उत्पत्ति में आरोपित नहीं है। जैसे अग्नि रखी है, मेरा पैर अग्निपर पड़ गया तो हम चाहे जानें चाहे न जानेपर वह पैरको जलानेका निमित्त है ही। जलना जान लिया तो वहां आग जानी, कार्य देखकर कारणका ज्ञान हुआ तो ऐसा इस अनुमान प्रमाणमें होता ही है। धूम देखकर अग्निका ज्ञान हुआ तो क्या धूमका अग्नि आरोपित कारण है? वह तो सही कारण है यहां आग है यह ज्ञानमें तब आया जबकि रसोई घरमें या जंगलमें धूम दिखा। ऐसा ज्ञप्ति रूपसे आरोपित हुआ। पर उत्पत्ति विधिमें आरोपित नहीं है। वहां जाने तो, न जाने तो। ऐसे ही यह कर्मविपाक निमित्तभूत है, वह बुद्धिगत बने तो न बने तो, विकार होगा ही। पर इसका परस्पर अत्यन्ताभाव है। जगतके लोग कर्मको जान नहीं पाते, इन बाहरी विषयभूत पदार्थोंमें कार्य कारण भाव लगाये रहते हैं मुझको इस मनुष्यने गुस्सा करा दिया, इसने मुझको दुःखी कर दिया, इस प्रकारका जो आश्रयभूत कारणके साथ कर्ताकर्मका व्यवहार बनाते हैं यह उनका निपट अज्ञान है। क्योंकि ये बाहरी पदार्थ तो निमित्तदृष्टिसे भी कर्ता नहीं हैं, फिर उनको बड़ी ठोस भाषामें बोलना कि इसने ही मेरेको दुःखी किया यह है अनिमित्तपर निमित्तत्वका आरोप। उसे ही निमित्त मानना यह तो अज्ञानभरी बात है। तो यह जान लीजियेगा कि बाहरी

Report any errors at vikasjd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

पदार्थ मेरे विकारके निमित्त कारण नहीं हैं, मैं इनपर क्यों रोष तोष करूं ? ये तो जैसे हैं वैसे रहते हैं, न मैं इनमें जाता हूं, न ये मुझमें आते हैं, न ये मुझमें कोई प्रेरणा देते हैं कि तुम शान्त क्यों बैठे हो ? तुम गुस्सा हो जावो, ऐसी कोई प्रेरणा नहीं देते, किन्तु यह जीव कर्मविपाकके उदयसे आश्रयभूत पदार्थोंपर उपयोग देकर अपनी कषायोंको व्यक्त करता है। तब चाहिए क्या ? जिनका समागम निरन्तर रहता है उनके विषयमें यह जानकारी बनायें कि ये मेरे विकारके करने वाले नहीं हैं।

(४९९) **निमित्तनैमित्तिक योगके परिचयका आत्महितमें सहयोग**—अब देखिये कर्म विपाककी बात, कर्मका और विकारका निमित्तनैमित्तिक योग समझनेसे स्वभावपर दृष्टि दृढ़ बनती है। ये क्रोधादिक मेरे स्वरूप नहीं हैं, क्योंकि ये निमित्त पाकर हुए हैं। मैं तो अविकार ज्ञानस्वभावी हूं और इसी विधिमें ग्रन्थोंमें निमित्तनैमित्तिक योगका बहुत कथन पाया जाता है। उन कथनोंसे यह शिक्षा ली जाती है कि इस क्रोधसे मेरा क्या मतलब ? ये मेरे स्वरूपमें नहीं हैं, मेरे स्वभावसे नहीं प्रकट हुआ है, किन्तु यह निमित्त पाकर प्रकट हुआ है, सो व्यक्त विकारको जो हटानेका पौरुष करता है उसके अव्यक्त विकार भी यथासमय दूर हो जाते हैं। बुद्धिपूर्वक पौरुष व्यक्त विकार न होने देनेके लिए बनता है, पर जो पौरुष व्यक्त विकारको दूर करनेके लिए समर्थ है वह ही पौरुष अपने समयपर व्यक्त विकारको भी दूर करनेमें समर्थ है। एक बात यह बहुत प्रयोग रूपसें जानना कि जो हर एक पदार्थको यह निमित्त है, निमित्त है, ऐसा लोग कह देते हैं सो बात नहीं है। जीवके विकारभावमें कर्मविपाक निमित्त है और बाकी अन्य कोई पदार्थ निमित्त नहीं है, मैं ही बाह्यविषयका आश्रय करके विकार व्यक्त करता रहता हूं।

(५००) **वस्तुस्वातन्त्र्य और निमित्तनैमित्तिक योग दोनोंका दर्शन**—जब कभी कोई बात हो तो दो दृष्टिसे हम देखा करते हैं। एक तो केवल उस ही पदार्थको निरखकर बात बताना और एक सर्व ओरसे समझकर बात बताना। जैसे सामने दर्पण रखा है और पीठ पीछे दो-चार बालक मानो कुछ खेल कूद रहे, उछल फांद रहे, तो दर्पणमें वह प्रतिबिम्ब आया। अब कोई केवल दर्पणको ही देखता रहे तो जान रहा कि यह हो रहा यह हो रहा, यह दर्पणमें हुआ और दर्पणकी परिणतिसे हुआ, यह सब जान सकेगा और जब सब ओरसे बात समझेंगे तो यह जानेंगे कि दर्पण स्वयं फोटो परछाईके स्वभाव वाला नहीं है, स्वयं अपने आप अपनेमें ही परछाईके स्वभाव वाला नहीं है। हां परछाईं कर सके ऐसा योग्य दर्पण है, मगर यह जो फोटो आ रही है यह बात क्या गलत

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

है ? यह इस सब ओरसे समझी हुई बात है, मिथ्या तो नहीं है, पर जिस समय केवल हम एक ही पदार्थको देख रहे हैं तब क्या वह भी बात गलत है ? एक पदार्थके देखनेके मूडकी वह बात ठीक ही तो है। अच्छा फिर हमको मार्ग कैसा सोचनेमें मिलेगा ? जैसे दृष्टान्तमें ये दो बातें रखी हैं ऐसे ही द्राष्टान्तमें यह बात समझना कि आत्मा दर्पणवत् स्वयं अपने आपमें विकार करनेका स्वभाव नहीं रखता, फिर भी यद्यपि कर्मउपाधिका सान्निध्य पाकर विकार जग रहा, लेकिन केवल एक हीं आत्माको निरखकर सोचें तो यहां आत्मामें यह परिणमन हुआ, अब यह परिणमन हुआ, आत्माकी ही परिणतिसे हुआ, दूसरेसे नहीं आया, ये सब बातें निश्चयनयके आशयमें समझी जा रही हैं, यह बात झूठ तो नहीं है, पर साथ ही यह देखें कि जो विकार जगा है सो वह विकार जब आत्माका स्वभाव नहीं है और स्वभावसे ही नहीं हुआ करता है तो किसी पर सन्निधान को पाकर हो रहा है, वह है कर्मविपाकका सान्निध्य और यहां उसका प्रतिफलन है, विकार जग रहे हैं, यह बात क्या झूठ है ? यह भी झूठ नहीं है।

(५०१) **वस्तुस्वातन्त्र्य और निमित्तनैमित्तिक योग दोनोंकी उपयोगिता**—जब वस्तुस्वातन्त्र्य व निमित्तनैमित्तिक योग दोनों ही बातें सही हैं तब कौनसी बातपर अधिक भाव लाना चाहिये ? यह तो एक अवसरकी बात है। तभी निमित्तनैमित्तिक योगके चिन्तन से हमारा मार्ग स्पष्ट होता है। तो कभी हम केवल एक आत्माको हीं निरखकर एक मार्ग पाते हैं। मार्ग जो मिलेगा वह एक है, वे दो नहीं हैं याने निमित्तनैमित्तिक योगके ढंगसे निरखकर मार्ग पाया वह भी वही मार्ग है और निश्चयनयकी दृष्टिसे निरखकर मार्ग पाया वह भी वही पाया जो उस चिंतनमें पाया, वह क्या है ? आत्माका सहज ज्ञानस्वभाव। यह भी निमित्तनैमित्तिक योगके चिन्तनसे कैसे पाया ? बड़े आरामसे, बड़ी सुगमतासे और उसका प्रयोग प्रायः करते ही रहते हैं। ये विकार, ये अटपट बातें आत्मा के स्वभावसे नहीं आयीं, किन्तु पर उपाधिका सन्निधान पाकर हुई हैं, इसलिए यह विकार मेरा स्वरूप नहीं है। भय करनेकी बात नहीं है कि ये मेरे क्रोधादिक विकार कैसे मिटें ? जो औपाधिक हैं वे मिटा करते हैं और जो निरुपाधि हैं वे नहीं मिटा करते। इससे हमें एक उमंग और उत्साह मिला कि ये विकार मिट सकने वाले हैं, ये मेरे स्वभावसे उठे हुए नहीं हैं, अच्छा जब निश्चयनयसे देखें तो उसमें कैसे यह मार्ग मिला ? निश्चयनयमें केवल एक द्रव्य ही देखा जाता है। आत्मा ही देखा जा रहा। भले ही यह अभी अशुद्ध निश्चयनयके मूडमें है इस कारण इसका अशुद्ध परिणमन दिख रहा है और यह भी ज्ञात हो रहा है कि यह अशुद्ध परिणमन इस आत्माका है, आत्मा

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainelibrary.org

की परिणति है, यह सब दिख रहा है, मगर इसमें जो एक कैद बनती है कि दूसरे द्रव्य को न निरखना, निश्चयनयमें जो एक नियन्त्रण है तो वह इन नियंत्रणोंका लाभ ले रहा क्या कि केवल इस अशुद्ध आत्माको ही देख रहा और यह इस उपादानसे प्रकट हुये दूसरे द्रव्यको देख ही नहीं रहा तो तुरन्तका लाभ तो यह है कि आश्रयभूत कारण इसकी निगाहमें नहीं है, तो व्यक्त विकार जगेगा ही क्यों। कर्मविपाक आदिक ऐसी सूक्ष्म उपाधियां भी इसकी दृष्टिमें नहीं है तो वह परिणमन और जहांसे वह प्रकट हुआ एक वह तत्त्व मायने आत्मा, इन दो पर दृष्टि है इसलिए निश्चयनयका उल्लंघन नहीं हो रहा है। तो अब उनका आमना सामना जो चल रहा है वह यहांसे प्रकट हुआ, ऐसा चिन्तन करनेमें, चूंकि बाह्य पदार्थ इसके उपयोगमें नहीं है जो निर्बाध बैठे है, सो इस चिन्तनमें जिससे ये परिणमन निकले उसकी दृष्टि मुख्य हो जाती है और यह अशुद्ध निश्चयनय विलीन होकर परमशुद्ध निश्चयनयमें बदल जाता है। वहां स्वभावदृष्टि होती है। आगे शुद्ध परिणमन पाकर यह अपना कल्याण करता है। तो निश्चयनयसे भी हमने फायदा उठाया, निमित्तनैमित्तिक योगके चिन्तनसे भी हमने लाभ उठाया।

(५०२) **एकत्वपरिणत होनेमें शुद्धनयाश्रयका अतिनिकटतम स्थान**—पूर्ण लाभ तो शुद्धनयमें मिलता है। यहां तक पहुंचनेका एक मार्ग हमने पाया। अनेक लोग झट कह उठते हैं कि देखो जैसे किसी मंदिरको जाना है तो उसके अनेक रास्ते होते हैं कोई किसी रास्तेसे जाता, कोई किसी रास्तेसे पर अन्तमें सब मंदिर पहुंच जाते, ऐसे ही धर्म के बारेमें समझो, कोई किसी धर्मको पाले कोई किसीको आखिर अन्तमें पहुंचते सब उसी जगह है, उसके रास्ते अनेक हैं। तो देखिये कोई रास्ता अगर विपरीत दिशामें है तो वहां पहुंचनेका तो कोई प्रसंग ही नहीं, किन्तु जो एक दिशाकी ओर हों ऐसे अनेक रास्ते होते हैं। जैसे अणुव्रत महाव्रत ध्यान और और बातें, ये सब करते ही हैं, निश्चयनयका प्राधाण्य, निमित्तनैमित्तिक योगका चिन्तन किन्हीं भी बातोंसे हम पहुंचेंगे तो उसी स्वभाव मंदिरमें तो किसी भी मार्गसे चलें, पर यहां एक बात सोचें—जैसे इस मंदिरमें आने के कई रास्ते हैं, कोई रास्ता किसी दिशासे आता कोई किसी दिशासे। अनेक पगडंडियां भी हैं, कोई अपनी दुकानसे हो यों ही सीधा निकल आता तो कितने ही रास्ते हैं मंदिर में आनेके, पर मंदिरमें प्रवेश करनेके अति पूर्व निकट मार्ग तो एक ही बनता है, वहां तो दो रास्ते नहीं हैं। तो सही मार्ग तक पहुंचने के पहले जो अनेक मार्ग हैं, पगडंडियां हैं वे उस ही एक मार्गकी ओर ले जाने वाली हैं, फिर उस एक मार्गसे हम मंदिरमें प्रवेश करते हैं तो ऐसे ही चिन्तन नाना प्रकारके करलें निमित्तनैमित्तिकयोगसे, निश्चय-

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

ऐसा ध्यानमें लायें। देखिये यह सब अपने कल्याणके लिए बात है, यह अपने आपपर दया है, यदि ऐसी सद्भावना बन सके तो। गुणी जनोंको देखकर प्रमोद हो, हर्षभाव हो। कैसा मोहका भयंकर नृत्य है कि लोग यह सोच बैठते हैं कि गुणी तो मैं हूं जितना जानकर मैं हूं उतने जानकार और कहां पाये जाते कैसा मोहजालका नाच है ? जगतमें अनन्त जीव हैं, अनेकों मोक्ष जाने वाले जीव हैं, ज्ञानी हैं, सम्यग्दृष्टि हैं, हमसे बड़े बड़े बहुत हैं, जो संसार शरीर भोगोंसे विरक्त हैं, जो अपने आत्माको आराधनामें धुन रखा करते हैं, विधि अनुसार चारित्र पालते हैं वे गुणीजन हैं। उन गुणी जनोंको देखकर हर्ष से भर जाना चाहिए जिनके कुलमें रहता हूं, उनकी मूर्ति मुझको मिल गई। कोई दुःखी जीव दीखें तो दयावंतताका भाव आये। मेरे समान स्वरूप वाले ये प्राणी जब किसी उपयोगसे दुःखी हो रहे तो तत्काल अन्न पान देना, वस्त्रादिक देना, उससे उन्हें तत्काल शान्त करें और ज्ञान शिक्षा देकर उनकी हिम्मत बंधायें, यह ही दयापरताका भाव है, और जो विपरीतवृत्ति हो, समझदार हो तो भी जिसके विषयमें यह बात सुनिश्चितसी हो कि यह हमारे समझाये समझने वाला नहीं, अपनी कषाय छोड़ने वाला नहीं तो उसमें मध्यस्थभाव रखें। ये चार भावनायें जीवनमें उतरें तो आत्माका उसमें हित है।

(५२२) **सर्व स्थितियोंमें विवेक बलसे आत्महितमें लगनेका उपदेश**—इस गाथा में तीन प्रकारसे सम्बोधा है कि बुढ़ापेसे पहले ही आत्महितमें लग जावो। लोग कहते हैं कि ६० वर्षका हो जानेसे बुद्धि सठिया गई तो यह कोई नियम नहीं है, पर प्रायः ऐसा होता है। बुढ़ापेमें जो सफेद बाल हो जाते तो उनके लिए कवि जन कहते हैं कि जो इसमें सफेदी थी, स्वच्छता थी, शुद्धता थी वह अब इसमें नहीं रही, बालोंमें आ गई। अब यह बुढ़ापेमें परलोकके प्रयोजनका कैसे स्मरण रख सकेगा। इसी तरह रोग। इस रोगसे भी बुरा रोग है भोग रोग। यह रोगमें तो भगवानकी सुध भी करता है, पर भोगमें पड़कर तो यह भगवान की सुध भी भूल जाता है। तो जो पुरुष ऐसे दुर्लभ जन्म में रागसे शोकसे, भोगसे, मोहसे इस मानव जीवनको नष्ट करता है तो वह मोहसे मलिन है, मानों वह भस्मकी इच्छासे रत्नराशि को जलाता है। कोई चंदनके वृक्षको जला दे इस ख्यालसे कि राख होगी, उससे मैं बर्तन मलूंगा सो चंदन जलाकर राखसे बर्तन मांजे तो वह लोकमें भला तो नहीं माना जाता। यहां कह रहे रत्नराशिकी बात। रत्न जलाना कठिन है फिर भी उन्हें कोई जला दे और उसकी राखसे बर्तन माजे तो यह कोई भली बात नहीं, इसी तरहसे इस मनुष्य जीवनको भोग, शोक, आदिकके लिए गमा देना कोई भली बात नहीं। यों समझो कि उसने धर्मको जला दिया। धर्मका घात

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

करके भोग भोगना मूर्खता है। ऐसी शरीरकी दुर्दशा होनेसे पहले ही चेत लें। एक कवि ने बुढ़ापेका चित्रण किया है, बुढ़ापामें कान बहरे हो जाते तो यहां शरीरको और इन्द्रियोंको जरा भेदसे निरखकर वार्तालाप सा है। बुढ़ापेमें दूसरोंके द्वारा तिरस्कारके शब्द अधिक मिलते हैं, सो तिरस्कारके ये शब्द न सुनाई दें मानों इसलिए ये कान बहरे हो गए। और नेत्रोंने यह सोचा कि मैंने तो इसका जिन्दगी भर साथ निभाया, अब इसकी ऐसी दशा देखकर मेरेसे देखा नहीं जा रहा मानों यह सोच कर नेत्र भी अंधे बन गए। कविके शब्दोंमें ये नेत्र भी मानों बड़े सज्जन निकले। ऐसी दशामें जो शरीर कांप रहा है सो माने सामने खड़े हुए यमराजके डरसे कांप रहा है। ऐसे जर्जरदेहमें निःशंक होकर बैठे हैं बाह्य पदार्थोंमें मनता बढ़ाकर, यह कितने आश्चर्यकी बात है। तो जब तक यह शरीर समर्थ है तब तक सद्भाव करें और उस सद्भावनाके प्रतापसे अपना उद्धार करें।

छज्जीवछडायदणं णिच्चं मणवयणकायजोएहि।
कुरु दय परिहर मुणिवर भावी अपुव्वं महासत्तं ॥१३३॥

(५२३) **षट्जीवनिकायपर दया करनेका आदेश**—यह भावपहुड़ ग्रन्थ है, इसकी मूल रचना गाथाओंमें श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने की। इसमें मुनिवरोंको समझाया गया है और यों कल्पना कीजिए कि उनके सत्संगमें जो मुनिराज थे उनकी शिथिलतायें देखकर उनके दोष दूर करनेके लिए एक आचार्य होनेके नातेसे उन्हें सम्बोधन किया। अथव। आगे प्रगति करने के लिए सम्बोधा। इस गाथामें कह रहे कि हे मुनिवर, मन, वचन, कायसे ६ कायके जीवों पर दया करो। ६ काय हैं—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति और त्रस। षट्काय संज्ञामें एकेन्द्रियके तो अलगसे नाम दिये और दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चौइन्द्रिय, पञ्चेन्द्रिय और पञ्चेन्द्रियमें आये सब नारकी, सब मनुष्य, सब देव, पशु, पक्षी आदिक, इन सबको एक त्रसमें ही कह दिया। तो देखो अन्य लोगोंने भी पृथ्वी, जल, अग्नि वायु, इन चारको अलग अलग माना है और वनस्पतिको पृथ्वीकायमें ही शामिल कर लिया। जो काठ पथ्थर आदि दिख रहे वे सब पृथ्वी हैं, यह अन्य दार्शनिकोंका लक्षण है और त्रसकी वे कुछ सुध भी नहीं लेते। यहां इस प्रकारसे ६ काय बताये हैं कि जो उपयोगमें बहुत आ रहे वे ५ अलग कहे। पृथ्वी कितना सबके उपयोग में आ रही, मकान बनाते तो पृथ्वीकायसे बनाते, ईट है, सीमेन्ट है, गारा है, और पृथ्वी पर चल रहे। जलके बिना प्राण रहना कठिन है। जलका भी उपयोग है और अग्निके बिना सब भूखे धरे रहेंगे, कहांसे भोजन बनाया जा सकेगा और वायुके बिना भी किसी का काम नहीं चलता। आजकल गर्मीके दिन हैं, सभीको पूरा पता है कि जब हवा नहीं

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

चलती तो गर्मीके मारे घबड़ा जाते। वायुका भी खूब उपयोग होता है और वनस्पति कायकी बात देखो फल, गेहूं, लकड़ी काठ आदिक ये सब वनस्पति हैं, ये सब बहुत बहुत काममें आते। इनकी संख्या भी नाना प्रकारकी है। इस तरह ५ स्थावरोंको अलग-अलग कायमें गिना, और बाकी सब संसारी जीव त्रसमें आ गए। तो ऐसे ६ कायके जीवोंपर दया करें। यह गृहस्थोंसे पूरा नहीं बनता क्योंकि वनस्पति साग भाजी तो रोज लाते ही हैं, हवा बिना भी नहीं बनता। हवा बंद हो गई तो पंखा चालू हो गया, साईकिल मोटर आदिके पहियोंसे हवा निकल गई तो उसमें हवा पुनः भरी गई। गृहस्थ अग्नि-कायकी हिंसासे भी नहीं बच सकते, क्योंकि रोटियां तो पकाना ही है। आजकल तो गैसके रूपमें अग्निको एक टंकीसे बंद कर रखा है। तो आगकी हिंसासे भी नहीं बच सकते। जल भी बहुत उपयोगमें आता। पृथ्वी भी उपयोगमें आती, किन्तु मुनिराज इन सबकी हिंसासे बचे हुए हैं। कभी यह बात कोई पूछ सकता है कि मुनिजन श्वांस तो लेते, उससे तो अनेकों जीव मर जाते होंगे तो कैसे हिंसा नहीं हुई, तो इसका समाधान यह है कि वे इच्छा करके ये कुछ काम नहीं करते। न करते, न कराते और न उनकी अनुमोदना करते, इस कारण उनको वहां हिंसाका दोष नहीं लगता। गृहस्थोंको इन हिंसाओंसे बचना अत्यंत कठिन है। हां त्रस जीवोंकी हिंसा बचा सकते हैं।

(५२४) **छह अनायतनोंके परिहारका उपदेश**—यहां मुनिवरोंको उपदेश है कि हे मुनिवर तू मन, वचन, कायसे ६ कायके जीवोंपर दया कर। और, ६ अनायतनोंका परित्याग कर। कुगुरु, कुदेव, कुशास्त्र और इनके सेवक ये ६ कायके अनायतन हैं, धर्म के विरुद्ध ठिकाने हैं। धर्म नाम है अपने आपके सहज स्वरूपमें अपना अनुभव करना। जैसे लोगोंका चित्त नाममें है ना—फलाने लाल, फलाने चन्द, जिनका जो नाम है सो नाम बोला जानेपर वे कितना अपने नामपर लगाव रखे हैं कि झट समझ जाते कि मेरे लिए कहा, मुझको कहा। तो जैसे यहां पर्यायके नाममें लगाव है तो यह लगाव न रहे और आत्माके स्वभावमें लगाव बने कि मैं यह हूं अविकार ज्ञानस्वभाव, तो अपने स्व-भावमें लगाव करना सो धर्म है। तो धर्मके विपरीत जो साधन हैं वे अनायतन हैं। कुगुरुको इस धर्मका क्या पता यदि धर्मविधिका पता होता तो धर्मरूप वृत्ति उनकी रहती सन्यासमें। लक्कड़ जल रहे हैं, नाम धर रहे पंचाग्नि तप। कंदमूलका भक्षण करना धर्म समझते हैं। आत्मस्वभाव क्या है यह उनके परिचयमें नहीं है तो उसमें प्रवेश कैसे बने? कुगुरुओंकी जो सेवा करते वे भी अनायतन हैं, धर्मके ठिकाने नहीं हैं। कुदेव तो कोई होता ही नहीं—या देव हो या अदेव हो, दो ही बातें हैं। या तो वीतराग

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

सर्वज्ञ है या देव नहीं है। कुदेव कहांसे आये ? तो कुदेव उसे कहते हैं कि जो देव तो नही है पर अपनी देवताके रूपमें प्रसिद्धि कराये तो वह कुदेव कहलाता है। वे धर्मके स्थान नहीं हैं। कुशास्त्र—जिनमें पापोंका पोषण किया गया हो वे कुशास्त्र हैं। और जो इनकी उपासना करें सो वे भी अनायतन हैं। तो इन ६ अनायतनोंका परित्याग करें।

दसविहपाणाहारो अणंतभवसायरे भमंतेण।
भोयसुहकारणट्ठं कदो य तिविहेण सयलजीवाणं ॥१३४॥

(५२५) मोहमें अज्ञानमें अनन्त भवसागरमें भ्रमते हुए जीवोंकी भोगसुखनिमित्त दशविध-प्राणाहार प्रवृत्ति—हे जीव अनन्त भावसागरमें भ्रमण करते हुए तू ने भोगसुखके निमित्त मन, वचन, कायसे समस्त जीवोंके १० प्राणोंका आहार किया है याने जो दूसरे जीवका वध करे, खाये तो उसने कितनेके प्राणोंको अपने मुखमें कबलित किया है। ये दशायें पायी है संसारमें भ्रमण करते हुएमें। यह जीव अनादिकालसे अनन्त भव धारण कर चुका। वहां क्या किया ? दूसरेका आहार बना डाला। जैसे लोग कहते हैं कि ये जीव खानेके लिए ही तो बनाये गए हैं। जो अज्ञानी मोही जीव हैं मांसलोलुपी वे इतना तक कह डालते हैं, और फिर उनसे पूछो कि मनुष्य किस लिए बनाये गए ? तो वे कहते हैं कि मौजके लिए, सबको खाने के लिए। उनकी दृष्टि यह नहीं कि जीव वे होते हैं जिनके दर्शन, ज्ञान प्राण हो। और वह सब जीवोंमें समान है यह ज्ञान न होनेसे १० प्रकारके प्राणोंका आहार किया और अनंत संसार सागरमें भ्रमण किया। यह सब कुछ किया भोगसुखके लिए। और नारकियोंका शरीर तो किसीके खानेके काम आता ही नहीं। उनका वैक्रियक शरीर है, अब खानेको जो मिले सो ले आयेंगे कौन ? तिर्यञ्च। कोई देश ऐसे भी हैं कि जो मनुष्योंको मार कर खा जाते। कोई अकालकी जैसे कठिन परिस्थिति आये तो यह बात हो भी सकती है। और पशु पक्षी, इनका तो मारना लोग अत्यन्त सुगम समझते हैं, इसीके फलमें संसारमें अब तक जन्म मरण पाता रहा। अब समझ लीजिए कि गोभीका फूल कोई खाये तो उसमें साक्षात् मांसका दोष है अतिचार नहीं, साक्षात् मांसका दोष है। अतिचार तो उसमें बताया कि जैसे मानो आटेकी म्याद ५ दिनकी है और खा ले १० दिनका तो उसको कहते कि अतिचारका दोष लग गया। पर गोभीके फूलमें भक्षणका अतिचार नहीं, साक्षात् मांस भक्षणका दोष है। उसमें छोटे बड़े सभी प्रकारके कीड़े बहुत हैं। उनको बिनारनेमें, उनको पतेलीमें पकाने में, छौंकनेमें बड़े दोष हैं। वहां यों समझलो कि मांसका कलेवर साथ है। इससे यह जानें कि गोभी

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

(५१०) **प्रभुके निवासधामके निकट अतिशय**—प्रभु जहां बिराजे होते वहां अशोक वृक्षकी छाया रहती है, पुष्पवर्षा होती है। वे ऐसे पुष्प नहीं जैसे कि यहांके विकलत्रय जीवोंसे युक्त पुष्प है। वहांके पुष्पोंमें कीड़े मकोड़े नहीं होते। कीड़े मकोड़े तो स्वर्ग-पुष्पोंमें भी नहीं होते, ऐसे निर्जन्तु पुष्पोंकी वहां वर्षा होती है और वहांके गीत वादित्र का तो कुछ ठिकाना ही क्या ? वहां बाजोंके प्रकार करोड़ों तरहके बताये गए हैं। अब यहीं देख लो—कमसे कम २५० तरहके बाजे तो यहां भी मिलेंगे। एक बांसुरीको ही ले लो, बांसुरी करीब ५० तरहकी मिलेंगी। बैन्ड बाजे दूसरी प्रकारके हैं, ढप ढप बाजे दूसरी प्रकारके हैं। कितनी ही तरहके बाजे है। और फिर उनके बजाने वालोंकी कला का तो कहना ही क्या ? उनके नृत्य तो अजीब ढंगके, क्षण भरमें यहां और क्षण भरमें यहां और क्षण भरमें दूर, छिनमें अदृश्य और छिनमें दृश्य और वे देव देवियां ठलुवा हैं क्योंकि उनके पास कोई कमाने धमानेका काम नहीं, खाना भी नहीं पड़ता तो वे इन कलाओंमें बड़ा अभ्यास रखते, बड़े निपुण होते। जब और कोई काम नहीं है तो वे इन कलाओंमें बड़े कलावान हो जाते, कैसे कैसे नृत्य, गीत, वादित्र, उनकी शोभा उनकी स्तुतियां ये सब बड़े अनोखे ढंगके होते। संस्कृत भाषाको देववाणी बताया है. सुर भाषा जब बताया है तो होती होगी, कुछ तो मुखसे बोलते ही होंगे। एक दूसरेको समझाते होंगे। तो संस्कृत तो सबकी मूल जननी है। आप हिन्दी अंग्रेजी, संस्कृत, गुजराती, मराठी पंजाबी बंगाली आदि सभी भाषाओंमें देख लो, सबमें संस्कृत भाषासे मेल खाता है। उन देवोंकी वाणी है वह संस्कृत भाषा। भगवानकी दिव्यध्वनि खिरती है, वह एक योजन तक भव्य जीवोंके द्वारा सुन ली जाती है।

(५११) **प्रभुके निकट चमर ढुलने व दिव्यपुष्पवृष्टि होनेके अतिशय**—प्रभुके निकट ६४ चमर ढुर रहे भक्तिसे, यहां चमर ढोरनेके लिए कोई सर्वेन्ट नहीं नियुक्त होते, जैसे किन्हींके यहां विवाहके समय दूल्हेके ऊपर चमर ढोरनेका रिवाज है तो उसमें चमर ढोरने के लिए नौकर रहता, वह गायकी पूछका बना चमर ढोरता, पर समवशरणमें भगवान के ऊपर शुद्ध चमर ढोरे जाते हैं भक्ति और अनुरागवश। प्रभुकी सेवा करके वे अपने को बड़ा भाग्यशाली समझते। जिसके स्तवनमें बताया कि जब फूल बरसाये जाते हैं तो ऊपर डंठल करके छोड़े जाते हैं मगर गिरते ही डंठल नीचे हो जाता और उसकी पंखुड़ी ऊपर हो जाती है। वह मानो दुनियाको यह बता रहे कि भगवानके चरणोंमें जो गिरेगा सो उसका डंठल नीचे हो जायगा याने बन्धन खतम हो जायगा। ये ढुरते हुए चमर मानों दुनियाके लोगोंको यह बता रहे कि जो भगवानके चरणोंमें

Report any errors at vikasjain@gmail.com

http://www.jainkosh.org

आयगा वह नियमसे ऊपर उठेगा। इन सब शोभाओंको विस्तारने वाले कितने ही समारोह होते हैं।

(५१२) **प्रभुदेहतेज और लक्ष्मीसमृद्धिसे विरक्तता**—भगवानके शरीरका तेज ऐसा है कि करोड़ों सूर्योंके एक साथ फैले हुए प्रकाशके समान है। वह तेज ऐसा और ढंगका है कि सुखद है, किसीको बाधा पहुंचाने वाला नहीं है। जिसके शरीरके चारों ओर भामण्डल बना है वह नेत्रोंको अत्यन्त प्रिय है। जिसको छूनेके लिए लक्ष्मी दौड़ी नीचेसे कि मैं सिंहासन बनकर भगवानको छू लूं, रत्नजड़ित सिंहासन है मगर भगवान उससे भी चार अंगुल ऊपर हैं, तो मानो लक्ष्मीने यह सोचा कि ये भगवान ऊपर उठे जाते तो मैं इनके ऊपरसे छू लूं। सो ३ छत्रके बहानेसे वह लक्ष्मी ऊपरसे भगवानपर आयी मगर वह भी ऊपर लटकी रह गई छू न सकी। ऐसी बड़ी-बड़ी शोभा, बड़े बड़े अतिशयोंसे सहित पंच कल्याणक आदिक ये सब बाह्य सुख, किसको सुख ? भगवानको सुख, देखने वाले मानते हैं सो देखने वालोंकी ओरसे ही कहा जा रहा है कि ऐसे सुखोंको प्राप्त है भगवान। अरे प्रभु तो अनन्त सहज शाश्वत आनन्दको प्राप्त हैं, अनन्त चतुष्टयके धनिक हैं।

(५१३) **भावश्रमणके गणधराभ्युदयका लाभ व प्रभुनामोंमें प्रभुगुणोंका दर्शन**— भाव श्रमण मुनि गणधरोंके सुखको भी प्राप्त होते हैं। अरहन्त भगवानके बादका पद है तो किसका ? गणधरोंका। जितने नाम रखे गए हैं भगवानके वाचक उन सबसे भगवानकी शोभा जानी जाती है। आखिर भगवान पशुपति हैं, मामूली नहीं हैं। जितने जगतमें जीव हैं उन जीवोंका नाम है पशु। कहीं यह न समझना कि सिर्फ गाय, बैल, भैंस आदि जानवरोंका नाम है पशु। अरे पश्यति इति पशुः जो द्रष्टा हो, देखे उसे पशु कहते हैं। भगवान पशुपति हैं। शिव शंकर जो ज्ञानस्वरूप सो शिव, जो शं सुखको करे सो शंकर, शिवमार्गकी जो विधि बताये सो ब्रह्मा जो सर्व व्यापक सो विष्णु, ये सब भगवानके नाम हैं और आत्माके भी नाम हैं, क्योंकि ऐसी योग्यता दोनोंमें है, ये ही आत्माके नाम हैं। जिन शिव ईश्वर ब्रह्मा राम, विष्णु, बुद्ध हरि जिसके नाम। कुछ लोग तो यहां जिसके की जगह जिनके बोलते, पर यहां जिसके शब्द ठीक है, क्योंकि उसका अर्थ है कि जिस आत्माके ये सब नाम हैं, उस धाममें मैं, राग त्यागि पहुंचूं निज धाम, आकुलताका फिर क्या काम ? देखिये यह छंद आत्मकीर्तनमें कुछ कठिन सा लगता तभी तो बहुतसे लोग जिसके की जगह जिनके बोलते। जिस अन्तस्तत्त्वके ये सब नाम हैं। जिन —जो रागद्वेषको जीते सो जिन। शिव जो कल्याणमय हो सो शिव, ईश्वर—जो अपने

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

ऐश्वर्यमें स्वतन्त्र हो। ब्रह्मा—जो सृष्टिको रचे सो ब्रह्मा। राम–रमन्ते योगिनः अस्मिन् इति रामः, जिसमें योगीजन रमण करें सो राम। अब किसमें रमण करते ? इस ही अन्तस्तत्त्वमें। विष्णु जो व्यापक हो सो विष्णु, बुद्ध–जो ज्ञानमय हो सो बुद्ध, हरि जो पापोंको हरे सो हरि, कौन ? यह आत्मा, सो ये सब जिस अन्तस्तत्त्वके नाम हैं सो राग छोड़कर मैं निज धाममें पहुंचूं तो आकुलताका फिर कोई काम नहीं रहता। तो यह सब है परमात्मस्वरूप और उसके निकट हैं गणधर देव। जैसे राजा और युवराजा ऐसे ही अरहन्त और गणधर देव। और ऐसे अनेक अभ्युदय हैं, इन्द्रादिक पद हैं, जिनको भावश्रमण मुनि प्राप्त करते हैं। उनका लक्ष्य नहीं है कि मैं इन्द्र बनूं मगर अपने भाव साधनामें बढ़ रहे हैं तो ऐसे पुण्य विशेष बंधते ही रहते हैं और उनके विपाकका ऐसा अभ्युदय प्राप्त होता है।

ते धण्णा ताण णमो दंसणवरणाणचरणसुद्धाणं।
भावसहियाण णिच्चं तिविहेण पणट्ठमायाणं ॥१२९॥

(५१४) **दर्शनज्ञानचारित्रशुद्ध भावसहित श्रमणोंको नमस्कार**—वे भावश्रमण धन्य हैं जो दर्शन ज्ञान और चारित्रसे शुद्ध हैं और मायाचारसे रहित हैं, उन भावमुनियोंको मेरा मन, वचन, कायसे नमस्कार हो। कुन्दकुन्दाचार्य स्वयं ऐसा कह रहे हैं। दो बातें यहां बतायीं हैं कि दर्शन ज्ञान चारित्रसे शुद्ध होना, गुण निर्दोष विकसित होना, जिसके लिए उनका दर्शनाचार, ज्ञानाचार, चारित्राचार तपाचार और वीर्याचारका पालन होता है। तो कितना विरक्त और स्वभावके अभिमुख कि इन आचरणोंके प्रति यह श्रद्धा है कि हे आचरणो ! मैं तुमको तब तक पाल रहा हूं जब तक तुम्हारे प्रसादसे इन आचरणोंसे भी परे निष्कम्प ज्ञानस्वरूप न हो जाऊं। कहते हैं ना, विरक्त गृहस्थ घरके पाये हुए समागमोंसे विरक्त है तो मुनि संघ प्राप्त समागमोंसे विरक्त है और जिन आचरणोंका पालन करता है सो जानता तो है कि इन आचरणोंके पाले बिना गति नहीं है किन्तु स्वभावदृष्टि अभिमुख होनेसे जानता है कि अंततोगत्वा प्राप्त करना है यह निष्कम्प ज्ञानस्वभाव।

(५१५) **निर्माय भावश्रमणोंको नमस्कार**—भावश्रमण दर्शन ज्ञान चारित्रसे विशुद्ध है, सम्यक्त्व सहित है और मायासे रहित है। मायाचार जैसे किसी गृहस्थमें पाया जाता है, धर्मकी जगह भी मायाचार। जाप करने बैठे तो कमर झुकाये सीधे सादे जैसे चाहे अटपट टेढ़े मेढे बैठे हुए जाप दे रहे हैं और अगर कोई दो चार लोग दर्शन करने वाले पासमें आकर खड़े हो गए तो झट अटेन्सन हो गए मायने खूब तनकर ध्यान करने बैठ

Report any errors at vikasnd@gmail.com

https://www.jainelibrary.org

गए। दूसरी बात जैसे कोई मन्दिरमें भगवानके समक्ष स्तुति पाठ कर रहा था तो जब तक उसे कोई देख नहीं रहा था तब तक तो वह जैसा चाहे बेतुके बेढगे स्वरमें स्तुति कर रहा था, पर जब देखा कि कोई दो चार लोग दर्शन करने वाले आ गए तो झट उस स्तुति पाठके लयमें परिवर्तन हो गया मायने बड़े रागसे अलाप कर स्तुति करने लगे, तो यह मायाचारी नहीं है तो क्या है ? गृहस्थोंकी तो बात छोड़ो, साधुजन भी बड़ी बड़ी मायाचारी करते हैं। पुराणोंमें एक घटना आयी है कि किसी मुनिराजने किसी नगरमें चातुर्मास किया सो बराबर चार महीनेका उपवास ठान लिया, उनकी बड़ी प्रसिद्धि चारों ओर फैल गई। खैर वह तो चातुर्मास व्यतीत होते ही बिहार कर गए। बादमें क्या हुआ कि उसी जगहसे कोई मुनिराज निकले तो श्रावकोंने उनकी तपस्याकी प्रशंसा कर दी, धन्य है इन महाराजको जिन्होंने चार माहका उपवास किया। तो इस प्रशंसाको सुनकर वह मुनि बड़ा खुश हुआ और मौन ले लिया, इसलिए कि कहीं बोलनेसे हमारा भेद न खुल जाय। उस मायाचारीके फलमें वह मरकर हाथी बना। शायद त्रिलोकमंडल हाथीकी यह कहानी है। माने जो अपना मान चाहता है उसकी यह दशा होती है कि हाथी जैसा जानवर बनना पड़ता। मान नाकको भी कहते, बोलते ना इसने हमारी नाक रख ली। तो मानो मान रखने वालेको ऐसी नाक मिलती जो कि जमीनपर लटकती याने सूंढ। तो जहां यह मान मायाचार है वहां कहांसे सरल भाव होंगे ? किसके लिए यहां मायाचारी करना ? तो जो मायासे रहित हैं, सम्यक्त्व से सहित हैं, दर्शन ज्ञान चारित्रसे विशुद्ध है उन मुनिजनोंको, उन आत्माओंको मन, वचन, कायसे नमस्कार हो।

इड्ढिमतुलं विउव्विय किण्णरकिंपुरिसअमरखयरेहिं।
तेहि वि ण जाइ मोहं जिणभावणभाविओ धीरो ॥१३०॥

(५१६) **भावश्रमण मुनिके अतुल ऋद्धिका लाभ**—भावश्रमण मुनिवरोंके तपके महत्त्वसे अतुल ऋद्धियां स्वयं प्राप्त होती हैं। उन्हें ऋद्धियोंका पता नहीं रहता कि मुझमें हुई है। जैसे विष्णुकुमार मुनिको अपनी विक्रिया ऋद्धिका पता न था, उन्हें पता कब पड़ा, जब एक क्षुल्लकने वहां जाकर निवेदन किया कि महाराज हस्तिनापुरमें ७०० मुनियों पर भारी उपसर्ग हो रहा है, उन्हें घेरकर आग लगायी जा रही है ? धुंवांसे कंठ रुंध गया है। सो मुनिराजने पूछा कि मैं क्या करूं ? तो उस क्षुल्लकने बताया कि आपको विक्रिया प्राप्त हुई है। अच्छा जब उन्होंने परीक्षा की, हाथ फैलाया तो लवण समुद्रपर्यन्त फैलता चला गया। तो उन्होंने जाकर उनकी रक्षा की थी। ऐसी ऋद्धियों

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

का मुनिवरोंको पता ही नहीं रहता। जिनको मोक्ष मिलना है उनको ऋद्धियां होना कौन सी बड़ी बात है ? तो एक तो मुनिवरोंको अतुल ऋद्धियां स्वयं प्राप्त होती हैं, दूसरी ओर यह भी देखिये कि स्वर्गके देव, भवनवासी देव, व्यन्तरदेव, विद्याधर लोग अपनी-अपनी कलायें दिखाते हैं, अनेक ऋद्धियां दिखाते हैं, उनको देखकर वे मुनीश्वर कभी मोहको प्राप्त नहीं होते। वे नहीं सोचते कि ऐसी ऋद्धियां मुझे क्यों न मिलीं ? ऋद्धियोंका पता नहीं और जिनके ऋद्धियोंका पता नहीं उनको ऋद्धियोंका निरोध नहीं, क्योंकि ये सब जिनभावनासे वासित हैं। आत्माका दर्शन सहज स्वरूप अहेतुक मात्र चैतन्यस्वरूप है। इतना ही मात्र मैं हूं, इतनेमें ही मेरा व्यापार है, इतनेमें ही मेरा उपभोग है। इतनी ही मेरी सारी दुनिया। इससे बाहर मेरा कुछ नहीं। ऐसा निर्णय रखने वाले भावश्रमण मुनिके बाह्य चमत्कारोंमें मोह कैसे हो सकता है सो धन्य है उन मुनियोंको जिनको अपनी ऋद्धियोंका भी पता नहीं और जिनके ऋद्धियां न हुई हों वे दूसरेके चमत्कारको देखकर मोहित नहीं होते। जो अपना ज्ञानस्वभाव है उसमें ही सदा निःशंक रहते हैं, उनके जगतके वैभवके निरखनेसे कभी व्यामोह नहीं होता।

किं पुण गच्छइ मोहं नरसुरसुक्खाण अप्पसाराणं।
जाणंतो पस्संतो चिंतंतो मोक्खमुणिधवलो ॥१३१॥

(५१७) **भावश्रमणके मोहकी असम्भवता**—जिस भावश्रमण मुनिको मोक्षका स्वरूप निर्णीत है, केवल स्वभाव मात्र रह जाना, उपाधिरहित हो जाना, जो है सो ही अकेला रह जाय उसे कहते हैं मोक्ष और इस स्थितिमें अतुल सहज आनन्द रहता है, ज्ञानके द्वारा तीनों लोकको जान रहे हैं, यह महत्त्वकी बात नहीं है, वह तो होता ही है, पर सिद्धमें महत्त्वकी बात यह है कि वे शाश्वत सहज आनन्दका निरन्तर अनन्तकाल तक निष्कम्पतया अनुभव कर रहे हैं। यह बात महत्त्वकी है। लोगोंको चाहिये क्या ? सुख शांति, वह ज्ञान बिना कभी नहीं मिलता यह बात अवश्य है, पर किसीको कहा जाय कि तुमको ज्ञान तो खूब देंगे मगर सुख न मिलेगा, दुःख ही दुःख रहेगा तो वह उस ज्ञानको भी पसन्द न करेगा। वह तो यही कहेगा कि मुझे ऐसा ज्ञान न चाहिए कि जिसमें कष्ट हो। हालांकि शुद्ध ज्ञानके साथ आनन्दका ही अन्वय है पर प्रयोजनकी बात देखो, जीवोंका प्रयोजन है शान्ति आनन्द। तो आनन्दमयमें केवल आत्मस्वरूपको जिन्होने देखा, निरखा, उन पुरुषोंका मन कैसे मोहित हो सकता है ? जिनके निरन्तर कैवल्यका चिन्तन है—मैं हूं, एक हूं, अकेला हूं, यह ही मात्र जिनके चिन्तनमें है वे श्रेष्ठ मुनि किन्हीं मनुष्यों देवोंके तुच्छ सुखोंको निरखकर, चमत्मकारको निरखकर कैसे वि-

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

मुग्ध हो सकते हैं ? मोक्ष ही अनन्त सुखको देने वाला है। किसी बाह्य पदार्थका समागम शान्तिका देने वाला नहीं। उस समागममें उपयोग फंसनेसे कष्ट ही है, वहां आनन्द नहीं, यह बात जिनके विश्वासमें पड़ी है निरन्तर, ऐसी ही जिनकी दृष्टि रहती है उनको संसारके चमत्कार कैसे पतित कर सकते हैं ? ये तो संसारी जीवोंके स्वाद हैं, वे मस्त होते हैं ऋद्धि वैभवमें, पर मोक्ष स्वरूपका ज्ञान रखने वाले साधुजनोंकी इन बाहरी समागमोंमें कदापि बुद्धि मोहित नहीं होती। सम्यग्दृष्टि साधु सदैव निःशंक रहते हैं, जो मेरा स्वरूप है अमूर्त चैतन्यमात्र उसमें परसे कभी विपत्ति आ ही नहीं सकती। यह खुदमें ही गड़बड़ होकर विपत्ति पाता है। बाहरी पदार्थोंसे इसमें विपत्ति आ ही नहीं सकती। स्वरूप ही नहीं है ऐसा कि किसी बाहरी पदार्थका द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव प्रभाव कुछ भी स्वमें आ जाय, प्रभाव भी एक का दूसरेपर नहीं होता किन्तु जो प्रभावी होता है उसमें स्वय ऐसी योग्यता है कि वह अनुरूप निमित्त आश्रयभूत पदार्थको पाकर अपनी कषायके अनुरूप अपनेमें प्रभाव पैदा कर लेता है। प्रभाव और भावमें कुछ अन्तर नहीं है। जैसे आप कहते हैं द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव तो भावका ही नाम प्रभाव, उत्कृष्ट भाव। याने जो परिणमन न था वह परिणमन हो रहा, एकदम नई बात हो रही, उसका नाम है प्रभाव। एक आश्चर्य करने वाली, चमत्कार करने वाली, एकदम नवीनता जाहिर करने वाली जो परिणति है उसे कहते हैं प्रभाव। तो प्रभाव उपादान का है, उपादानमें होने वाला जो कार्य है वह निमित्तका प्रभाव नहीं, मगर निमित्तके सन्निधान बिना उपादान अपनेमें वह प्रभाव नहीं पैदा कर सकता। विकार रूप प्रभाव की बात कह रहे, जो सहज स्वभावरूप प्रभाव है वह तो होता ही है। वहां तो मात्र कालद्रव्य निमित्त है। तो जो सर्वद्रव्योंके परिणमनमें साधारण निमित्त है, उसकी कोई चर्चा नहीं की जाती, वह तो होता ही रहता है, वहां अन्वयव्यतिरेक कुछ नहीं आता। जहां अन्वयव्यतिरेक हो चर्चा वहां की हुआ करती है। तो ये भावश्रमण सम्यग्दृष्टि मुनि सांसारिक सुखोंसे सदा विरक्त हैं और अपने आपके निर्णयमें, स्वरूपमें, मार्गमें निःशंक रहते हैं। शान्ति मिलेगी तो इस ही उपायसे मिलेगी। शान्तिका और कोई दूसरा उपाय नहीं है।

उत्थरइ जा ण जरओ रोयग्गी जा ण डहइ देहउडिं।
इंदियबलं न वियलइ ताव तुमं कुणहि अप्पहियं ॥१३२॥

(५१८) **वृद्धत्व आनेसे पहिले ही आत्महित करनेका आदेश**—हे आत्मन् ! जब तक बुढ़ापा आक्रमण नहीं करता है तब तक तू आत्महित करले। बुढ़ापा आना तो निश्चित

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

है, कोई ऐसा न समझे कि जब बुढ़ापामें हम आत्महित नहीं कर सकते तब पहले से ही क्यों आत्महितकी साधना बनायें, क्योंकि बुढ़ापा आनेपर सब भूल जायगा, तो यों भूलता नहीं है। छहढालामें तो लिखा है—बालपनेमें ज्ञान न लह्यो, तरुण समय तरुणी रत रह्यो। अर्द्धमृतकसम बूढ़ापनो, कैसे रूप लखे आपनो ? कोई अगर बचपनमें ज्ञान न बनाये तो वह अपना स्वरुप कैसे लख सकता है ? तरुण समयमें तरुणीमें रत रह रहा तो वहां अपने स्वरूपका दर्शन कैसे हो सकता है। और बुढ़ापा अधमरेकी तरह है। वहां तो कुछ कर ही नहीं सकता। जब ये तीन बातें सुन लीं तो कोई यह शंका कर सकता है कि जब बुढ़ापेमें सब भूल जायेंगे तो फिर अभीसे क्यों आत्महितकी बात करें ? तो बुढ़ापेमें यों नहीं भूला करता। यह कथा उस एक जीवकी है जिसने बालपनेमें तो ज्ञान नहीं पाया और वही मनुष्य सारी जवानी भर तरुणीमें रत रहा, वही मनुष्य बूढ़ा बना तो अब वह करेगा क्या ? पर जिसने बालापनमें ज्ञानसम्पदान किया, तरुण समयमें वैराग्य धारण किया वह तो सावधान है। बुढ़ापा आनेपर वह विचलित नहीं होता। फिर भी बुढ़ापा एक ऐसी दयनीय स्थिति है कि इसमें सिथिलता आती है। कुछ भावों में भी गिरावट हो सकती है। नियम नहीं है, पर यह सम्भावना है। तो जो तरुण समय तक कुछ भी कल्याण न करें उनके लिए बुढ़ापा बड़ा कठिन है, इस कारण जितना समय अभी मिला है उसमें तरुण समय तक आत्महित करनेका प्रयोग बना लें। जवानी के समय तो युवक लोग मजाक करते हैं कि अभी हमारे धर्म करनेके दिन हैं क्या ? बुढ़ापा आने दो फिर धर्म करेंगे। अरे उन्हें यह विदित नहीं है कि बुढ़ापा आनेपर धर्म नहीं कर सकते। इसलिए जब जिनवाणीकी प्रेरणा मिले तभीसे आत्महितमें अपनेको लगा लें।

(५१६) **वृद्धत्वके चित्रणमें वैराग्यकी प्रेरकता**—हे आत्मन् ! जब तक बुढ़ापाका आक्रमण नहीं होता तब तक हित कर लो। पद्मपुराणमें एक जगह चित्रण मिलता है, राजा दशरथकी अतिप्रिय रानीकी बात है। राजा दशरथके घर प्रतिदिन मंदिरसे गंधोदक आता था उनकी सभी रानियोंके लिए ? सो सभी रानियोंको उनकी दासियां गंधोदक लाती थी एक दिन जो सबसे प्रिय रानी थी उसके लिए एक वृद्ध पुरुषको गधोदक देने के लिए भेजा। अब दासियां तो थी जवान हट्टी कट्टी सो फौरन दौड़कर गंधोदक ले आईं पर जो वृद्धपुरुष था उसको गंधोदक लानेमें काफी देर हो गई। देर हो जानेसे वह रानी काफी झुंझला गई ? मैं ऐसी फाल्तू हूं, मेरा कोई आदर नहीं, मेरेको गंधोदक अब तक नहीं आया और हमारे पति भी हमारी उपेक्षा रखते हैं। तो ये जो बड़े आदमी होते

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

ठलुवा लोग, जिन्हें कोई अधिक काम नहीं पड़ता तो वे बैठे बैठे ऐसा गुन्तारा बनाते कि कुछ न कुछ करते रहना चाहिए। तो वह रानी अपनेको बड़ा दुःखी महसूस कर रही थी इसकी सूचना मिली दशरथको सो झट उस रानीके पास आये और उदासीका कारण पूछा, तो उसने स्पष्ट रूपसे अपने मनकी सारी बात बता दिया। इतनेमें ही वह वृद्ध भी गंधोदक लेकर आया। दशरथने उसे डाटना शुरू किया, तो उस वृद्ध पुरुषने जो एक वृद्धावस्थाका चित्रण उस समय किया वह बड़ा रोमाञ्चकारी है। उस वृद्धावस्थाका चित्रण सुनकर वैराग्यकी ओर बढ़नेकी प्रेरणा मिलती है। तो ऐसी चीज है वृद्धावस्था। यह वृद्धावस्था देवोंके नहीं होती, मगर देवोंमें बुढ़ापा जैसी ठोकर तो अन्तमें लगती ही है। जब ६ महीने शेष रहते हैं, मालायें मुर्झाती हैं, उनका उसी ढंगका बुढ़ापा समझ लीजिए। तो यह बुढ़ापा एक ऐसी व्याधि है की इसमें कुछ बात बनती नहीं, इसलिए जब तक बुढ़ापा नहीं आया तब तक आत्महित करलें।

(५२०) **रोगग्रस्त होनेसे पहिले ही आत्महित करनेकी प्रेरणा**—हे आत्मन्! जब तक रोगरूपी अग्नि शरीररूपी झौंपड़ी को नहीं जलाती तब तक तू आत्महित करले। कोई बता सकता क्या कि कौनसा रोग भला है कि जिससे अपनेको कष्ट न हो। तो अपेक्षामें तो भले ही बता देते हैं, थोड़ा भी दर्द हुआ शरीरके किसी अंगमें तो कहने लगते कि इससे तो बुखार आ जाता तो वह भला था, यह पीड़ा तो सही नहीं जाती। जिसके जो रोग आता उसको वह कठिन लगता है। और कितने ही रोग हैं इस शरीर पर। करोड़ों, यह रोग रूपी आग इस शरीररूपी झौंपड़ीको जला देती है। हे आत्मन! जब तक तू निरोग है, कुछ बल है तब तक आत्महित कर लो। अपने परिणामोंको इतना उज्ज्वन बनाओ कि किसी भी बाह्यपदार्थमें तेरे मोह न जगे। यह ही तो आत्महित है। निजको निज परको पर जान यह बात दृढ़तासे बनी रहे। और इसके लिए जिन-जिन साधनोंकी जरूरत है उन्हें भी कर। सत्संग कर, स्वाध्याय कर। जब तक रोग न घेरे तब तक तू आत्महित कर ले।

(५२१) **इन्द्रियबल क्षीण होनेसे पहिले ही आत्महित करनेका उपदेश**— हे आत्मन्! जब तक इन्द्रियका बल क्षीण नहीं हो जाता तब तक तू आत्महित करले। जब बुढ़ापा आया और कोई बुद्धिगत रोग आया अथवा मन और इन्द्रियका बल मानो क्षीण हो गया तो वह फिर क्या करेगा? तू मैत्री आदि चार भावनाओंको चित्तमें उतार ले। करनेके नामपर कुछ न करें तो खाली गप्पकी बातोंसे तो उत्थानका काम न बनेगा। इसलिए स्थूल बात है—सर्वेषु मैत्री। सर्व प्राणियोंमें मित्रताका बर्ताव रहे। मेरे समान सब हैं,

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

नयसे जो जो भी जितने भी चिन्तन चलें, पर उद्देश्य यह रखें कि इससे हमें शिक्षा लेनी है सहज ज्ञानस्वभावपर दृष्टि पानेकी ।

(५०३) **समस्त उपदेशोंका लक्ष्य निज शाश्वत स्वभावका आलम्बन**—जितने भी वर्णन हैं उन सब वर्णनोंका प्रयोजन सहज ज्ञानस्वभावपर दृष्टि पाना है । प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग सभीका प्रयोजन यह है कि यह आत्मा अपने सहजसत्यस्वरूप तक पहुंच जाय और उसीको विधिसे समझानेका सर्वत्र प्रयास है, पर कोई बहुत अलग उल्टा चला गया तो उसको ठीक मार्गपर लानेके लिए ओर ढ़ंगके प्रयास चलते हैं । जो जरा भी भूला है उसका और ढगका प्रयास चलता है । उसमें भेद पड़ गया भूलके कारण । चूंकि भूला अधिक है इसलिए उसके प्रतिबोधन भी अधिक है, पर मूलमें मार्ग एक है ।

(५०४) **भावश्रमणका शाश्वत आनन्दपर अधिकार**—सहज ज्ञानस्वभावका जिसने दर्शन, श्रद्धान अनुभव किया है वह पुरुष भावश्रमण है और सुखोंको प्राप्त करता है । सुख कोई अच्छी चीज नहीं हैं, मगर यह शब्द ऐसा रूढ़ है कि आनन्द और शान्तिके लिए सुख शब्दका प्रयोग सुगमतया चलता रहता है । सुख पाना अच्छी बात नहीं, ख मायने इन्द्रियां और सु मायने सुहावना लगना, इन्द्रियोंको जो सुहावना लगे ऐसी परिणति पाना कोई अच्छी बात नहीं शान्ति पाना उत्तम है, आनन्द पाना उत्तम है । आसमंतात् नंदनं आनंदः चारों ओरसे जो समृद्धिशाली हो उसका नाम है आनन्द । टुनदि समृद्धौ धातुसे नन्द शब्द बना, नन्दनं नन्दः उसका नाम है शान्ति तो शान्ति और आनन्द के लिए सुख शब्दका प्रयोग किया जाता है, क्योंकि आचार्योंको समझाना किसे है ? गृहस्थोंको, सुखसे परिचित लोगोंको । जो यहां सुखसे परिचित है उनको समझानेके लिए उस शब्दका प्रयोग किया गया है, तो यहां सुखका अर्थ लेना है शान्ति और आनन्द । भावश्रमण आनन्दको प्राप्त होते हैं ।

(५०५) **द्रव्यश्रमणकी दुःखपात्रता**—जो द्रव्यश्रमण हैं, मिथ्यादृष्टि मुनि वे अपनी करतूतसे दुःख ही पाते हैं । द्रव्यलिङ्गी मुनि अनेक प्रकारके होते हैं उनमें से यहां मिथ्यादृष्टि मुनिको लीजिए । जिसके ५ वें गुणस्थानका भाव है वह मुनि भी द्रव्यलिङ्गी है । जिसके चौथे, तीसरे, दूसरेका भाव है वह भी द्रव्यलिंगी मुनि है, जिसके पहले गुणस्थानका भाव हैं वह भी द्रव्यलिंगी मुनि है । प्रायः द्रव्यलिंगी मुनि कह कर जो सम्बोधा जाता है वह मिथ्यादृष्टि द्रव्यलिङ्गी मुनिको ही समझाया जाता है । रहा अब चौथे पांचवें गुणस्थान वाला द्रव्यलिङ्गी मुनि । वह सब समझ चूंकि कभी इसमें आयगी अभी

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

क्षयोपशम कम है, कभी विशेष होगा। व्रतोंके भाव कभी कम रहे, कभी अल्प रहे तो चौथे पांचवें गुणस्थानमें आ गया, वहां कोई खास ऐसी त्रुटि नहीं है, जो है वह स्वयं ठीक हो जाती। वहां कुछ अधिक पौरुष नहीं करना होता इसलिए द्रव्यलिंगी मुनि कहकर मिथ्यादृष्टि द्रव्यलिङ्गी मुनिको सम्बोधा है। सो जो द्रव्यश्रमण है वह दुःखको पाता है, तुरन्त दुःखी है, आगे भी दुःखी रहेगा। तो क्या दुःख है कि कुछ ज्ञान प्रकाश ही नहीं मिल रहा। जिसे कहते घबड़ाहट। अब समझमें ही नहीं आ रहा तथ्य। जो कुछ समझ में आ रहा उल्टा सीधा, वह कर रहा तुरन्त दुःखी और दुःखमें खोटा बंध बनता है, सो उस बंधके फलमें यह आगामी कालमें भी दुःखी रहेगा।

(५०६) **भावसहित व भावरहित वृत्तिके गुण दोष जानकर गुणके आश्रयसे गुण विकासमें आनेका अनुरोध**—भावसहित व भावरहित वृत्तिके गुणदोष जानकर, भावविकास के ये गुण हैं और भावरहितके ये दोष हैं, ये अचेतन हैं ऐसा जानकर हे मुनिवरो! तुम सुभावों से संयुक्त होवो। ऐसा कुन्दकुन्दाचार्य इस भावपाहुड ग्रंथमें सम्बोध रहे हैं, क्योंकि अनेक कीचड़ोंमें गृहस्थाश्रम भी एक पंक है। जैसे हाथी सरोवरमें स्नान करके बिल्कुल साफ हो गया, पर उसकी एक ऐसी आदत होती कि पानीसे बाहर आकर कुछ धुल सूंडसे उठा उठाकर अपने शरीरपर फेंक लेता, तो इसे कहते हैं हस्तिस्नान ऐसे ही गृहस्थका वातावरण ऐसा है कि थोड़े समयको उपदेश सुन रहे, मंदिरमें आकर पूजा पाठ कर रहे, अच्छे भाव बना रहे आतमके अहित विषय कषाय, इनमें मेरी परिणति न जाय, इस प्रकारकी खूब भावनायें भाते हैं, पर यह बात आगे नहीं टिक पाती। यहांसे चलकर घर पहुंचे कि ऐसे प्रसंग मिलते कि जिससे वे सब बातें भूल जाते। क्या करें? गृहस्थी का प्रसंग ही ऐसा है। तो यहां मुनिवरोंको आचार्यदेव समझा रहे कि हे मुनिवरो तुमने जब इस गृहस्थीके पंकका त्याग कर दिया तो अब एक अपने स्थूल भावको सुधारो, वास्तविक भावोंसे सहित होवो तो तुम्हारे इस कर्तव्य का फल मिल जायगा। इसलिए भावोंसे शुद्ध हो, सम्यक्त्वसे सहित हो और अतस्तत्त्वकी धुन में रहो, जिससे की यह आत्मध्यान सुगमतया बनता रहे।

तित्थयरगणहराइं अब्भुदयपरंपराइं सोक्खाइं।
पावंति भावसहिया सखेवि जिणेहिं वज्जरियं ॥१२८॥

(५०७) **भावसहित मुनियोंके अभ्युदयपरम्परापूर्वक मोक्षलाभ**—भावसहित मुनि तीर्थंकर गणधर आदिका अभ्युदय परम्परासे प्राप्त करके इस शाश्वत शान्तिको प्राप्त करते हैं। भावसहित अर्थात् जो जो ध्रुव है, शाश्वत सहज शुद्ध भाव है, वस्तुके सत्त्वके कारण

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

जो अनादि निधन है उसकी दृष्टि जिन्हें प्राप्त हुई वे भव्य जीव मुनि व्रत धारण करके, नाना अभ्युदयको प्राप्त होते हुए तीर्थंकर गणधर देव जैसे सुखोंको प्राप्त करते हैं। प्रायः करके जो जीव मोक्ष जाते हैं वे अभ्युदयके साथ जाते हैं। ऐसे मुनि कम हैं जो उपसर्गसे सिद्ध हुए या जिन्हें कोई जानता भी न था वे सिद्ध हुए, ऐसोंकी संख्या कम है और जो देवी देवोंसे पूजित होकर, गंधकुटी आदि बड़े समारोह मनाये जा कर पूज्य हुए और ऐसे अभ्युदयोंमें से गुजरकर मुक्त हुए ऐसोंकी संख्या अधिक होती है। जब घरमेंसे कोई बड़ा बालक पढ़ने या सर्विस करनेको विदेश जाता है, जहांसे आने जानेमें हजारों रुपये खर्च होते हैं। और वह जा रहा हो पहली बार तो उसे कितना ठाठसे भेजते हैं उसके परिवारके लोग, मित्र लोग। उसके जानेका मुहूर्त निकालते लोग जुड़ते, प्रीति-भोज करते और बड़ी मंगल शुभ कामनायें करते और बड़े ठाठसे भेजते। तो भला जो इस संसारमें सदाके लिए विदेश जा रहा हो (यह संसार देश है तो मोक्ष विदेश है) और जो कभी लौटकर आयगा भी नहीं उसे देवगण, मनुष्यगण, विद्याधर और ये पशु-पक्षी भी बड़ा ठाठ मनाकर, बड़ी भक्ति करके और बड़े मंगल वातावरणमें उसे भेजते है। वह जा रहा है अपने ही कर्मक्षयसे मगर जा रहा है, पवित्र है, अच्छी जगह पहुंच रहा है तो यहांके प्राणी भी तो उसकी याद रखते हैं। तो वहां जमघट हो जाता है। जो मोक्ष गया वह बड़े अभ्युदयको पाकर मोक्ष गया। चुपचाप मोक्ष जाने वाले तो कम होने चाहिए। वे किसी उपसर्ग आदिक कारणसे हुए हैं, मगर सीधे सादे जो मोक्ष गए उपसर्गके बिना तो लोकपूजित होकर मोक्ष गए।

(५०८) **तीर्थंकरोंका अभ्युदय**—भावश्रमण मुनि अरहन्त भगवान हो गए और वे ठाठ तो नहीं चाह रहे फिर भी उनका जैसा ठाठ किसीका हो सकता है क्या? जिस समवशरणमें बिराजें उसकी रचना अद्भुत होती है, वह समवशरणकी रचना मनुष्योंके द्वारा नहीं बन सकती। इसके रचने वाले देव होते हैं। इस विषयमें दो बातें सुनी जाती है। कोई लोग तो कहते हैं कि देव स्वयं मायारूपसे समवशरणरूप बन जाते हैं, पर एक यह कहते हैं कि देवोंमें ऐसी कलायें हैं, ऐसी ऋद्धियां हैं कि यहांके ढेला पत्थर रत्न आदिकसे ही क्षणभरमें समवशरण बना देते हैं। ऐसा उनकी ऋद्धियोंका माहात्म्य है। यहां भी तो कोई कलाकार जिस कामको १० दिनमें करता है उसी कामको कोई दूसरा कलाकार एक दिनमें कर देता है, फिर देव तो अत्यन्त चतुर कलाकार हैं। वे यहांके ही पदार्थोंको इस इस तरहसे परिणमा कर बनाकर कुछ ऋद्धिका योग कर समवशरण रच देते हैं। उसकी रचनाके विषयमें आप लोगोंने सुना होगा कि कितनी अद्भुत होती

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

है, कैसे कोट, कैसे उपवन, कैसी ध्वजा, कैसे मन्दिर, नाट्यशालायें सब तरहकी बातें। देखो कोरा रूखा वीतराग धर्म, वहां भी वातावरण नहीं रखा क्या क्या ? सरोवर है, बैठने उठने आराम करनेकी जगह हैं, मनोविनोदके साधन हैं, नाट्यशालायें हैं मगर वे सब धर्मके प्रसंगको लेकर हैं। उनमें से गुजरते हुए समवशरण भूमिमें पहुंचते हैं। सभायें होती हैं, वहां धर्मोपदेश होता है। कितने ही लोग वहां विरक्त हो जाते हैं, कितने ही वहीं ध्यानस्थ हो जाते हैं। कितनोंने तो वहीं केवलज्ञान पाया। न जाने कैसे कैसे वहां ठाठ है। ऐसा अभ्युदय यह तीर्थंकर प्रकृतिके उदयका अभ्युदय है। तीर्थंकर प्रकृतिके बारेमें जो आदेय समझते हैं उनकी दृष्टि संसारविषयक नहीं है, किन्तु मुख्य दृष्ट यह है कि तीर्थंकर प्रकृतिका बंध करने वाला तो नियमसे मोक्ष ही जायगा अधिकसे अधिक तीन भवोंमें ? समस्त पुण्य प्रकृतियोंमें सर्वोत्कृट विशिष्ट पुण्य प्रकृति है तीर्थंकर प्रकृति। उसके सुखोंको, आनन्दको, पवित्रताको भावमुनि प्राप्त करते हैं।

(५०६) **प्रभु अरहन्त देवकी धर्मसभाका अभ्युदय**—सभा प्रभुके चारों ओर होती है और वहां यह गड़बड़ी नहीं बनती कि तुम क्यों उनके सामने बैठ गए, यहां तो हम बैठेंगे। हम तो उनके मुखके सामने बैठकर सुनेंगे, ऐसी गड़बड़ी वहां नहीं मचती। अरे ऐसा ही वहां देवकृत अतिशय है कि चाहे जिस दिशामें बैठो भगवानका मुख चारों ओर दिखेगा। बहुतसे लोग तो ऐसा सोचते हैं कि वे सब बातें बढ़ा चढ़ाकर लिखी गई हैं, पर यह बात नहीं है। यहांके मनुष्योंकी कलासे ही अन्दाज करलो, अनेकों जगह ऐसा देखनेको मिलता कि कोई प्रतिमा तो एक है मगर कांच वहां ऐसा लगा होता कि उस प्रतिमाका मुख चारों ओर दिखाई देता। जब मनुष्योंमें ही ऐसी कला देखनेको मिलती तब फिर देवोंकी कलाका तो कहना ही क्या ? लोग इसपर बड़ा भारी आश्चर्य करते कि भगवानका उपदेश होता अर्द्धमागधी भाषामें और लोग सब अपनी-अपनी भाषामें समझ लेते हैं। देखो हमने देखा तो नहीं पर सुना है कि संयुक्त राष्ट्रसंघके पास एक ऐसी मशीन है कि जिसमें किसी भी एक भाषामें बोला जाय तो उसका रूपान्तर विभिन्न भाषाओंमें तुरन्त होता जाता है। मानलो इंग्लिशमें व्याख्यान दिया जा रहा तो वहां बैठे सभी भाषाओंके लोग अपनी अपनी भाषामें उसका अर्थ समझ लेते हैं। जब यहीं इस प्रकारकी कलायें देखी जाती तब फिर देवोंकी कलाओंका तो कहना ही क्या ? यहां पर और और भी आश्चर्यजनक कलायें देखनेमें आतीं जैसी टेलीविजन, बेतारका तार, रेडियो, टेलीप्रिन्टर आदि, फिर देवता लोगोंकी कलाओंका तो कहना ही क्या ? वे अगर किसी काममें जुट गए तो न जाने क्या क्या करके दिखायेंगे ?

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

का फूल मांसकी तरह, अंडेकी तरहका भोजन है। जैसे वे चीजें अयोग्य हैं ऐसे ही गोभी का फूल भी अयोग्य चीज है। सो दशविध प्राणघातसे इस जीवने अनन्त संसारमें भ्रमण किया।

पाणिवहेहि महाजस चउरासीलक्खजोणिमज्झम्मि ।
उप्पज्जंतमरंतो पत्तोसि णिरंतरं दुक्खं । ।।१३५।।

(५२६) **प्राणिवधका फल कुयोनियोंमें जन्म मरण करके निरन्तर दुःखोंकी प्राप्ति**– हे महायश, हे मुनिवर प्राणिवधके द्वारा यह जीव ८४ लाख योनियोंमें भ्रमण करता रहा और निरन्तर दुःख प्राप्त किया। सबसे बड़ा दुःख क्या है जीवोंको ? सबसे बड़ा दुःख है जन्म मरण, पर जिन्दगी तो चल ही रही है, इसकी ओर किसीका ध्यान नहीं है तो दुःख मान लिया, इष्टवियोग अनिष्टसंयोग। मोहका ऐसा ही प्रताप है। क्या अटक है कि दूसरोको मानले कि यह मेरा है ? कुछ इसमें अटका है क्या ? आप कहें कि गृहस्थीमें रहकर तो राग किया ही जाता है, सो तो ठीक है, पर वह मिथ्यात्व नहीं है मिथ्यात्व वहां है कि जहां ममता जगी कि यह मेरा है, इसके बिना मेरा जीवन कुछ नहीं है। वह है मिथ्यात्व, और घरमें सब जीवोंके प्रति शुद्ध ज्ञान बना रहे कि ये सब स्वतंत्र स्वतंत्र जीव हैं। इनके बंधे हुए कर्मोंके अनुसार संसारमें इनको फल मिलता है। ऐसा ठीक जानते रहें और आपसमें बोलें प्रीतिकी वाणी तब तो यह गृहस्थीमें चलेगा, पर मोह जो भी करेगा बस वह अपना घात करेगा ? विचार करें अपने अन्दर। देह भी न्यारा, जीव उससे न्यारा फिर अन्य जीवोंसे सम्बन्ध क्या ? गृहस्थ अगर घरमें सुखसे रहना चाहता है तो उसको यह पौरुष करना होगा कि मेरा तो मेरे स्वरूपके अतिरिक्त कुछ नहीं है। एक पूर्ण निर्णय बनायें। न बनायें तो दुःखी होते रहेंगे। स्पष्ट निर्णय हो कि जब यह देह भी मेरा नहीं है तब फिर अन्य भाई भतीजे पुत्र स्त्री आदिक ये जीव मेरे कैसे हो सकते है ? घरमें रहते हैं, तो प्रीति करके रहना होगा तब बात बनेगी, यह तो ठीक बात है, मगर ये मेरे हैं, ऐसा झूठा ख्याल बनायेगा उसे नियमसे बहुत कष्ट होगा। बिल्कुल बिछुड़ते समय, मरते समय यह सोचना चाहिए कि बहुत दिनोंसे मैं जान रहा था कि यह काम अवश्य होगा। जितना भी संयोग है उसका वियोग नियमसे होगा। ये जीव सब अपनी अपनी आयुके क्षयके समय मरण कर जाते हैं, यह सब जाना था, स्वाध्यायमें सीखा था और रोज रोज सुनते हैं उपदेशमें ग्रन्थोंमें और आपकी अनुभूतिसे यह बात सोचते भी हैं तो इसी पर ही डटे रहना कि मेरा मेरे स्वरूपके सिवाय अन्य कुछ नहीं हो सकता।

जीवाणमभयदाणं देह मुणी पाणिभूयसत्ताणं।

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

कल्लाणसुहणिमित्तं परंपरा तिविहसुद्धीए ।।१३६।।

(५२७) **कल्याणलाभके लिये अहिंसापालनका उपदेश**—हे मुने तू कल्याणकसम्बन्धी सुखकी परम्पराके लिए मन, वचन, कायकी शुद्धिसे जीव, प्राणी, भूत और सत्त्वोंको अभयदान दे, मायने जीवोंको अभयदान दे। उन सब जीवोंको यहां चार भागोमें विभक्त किया है—जीव, प्राणी, भूत और सत्त्व। वैसे ये सभी जीवोंके ही वाचक हैं मगर कुछ रूढ़ि से, कुछ इस धात्वर्थका प्रधानतया फलन होनेसे ये अगल अलग जीवके लिए शब्द रखे गए हैं। जीवोंमें तो पञ्चेन्द्रियको जीव कहा है। रूढ़िके अनुसार बातकी जा रही है और दो इन्द्रिय, तीनइन्द्रियको प्राणी कहा और वृक्षोंको भूत कहा और उपलक्षणमें पृथ्वी जल, अग्नि वायु भी ले लो और बाकी जो जीव बचे वे सब सत्त्व कहे गए हैं। इन सब जीवोंकी हिंसासे दूर रहो।

(५२८) **तीर्थंकरके गर्भकल्याणका सुख**—पञ्चकल्याणक कहलाता है गर्भ, जन्म, तप, ज्ञान और निर्वाण। जहां विशेष समारोह होता है वह कल्याण है। भगवान गर्भमें आये मायने जो जीव भगवान हो वह गर्भमें नहीं आता, पर जो भगवान बनेगा उसका नाम धर कर कहते ही हैं कि जो भगवान बनेगा, अरहंत बनेगा, तीर्थंकर बनेगा वह गर्भमें आया, तो जो तीर्थंकर बनेगा वह गर्भमें आता है। कोई उल्टा ही लटका रहता है पेटमें याने पेटमें गर्भ होता है तो वह बच्चा उल्टा लटका रहता है, तब ही बताते हैं कि जब वह निकलता है तो सबसे पहले तो सिर निकलता है। बादमें पैर निकलते। सो वह उल्टा लटका हुआ है। किन्तु तीर्थंकर उल्टे नहीं रहते गर्भमें। वे सीधे रहते हैं। और पद्मासन जैसे ढंगमें रहते हैं। भैया! कुछ कुछ तो छोटे बच्चोंको देखा होगा कि उनकी टांग सीधी नहीं रहती वे अगर बैठा दिए जाते तो उनका अर्धपद्मासन जैसा लगने लगता, और जब भगवान जन्मते हैं तो ऐसे ही सीधे निकलते हैं। और और भी अनेक अतिशय मिलते हैं। भगवानकी माताको कष्ट नहीं होता और बताया है कि जैसे यहां जब बच्चा गर्भमें होता है तो उसकी मां का पेट बढ़ जाता है तो उस पेटपर फिर कुछ झुर्रियां सी पड़ जाती हैं? जैसे भूखमें, पेटमें बहुत सी झुर्रियां आ जाती हैं सो अगर गर्भ होता है तो फिर वे धारें नहीं रहती। पेट तन जाता है, मगर तीर्थंकर की माता का पेट तनता नहीं, ज्योंका त्यों बराबर रहता है, ये सब गर्भके समयके अतिशय हैं। गर्भके समय माताकी सेवा करनेके लिए देवियां महा देवियां आती हैं और सभी सेवायें करती हैं। और मिष्ट बचन कहकर माताको खुश रखती, यह भी तो सेवा है। तो सभी प्रकारकी सेवायें ये देवियां करती हैं। गर्भ कल्याणकके अतिशय कह रहे हैं। गर्भ

Version 1

रहता है ९ महीने। उससे ६ महीना पहलेसे ही रत्नवर्षा होती है। इस तरह सब मिलाकर ९+६=१५ महीने स्वर्ग जैसी शोभा उस नगरीकी देव करते हैं, ये सब गर्भ कल्याणकके अतिशय है, लोग समझते हैं कि उसने इसमें सुख पाया है, ऐसा सुख मिलना चाहिए। ये कल्याणकसम्बन्धी सुख हैं।

(५२९) **तीर्थंकरके जन्मकल्याकका सुख**—अब जन्मकल्याणकका सुख देखिये—जन्म तो वास्तवमें तब कहलाता कि जब गर्भमें आया हो शुरू शुरूके दिन, पर रूढ़ि ऐसी है कि बाहर निकलनेको जन्म कहते हैं वस्तुतः आयुके उदयसे जन्म होता है। जैसे किसीने पूछा कि बताओ आपकी आयु कितनी है? तो मान लो उसने बताया कि मेरी आयु इस समय ६२ वर्षकी है, पर इसमें अभी गर्भके ९ महीने छूट गए, इसलिए कुल मिलाकर ६२ वर्ष ९ महीने कहना चाहिए, गर्भकी आयु भी उसीमें शामिल है। तो प्रकरण यह चल रहा था कि जन्मके समयमें तीर्थंकरको कष्ट नहीं, तीर्थंकरकी माताको कष्ट नहीं। उन्हें अस्पताल नहीं जाना पड़ता। देवियां सेवा करती। गर्भसे बाहर निकलनेपर जन्मकल्याण मनानेको स्वर्गसे देवेन्द्र आते हैं यहां भी तो कुछ गांवोंसे आप लोगोंको बुवा, नानी, मौसी आदिक आती हैं, वहां भगवानका जन्म-कल्याणक मनानेको देवगण आते हैं सो वे अपनी ऋद्धि शक्तिके मुताबिक समारोह मनाते हैं। उस बालक प्रभुमें इतना अतुल बल है कि मेरुपर्वत जैसे ऊंचे स्थानों पर देव देवेन्द्र ले जाते और वहां बड़े-बड़े कलशोंसे उनका अभिषेक करते, शुद्ध करते, परन्तु प्रभु रंच भी नहीं घबड़ाते। ऐसा जन्मकल्याणक, देव मनाते हैं। तपकल्याणक, ज्ञानकल्याणक, और निर्वाणकल्याणकके भी ऐसे ही विशाल समारोह होते हैं। उनमें महासुख है। उन सुखोंके निमित्त हे मुनिवर तू सभी जीवोंको अभयदान दे।

(५३०) **अभयदानके बिना मृत्युक्लेशसहन**—आत्मन्! भयभीत जीवोंको तू ने अभयदान नहीं दिया यही कारण है कि तू मरणसे बराबर डरता है, और फिर दीर्घायु कैसे हो सकता है? जैसा भाव किया जाता है वैसा ही कर्मबन्ध बनता है और उसके उदयमें उस प्रकारका फल मिलना है। यह एक साधारण रीति है। कभी कोई सम्यग्दर्शन पाये, ज्ञानबल बढ़ाये और मोक्षमार्गमें बढ़े तो अन्य कर्मोंकी तो बात ही क्या, निधत्ति और निकाचित जैसे कर्म भी टूट जाते हैं, पर बांधे हुए कर्मोंको तोड़ना आसान नहीं, किन्तु वे विशिष्ट ज्ञानबलसे ही टूटते हैं, अतएव साधारण रीति यह है कि जैसे भावकर्म वहां बांधे वैसे जन्म मरण आदिकके दुःख पाये। तो हे जीव तू ने अभयदान नहीं दिया। अपने ही गर्जके लिए नाना चेष्टायें कीं। अपना जैसा स्वरूप दूसरेका नहीं जाना और

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.videha.com

उनको अभयदानका पौरुष भी नहीं किया। यही इसका फल है कि जन्म मरण करता फिर रहा, मरणसे डरता फिर रहा। और दीर्घायु भी नहीं हो पाता। दया, अभयदान ये एक ऐसे विशुद्ध भाव हैं कि अगर विवेककी तराजूपर तौलें तो एक पलड़ेपर दया रख दीजिए और दूसरेपर व्रत, तप आदिक कठिन क्रियायें रख दीजिए तो भी दयाका पलड़ा भारी रहेगा। दया बिना बड़े-बड़े व्रत तप करके भी स्वर्ग पाना कठिन है। और दया सहित होकर जीव अगर व्रत भी नहीं पाल सक रहा तो भी उसको स्वर्ग पाना सरल है। यह एक फल बतला रहे हैं। इससे कहीं यह न समझना कि स्वर्ग कोई बहुत बहुत बड़ी चीज है। उत्कृष्ट चीज तो है अपने ज्ञानका निर्विकार बनना, निर्विकार हो जाना, केवल शुद्ध आत्मा ही आत्मा रह जाना, यह है सर्वोत्कृष्ट वैभव, मगर संसारमें चूंकि अभी रहना है तो दुर्गतिमें रहनेकी अपेक्षा सुगतिमें रहना भला है, जहां धर्मसाधन प्रसंग भी मिला करते हैं। यह अहिंसा व्रतका ही माहात्म्य है कि मनुष्य दीर्घायु बने, भाग्यशाली बने, समृद्धिशाली बने, कीर्तिवान हो। सो हे मुने जब तक एक छोटा सदाचार भी न बन सके तो बड़े सदाचारकी तो आशा ही क्या करना? तो चित्तमें दया आये, अहिंसा व्रतका सही पालन हो, सर्व जीवोंके स्वरूपको अपने स्वरूपकी तरह समझा जाय तो इसमें आत्माका उत्थान है।

असियसय किरियवाई अक्किरियाणं च होइ चुलसीदी।
सत्तट्ठी अण्णाणी वेणैया होंति बत्तीसा ॥१३७॥

(५३१) **क्रियावादियोंके भेद**—आत्माके सहज सत्य स्वरूपको जाने बिना यह मनुष्य किस-किस तरहके मिथ्यादर्शनमें बढ़ बढ़कर कैसे-कैसे सिद्धान्तोंकी रचना करता है, इसका संकेत इस गाथामें किया है। कुछ लोग होते हैं क्रिया वाले, याने क्रियासे मोक्ष मानने वाले। क्रियासे तिर जायेंगे और वह क्रिया श्राद्धादिक है। जब तक जिन्दा हैं तब तक गोदान करना, पृथ्वीदान करना, वस्त्रादिक दान करना, इन क्रियाओंको करके मानते कि इनसे मोक्ष मिल जायगा। कोई मर गया तो उसके लिए कुछ श्राद्ध करे, उसके नामपर कुछ त्याग करे। किसे दे? पंडाको दे। जैसे देखा होगा कि बड़ी-बड़ी नदियोंके किनारे कुछ पंडा लोग बैठते हैं जहां कि श्राद्ध करने वाले पहुंचते हैं तो वहां श्राद्ध कैसा होता कि पंडोंको जो भी चीज चाहिए जैसे खाट, वस्त्र, गाय रुपया पैसा आदिक वे सब चीजें उन पंडोंको देता श्राद्ध करने वाला, ऐसा श्राद्ध कहलाता है और इन क्रियाओंको करके जो मोक्ष माने वे कहलाते हैं क्रियावादी। क्रियाका एकान्त, ज्ञान का भावका कोई सम्बन्ध नहीं, क्रियासे ही वे मोक्ष माननेकी मान्यता होनेपर भावोंमें

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

कोई फर्क नहीं आता। भाव हों सही सम्यक्त्वके और फिर जैसे मेरा आत्मामें रमण हो उस प्रकारकी क्रिया करे तो वह एक बाह्य साधन है। पर यहां तो मोक्षमार्गकी क्रिया की बात नहीं कह रहे। श्राद्धादिक अटपट क्रियाओंकी बात कही जा रही है। क्रियायें करें, मगर जानें यह कि इन क्रियाओंसे मोक्ष नहीं मिलता, ज्ञानसे मोक्ष मिलता है। फिर क्रियायें करनी क्यों पड़ती हैं? यों कि यह ज्ञान अपना स्थिर नहीं रहता, भागता है अनेक जगह पापोंमें तो उसकी रोकथामके लिए हमारी ये व्यवहार क्रियायें हैं, इन शुभ चेष्टाओंमें यदि हमारा चित्त लगा रहेगा तो अटपट भाव तो न बनेंगे। जैसे मंदिर में आते तो यद्यपि मन्दिरमें आने मात्रसे मोक्ष नहीं मिलता, मोक्ष मिलता है ज्ञानसे, मगर वह ज्ञानकी साधना हमको मन्दिरमें बैठकर मिलती है, घरके बाहरकी अटपट बातें यहां नहीं कर पाते हैं इसलिए मन्दिर आना कर्तव्य है, पर मन्दिरमें बैठनेसे ही मोक्ष मिलता है इतना ही जानकर कोई आलस्य करे, सन्तुष्ट हो, बस हमने तो सबकुछ कर लिया तो यों मोक्ष नहीं मिलता। मोक्ष मिलता है ज्ञानसे और ज्ञानकी साधना होती मन्दिरमें व अन्यत्र सामायिकसे, ध्यानसे भक्तिसे स्वाध्यायसे, सत्संगसे। तो जो क्रियाओं का एकान्त करता है, अपने ज्ञानस्वरूपको भूला है वह पुरुष क्रियावादी कहलाता है। इन क्रियावादियोंके १८० भेद हैं।

(५३२) **अक्रियावादियोंके भेद**—कोई किस ही ढंगसे मोक्ष माने कोई किस ही ढंग से, आचरण पौरुष कुछ न माने वे अक्रियावादी कहलाते हैं। जिनकी क्रिया शुद्ध नहीं और कहते कि क्रियाओंसे क्या लाभ? जैसा चाहो खाओ, पियो, रहो और जैसा सन्यास में बताया वैसी प्रवृत्ति करो तो मोक्ष मिलेगा ऐसा कहने वाले कहलाते हैं, अक्रियावादी। जैसे जैनश्वेताम्बर सम्प्रदायमें उद्दिष्ट भोजनके त्यागको बहुत महत्व देते हैं और इतना महत्व देते कि कहींसे भी खा लो, सभी लोग बनाते हैं, हलवाईकी दुकान हो, किसी धोबी आदिकका घर हो, कहींसे भी भोजन ले लो हमारे लिए तो कुछ बात नहीं। मगर वे यह नहीं देखते कि वह भोजन हिंसायुक्त भोजन है, अमर्यादित भोजन है। सो ऐसा जो अधःकर्म नामका मूल दोष है उस दोषको तो कुछ नहीं गिनते और एक जैसा चल गया रिवाज उसे महत्त्व देते, ये सब अक्रियावादीकी ही बातें होती हैं, यहां क्रिया का भी महत्त्व थोड़ा देना चाहिए, क्योंकि अशुद्धतासे बना हुआ भोजन खानेपर बड़ा दोष आता है। तो ऐसे अनेक पुरुष होते हैं जो अक्रियावादमें विश्वास रखते हैं। उनके मत हैं ८४।

(५३३) **अज्ञानवादी और वैनयिकके भेद**—कुछ लोग हैं ऐसे जो अज्ञानसे मोक्ष मानते

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

हैं। वे कहते हैं कि ज्ञानसे क्या लाभ ? जो जानता है उसे अधिक पाप है, जो नहीं जानता उसे क्या पाप ? इसलिए कुछ जानना ही न चाहिए, अज्ञानी बने रहना चाहिए। उससे कल्याण हो जायगा, भला हो जायगा, ऐसा सिद्धान्त है अज्ञानवादियोंका और ऐसे ही अज्ञानसे मोक्ष होना मानते हैं, ये अज्ञानवादी ६७ प्रकारके होते हैं। वैनयिक मिथ्यादृष्टि—जिनका इतना ही सिद्धान्त है कि माता पिताकी आज्ञामें रहो तो मोक्ष मिल जायगा या जो विनय विनयसे ही काम चल जायगा, ज्ञानकी आवश्यकता नहीं, ज्ञानमार्गपर चलनेकी आवश्यकता नहीं, विनय करें, उस विनयसे ही मोक्ष मिलेगा, ऐसे वैनयिकवादी ३२ प्रकारके हैं। ये ३६३ भेद मिथ्यादृष्टिके हैं इनसे दूर होकर अपने आत्माके अन्तः स्वरूपमें आपा अनुभव करते हुए तृप्त रहना चाहिए।

ण मुयइ पयडि अभव्वो सुट्ठु वि आयण्णिऊण जिणधम्मं।
गुडदुद्धं पि पिबंता ण पण्णया णिव्विसा होंति ॥१३८॥

(५३४) **मिथ्यात्ववासित होनेसे अनेक शास्त्रोंके अध्ययनसे भी अभव्योंकी प्रकृतिमें सुधार का अभाव**—अभव्य जीव जिनधर्मको भले प्रकार सुनकर भी अपनेमें विकारके रागवाले स्वभावको नहीं छोड़ते, सो ठीक ही है। जैसे कि दूध पीकर भी सांप निर्विष नहीं हो सकता ! जिसकी जो प्रकृति है वह अपनी प्रकृति नहीं छोड़ता। ऐसे ही अभव्य जीवकी प्रकृति है विकारमें आपा अनुभव करना। सो अनेक शास्त्र भी पढ़ले वह तो भी अपनी प्रकृतिको नहीं छोड़ता और जो निकट भव्य हैं, पर अभी मिथ्यादृष्टि है तो भी उनकी यह प्रकृति छूट सकती है और वे यह अनुभव कर लेंगे कि ये रागद्वेषादिक विकार मेरे स्वभावमें नहीं, अभव्य अनुभव नहीं कर सकते और जिनके यह ज्ञान बनता कि विकार मेरे स्वभावमें नहीं उसको मुक्तिका मार्ग मिलेगा और जो विकारको ही अपने स्वभावमें माने हुए है उसको मोक्षका मार्ग न मिलेगा। इस कारण हे भव्यपुरुष तू अपने आपके सहजस्वरूपकी दृष्टि तो कुछ कर जिससे कि विकारका लगाव अत्यन्त दूर हो जाय। चारित्रमोहके उदयमें विकार आते हैं, पर विकार आनेके समय यह प्रतीति रहे कि विकार मेरे स्वरूपमें नहीं। ये औपाधिक हैं, मैं तो अविकार स्वभाव हूं। तो इतनी प्रतीतिके बलसे संसारबन्धन नहीं चलता। जो बंध चलता है वह साधारण है, क्योंकि अपनी सुध बनी है, अपनी सम्भाल चल रही है।

मिच्छत्तछण्णदिट्ठी दुद्धीए दुम्मएहिं दोसेहिं।
धम्मं जिणपण्णत्तं अभव्वजीवो ण रोचेदि ॥१३९॥

(५३५) **अभव्यके जिनप्रज्ञप्त धर्मकी अरुचिकी संततता**—जिनकी दृष्टि मिथ्यात्वसे

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

आच्छादित है ऐसे दुर्बुद्धि अभव्य जीव राग पिशाचसे ग्रह जानेके कारण जिनप्रणीतधर्म की श्रद्धा नहीं करते, और जो कुवाद हैं, एकान्त है उनकी रुचि बनाते हैं। जैसे एक दोहा है। "सांप डसा तब जानियो, रुचि सों नीम चबाय। मोह डसा तब जानियो, जिनवाणी न सुहाय॥ जैसे सांपसे डसा हुआ मनुष्य बड़ी रुचिसे नीम चबाता है ऐसे ही समझिये कि अज्ञानी मिथ्यादृष्टि जीव जिनवाणीसे विरुद्ध बातोंमें बड़ी रुचि रखते हैं, जिनवाणी उन्हें नहीं सुहाती। जिनवाणी क्या ? जैन धर्म क्या ? रागद्वेषको जिसने जीता वह पुरुष कहलाता है जिन और उस जिनेन्द्रदेव ने जो धर्म बताया उसे कहते हैं जैन धर्म। क्या बताया ? आत्माका स्वभाव आत्माका धर्म है। जो शाश्वत है, आनन्द-मय है, स्वरूप है, सहजसिद्ध है, उस धर्मकी जो दृष्टि करता है, उस धर्मरूप अपनेको जो मानता है वह कर रहा है धर्मका पालन सो यह धर्मकी बात अभव्य जीवको नहीं सुहाती। चाहे वह कितने ही शास्त्र पढ़ लो। जैसे उल्लूको दिनमें न दीखेगा चाहे करोड़ों सूर्योदय आ जायें। एकका तो कहना क्या ? यद्यपि एक ही सूर्य उदयमें है मगर उसकी प्रकृति बतला रहे हैं कि कितने ही सूर्य एक साथ उदयमें हों, मगर उल्लूको दिनमें नहीं दिखता ऐसे ही कितने शास्त्र पढ़ लिए जायें, जिनको भीतरमें उस कर्मविपाकमें रुचि लगी है, इतना ही अपना सर्वस्व जानता है उसको यह जैनधर्म रुचता नहीं है।

(५३६) **अभव्यकी अभव्यताका निर्देशन**—अभव्य उसे कहते हैं जिसमें रत्नत्रयके प्राप्त करनेकी योग्यता नहीं होती। जैसे एक कुड़रू मूंग होती है तो मूंग होकर भी उसे कितना ही पकाया जाय, पर नहीं पकती। अब देखिये मूंगका रूप तो उसमें पाया जाता है मगर योग्यता नहीं है पकनेकी ऐसे ही अभव्य जीव हैं। जाति तो जीव है, जैसे भव्य है वैसे ही अभव्य हैं, जीव दोनों समान हैं और इसी जातिके कारण, केवलज्ञानका स्व-भाव तो होता है, मगर केवलज्ञान व्यक्त करनेकी योग्यता नहीं होती। तो सदा मिथ्या-त्वसे आच्छादित रहनेके कारण अभव्यकी बुद्धि, विचारकी शक्ति दूषित रहती है और सदा रागरूपी पिशाचमें उसका चित्त ग्रस्त रहता है यही कारण है कि जिनेन्द्र भगवान के द्वारा उपदिष्ट जैन धर्मकी श्रद्धा उसे नहीं हो पाती। मैं हूं, दर्शन ज्ञान स्वरूप हूं, मेरेमें आनन्द सहज स्वभावसे है, मेरेको बाहरसे कुछ नहीं मिलता, मेरेमेंसे बाहर कुछ टूट कर नहीं गिरता, मैं सदा पूरा हूं, अपने स्वभाव मात्र हूं। इस पूर्ण मुझको कर्तव्य ही क्या है बाहर ? हूं, पूरा हूं, निष्पन्न हूं। कुछ करना ही नहीं है बाहर। यही एक करना है, यही एक कोना है कि मैं अपने आपमें शुद्धज्ञान वृत्तियां करता रहूं और निरा-कुल बना रहूं, यह ही मात्र एक बात होनेकी है यहां। इसके बाद अन्य कुछ चाहिये

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

ही नहीं। यह बात अभव्यकी, अज्ञानकी बुद्धिमें नहीं आती।

कुच्छियधम्ममि रओ कुच्छियपासंडिभत्तिसंजुत्तो।
कुच्छियतवं कुणंतो कुच्छियगइभायणो होई ॥१४०॥

(५३७) **कुत्सित धर्मरत पुरुषकी कुगतिभाजनता**—जो खोटे धर्मका अनुरागी है वह खोटी गतिका पात्र होता है। खोटा धर्म मायने जो जीवको अहिंसा भावसे अलग करे, जो आत्मस्वभावके विपरीत बाह्य विषयोंमें अनुरक्ति बढ़ानेका उपदेश करे ऐसा शास्त्र भी खोटा धर्म है। उन खोटे धर्ममें जो अनुराग करे, जैसे भगवानका नाम ले लेकर चोरी सीखे, ऐसे मक्खन चुराया जाता या अन्य कुशील सीखे उनका उदाहरण ले लेकर विषयवासनामें बढ़े तो वह खोटे धर्मको ही तो बढ़ाता है। तो जो खोटे धर्मोंका अनुरागी है वह खोटी गतिको ही प्राप्त करता है क्योंकि खोटे धर्मके अनुरागीको अपने आत्माके सहज निज स्वरूपकी सुध नहीं रहती। वस्तुतः क्या हूं मैं, यह उसके विचारमें नहीं चलता है, इस कारण खोटे धर्मके अनुरागी पुरुष नियमसे खोटी गति ही प्राप्त करते हैं।

(५३८) **कुत्सित पाखण्डिभक्तियुक्त पुरुषोंकी कुगतिभाजनता**—जो खोटे पाखंडियोंकी भक्तिसे सहित हैं वे खोटी गतिके पात्र होते हैं, क्योंकि जो आत्मज्ञानसे परिचित नहीं, गांजा, चर्स, भांग, अफीम आदिक घोट पीकर और शिवका नाम लेकर एक विषयोंका ही पोषण करें, एक दुनियाका आकर्षण करनेके लिए कमरमें रस्सी बांधकर भभूत लगाकर, बड़े-बड़े बाल रखाकर किसी भी ढंगसे अपनी सेवा चाहे, ऐसे अनात्मतत्त्वके अनुरागी, आत्मज्ञानसे शून्य खोटे साधुवोंकी जो भक्तिमें रहते हैं जो उन्हें हुक्का चिलम लगाकर देते हैं और अपनेको उनका बड़ा सेवक समझते हैं ऐसे पुरुष खोटी गतिमें जन्म लेते हैं, क्योंकि आत्माकी सुधसे रहित पुरुष जो जो भी बाह्य धर्मके नामपर क्रियायें करते वे पुरुष बाहर ही बाहर डोलते हैं और खोटी श्रद्धा पुष्ट कर करके अपनेको पतित करते हैं। तो जो खोटे पाखंडियोंकी भक्तिसे सहित हैं वे खोटी गतिके पात्र होते हैं।

(५३९) **कुत्सित तप करनेवालोंकी कुगतिभाजनता**—जो खोटे तप करते हैं जैसे अग्नि तपना, उल्टे खड़ा हो जाना, समाधि ले लेना, एक पैरसे खड़ा होना आदिक, ऐसे अनेक प्रकारके कुतप हैं उन तपोंको तप करके कोई सन्तुष्ट रहें कि साधु हूं, गुरु हूं, मुझे मोक्ष मिलेगा, मोक्ष मिलनेका यह ही उपाय है, यहां ही बाहर बाहर जो बने रहते हैं और आत्माका जो विशुद्ध ज्ञानस्वभाव है उसका अनुभव नहीं कर पाते हैं ऐसे पुरुष भी मिथ्यादर्शनकी प्रेरणासे खोटी गतिको प्राप्त होते हैं। वह खोटी गति कौन सी है

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

जिसमें ऐसे सन्यासीजन उत्पन्न होते हैं ? नरकगति । यह तो प्रकट है । तिर्यंच हो जाना भी खोटी गति हैं । भवनवासी व्यन्तर ज्योतिषी हो जाना ये भी खोटी दशायें हैं । और स्वर्गोंमें भी उत्पन्न तो हो गए, मगर किल्विषिक, वाहन आदि जातिके देव बन गए तो ये भी खोटी दशायें हैं । तो ऐसे खोटे धर्मके अनुरागी, खोटे तप करने वाले ऐसे इन तुच्छ गतियोंमें उत्पन्न होते हैं, परिणाम यह होता कि फिर आगे खोटी गतियां मिलती हैं, जन्म मरण करते हैं और अनन्त संसारी जीव बनकर रहा करते हैं । इससे जिनेश्वर देवके द्वारा जो मार्ग बताया गया है उस मार्गकी ही श्रद्धा करना, उस मार्गपर शक्ति अनुसार चलना, यह है संसारके संकटोंसे छूटनेका उपाय ।

इय मिच्छत्तावासे कुणयकुसत्थेहिं मोहिओ जीवो ।
भमिओ अणाइकालं संसारे धीर चिंतेहि ।।१४१।।

(५४०) **कुनय कुशास्त्रोंसे मोहित जीवका अनन्त संसारभ्रमण**—गृहीत मिथ्यात्व और अगृहीत मिथ्यात्व दोनों तरहके मिथ्यात्वके स्थानभूत इस संसारमें कुनय और कुशास्त्रसे मोहित होकर यह जीव अनादिकालसे भ्रमण कर रहा । सो हे धीर ! इसका विचार कर । यह काल यहांपर उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी कालके रूपमें घूमता ही रहता है । इस समय यह अवसर्पिणी काल चल रहा है, मायने घटता समय, यह पंचम काल है, इसके बाद छठा काल आयगा । छठे कालके अन्तमें प्रलय मचेगा सो जो जीव बचे रहेंगे उनसे फिर सृष्टि चलेगी । फिर छठा काल आयगा, फिर ५वां फिर चौथा, प्रत्येक चौथे कालमें तीर्थंकर हुआ करते हैं, फिर तीसरा, दूसरा, पहला इनमें भोगभूमि चलती है, फिर घटती होगी, फिर बढ़ती होगी, ऐसे कालोंमें यह जीव अनंतकाल तक भ्रमण करता रहा । सो हे धीर वीर ! तू विचार कर कि मुझे मिथ्यात्वमें ही पगना है या संसारके संकटोंसे छूटना है । गृहीत मिथ्यात्व तो कहलाया कुदेव, कुशास्त्र, कुगुरु, कुधर्म, इनकी सेवा करना और अगृहीत मिथ्यात्व कहलाया देहमें आपाबुद्धि करना कि यह देह मैं हूं, कषाय ही तो मैं हूं, उनमें एकत्व बुद्धि करना, यह अग्रहीत मिथ्यात्व है । तो दोनों मिथ्यात्वके वश होकर इस जीवने अनन्तकाल तक संसारमें भ्रमण किया । अब भव-भ्रमण मत कर, ऐसी इसमें शिक्षा दी गई है ।

पाखंडी तिण्णि सया तिसट्ठिभेया उमग्ग मुत्तूण ।
रुंभहि मणु जिणमग्गे असप्पलावेण किं बहुणा ।।१४२।।

(५४१) **कुमार्गोंको छोड़कर जिनमार्गमें प्रवर्तनेका उपदेश**—हे मुनि ! पाखंडियोंके ३६३ उन्मार्ग हैं उन कुमार्गोंको छोड़कर तू जैनमार्गमें अपना मन रख । बहुत बोलनेसे क्या

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

लाभ ? तू एक ही निर्णय रख कि जिनेन्द्र भगवानने जो मार्ग बताया है हमें उस मार्ग से ही चलकर शान्ति मिलेगी। विषयोंमें आसक्ति और कषायोंके आधीन होना ये ही दो कुमार्ग हैं। विषयोंमें आसक्तिके मायने विषय उपभोग तो कभी करने पड़ते हैं, किन्तु उनमें आसक्त होना तीव्र मोह होना और उससे ही अपना महत्त्व मानना यह आसक्ति कहलाता है। जैसे एक सनीमा देखनेकी ही बात ले लो, बहुतसे लोग ऐसे मिलेंगे जो कि अत्यन्त वृद्ध हो गए, मरनेके दिन निकट आ गए फिर भी उनसे सनीमा देखे बिना नहीं रहा जाता। प्रायः करके ऐसे लोग रईस घरानोंमें मिलते हैं, तो यह उनकी विषयोंमें आसक्ति हुई। भोजनकी आसक्ति तरह तरहके भोजन बनाना, तरह तरहसे तैयार करके रखना, यह शौक क्यों लगा ? यह इच्छा क्यों है कि उसमें आसक्ति है। तो ऐसे ही पञ्चेन्द्रियके विषयोंमें आसक्त होना यह कुमार्ग है। क्रोध, मान, माया, लोभ, विषयोंमें लीन रहना कुमार्ग है। इन कुमार्गोंको छोड़ और जिनमार्गको ज्ञान और वैराग्यसे ग्रहण कर।

जीवविमुक्को सबओ दंसणमुक्को य होइ चलसवओ।
सबओ लोयअपुज्जो लोउत्तरयम्मि चल सबओ ॥१४३॥

(५४२) **जीवविमुक्त मुर्दा और चलता फिरता मुर्दा**—जिस शरीरमें से जीव निकल जाता है उस शरीरको बोलते हैं मुर्दा। वह मुर्दा चलता फिरता तो नहीं है। जहांका तहां पड़ा रहता है। और जिस जीवको सम्यग्दर्शन नहीं है, जो सम्यग्दर्शनसे रहित है वह है चलता फिरता मुर्दा। जो जीव निकल गया वह तो है मुर्दा और जिसके सम्यग्दर्शन नहीं वह है चलता हुआ मुर्दा। तो बताओ ऐसे चलते फिरते मुर्दे क्या आप लोगों ने कभी देखे ? हां देखे, ये सब जो सम्यक्त्वरहित प्राणी इस संसारमें दिख रहे वे सब चलते फिरते मुर्दे ही तो हैं। अब जिनको सम्यग्दर्शन नहीं है, भीतरमें ज्ञानप्रकाश नहीं है वे संसारमें जिन्दगीसे जीते तो हैं, पर उन्हें पता ही नहीं कुछ कि कहां जाना है, क्या करना है, कहां शान्ति है, हम किस लिए जी रहे हैं ? बस मौज उड़ानेके लिए अपनी जिन्दगी समझते हैं। तो जिनके सम्यग्दर्शन नहीं है उनको ये आचार्यदेव बतलाते हैं कि वे तो चलते फिरते मुर्दे हैं। अच्छा अब एक बात और समझें। जिसमेंसे जीव निकल गया वह मुर्दा देह पूज्य है या अपूज्य ? अपूज्य। ठीक है वह तो एक इसी भवमें अपूज्य है, पर चलते फिरते मुर्दे तो भव भवमें अपूज्य रहेंगे। सो यदि अपने जीवनको सफल करना है, तो सम्यग्दर्शन प्राप्त करो। यह सम्यग्दर्शन ८ वर्षकी उम्रके बालकमें भी हो सकता है, इसके बाद भी हो सकता। ८ वर्षसे कम वालेके सम्भव नहीं। किसी बालक

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

को अपने आत्माका ज्ञान जग गया—मैं आत्मा ज्ञानस्वरूप हूं। तो वह पवित्र हो गया, और बड़ी उम्र तक भी सम्यग्दर्शन न हो तो वह अन्धेरेमें है। सम्यग्दर्शनरहित ये चलते फिरते मुर्दे इस भवमें भी अपूज्य हैं और आगे खोटी गति ही तो मिलेगी, सो वहां भी ये अपूज्य रह गए।

(५४३) **गुरुनिन्दक मिथ्यादृष्टियोंकी भयावह दुर्गति**—अच्छा एक तो है मिथ्यादृष्टि और फिर दूसरे वह करता हो गुरुओंकी निन्दा तो अब उसमें डबल ऐब आ गए। एक तो मिथ्यात्व नहीं छोड़ा, मिथ्यादृष्टि हैं और फिर हैं गुरुनिन्दक, तो उनका होनहार क्या होगा? बहुत कठिन दुर्गति। और, यह होता ही आया है, क्योंकि संसार कभी खाली नहीं होता। जो आज त्रस पर्यायमें है वह आगे न चेता तो वह भी निगोदमें आ जायगा और छह माह आठ समयमें निगोदसे निकलते हैं ६०८ जीव सो इतने ही मोक्ष जाते हैं, संसार खाली नहीं होता। निगोद जीव अनन्तानत हैं, तो ऐसे ही मिथ्यादृष्टियों से भरा हुआ यह संसार है। और गुरुओंकी निन्दा मिथ्यादृष्टि जीव ही तो करेंगे, सम्यग्दृष्टि जीव नहीं कर सकते। आजकल तो बहुसंख्यामें ऐसे जैनी मिलेंगे जो कि गुरु-निन्दा करनेको ही अपना धर्म मान रहे और उसीकी एक पार्टी बन गई जो कि गुरुओं की निन्दा करते और कहते कि उन्हें पानी मत पिलाओ, खाना मत दो, ऐसा भी प्रकट कहने लगे तो वे यह बतायें कि वे सब सम्यग्दृष्टि हैं क्या? अरे सम्यग्दृष्टियोंकी इतनी अधिक संख्या तो नहीं बतायी गई। उनमेंसे कोई एक आध ही हो सकते हैं। तो एक तो हो मिथ्यात्वका उदय और दूसरे अपनेको सबसे बड़ा समझें तो बताओ ऐसी हालत में उनकी क्या गति होगी? वे तो चलते फिरते मुर्दा हैं। जैसे सनीमाके पर्देमें चलते फिरते बोलते चित्र दिखते हैं मगर वे सब हैं अजीव, अज्ञानी। तो ऐसे ही जो मिथ्या-दृष्टि पुरुष हैं वे चलते फिरते मुर्दे हैं और अज्ञानी हैं। फर्क इतना है कि उन फोटोमें तो आहार, भय, मैथुन, परिग्रह आदि संज्ञायें नहीं हैं और इन चलते फिरते मुर्दोंमें ये संज्ञायें लगी हैं सो ये फोटोसे भी खोटे हैं।

(५४४) **भावरहित जीवनकी व्यर्थता**—आचार्यदेव समझाते हैं कि सम्यक्त्वके बिना जो जिन्दगी है उसे बेकार समझें। वह सब मायामय खटपट है। एक बार कोई पुरुष अपने किसी रिस्तेदारके घर गया तो वह रिस्तेदार था कुछ कंजूस टाइपका। सो उस पुरुषके घर आ जानेपर उस कंजूस व्यक्तिने विचारा कि कोई ऐसा उपाय रचें जिससे यह हमारे घर अधिक दिन न टिक सके। सो क्या किया कि अपने घरके रसोइयाको समझा दिया कि देखो एक काम करना है, हम लकड़ीसे खटपटकी आवाज करेंगे और

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

तुम रोना। बस यह काम करना है। ठीक है। अब रातके समयमें वह कंजूस पुरुष आंगनमें खड़ा होकर किसी लकड़ीसे खटपटकी आवाज कर रहा था और वह रसोइया रो रहा था, यह घटना देखकर वह पुरुष घरसे बाहर भग गया यह सोचकर कि ऐसी हालतमें इस घरमें क्या रहना जहां मार पिटैया रोना धोना चल रहा हो, मगर कुछ दूर जाकर विचार किया कि ऐसे तो हमारा घरसे भागकर आना ठीक नहीं रहा। कम-से कम घरके मालिकसे बताकर आना चाहिए था, सो वह पुनः वापिस आ गया। सो जब वह आंगनमें आ गया उस समय उस मालिक और नौकरमें बातचीत चल रही थी। मालिक बोला—देखो मैंने तुम्हें पीटा तो नहीं। तो रसोइया बोला—और मैं भी रोया तो नहीं, झूठ मूठ ही तो रोया था, सो वह तीसरा पुरुष पीछेसे बोला—मैं भी गया तो नहीं, झूठ मूठ ही तो गया था। तो ऐसे ही समझो कि ये संसारके सब जीव अपने-अपने विषयोंके खातिर चतुर बन रहे। कोई कैसी ही प्रवृत्ति करता कोई कैसी ही ? तो यहां यह बतला रहे कि जो मिथ्यादृष्टि अज्ञानी जीव हैं और जैन शासनकी निन्दा करते हैं ऐसे निन्दक पुरुष तो सहवासके योग्य नहीं हैं। सो हे मुने, अपने सम्यक्त्वसे शुद्ध होकर व्रतोंको पालो और किसी भी समय किसीकी निन्दाके शब्द कानोंसे मत सुनो—

जह तारयाण चंदो मयराओ मयउलाण सव्वाणं।
अहिओ तह सम्मत्तो रिसिसावयदुविहधम्माणं ॥१४४॥

(५४४) **मुनिधर्म व श्रावकधर्म दोनोंमें सम्यक्त्वकी महनीयता**—जैसे समस्त ताराओं में चन्द्रमा मुख्य है ऐसे ही सब धर्मोंमें सम्यक्त्व प्रधान है। सम्यक्त्व तो मूल है और चारित्र उसके ऊपरकी शाखायें जैसी हैं। जैसे जड़के बिना वृक्ष नहीं ठहर सकता ऐसे ही सम्यक्त्वके बिना चारित्र नहीं ठहर सकता। सम्यक्त्वमें तो मार्ग दिख गया और चारित्रमें वह उस मार्गपर चल रहा। इसलिए सम्यक्त्व उपादेय है और सम्यक्त्वके बाद जब तक चारित्र धारण न करे तब तक मुक्ति नहीं प्राप्त होती। अतएव चारित्र अत्यंत उपादेय है। तो जैसे समस्त ताराओंमें चन्द्रमा प्रधान है ऐसे ही सम्यग्दर्शन प्रधान है। जैसे बनके पशुओंमें सिंह प्रधान है ऐसे ही मुनिधर्म श्रावक धर्म इन दोनों धर्मोंमें सम्यक्त्व प्रधान है। सम्यग्दृष्टि मुनि मोक्षका पात्र है, सम्यग्दृष्टि श्रावक भी मोक्षमार्गमें चल रहा है, इस कारण सम्यक्त्वको सर्व प्रथम प्राप्त करना चाहिए।

जह फणिराओ रेहइ फणमणिमाणिक्क किरण विप्फुरिओ।
तह विमलदंसणधरो जिणभत्तीपवयणे जीवो ॥१४५॥

(५४५) **जिनभक्तिप्रसन्न जीवको शोभायमानता**—जैसे हजार फणावोंपर स्थित

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

मणियोंके बीच विद्यमान मणिकी किरणोंसे शेष नाग शोभित होता है इसी तरह जिन-भक्तिके श्रद्धानसे युक्त निर्मल सम्यग्दर्शनके धारक जन शोभित होते हैं। बताते हैं कि जो कोई खास जातिका नाग होता है नागराज उसके फणमें मणि होती है। गजमोती तो बहुत प्रसिद्ध हैं, हाथीके मस्तकमें मोती होता है, यह बात तो बहुत प्रसिद्ध है और कोई असम्भव नहीं है। सीपमें भी तो मोती होते। जो जलमें सीप होती, जिसे सूपी भी बोलते, जिससे आम वगैरह छीलते, वह सीपका ऊपरका खोल है उसमें किसी किसीमें कैसा योग है, कैसा नक्षत्रका पानी है, बूंद है ऊपरका कि वह मोती रूप परिणम जाता। ऐसे ही गजके मस्तकमें भी मोती परिणम जाता, सब हाथियोंके मस्तकमें नहीं होता। तो किसी नागराजके फणमें मणि होता होगा सब नागोंके फणमें नहीं होता। तो जैसे उस माणिक्यकी प्रभासे वह नाग शोभित है, इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि और जिनभक्तिसे युक्त यह जीव भी शोभित होता है। अभी देखो चाहे यथार्थमें धर्म हो या न हो रहा हो मगर शृङ्गार शोभा सब धर्मकी क्रियासे ही होता है। कोई भी उत्सव मनावे उसमें कोई न कोई धर्मकी क्रिया हर एक कोई रखता है। विवाह शादीमें यदि न आवे, दर्शन न करे तो सब सूना सूनासा रहता। बाकी काम तो चाहे सब करे पर धर्मके नामपर थोड़ा भी काम न करे तो उस समारोहकी शोभा नहीं रहती। पहले समयमें तो शादी विवाहके अवसरमें भी पूरा एक दिन विधान बांचनेका पक्का नियम रहता था। जब बरात आती थी तो दो तीन दिन रुकती थी। उसमें एक दिनका पूरा प्रोग्राम मन्दिरके अन्दर विधान बांचनेका रहा करता था, आज कल तो वह सब रिवाज हट गया फिर भी कुछ न कुछ तो धार्मिक प्रसंग रहता ही है। धार्मिक प्रसंगके बिना किसी भी समारोहकी शोभा नहीं होती। तो समझलो जिन्दगीकी बात। धर्मके संग बिना जीवनकी भी शोभा नहीं होती। देखो जब कमठकृत उपसर्गका निवारण किया तो धरणेन्द्र पद्मावतीने नाग बनकर किया। हजारों फण कर लिये, आखिर ऋद्धि ही तो है, उनकी विक्रिया है और प्रत्येक फणपर मणिकी शोभा बनी होगी, तो दृष्टान्त दिया है कि जैसे वह शोभित होता ऐसे ही जिनभक्तिपरायण ज्ञानी पुरुष भी शोभित होता है। बताया है समंतभद्राचार्यने कि सम्यग्दर्शनसे सम्पन्न पुरुष चाण्डालके देहसे उत्पन्न हो तो भी देव उसको देव कहते, अर्थात उसको समर्थ ज्ञानी मानते और सम्यग्दर्शन होनेके कारण आदरणीय मानते हैं। जैसे कि राखके बीचमें यदि आग ढकी है तो वह राखसे ढकी है मगर आग तो जाज्वल्यमान है। तो ऐसे ही कोई तिर्यञ्च हो या चांडाल हो और उस जीवको हो गया हो सम्यग्दर्शन तो वह इस तरह मानो जैसे राखसे ढकी मुंदी आग।

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

यहां यह ध्यान दिलाया है कि सम्यग्दर्शनसे शोभा है, सम्यग्दर्शनसे विजय है।

जह तारायणसहिय ससहरबिंब खमडले विमले।
भाविय तह वयविमलं जिणलिंगं दंसणविसुद्ध ॥१४६॥

(५४६) दर्शनविशुद्ध व्रतविमल जिनलिङ्गकी शोभायमानता व कार्यकारिता— जैसे ताराओंके समूहसे सहित चन्द्रमाका बिम्ब शोभायमान होता है इस आकाशमण्डलमें ऐसे ही सर्व प्राणियोंमें जिनका व्रत निर्मल है, सम्यग्दर्शनसे विशुद्ध है, ऐसा यह जिनलिङ्ग, यह मुनि पद सबमें सुशोभित होता है। जिनको स्याद्वादपर श्रद्धा है उनको किसी भी बातमें विवाद नहीं उपस्थित होता, क्योंकि वस्तुके स्वरूपकी समझ स्याद्वादसे ही बनती है जिसने जो कुछ जाना वह किसी नयकी दृष्टिसे ही तो जाना। अब यह समझ बनायें कि ये इस नयसे कह रहे हैं, साथ ही यह भी समझ बना सकते हैं कि दूसरे नयको नहीं मान रहा इसलिए एकान्ती है, पर समझमें तो आया कि जो कुछ यह कह रहा है यों ठीक कह रहा है। अब एक बात सोचो, हम अन्य दर्शनकी बात कह रहे कि लोगोंमें यह प्रचार बहुत अधिक है कि कोई एक ईश्वर होता है और संसारके जीव अजीव सब पदार्थोंको रचता है। अच्छा तो उनका कहना भी किसी किसी ढंगसे चल चलकर हुआ ही तो है। कैसे हुआ कि बात तो असलमें यह है कि प्रत्येक जीवके अपने भावोंके अनुसार कर्म बंध होता और उनके उदयसे ये सब रचनायें चलती हैं। मनुष्य हैं, पशु हैं, पक्षी हैं ये सब रचनायें बनीं और जो पत्थर है, ईंट है, काठ है ये भी तो जीवके शरीर थे। जीव निकल गया शरीर रह गया। त्रस जीवोंका शरीर तो बिगड़ जाता है जीवके निकलनेके बाद, पर ये पृथ्वी, वनस्पति, इनका शरीर बिगड़ता नहीं है जीव निकलनेके बाद, और देखो कैसा बढ़िया यह फर्श बना है तो यह जीवका ही तो शरीर है पत्थर। यह एकेन्द्रिय जीव था। तो यह भी रचना उस जीवकी अपने कर्मके अनुसार हुई थी। तो जो भी रचनायें हो रही हैं वे सब अलग अलग एक एक जीवके विचारसे, भावनासे चल रही हैं, इस लिए यह तो मान लिया जायगा कि प्रत्येक जीव अपनी-अपनी सृष्टि कर रहे हैं। जीवकायको छोड़कर यह है क्या ? तो सब जीवोंने अपनी-अपनी सृष्टि रची। इतनी बात तो सही है। अब आगे और बढ़े, सब जीवोंने सृष्टि की, पर वे सब जीव स्वरूपसे एक समान हैं, यह भी ज्ञान जगा। जब स्वरूपसे एक समान हैं तो यह एक भ्रम बन गया कि जीव एक ही है। वहां बोलनेका रिवाज भी है ऐसा। जैसे गेहूंका कोई ढेर पड़ा है तो सारे दाने एक तरहके हैं सो उनको लोग यह कहते कि यह गेहूं किस भावमें दोगे। रिवाज भी है ऐसा कहनेका। तो सब जीव जब एक समान

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

हैं तो उनको एक वचनमें बोला जायगा। और तीसरी बात क्या कि जीव सब ईश्वरके रूप हैं। सभी ईश्वर स्वरूपसे सम्पन्न हैं। तो धीरे धीरे जैसे कहते ना—अंगुली पकड़कर पौंचा पकड़ना, तो ऐसे ही पहले यह जाना कि ये सब जीव सृष्टि कर रहे हैं, फिर यह जाना कि सब जीव एक समान हैं, सो एक ही है। यों तनिक अन्तर आया फिर यह जाना कि सब जीव ईश्वर स्वरूप ही हैं। तो यों बात फैल गई कि कोई एक ईश्वर इस सारे जगतकी रचना करता है। अब बतलाओ यह जो कहना है यह तो बहुत उल्टा कहना है मगर इन उल्टे भी तथ्योंको नयोंसे और थोड़े विचारोंसे भी ठीक बना सकते हैं तब फिर कौन सा विषय ऐसा है कि जिसको हम ठीक न बना सकें? अन्तर इतना पड़ेगा कि दूसरे प्रतिपक्ष नयको न माननेसे एकान्ती बन गया, मगर कुछ जाना सो कुछ अंश थे तब ही तो जाना। और जो स्याद्वादका आलम्बन ले उसने सब बातको पूरी तरहसे जान लिया। तो यों दर्शनविशुद्ध व व्रतसे निर्मल इस जिनलिङ्गको बताया है आगममें कि ये हैं साधु परमेष्ठी, सो हे मुने शुद्ध सम्यक्त्वसे सहित होकर आत्मस्वभाव की भावना करके अपने आपको आचरणमें लावो क्योंकि जीवका शरण अपने आपका ज्ञान और अपने आपको अपने स्वभावमें स्थिर करना यह जो आत्मपुरुषार्थ है यह ही इस जीवको शरण है। इस कारण पूर्ण शक्तिके साथ आत्माका दर्शन, आत्माका ज्ञान और आत्माका आचरण पालन करें।

इय णाउं गुणदोसं दंसणरयणं धरेह भावेण।
सारं गुणरयणाणं सोवाणं पढम मोक्खस्स ॥१४७॥

(५४७) **गुण व दोषका स्वरूप जानकर सम्यक्त्वरमणका आदेश**—आत्माका गुण और आत्माका दोष दोनोंको ही जानना आवश्यक है। दोष न जाने तो उससे छूटनेका उमंग कैसे बने? गुण न जाने तो उसमें लगनेका उमंग कैसे बने? दोष क्या है? मिथ्यात्व और कषाय। संक्षेपमें कहा जाय तो इन दो बातोंको कह लीजिए। अविरत भी कषाय का रूप है और केवल योग तो आस्रवका हेतु है, बंधका कारण नहीं। तो देखिये—बात दो हैं दोषकी, मिथ्यात्व और कषाय। मिथ्यात्व नाम है उसका जो अपना स्वरूप नहीं उसे अपना स्वरूप समझे। जो अपना वास्तविक सहजस्वरूप है उसका बोध न होना यह बहुत बड़ा दोष है। सब पापोंका राजा है मिथ्यात्व और कषाय क्रोध, मान, माया, लोभ, ये तो होते है दोष। सो इन दोषोंकी भी उत्पत्ति कैसे है सो भी समझना। ये स्वभावसे दोष नहीं होते किन्तु कर्मोंका उदय होनेपर ये आत्मामें दोष बनते हैं, दोष नैमित्तिक हैं, औपाधिक हैं। आत्माके स्वभाव नहीं हैं इस वजहसे हम दोषोंसे हट सकते

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

हैं। यदि मेरे स्वभावसे ही दोष होते तब तो दोषोंसे छुटकारा न हो सकता था। अब गुण क्या है—सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये पर्यायरूप गुण हैं, शुद्ध पर्याय है, ये स्वभावसे होते हैं। जैसे कहते ना कि सम्यग्दर्शन ७ प्रकृतियोंके नाशसे होता है। तो नाशके मायने क्या है? अभाव। तो उसका अर्थ यों लगेगा कि ७ प्रकृतियोंके होने से मिथ्यात्व होता है। जब ७ प्रकृतियां नष्ट हो गई तो मिथ्यात्व न हो सकेगा? मिथ्यात्व न हो सकेगा तो अपने आप सम्यक्त्व हुआ। सम्यग्ज्ञान—आत्माका स्वरूप जाननेका है, जैसा है वैसा जाननेका है। उल्टा जाननेका स्वरूप आत्माका नहीं है। उल्टा जानना किसी उपाधिके कारण होता है, पर स्वभाव नहीं है ऐसा कि यह उल्टा जानता फिरे। जो यथार्थ है सो ही ज्ञानमें आया। यह है आत्माका गुण। और सम्यक्-चारित्र—अपने स्वभावमें रमण करना। यह तो आत्माका सत्तासिद्ध अधिकार है कि वह अपने आपमें रमे, मगर कर्मविपाकके आक्रमणमें यह अधिकार होते हुए भी प्राप्त नहीं हुआ। जैसे-जैसे आत्माके स्वरूपकी दृष्टि प्रबल होती जाती है, बाह्य विषयोंमें विमुखता होती जाती है वैसे ही वैसे अपने आपमें इसका रमण होता है। अपने आपके स्वरूपमें रम जाना, समा जाना यह है स्वभाव। तो गुण और दोष दोनोंको जानकर हे मुने, हे भव्य जीव गुणको तो धारण कर और दोषोंसे मुक्त हो।

(५४६) **सम्यक्त्वकी गुणप्रधानता**—गुणोंमें सर्वप्रथम गुण है सम्यक्त्व। सम्यक्त्व है तो समस्त गुणोंके विकास होते जायेंगे और सम्यक्त्व नहीं है तो गुणविकास न हो सकेगा, जैसे नीचे यदि सीधी पतेली रख दी जाय तो ऊपर सब सीधी पतेली होती जायेंगी और नीचे ही उल्टी पतेली रखे तो ऊपरकी लाइन उल्टी ही चलेगी। जिसके भीतरमें यह प्रकाश जगा है कि मैं आत्मा समस्त पदार्थोंसे परभावोंसे निराला केवल ज्ञानस्वरूप आनन्दमय हूं, इसमें किसी अन्यका प्रवेश नहीं। इसमें से कुछ बाहर जाता नहीं। तो ऐसे अव्याबाध मौलिक इस आत्मस्वरूपको जिसने जाना और उसमें ही रुचि जगी है उनको अब संसारके संकट नहीं रहे, क्योंकि संकट मायने बाह्यवस्तुमें कुछ बनना बिगड़ना। अब बाह्यको बाह्य जानें उससे कुछ लगाव न रखें तो संकट कैसे आ सकते। यह सम्यक्त्व गुण समस्त गुणोंमें प्रधान गुण है और मिथ्यात्व दोष समस्त पापोंमें प्रधान पाप है, सो इस मोहबुद्धिको छोड़कर आत्मामें विशुद्ध स्वरूपके अनुभवका प्रयास करें। जो आज बड़े हैं उनका बड़प्पन इसीमें है कि वे आत्महितका कार्य बना लें। जो अनन्त कालमें अब तक नहीं बन पाया ऐसा अपूर्व अपना पौरुष बना लें इसीमें बड़प्पन है। बाकी धन वैभवसे, लौकिक इज्जत प्रतिष्ठा आदिकसे जो बड़प्पन है उसका कुछ मूल्य

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

नहीं। इस लोकमें भी नष्ट हो सकता है और मरण होने पर तो आगे जीवके साथ रहनेका नहीं, पर आत्माके निज सहज ज्ञानस्वभावका अनुभव बना, स्पर्श हुआ, उसके एक अनुभवनका स्वाद आया, शान्ति यहां ही है। ऐसी अनुभूति बने तो उसके संकट दूर हुए। मोक्ष महलकी प्रथम सीढ़ी। यह सम्यग्दर्शन मोक्ष रूपी महलकी पहली सीढ़ी है। जो पहली सीढ़ीमें न पहुंचे वह आगेकी सीढ़ीपर कैसे जायगा ? तो सम्यग्दर्शनको धारण करें।

(५५०) **निमित्तनैमित्तिकयोगके कुछ उदाहरण**—ट्रेन चल रही है, मान लो १२ डिब्बे उसमें लगे हैं। अब पूछते हैं कि बताओ इस गाड़ीको कौन चला रहा ? तो किसी का उत्तर है कि इन्जन चला रहा, किसीका उत्तर है गार्ड चला रहा, किसीका उत्तर है कंट्रोलर चला रहा। यों कितने ही उत्तर आते हैं उसके। और वस्तुतः देखा जाय तो प्रत्येक पुर्जेमें उस ही में काम हो रहा। कोई पुर्जा अपनेसे बाहर कोई क्रिया नहीं कर रहा। अब निमित्त नैमित्तिक योगसे देखो तो जो सबसे पीछेका १२ वां डिब्बा है उसका निमित्त ११ वां डिब्बा है, ११वें का १० वां, यों क्रमसे चलते जाइये, सभी डिब्बेके निमित्तसे चल रहे। इन्जनके निमित्तसे सभी डिब्बे नहीं चल रहे। उस १२वें डिब्बे सीधे निमित्तकी बात यहां कह रहे, फिर निमित्तनैमित्तिक बताकर मूल निमित्त बतायेंगे। हां तो बताया कि १२वें डिब्बेके चलनेका निमित्त ११वां है. इस तरह क्रम क्रमसे चलते जाइये—दूसरे डिब्बेका निमित्त पहला डिब्बा है और वह पहला डिब्बा उस चलते हुए इन्जनका निमित्त पाकर चला। और इन्जन चलनेका निमित्त तो जो उनके पेंच पुर्जोंके जानकार लोग होंगे वे उसका भली भांति विश्लेषण करके बता सकेंगे। स्टीम चली, उसका निमित्त पाकर उसमें लगा हुआ सीधा डंडा चला, फिर उसके निमित्तसे चक्रको चलनेकी प्रेरणा मिली। यों ही अब लगाते जाओ ऊपर तक। आखिर सभी पेंच पुर्जोंके चलनेका एक मूल निमित्त मिलेगा कोई एक छोटा पुर्जा। अब उस पुर्जेको चलाया ड्राइवरने, सो यहां भी देखो ड्राइवरके हाथके चलनेका निमित्त क्या रहा ? शरीरकी वायुका स्फुरण होना, और शरीरकी वायुके स्फुरणका निमित्त क्या रहा ? जीवके योगका परिस्पंद। और उसका कारण क्या रहा ? उसकी इच्छा, एक ड्राइवर की इच्छा। समर्थ ड्राइवरका जो भाव है वह सबका मूल निमित्त रहा। एक सड़क पर खड़ा होकर दोपहरमें कोई बच्चा ऐना (दर्पण) को इस तरह करे कि इस मन्दिरके अन्दर भी सूर्यकी धूप आ जाय, सो मन्दिरमें जो ज्यादह प्रकाश आया तो बताओ उसका निमित्त कौन रहा ? सूर्य नहीं रहा वह दर्पण। और, इस तरहका चमकदार दर्पण बन

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

जाय इसका निमित्त रहा वह सूर्य। तो यहांके उजेलेका मूल निमित्त सूर्य है इसलिए सीधा ही यहां कह देते कि इस उजेलेका निमित्त सूर्य है।

(५५१) **कर्मास्रवमें होने वाले निमित्तनैमित्तिक योगका परिचयन**—अब जरा यही बात कर्मोंमें घटाओ। जो नये कर्म आते है, बंधते हैं। कर्म क्या कहलाते हैं? इस जीव के साथ बहुत सूक्ष्म पुद्गल लगे हैं संगमें। वे आंखोंसे नहीं दिखते। अत्यन्त सूक्ष्म हैं वे कार्माण वर्गणायें। तो जीवके जब खोटा भाव होता है तो ऐसा ही निमित्तनैमित्तिक योग है कि वे सूक्ष्म कार्माणवर्गणायें कर्मरूप बन जाती हैं। कर्म क्या हैं? इसका उत्तर जैनशासनमें स्पष्ट है कार्माणवर्गणायें बहुत सूक्ष्म पौद्गलिक मैटर हैं, वे आंखों नहीं दिखतीं। अनेक बातें ऐसी होती हैं कि जिनका आप कोई उत्तर ठीक ठीक नहीं दे सकते। यह ही कह देंगे कि ऐसा ही प्राकृतिक योग हैं। जैसे नीम कड़वी क्यों होती? तो कह देते कि ऐसी ही प्रकृति चल रही है जीवके साथ कि जो कार्माणवर्गणायें कर्म-रूप बंध गई वे भी जीवके साथ चल रहीं, और जो कार्माण वर्गणायें कर्म न बनीं, कभी कर्म बन गया वह भी जीवके साथ मरण होनेपर जाता है। तो जीव है सारे शरीरमें और उतनी ही जगह कार्माण वर्गणायें भी खूब भरी पड़ी हुई हैं वे कर्मरूप बंध गई। तो जो कर्म बधे हैं उनका निमित्त क्या है? तो झट कह देते हैं ना रागद्वेष, मगर सीधा निमित्त नहीं है रागद्वेष। यहां दर्पण और सूर्यकी तरहकी बात मिलेगी। जो नये कर्म बंधे हैं उनका निमित्त है उदयमें आने वाले कर्म। याने जो कर्म पहलेसे बंधे पड़े हैं वे कर्म जब निकलते हैं फल देनेके लिए, अपना फल खिला कर जो कर्म दूर होते हैं उसे कहते हैं उदय। तो ऐसा जो उदय है मायने उदयमें आने वाले जो कर्म है, निकलते हुए जो कर्म हैं वे हैं नवीन कर्मोंके आश्रवके निमित्तभूत कारण। जैसे—कोई ट्रेनमें बैठा हुआ व्यक्ति स्टेशनपर आते ही अपने खुदके उतरते समय याने उस ट्रेनको छोड़ते समय किसी दूसरे भाईको सीट देकर उतर जाता है ऐसे ही समझो कि जो कर्म निकल रहा उसका निमित्त पाकर दूसरे कर्म आ गए तो नवीन कर्म आनेका निमित्त है उदयमें आये हुए कर्म। मगर एक बात और है खास कि उदयमें आये हुए कर्ममें ऐसा निमित्तपना आ जाय कि नवीन कर्मका निमित्त बन जाय उसका निमित्त है रागद्वेष। इसलिए ठोस कारण हुआ रागद्वेष। जैसे इस कमरेके अन्दर सूर्यका प्रकाश आनेका ठोस निमित्त हुआ सूर्य, न सूर्य होता दर्पणके सामने तो यहां कमरेमें उजाला कैसे हो सकता था? और भी एक दृष्टान्त लो। कोई आदमी किसी अपने ही कुत्तेके साथ कहीं जा रहा था तो रास्तेमें किसी आदमीको देखकर उसने छू भर कह दिया बस उस कुत्तेने उस दूसरे

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

पुरुषपर आक्रमण कर दिया। काट लिया। अब बताओ कचहरीमें मुकदमा किस पर चलेगा ? उस आदमीपर, न कि कुत्तेपर। तो मूल तो मालिक रहा। ऐसे ही नवीन कर्मों के आस्रवका निमित्त तो मूलमें रागद्वेष रहा। तो ये रागद्वेष भाव कर्मोके आस्रवके मूल कारण है।

कत्ता भोइ अमुत्तो सरीरमित्तो अणाइणिहणो य।
दंसणणाणुवओगो णिद्दिट्ठो जिणवरिंदेहिं ॥१४८॥

(५५२) **निमित्त नैमित्तिक योगके परिचयसे प्राप्त जीवके कर्तृत्वका निर्देश**—जो ज्ञानी रागद्वेष भावोंको स्वत्वसे अलग समझ रहा है, ये मेरे स्वभाव नहीं हैं, ये औपाधिक भाव हैं। मेरा स्वरूप तो ज्ञान और आनन्द है। तो उसके वे रागद्वेष भी हीन हो जाते हैं, क्षीण हो जाते हैं। बंधमें भी अन्तर हो जाता है। तो यह कार्य होता है सम्यक्त्वगुणके प्रतापसे। जब यह ज्ञान जगा कि मेरा आत्मा ऐसा सहज अविकार स्वरूप है बस इसी ही में ज्ञान रखो तो मोक्षमार्ग बेखटके चल रहा। सो हे कल्याणार्थी पुरुष तू जीवको इस इस स्वरूपसे समझ। यह जीव कर्ता है निश्चयसे अपने ज्ञान परिणमनका। व्यवहारसे कर्ता है अपने पुण्य पापभावका और निमित्तसे कर्ता है कर्मबन्धका। सब ध्यानमें लाओ वस्तुस्वातंत्र्य और निमित्तनैमित्तिक योग। इन दोनोंका स्वरूप जानें और दोनों के परिचयका प्रभाव भी जानें और दोनोंका परिचय होने पर विभावसे हटकर स्वभाव में आना है। इसमें कोई एकान्त कर ले कि जीवमें तो जीवकी योग्यतासे अपने आप अपने समयपर रागद्वेष हुआ। अब उस रागद्वेषसे अलग हटनेका कोई उपाय नहीं रहा। उसमें उसके स्वभावसे हुआ। यदि कोई यह कहे कि हटनेका उपाय कैसे न बनेगा ? यह जानेगा कि ये रागद्वेष मेरे स्वरूप नहीं हैं, हट जायगा तो कैसे जानेगा कि रागद्वेष मेरे स्वरूप नहीं हैं ? उसका उपाय है निमित्तनैमित्तिक योगका परिचय। चूंकि ये रागद्वेष कर्म उपाधिका सन्निधान पानेपर हुए हैं इस कारण मेरे स्वरूप नहीं है। विकार मेरे स्वरूप नहीं है, इसे कौन समझायेगा ? चाहे किसी भी बातसे समझो अन्तमें जब तक यह बात चित्तमें न आयगी कि ये उपाधिका सन्निधान पाकर हुए तब तक ठीक समझमें न आयगा कि ये विकार मेरे स्वरुप नहीं। तो जीव निश्चयसे कर्ता है अपने आपके परिणमनका और निमित्तसे कर्ता है कर्मबंधका कर्मास्रवका दोनों ही बातोंकी समझ हमको स्वभावकी ओर ले जाती है।

(५५३) **जीवके भोक्तृत्व अमूर्तत्वका निर्देश**—जीव भोक्ता है अपने आपके भावों का। सुख दुःख आकुलता, विचार आदि जो कुछ भी यहां परिणमन चल रहे हैं, जीव

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

भोक्ता है अपने भावोंका। और चूंकि ये सुख दुःख आदिक भाव स्वभावसे नहीं हुए क्योंकि जीवका स्वभाव सुख दुःख आदिक भोगनेका नहीं है, सुख दुःखादिक हुए हैं कर्म उपाधिका निमित्त पाकर तो ये भाव भी नैमित्तिक हैं, औपाधिक हैं। इस कारण मेरे स्वरूप नहीं हैं, यह बात समझमें आगयी। तो यह जीव निश्चयसे भोक्ता है अपने भावों का, व्यवहारसे भोक्ता है अपने सुख दुःख आदिक कर्मोंका। यह जीव अमूर्त है और अमूर्त होनेके कारण यह अपने ही भावोंका कर्ता भोक्ता बन पाता है। पर एक प्रश्न हो जाता कि जब यह जीव अमूर्त है तो यह शरीरमें ही बंध कर क्यों रह गया? यह इससे हटकर जाता क्यों नहीं है। तो इसे ही कहते हैं निमित्तनैमित्तिक योगवश परतन्त्रता या मूर्तपना। कर्मोंसे आच्छादित होनेके कारण यह जीव मूर्त बन गया है। यह अन्य प्रकार से मूर्त बना है, कहीं रूप, रस, गंध, स्पर्श आया हो जीवके स्वरूपमें, उस ढंगसे मूर्त बना हो सो नहीं है, किन्तु परतन्त्रता रूपसे मूर्त बना है यह। इस समय आप कितना ही चाहें कि शरीर तो वहीं धरा रहने दो जहां आपका शरीर है और यह आत्मा जरा दो चार हाथ इधर आ जाय तो नहीं आ पाता, तो सिद्ध होता है कि मूर्त पदार्थसे यह रुक गया। नियंत्रित हो गया। सो यह मानो मूर्त बन गया, पर स्वरूप मूर्त नहीं है। स्वरूप अमूर्त है और संसार दशामें भी स्वरूप अमूर्त है और मुक्त होनेपर तो अमूर्त बेदाग (निष्कलंक प्रकट हो गया।

(५५४) **जीवका शरीरमात्रपना अनादिनिधनता, दर्शनज्ञानोपयोगमयपना**— आधारके पारतंत्र्यके कारण यह जीव शरीरप्रमाण है, शरीरसे बाहर नहीं, शरीरसे कम नहीं। कभी कोई पुरुष शंका करते कि लकवा मार गया तो इस हाथमें अब जीव नहीं रहा, पर ऐसा नहीं है। जीव सर्वत्र रहा शरीरमें, पर कोई अंग बिगड़ जाय तो अब यह जीव उस अंगके निमित्तसे कुछ ज्ञान नहीं कर सकता। आंख बिगड़ जाय तो आंख द्वारा ज्ञान नहीं कर सकता, हाथ बिगड़ जाय तो हाथके द्वारा ज्ञान नहीं कर सकता। रह रहा है शरीरप्रमाण, पर इन्द्रियका कोई अंग बिगड़नेसे अब वह ज्ञान नहीं कर सकता। यह जीव कितना बड़ा है, स्वतंत्र कुछ नहीं बता सकते। अनादिसे शरीरप्रमाण है और मोक्ष होगा तो जिस शरीरसे मोक्ष होगा उस शरीरके प्रमाण है। तो जीव स्वयं अपने आप किसी आकारमें नहीं रहा, इसी कारण इसको निराकार कहते हैं। ऐसा अनादि अनन्त है यह जीव, जिसका न आदि है न अन्त है। ज्ञान और दर्शन उपयोगसे सदा उपयुक्त चलता है। जानना देखना यह क्रिया जहां बनी रहती है ऐसे इस आत्मस्वरूपको जानो और समझिये कि यह ही मेरा निजी स्वभाव है, इतनी ही मेरी सारी दुनिया है। इससे

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

आगे मेरा कहीं कुछ नहीं है। यों इस आत्मतत्त्वपर दृष्टि जगनेसे सम्यक्त्व गुण प्रकट होता है।

दंसणणाणावरणं मोहणियं अंतराइयं कम्मं।
णिट्ठवइ भवियजीवो सम्मं जिणभावणाजुत्तो ॥१४६॥

(५५५) **जिनभावनायुक्त भव्य द्वारा नष्ट किये जाने वाले चार घातिया कर्मोंमें ज्ञानावरण-प्रकृतियोंका निर्देश**—जिन भावनासे सहित यह भव्य जीव, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्रसे युक्त होकर दर्शनावरण, ज्ञानावरण, मोहनीय और अन्तराय इन चार कर्मोंको नष्ट करता है। कर्म होते हैं अनगिनते मगर उनके नाम तो नहीं बखाने जा सकते। तो उन अनगिनते कर्मोंको कुल संक्षेपमें किया गया तो १४८ हुए। उन १४८ का संक्षेप किया गया है ८ कर्मोंमें, सो ४ तो हैं घातिया कर्म और ४ हैं अघातिया कर्म। जो कर्म आत्मा के गुणोंको नष्ट करें उनको कहते हैं घातिया कर्म और जो गुण आत्माके गुणोंको तो नष्ट करता नहीं किन्तु उन घातिया कर्मोंके मददगार रहते हैं वे अघातिया कर्म हैं। तो घातिया कर्मोंका नाश करके अरहन्त भगवान होते हैं। जैसे ज्ञानावरण ५ प्रकारका होता है—(१) मतिज्ञानावरण (२) श्रुतज्ञानावरण (३) अवधिज्ञानावरण (४) मनःपर्यय-ज्ञानावरण और (५) केवलज्ञानावरण। जो इन ५ प्रकारके ज्ञानोंको घातते हैं वे ५ ज्ञानावरण हैं।

(५५६) **दर्शनावरण कर्मकी प्रकृतियोंका निर्देश**—दर्शनावरण क्या कहलाते? जो दर्शनका आवरण कर दे, दर्शन न होने दे, आत्माका दर्शन, परपदार्थोंका भी दर्शन न होने दे वह दर्शनावरण है। दर्शनावरण कर्मके ९ भेद हैं। (१) चक्षुदर्शनावरण (२) अचक्षुदर्शनावरण (३) अवधिदर्शनावरण (४) केवलदर्शनावरण ये ४ तो आवरण है याने आंखसे दर्शन न होने देना चक्षुदर्शनावरण है, आंखके सिवाय बाकी इन्द्रिय और मनसे दर्शन न होने दे सो अचक्षुदर्शनावरण है, अवधिज्ञानसे पहले अवधिदर्शन हुआ करता है, उसको जो न होने दो वह अवधि दर्शनावरण है, केवलज्ञानके साथ केवलदर्शन चलता ही रहता है। उस केवलदर्शनको न होने दे, वह केवल दर्शनावरण है। दर्शनावरणका काम है कि दर्शन न होने दे। शेष ५ और बचे, वे ५ हैं (१) निद्रा, (२) निद्रा निद्रा (३) प्रचला (४) प्रचलाप्रचला और (५) स्त्यानगृद्धि। निद्रानाम है नींद आनेका नींद आ गई तो देखना तो नही बनता तो दर्शनका आवरण हो गया। नींद आना दर्शना-वरणका उदय है और निद्रानिद्रा मायने खूब तेज नींद जैसे किसी बच्चेको यहां शास्त्र-सभामें नींद आ रही और शास्त्रसभा पूरी होनेपर घर ले जानेके लिए उस बच्चेको

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

उठाते हैं वह उठकर कुछ चल देता, मगर फिर वह नीचे पड़ कर सो जाता है। तो नींदके बाद और नींद आती रहे वह कहलाती है निद्रानिद्रा। प्रचला—नींद आनेमें कुछ अंगोपांग भी चलते हैं, जिसमें कुछ कुछ सुध भी रहे। जैसे प्रचला आती है श्रोताओंको। जैसे किसी श्रोताको शास्त्रसभामें नींद आ रही कुछ कुछ नींद भी लेता जाता और कुछ शास्त्र भी सुनता जाता। अब उससे कोई पूछे—क्यों जी, सो रहे क्या ? तो झट वह बोल उठता—नहीं, सो नहीं रहे शास्त्र सुन रहे हैं। भाई क्या सुना ? तो शायद कुछ-कुछ बता भी सके या न भी, बता सके, ऐसी नींदको प्रचला कहते हैं जिसमें कुछ अंग भी चलें। बताते हैं कि घोड़ोंके प्रचला चलती है। वे चलते भी जाते और नींद भी लेते जाते। प्रचलाप्रचला उसे कहते हैं कि जिसमें ऐसा तेज सोवे कि जिसमें दांत भी किट-किटाये, मुखसे लार भी बहे, यह दर्शनावरण है। ये नींदके भेद हैं, ऐसी निद्रा आनेमें दर्शन नहीं होता। और आखिरी है स्त्यानगृद्धि, स्त्यानगृद्धिमें ऐसा होता कि सोते हुए के बीचमें कुछ काम भी कर दिया, पर उसकी सुध भी नहीं रहती। ऐसी नींद आप लोगोंमें से किसीको आयी हो तो आप लोग जानो। हमें तो एक बार बता मिला कि हम जब विद्यार्थी अवस्थामें थे तो एक बार ऐसी नींद आयी कि रात्रिको उठकर मंदिर का ताला भी खटखटा आये और वहांसे आकर अपने कमरेमें फिर सो गए। सवेरा होनेपर दूसरे विद्यार्थियोंने हमसे कहा कि तुम इतनी रातको मन्दिरके द्वारपर पहुंचकर ताला क्यों खटखटा रहे थे ? तो हमने यही कहा कि हम तो नहीं गए थे मन्दिरके द्वारपर। आखिर उन्होंने बताया कि तुम सोकर उठे और मन्दिरके द्वार तक गए और फिर सो गए। अब देखो यह काम हमने कर लिया, पर हमें पता नहीं। तो ऐसे भी कोई काम कर डाले नींदमें और फिर नींद आ गई और उसे पता ही न पड़े कि क्या किया। इसको स्त्यानगृद्धि कहते हैं। ये दर्शनावरणके ९ भेद हैं।

(५५७) **कर्मराज मोहनीयकर्मकी प्रकृतियां**—मोहनीयके २८ भेद हैं ३ दर्शनमोह-नीय, २५ चारित्रमोहनीय। मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्प्रकृति। मिथ्यात्वके उदयसे सम्यक्त्व नहीं हो सकता। सम्यग्मिथ्यात्वमें कुछ सम्यग्दर्शन कुछ मिथ्यात्व मिला जुला, न केवल सम्यक्त्व न केवल मिथ्यात्व, ऐसा परिणाम बनता है। सम्यक्प्रकृतिके उदयमें सम्यक्त्व तो नहीं मिट पाता, पर थोड़ेसे दोष लगते रहते हैं, जिन्हें कहते हैं चल मलिन अगाढ़। ये हैं तीन दर्शनमोहनीय। चारित्रमोहनीयमें मुख्य है अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ। मिथ्यात्वका बंध कराने वाली कई भवों तक बैर रखने वाली अनन्तानुबंधी कषाय है। सुकुमालके बहुत पहले भवोंकी बात है। कोई घटना हुई ऐसी

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

कि सुकुमालके जीवने अपने बड़े भाईकी स्त्रीका याने अपनी भाभीका अनादर किया। शायद एक लात मार दिया था, तो उस स्त्रीने ऐसा निदान बांधा कि मैं इस लातका बदला लूंगी। आखिर कुछ भवों तक वह बदला न चुका सकी। जब वह पुरुष तो हुआ सुकुमाल और यह भाभी हुई गीदड़ी (स्यालिनी) तो सुकुमाल जब विरक्त होकर बनमें तपस्या कर रहे थे तो इस स्यालिनीने उसे देखा और पूर्वभवका बैर उमड़ आया सो स्यालनी और उसके दोनों बच्चोंने सुकुमालकी जंघाका मांस खाया था। बड़ा लहूलुहान कर डाला था। पैरसे ही तो मारा था सो पैरकी जंघाका ही भक्षण किया। उस समय भी सुकुमालने धीरता रखी और आत्मध्यानमें बराबर लीन रहे। उसके प्रतापसे यह सर्वार्थसिद्धि गए। ठीक है अभी वह मुक्त न हुए, कुछ थोड़ी सी कसर रह गई थी, मगर होगा सर्वार्थसिद्धिका स्थान कहां है? स्वर्गोंसे ऊपर नव ग्रैवेयक, नव अनुदिश, फिर ५ अनुत्तरमें बीचका सर्वार्थसिद्धि है। कि तैंतीस सागर तक सर्वार्थसिद्धिके सुख भोगकर बादमें मनुष्य होकर मोक्ष चले जायेंगे। तो ऐसी कषाय अनंतानुबंधी होती है जो कि भव भव तक साथ चलती है। इससे किसी भी जीवसे कषाय न बढ़ाना चाहिए, खुद गम खा लें, धीरता धारण कर लें, ऐंठ न बगरायें, क्योंकि यह तो संसार है। कहां ऐंठ चल सकती इस जीवकी? तो जो सम्पत्तिके गर्वमें आकर ऐंठ चला करती है वह बुरी चीज है। इसके मायने यह नहीं है कि वह कायर बनकर रहे, किन्तु अन्याय न करे, इतनी ऐंठ न बनाये कि जिससे दूसरे जीव निरपराध दुःखी होवें। अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ, जिस कषायमें श्रावकका व्रत न हो सके, इस कषायसे मिथ्यात्वका बंध नहीं होता, पर श्रावकका व्रत न हो सके, इस प्रकारकी कषायका उदय है। प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ इस कषायके उदयमें महाव्रत नहीं हो सकता। उससे तो कम रही कषाय, फिर भी तेज है। सकलव्रतके भाव नहीं बनते। संज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ—जो संयमका घात तो न करे, मगर उसके साथ चलती रहे कषाय जिससे कि यथाख्यात चारित्र न बनेगा। पूरा संयम न हो पायगा वह है संज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ। ये कर्मोंके नाम बोले जा रहे, यह जीव कर्म बांधता है, तो उनके उदयमें ऐसा फल प्राप्त होता है। हास्य—हंसना, दूसरेका मजाक करना यह हास्य कषायके उदयसे होता है। रति—इष्ट वस्तुमें प्रेम करना, अरति—अनिष्ट वस्तु से द्वेष जगना, शोक—रंज होना, भय—डर, जुगुप्सा—ग्लानि और पुरुषवेद, स्त्रीवेद, नपुंसकवेद याने कामवासना होना, ये सब मोहनीयके भेद हैं।

(५५८) जिनभावनायुक्त भव्य जीव द्वारा उच्छेद्य घातिया कर्मोंमें अन्तराय कर्मकी प्रकृतियां—

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

अन्तराय ५ प्रकारके हैं—(१) दानान्तराय (२) लाभान्तराय (३) भोगान्तराय (४) उपभोगान्तराय और (५) वीर्यान्तराय, दानके भाव न हो सकें वह दानान्तराय है, या दान देनेमें विघ्न बन जाय वह दानान्तराय है एक भाईकी बात है कि वह बड़ा धनिक था मगर अपने हाथसे वह दान न कर पाता था और उसका भाव यही रहता था कि मेरा धन किसी अच्छे काममें खर्च हो। यदि कोई घरका व्यक्ति दान देना चाहे तो उसे वह रोकता न था। और वह खुद कहता था कि भाई हमारा धन अगर कोई किसी धर्म स्थानमें खर्च करे तो हमें उसमें कष्ट नहीं होता, बल्कि खुशी होती, पर हम अपने हाथों दान नहीं दे पाते। तो भी किसी किसीके अन्तरायका उदय होता है कि दान देनेका भाव होते हुए भी खुद किसीको दान नहीं देता। तो इस प्रकारकी बात दानान्तरायके उदयमें बनती है। दान करते हुए कोई विघ्न आ जाय सो दानान्तराय है। लाभान्तराय—किसी चीजकी प्राप्तिमें विघ्न आये, भोगान्तराय—पदार्थोंके भोगनेमें विघ्न आये सो भोगान्तराय। उपभोगान्तराय—जो बार बार भोगे हुए पदार्थोंके उपभोगमें अन्तराय आये सो उपभोगान्तराय, वीर्यान्तराय—आत्मशक्तिमें अगर कोई विघ्न आये तो वह वीर्यान्तराय है। तो ये चार घातिया कर्म हैं उनको जिन भगवान आदिक पुरुषोंने नष्ट किया।

बलसोक्खणाणदंसण चत्तारि वि पायडा गुणा होंति।
णट्ठे घाइचउक्के लोयालोयं पयासेदि ॥१५०॥

(५५९) धर्म और अधर्म जिसके कि आश्रयसे मोक्षमार्ग व संसारमार्ग होता है—

जब चार घातियाकर्ममें नष्ट हो गए तब अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त शक्ति और अनन्त आनन्द प्रकट हो गया। जब तक जीवके मोह है तब तक शांतिकी कल्पना मत करो। शान्तिसे हाथ धोये बैठे रहो। मोहपर विजय हो तब मोक्षमार्गका प्रारम्भ है। घरमें मोह बनाये रहे और धर्म भी करता रहे दोनों बातें एक साथ नहीं होतीं। मोह अधर्म है। जहां मोह है वहां धर्म नहीं हो सकता। फिर आप कहेंगे कि तो क्या घर छोड़ दें? क्या घरमें रहकर धर्म न बनेगा? घरमें रहकर भी धर्म बनेगा। घरमें प्रेम किए बिना नहीं रह सकते, क्योंकि परस्पर सहयोगका नाम घर है, सो राग किए बिना नहीं रहं सकते, पर मोह बिना तो रह सकते। इनका अन्तर जान लो। मोह न रखे और बने रहें घरमें, तो भी धर्म हो जायगा, मगर मोह है तो धर्म नहीं हो सकता। मोह और रागमें अन्तर क्या है? मोहमें तो यह भाव रहता है कि अनन्त काल तक मुझे ऐसा ही सुख मिले, कुटुम्ब मिले, धन मिले, यह ही सार है, ऐसा भीतरमें भाव

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

रहता है मोहमें, और रागमें—जो मोह रहित राग है वहां यह चेत रहती है कि ये सब जीव जुदे हैं, स्वतंत्र हैं, ये अपने कर्मसे सुख दुःख पाते हैं, मेरे ये कुछ नहीं लगते। इतना जानकर भी घरमें अगर राग न रखे तो फिर खाना भी न मिलेगा, घरमें रहना दुस्वार हो जायगा। सो राग रखना भी पड़ता है। तो मोह न होगर राग रहे वह है निर्मोह-राग। और मोह रहे तो अज्ञान है।

(५६०) **मोह व रागके अन्तरका एक दृष्टान्त**—राग व मोहके अन्तरका परिचय आप एक बीमारीसे ले सकते हैं। जब आप कभी बीमार होते, बुखार होता तो उस बुखारमें आप बड़ा आराम भी तो चाहते। डाक्टर भी बुलवाते, अच्छा गद्देदार पलंग भी चाहते, और और भी सब प्रकारके आराम चाहते हैं। दवा समयपर मिले, तो बीमार अवस्था में बताओ आपको दवासे राग है कि नहीं? राग है पर उस दवासे मोह भी है क्या? नहीं है मोह। मोह तो तब कहलाता जब आपका यह आशय रहता कि बड़ा आनन्द आ रहा है। खूब दवा मिल रही है। ऐसी दवा मुझे जिन्दगी भर मिले ऐसा भीतरमें भाव हो तो समझो कि आपको दवासे मोह है। पर ऐसा भाव तो किसीको नहीं रहता, तो समझो कि दवासे आपको मोह नहीं रहता। बल्कि वहां आपका यह भाव रहता है कि जल्दी ही दवा पीना मेरा छूट जाय, इसी लिए समय समयपर दवाई लेनेका बड़ा ध्यान रखते। यदि दवासे आपको मोह होता तो आपका यह भाव रहता कि दवा मेरी कभी न छूटे, दवा छूटनेकी कभी कल्पना तक न होती। तो इससे आप यह जान लें कि मोह और रागमें क्या अन्तर है। आप डाक्टरसे बड़े प्रेमसे बोलते और उसे रुपये भी देते, इतना प्रेम है आपको डाक्टरसे, मगर यह तो बताओ कि उस डाक्टरसे आपको मोह है क्या? नहीं है मोह। मोह तो तब कहलाता जब यह भाव रहता कि यह डाक्टर मेरेको बहुत प्यारा है, यह रोज-रोज मेरी दवा करता रहे, मेरेसे यह कभी न हटे। पर इस प्रकारका भाव तो कोई नहीं रखता, बल्कि मनमें यह बात सदा बनी रहती कि कब मेरा यह झझट छूटे, कब मेरा यह दवा लेना बन्द हो और मैं प्रतिदिन मील दो मील जगह घूम आया करूं। तो मोह नहीं है डाक्टरसे। मगर राग है। मोहमें और रागमें क्या अन्तर है सो बतला रहे हैं।

(५६१) **मोहरहित राग**—जैसे किसी लड़कीका विवाह हुए मानो कुछ दिन बीत गए, दो चार बार ससुराल हो आयी फिर भी जब वह ससुराल जायगी तो रोकर जायगी। और, भीतरमें यह भाव भरा है कि मैं जल्दी अपने घर पहुंचूं, बरसातके दिन हैं, कहीं पानी चू चा न रहा हो, कोई चीज खराब न हो जाय, सो भीतरसे तो ससुराल

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

जानेकी उमंग है पर उसे रोना पड़ता है, क्या करें, परिस्थिति ही कुछ ऐसी है। तो अब वह जो रोया घर छोड़नेके लिए तो उसमें क्या मोह काम कर रहा ? अरे उसमें मोह नहीं काम कर रहा, उसमें तो राग है। काहेका राग ? लोकलाजका राग। लोग क्या कहेंगे कि देखो इसको अपना घर छोड़नेपर जरा भी दुःख नहीं हो रहा, इस लोक-लाजके कारण उसे रोना पड़ता है, पर अन्दरसे उसे मोह नहीं है। तो मोह और रागमें अन्तर बताया जा रहा है। अनेक घटनायें आपको ऐसी मिलेंगी कि राग तो है पर मोह नहीं। और भी देखिये—जब किसी बारातकी निकासी होती है तो उसमें दूल्हा घोड़ेपर चढ़कर चलता हैं, उसे घुड़चढ़ी भी बोलते। तो वहां क्या होता कि उस दूल्हेके साथ साथ पास पड़ोसकी बहुत सी स्त्रियां गीत गाती हुई चलती हैं—मेरा दूल्हा बना सरदार, राम लखन सी जोड़ी आदि, वे स्त्रियां उस दूल्हेको बहुत मेरा मेरा करती हैं मगर यह तो बताओ कि उनको उस दूल्हेसे जरा भी मोह है क्या ? मोह बिल्कुल नहीं है, हां राग अवश्य है। राग भी किस चीजका ? सम्भव हैं कि जो छटांक आधपाव बतासे मिलेंगे उनका राग हो। उन्हें उससे मोह नहीं रहता। मोह रहता उस दूल्हेकी मां को, जिसको कि उस दूल्हेके पास खड़े होनेकी भी फुरसत नहीं, उससे बोलनेकी भी फुरसत नहीं। उसके सामने इतने काम रहते कि वह उन्हींको निपटानेमें पड़ी रहती है। अब आप इस बातपर विचार करें कि मान लो कदाचित् वह दूल्हा घोड़ेसे गिर जाय और उसकी टांग टूट जाय तो कौन रोयेगा ? उसकी मां या वे पास पड़ोसकी स्त्रियां ? अरे उसकी मां ही रोवेगी, पास पड़ोसकी स्त्रियां न रोवेंगी। तो समझमें आया कि उन पास पड़ोसकी स्त्रियोंको उस दूल्हेसे मोह नहीं है, किन्तु राग है। राग और मोहमें इस प्रकारका अन्तर है।

(५६२) **प्रभुके अनन्त ज्ञान दर्शन, बल व आनन्द**—यहां यह बात कह रहे कि घातिया कर्मोंका नाश होनेपर अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त शक्ति और अनन्त आनन्द प्रकट होता है। ज्ञानके द्वारा समस्त लोकालोकको जान लिया लोक मायने जिसमें जीव, पुद्-गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल ये छहों द्रव्य रह रहे और जहां सिर्फ आकाश ही आकाश है, अन्य द्रव्य नहीं है वह तो है अलोकाकाश। तो भगवान लोकको भी जानते, और अलोकको भी जानते। इतना ही उनका दर्शन है और ऐसी ही अनन्त शक्तियां हैं, और ऐसा ही अनन्त आनन्द है। घातिया कर्मके नष्ट होनेपर ये चार अनन्त गुण प्रकट हो जाते हैं। ज्ञान त्रिलोक त्रिकालवर्ती समस्त पदार्थोंको जानता है और ऐसा ही जानने के लिए खुदका दर्शन किया तो उतना ही दर्शन बन गया। और ये ज्ञान दर्शन अनन्त

Version 1

 http://sahjanandvarnishastra.org/

चल रहे, नहीं थके, एक समान चल रहे यह है अनन्त बल और अनन्त आनन्द है जिसमें आकुलता रंच नहीं।

(५६३) **प्रभुके आनन्दका साधारण अनुमान**—सिद्ध भगवानके कितना सुख होता है ? अनन्त सुख। एक इस तरह भी सोच सकते कि चक्रवर्तीके जितना सुख होता है उससे अधिक होता है भोगभूमियामें पैदा हुए मनुष्यके। कुछ ध्यानमें लावो, जिसका छह खण्डका राज्य है, चक्रवर्ती है, उसको तो लोग बड़ा सुख मानते हैं, उस सुखसे भी अधिक सुख है भोगभूमिया मनुष्यमें। भोगभूमिया मनुष्य वह कहलाता कि जहां जुगुलिया तो पैदा हों, याने लड़का लड़की ये दो एक साथ पैदा हों और जैसे ही वे पैदा हुए वैसे ही माता-पिता मर गए। यह भोगभूमियाके सुखकी बात बतला रहे हैं। अगर माता-पिता उन बच्चोंका मुख देखलें तो उनको दुःख रहेगा। और उन बच्चोंकी स्वयं ही परवरिश होती है अपने आप। भोगभूमिका क्षेत्र ऐसा है, वहां सांसारिक दृष्टिसे बहुत सुख है, और उनसे अधिक सुख है देवोंके। और इन सब सुखोंको जोड़ लें। तीनों कालों में जितना सुख भोगा होगा ऐसे जीवोंने, उस सुखसे भी अनन्तगुणा सुख है भगवान के। उस सुखकी जाति ही निराली है। यहांके सुख तो हैं दुःखसे भरे हुए। भगवानका सुख है दुःखसे अत्यन्त रहित, ऐसा उनका अनन्त सुख है। यह सब जो प्रताप बतला रहे हैं यह सम्यक्त्व सहित चारित्रका प्रताप है।

(५६४) **मिथ्यात्व अव्रत दुराचारके योगमें विशेष दुर्गति**—मिथ्यात्वके मायने है कि आत्माके स्वरूपकी सुध न हो और देहको और कषायको ही माने कि यह ही मैं हूं तो ऐसा जिसके मिथ्याभाव लगा है उसको मोक्षमार्ग नहीं मिल पाता। पहले मोक्षमार्गका दर्शन तो हो फिर कषायोंको ढीला करके जो करने चलेगा तो जब तक मिथ्याभाव है, मोह है, अज्ञान है तब तक मोक्षमार्ग नहीं। धर्मकी प्रवृत्ति नहीं, शान्ति नहीं। भले ही मिथ्यात्व भी है। उसे कौन जानता फिर भी अगर व्रत धारण करे, कुछ थोड़ा तपश्चरण करे, स्वाध्याय आदिक करे तो उसके पुण्य बन्ध तो होगा ही होगा जिससे आगे सद्गति मिलेगी। बाकी काम वहां बनेगा। अगर सम्यक्त्व भी नहीं है और व्रतसे इन पुण्यकी क्रियाओंसे घृणा करे तो उसकी तो दुर्गति निश्चित है। व्रत मिथ्यात्व हो तो करे न हो तो करे, अज्ञानी है तो भी संयम धारण करे, न होगा वह भावसंयम, न मिलेगा मोक्ष मार्ग पर संयम धारण करनेसे गति तो आगे सुधरेगी और मान लो पाप से, हिंसासे, अव्रतसे दुर्गतिमें गए तो फिर क्या कर सकते। तो व्रतोंका पालन इस दुर्लभ मनुष्यजन्ममें बहुत आवश्यक है।

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

णाणी सिव परमेट्ठी सव्वण्हू विण्हु चउमुहो बुद्धो ।
अप्पो विय परमप्पो कम्मविमुक्को य होइ फुड़ ॥१५१॥

(५६५) **ज्ञानी शिव परमेष्ठी**—उस सहज ज्ञानानन्द स्वभावके आलम्बनसे जो भीतर पवित्रता बनी है उस पवित्रताके कारण चार घातिया कर्मोंका नाश होने पर प्रभु भगवान बन जाते हैं। इसका नाम है सकल परमात्मा। स मायने सहित, कल मायने शरीर शरीरसहित परमात्मा। ये कई नामोंसे पुकारे गए। १००८ नाम सहस्र नाममें प्रसिद्ध ही हैं। यहां भी ये कुछ नाम कह रहे हैं। प्रभु ज्ञानी हैं, मायने ज्ञान ज्ञान ही है, ज्ञानसिवाय अन्य कुछ नहीं रहा। जैसे संसार अवस्थामें उस ज्ञानमें कुछ कमियां थीं, दोष था, रागसहित थे, अब ये कोई विरोध न रहे, सिर्फ ज्ञानमय ही हैं। ये प्रभु शिव हैं। शिव कहते हैं कल्याणको अथवा शिवति गच्छति जो सबसे ऊपर गया है उसको कहते हैं शिव। कल्याणमय है। आत्मा अपने सही स्वरूपमें रहे वहां सब कल्याण ही कल्याण है। प्रभु परमेष्ठी हैं, परम पदमें स्थित हैं। अरहंतसे बड़ा पद इस लोकमें कोई नहीं है। प्रभु हैं, भगवान हैं, सिद्ध भगवान ये अपनी इस दुनियामें नहीं हैं। ये लोकके अग्रभागपर स्थित हैं। ये अपनेको दिखते हैं, हैं वे लोकमें ही, पर यहां मनुष्योंको किसी को मिल जायें, दिख जायें ऐसा नहीं है। तो लोकका उत्तम पद है अरहन्त भगवानका। हम आप स्वयं यह आत्मा अपने सहज स्वरूपको देखें तो यहां ही बात समझमें आयगी कि ये अरहन्त सिद्ध होना योग्य है। यहां हम आप स्वरूपमें सिद्धस्वरूप हैं, पर आवरण होनेसे संसारमें रुलते हैं। प्रभु अरहंत देव परमपदमें स्थित होनेसे परमेष्ठी हैं।

(५६६) **सर्वज्ञ विष्णु चतुर्मुख**—अरहन्त भगवान सर्वज्ञ हैं, जो भी सत् है सबके जाननहार हैं। ज्ञानका स्वभाव ही ऐसा है कि जो है सो ज्ञानमें आ जाय और ये सभी पदार्थ प्रमेय कहलाते। चूंकि सत् हैं इसलिए नियमसे भगवानके ज्ञानमें ज्ञेय हैं। जो भगवानके ज्ञानमें ज्ञेय ही नहीं वह है ही नहीं। जो है वह नियमसे भगवानके ज्ञानमें ज्ञेय है, इस कारण प्रभु सर्वज्ञ हैं। अरहन्तको विष्णु कहते हैं। जो ज्ञान द्वारा समस्त लोकालोकको व्याप डाले उसे कहते हैं विष्णु सो प्रभुका ज्ञान सारे लोकको जानता, अलोकको जानता, ज्ञानमुखेन इतना बड़ा विस्तार है प्रभुका। इस कारण प्रभु विष्णु हैं। प्रभुका नाम है चतुर्मुख। धर्मसभामें चारों ओर श्रोतागण बैठते हैं। उनके बारह सभायें गोल गोल बनी हुई हैं, तो किसी भी ओर श्रोता हो उसे भी भगवानका मुख दिखेगा। सामने हो उसे भी दिखेगा, पीठ पीछे हो उसे भी दिखेगा, भगवानके चारों ओर बैठे हुए जीवोंको भगवानका मुख दिखता है। इसी कारण भगवान चतुर्मुखी कह-

Version 1

 http://sahjanandvarnishastra.org/

लाते हैं। चारों ओर उनका मुख है अथवा उनके ज्ञानका मुख चारों ओर है। सब ओर के पदार्थोंको वे जानते हैं।

(५७७) **बुद्ध, कर्मविमुक्त परमात्मा**—निज सहज स्वभावके आलम्बनके प्रसादसे आत्मामें बसा हुआ अतुल वैभव प्रकट हो जाता है और बाह्य पदार्थोंमें लगाव और आशा रखनेके कारण उपयोग मलिन रहता है, कर्मबन्ध करता है और संसारमें रुलता है। तो जिन भव्य जीवोंने निज सहज स्वभावका आलम्बन लिया वे पुरुष परमेष्ठी हुए, वे बुद्ध हैं। पूर्ण बोध है उन्हें। केवलज्ञानके द्वारा समस्त लोकालोकके जाननहार हैं। ऐसे ये परमात्मा कर्मविमुक्त होते हैं। जो शेष रहे अघातिया कर्म हैं वे भी यहां दूर हो जाते हैं, केवल आत्मा ही आत्मा रह जाय यह है पूज्य आत्मा। जिसका स्वभाव अपराधका नहीं है और वह देहके जालमें पड़ा हुआ है, कर्मकी कैदमें बसा हुआ है। जिस क्षण यह देहकी कैदसे छूटता है, कर्मकी कैदसे छूटता है तो उसे अतुल वैभव प्रकट हो जाता है। ऐसे चार घातिया कर्मोंके नष्ट होनेपर ये आत्मा प्रभु होते हैं।

इय घाइकम्मुक्को अट्ठारहदोसवज्जिओ सयलो।
तिहुवणभवणपदीवो देउ ममं उत्तमं बोहिं ॥१५२॥

(५७८) **सकलपरमात्माकी अष्टादश दोषवर्जिततासे प्रकरणमें जन्मदोषरहितताका वर्णन**—इस प्रकार ये चार घातियाकर्मसे रहित हुए और १८ दोषोंसे रहित हुए ये तीनों लोक के प्रदीप हो जाते हैं। तो ऐसे सकलपरमात्मा मुझको उत्तम ज्ञान प्रदान करें। वे १८ दोष कौनसे हैं, इसका वर्णन समंतभद्राचार्यने किया है और हिन्दीमें भी इससे सम्बन्धित दो निम्नलिखित दोहे हैं—जन्म जरा तिरषा क्षुधा विस्मय आरति खेद, रोग शोक मद मोह भय निद्रा चिन्ता स्वेद। रागद्वेष अरु मरणजुत ये अष्टादश दोष, नाहि होत अरहन्तके सो छवि लायक मोष। जन्म नहीं, जन्म होना बहुत बड़ा दोष है। मूलसे देखो तो इस जीवको अपना जन्म पसन्द नहीं, कोई उमंग नहीं। जन्म समय उसे बड़ा दुःख होता है। उसे तो कुछ खबर ही नहीं। जो जन्मता है उस मनुष्यको जन्म समयमें खुशी बिल्कुल नहीं होती, यह खुशी तो आप लोग ही मनाते हैं। पुत्रके जन्मका एक बड़ा समारोह करते हैं और उस जन्म लेने वाले बेचारे बच्चेको कुछ भी सुध बुध नहीं। उसमें तो कुछ भी उमंग नहीं होती, किन्तु वह जीव दुःख मानता है और दूसरेके जन्म को सुनकर वह सुख मानता है। जन्म तो दोष है, पर यह सब मोहकी लीला है। आत्माका सिवाय आत्मस्वरूपसे अन्य कुछ नहीं है। कर्म लिपटे कैसे हैं ? ये मोहसे। न जाने किन किनको यह जीव अपना मानता है, यही तो मेरे खास हैं ऐसा समझता

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

है। जहां ऐसी श्रद्धा बिगड़ी हो वहां कष्ट है। गुजारा करनेके लिए राग करना और बात है और भीतरमें उनको अपना समझना यह बड़ा कलंक है। यह जीव पक्षीकी भांति आज यहां है, कल कहीं है, इसका क्या रखा है बाहर ? हां गुजारा करनेके लिए व्यवहार और राग किया जाता है किन्तु उनको अपना सर्वस्व मान लेना—यह एक कलंक है, जिसके कारण इस जीवको अज्ञान अंधेरा छाया है, संसारमें जन्म मरणके दुःख पाता है। तो जन्म एक बड़ा दोष है। जन्मके बाद किसीका कल्याण नहीं होता, बल्कि मरणके बाद कल्याण होता है। अरहन्त भगवानके मरणको लोग निर्वाण कहते हैं। वह शरीरसहित परमात्मा हैं। उनके आयुका उदय है। जिस समय आयु पूरी होती है अरहन्त भगवानकी तो उनको मोक्ष मिलता है। तो मरनेके बाद कल्याण तो मिल गया, मगर जन्मके बाद तुरन्त कल्याण किसको मिला ? तीर्थंकर भी जन्मे, पर जन्मके बाद वे पवित्र तो नहीं हुए, अष्ट कर्म रहित तो नहीं हुए, बच्चे हैं रहते हैं, तीर्थंकरोंकी शादी भी होती है, तीर्थंकरोंके पुत्र भी होते हैं, राज्य भी होता है तो यह कोई कल्याण की बात नहीं। भले ही वे मोक्ष जायेंगे, भगवान बनेंगे, सो हम उनके जन्मके भी गुण गाते हैं, पर यदि आगे ये भगवान न बनते तो जन्मके गुण कैसे गाये जाते ? जैसे अनेक जीव जन्म लेते वैसे ही उन्होंने भी जन्म ले लिया। तो जन्मके बाद कल्याण किसीका नहीं होता, मरणके बाद कल्याण हो सकता है। एक बात, दूसरी बात यह कि जन्मके समय समतापरिणाम किसीने भी नहीं रखा है, और कोई ज्ञानी हो तो मरणके समय समतापरिणाम रख सकता है, समाधिमरण कर सकता है। पर समाधिजन्म किसीका नहीं होता। तो जब जन्मके समय समतापरिणाम होता नहीं किसीके तो समताका ही तो नाम कल्याण है। रागद्वेष न रहना इसे कल्याण कहते हैं। जन्मके समय रागद्वेष का अभाव किसीके नहीं होता। मरण समयमें रागद्वेष न करें, इस पर कुछ बल चलता है, गुरुजन भी उपदेश करते हैं, उससे वह अपना ज्ञानबल संभालता है। तो यहां यह बात बतला रहे हैं कि मरणसे जन्म बुरा है। यह बात उसकी कह रहे जो अपना कल्याण करेगा। हां इस जिन्दगीमें जीकर वह अपने कल्याणका उपाय बना सकता, मगर कल्याण अभी नहीं हो पाया। मोक्ष मिलेगा उसे आयुक्षयके बाद। जब तक आयुका उदय है तब तक जीवको मोक्ष नहीं मिलता। तो यहां यह बतला रहे कि जन्म एक दोष है।

(५६९) **जरा तृषा क्षुधा विस्मयका प्रभुमें अभाव**—जरा (बुढ़ापा) यह बड़ा दुःखमय है। शरीर शिथिल हो गया, इन्द्रियां शिथिल हो गई, कोई परवाह नहीं करता, तो वह

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

एक दोष है, तृषा-प्यास लगना दोष है। प्यास लगे बाद जब पानी मिलता तो आनन्द तो मानता यह जीव, मगर वह आनन्द कहां ? उस दुःखकी थोड़े समयको शान्ति है, फिर दुःख हो जायगा। और, ऐसा पानी मिलनेसे क्या लाभ कि पहले तड़फे फिर पानी मिले, फिर कल्पना करे, सुख मिले, फिर प्यास हो जाय, फिर पानी ढूंढे तो यह दोष है। सिद्ध भगवानके शरीर नहीं है। सारे दोष उनके दूर हो गए, भूख क्षुधा, खानेकी इच्छा यह भी दोष है। अरहन्त भगबानके १८ दोष नहीं हैं, यह बात बतला रहे हैं। अरहन्त भगवान न प्यासे होते, न भूखे होते, कितनी एक विलक्षण बात है कि शरीर बना हुआ है और करोड़ों वर्षों तक अरहंत भगवान बिना खाये पिये विहार करते हैं, दिव्यध्वनि खिरती है, उपदेश होता है। तो बात यह जानें कि खानेसे ही जीवन टिकता है यह नियम न रहा। आयुका उदय बना रहनेसे जीवन टिकता है। अब इसे लोग अपने ऊपर घटाते हैं, सो ऐसा लगता है कि खाये बिना कोई शरीरमें कैसे रहेगा ? तो यह अपनी निगाहसे परखनेकी बात है, किन्तु अरहन्त भगवान जिनका शरीर निर्दोष हो गया उनके क्षुधा तृषाकी पीड़ा नहीं होती। विस्मय आश्चर्य भी नहीं होता। आश्चर्य उन्हें होगा जो जानते नहीं है, और कोई बात विलक्षण दिख गई तो आश्चर्य होता है। भगवान तो सब जान रहे हैं। जब सब ज्ञात हो गया है तो किसी बातपर भी उन्हें आश्चर्य नहीं हो सकता।

(५७०) **प्रभुके पीड़ा, खेद, शोक, मद मोह भयका अभाव**—प्रभुको किसी प्रकारकी खेद पीड़ा नहीं। अनिष्टसे अप्रीति नहीं है, अनिष्ट ही कुछ नहीं है। सबके ज्ञाता दृष्टा हैं, रोग नहीं, शोक नहीं, घमड नहीं, मोह नहीं, ऐसा जो यह चारित्र सम्बन्धी दोष है वह भी नहीं, शरीरसम्बन्धी दोष है वह भी नहीं। देखो मुनि अवस्थामें शरीरमें निगोदिया जीव बहुत रहते थे। जैसे कहते हैं ना कि आलू शकरकदीमें निगोदिया जीव हैं और हम आपके शरीरमें भी अनन्त निगोदिया जीव हैं। तो जो मुनि हैं उनके शरीरमें भी निगोदिया जीव हैं। पर उन मुनियोंके जब समाधि साधनाके बलसे मोहनीय कर्म दूर हो जाते हैं, १२ वें गुणस्थानमें आ जाते हैं तो उनके शरीरमें निगोदिया जीवोंका जन्म होना बन्द हो जाता है। जो रहे हैं वे सब चले जाते हैं। और इसीलिए बतलाया कि भगवानका शरीर पवित्र है स्फटिक मणिकी तरह। उनके शरीरकी छाया नहीं पड़ती। जैसे—स्फटिक मूर्तिकी छाया नहीं पड़ती, कांचकी भी छाया नहीं पड़ती। दोनों ओरसे साफ कांच हो और धूपमें रख दिया जाय तो कहां छाया पड़ेगी ? मानो थोड़ीसी छाया पड़ भी गई हो, मगर भगवानके शरीरकी छाया नहीं पड़ती, उनका देह स्फटिक

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

मणिकी तरह हो जाता है। निगोदिया जीव समाप्त हो जाते, धातु उपधातु भी सही शुद्ध रूपसे हो जाते।

(५७१) **प्रभुके निद्रा चिन्ता स्वेद राग द्वेष मरणका अभाव**—प्रभुके नींद नहीं, पलक नहीं झपती, करोड़ों वर्ष भी वे अरहन्त अवस्थामें रहते हैं, मगर निश्चल होती उनकी पलक, जैसा कि अर्द्ध उठा हुआ सूर्य रहता है। कितना उनका अनन्त बल है? अब यहीं देख लो, किसीसे कहें कि तुम अपनी आंखोंकी पलक न भांजो, न उठाओ, न गिराओ, ज्योंकी त्यों रखो तो भले ही कोई इस तरहसे करनेकी कोशिश करे मगर वह सफल नहीं हो सकता हां कोई समर्थ पुरुष हो तो वह जरा देर तक एक पलकसे देख सकेगा, मगर फिर ज्योंका त्यों, और कमजोर पुरुष तो तुरन्त ही पलक भांज लेगा। पर भगवानके नेत्र अर्द्धमीलित निश्चल रहते हैं। भगवानके निद्राका दोष भी नहीं होता, पसेव (पसीना) भी उनके शरीरसे नहीं निकलता। उनके मोहनीय कर्म नष्ट हो गए इसलिए रागद्वेष भी उनमें नहीं होता और उनके मरण भी नहीं। यद्यपि आयु कर्मके क्षयका नाम मरण है और उसे कहते हैं पंडितपंडितमरण। अरहन्त भगवान मोक्ष जाते हैं तो उसे चाहे यह कहो कि उनका निर्वाण हो गया, चाहो कहो पंडित-पंडितमरण हो गया, दोनोंका एक ही अर्थ है, पर चूंकि हम आप लोग मरण शब्दको बुरा समझते हैं, सो अरहंत भगवानके नाममें मरण शब्द नहीं जोड़ना चाहते। उसे निर्वाण शब्दसे कहते है, पर मरण लोकव्यवहारमें उसे कहते हैं कि जिसके बाद जन्म हो वह मरण। प्रभुका आगे जन्म तो होगा नहीं, इसलिए उनके इस मरणको निर्वाण कहते हैं अथवा जो मरण के बाद जन्म हो ऐसा मरण नामका दोष अरहन्त भगवानके नहीं होता। इस प्रकार १८ दोषोंसे रहित ये अरहन्त भगवान तीनों लोकके भवनके प्रदीप हैं अर्थात् तीनों लोक के ज्ञाता हैं, सो उनके गुणोंके स्मरणके प्रसादसे मेरेको उत्तम बोधि प्राप्त हो। मेरेको वह कुञ्जी रूप बोध मिले जिसके प्रसादसे यह केवलज्ञान अवस्था प्रकट होती है। वह क्या है? आत्माके सहज ज्ञानस्वरूपका बोध होना।

जिणवर चरणं बुरुहं णमंति जे परमभत्तिराएण।
ते जम्मवेल्लिमूलं खणंति वरभावसत्थेण ॥१५३॥

(५७२) **परमभक्तिसे जिनवरचरणाम्बुरुहमें नमने वालेके जन्मलताका छेद**—जो भव्य पुरुष उत्कृष्ट भक्ति अनुरागसे जिनेन्द्र भगवानके चरणकमलको नमस्कार करते हैं वे उत्तम भावरूपी शस्त्रके द्वारा संसाररूपी लताको मूलसे उखाड़ फेंक देते हैं। जिनेन्द्र भगवानमें भक्ति कब होती है जब खुदको वैराग्य प्यारा हो। जिसको जगतके वैभवोंमें

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

राग लगा है, मोहमें जिसकी धुन है उसके चित्तमें जिनेन्द्र भगवानके प्रति भक्ति नहीं उमड़ सकती और ऐसे लोग जो कोई भक्ति करने आते हैं तो उनकी वह भक्ति नहीं है, किन्तु अपने स्वार्थकी सिद्धिके लिए आते हैं। मेरा यह काम बने, मेरे घरके सब लोग सुखी रहें, ऐसी ही कुछ अभिलाषाओंको लिए हुए मिथ्यात्वको पुष्ट करने आते हैं। मिथ्यात्वको पुष्ट करनेका अर्थ क्या है ? भगवान तो वीतराग हैं, अपने ज्ञानानन्दमें लीन हैं, किसीसे कुछ लेन देन नहीं है, "सकल ज्ञेय ज्ञायक तदपि निजानन्द रस लीन।" समस्त ज्ञेयोंके जाननहार हैं फिर भी अपने आनन्दरसमें लीन हैं। प्रभुका स्वरूप तो यह है और ये उनसे कुछ मांगते हैं, ऐसी श्रद्धा रखते हैं कि भगवान मुझको कुछ रोजिगार देंगे, हमारा अमुक काम करा देंगे, तो ऐसी जो मान्यता बनी है वह सब मिथ्याभाव है, वह तो अपना मिथ्यात्व ही पुष्ट करना है। जिसको निजको निज परको पर जाननेकी बुद्धि नहीं जगी उसके जिनेन्द्रभक्ति कहांसे बनेगी ? जिनेन्द्र भगवानकी भक्ति उसी पुरुष के है जिसने अपने सहज ज्ञानस्वरूपका परिचय पाया है और उस ही स्वरूपकी प्राप्ति की उमंग है, सो जो जिनेन्द्रदेवकी भक्ति करते हैं वे इस जन्मरूपी लताको मूलसे, जड़से काटकर फेंक देते हैं। उनका फिर जन्म नहीं होता।

(५७३) **जन्मोच्छेदके पौरुषका एक उदाहरण**—देखो जन्म न होवे इसकी औषधि बड़ी सुगम है, मगर मोहका ऐसा आतंक छाया है कि ऐसे सुगम उपायोंको भी हम कर नहीं पाते। वह सुगम उपाय क्या है ? जन्म जैसे कठिन पदको नष्ट करनेका ? वह उपाय है देहसे अत्यन्त निराला मात्र ज्ञानस्वरूप है। इस रूपमें अपनेको निहारना, अनुभवना, समझना यह है जन्म जरा मरणमय संसारसे मुक्ति पानेका उपाय कितना सुगम है ? अपने भीतर ही निहारना है—यह मैं आत्मा चैतन्यस्वरूप हूं। देह अचेतन है, यह अत्यन्त पृथक् है, कर्म भी अचेतन हैं। जो रागद्वेष जगते हैं वे औपाधिक भाव हैं, छाया माया हैं। मैं तो मात्र चैतन्यस्वरूप हूं, इसपर कोई डट जाय, और दृढ़ हो जाय तो मोक्ष क्यों न मिलेगा, मिलकर ही रहेगा और जो डट गए हैं इस बातपर उन्होंने मोक्ष पाया। सुकौशल मुनि जो छोटी आयुमें ही मुनि हो गए थे और कैसी स्थितिमें मुनि हुए थे कि सुकौशलका विवाह हो गया था, उनकी स्त्रीके गर्भ था और कारण पाकर वह विरक्त हो रहे थे, तो उस समय उनके मंत्रियोंने बहुत समझाया कि तुम्हारे पहली सन्तान होनी है उसको हो जाने दो और उसे कुछ समर्थ कर दो, बादमें दीक्षा धारण करना परन्तु जिसने निज सहजज्ञानस्वरूपका अनुभव किया, आनन्द पाया उसको दूसरी बात रुच नहीं सकती। जब बहुत जोर दिया तो सुकौशलने कहा अच्छा जो गर्भमें संतान

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

है उसीको राजतिलक करके दिक्षा लेंगे। सन्तान होने पर दीक्षा ले ली। वह सुकौशल मुनि ध्यानस्थ बैठे थे। सुकौशलकी माताको बहुत रंज हुआ कि मेरा पति भी मुनि हो गया और मेरा पुत्र भी। तो उसको इस सम्बन्धमें बड़ा आर्तध्यान रहा। उस आर्त-ध्यानके फलमें मरकर वह सिंहनी हुई। और इस सुकौशलको ध्यानस्थ अवस्थामें देखा तो पूर्वभवका बैर उमड़ आया और शेरनीने सुकौशलकी छाती और सिरको चीथ डाला। उस समय भी सुकौशल अत्यन्त धीर रहे, शुक्लध्यानमें आये और उन्होंने मोक्ष प्राप्त किया। तो देखो सुकौशलकी माताने एक ही भव बदलने पर शेरनी बनकर उनको कष्ट दिया और सुकौशल अपने आत्मस्वरूपमें लीन रहे, उसके प्रसादसे उन्होंने जन्मलताको छेद डाला। तो सुख पानेके लिए एक ही उपाय है—अपने ज्ञानस्वभावको निरखना कि मैं सबसे निराला ज्ञानमात्र हूं।

जह सलिलेण ण लिप्पइ कमलणिपत्तं सहावपयडीए।
तह भावेण ण लिप्पइ कसायविसएहि सप्पुरिसो ॥१५४॥

(५७४) **रत्नत्रयभावके कारण सत्पुरुषके कषायोंसे विविक्तता**—जैसे कमलिनीका पत्ता स्वभावतः जलसे लिप्त नहीं होता, जलमें पड़ा हुआ भी जलसे गीला नहीं होता, जलसे निकालकर बाहर देखो तो उसपर एक भी बूंद कहीं भी न दिखेगी, ऐसा सूखा निकलता है, इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि मनुष्य स्वभावतः कषाय और विषयोंसे लिप्त नहीं होता। अन्य पत्तोंसे कमलिनीके पत्तोंमें बहुत खासियत है। वैसे अरबी (घुइयां) का पत्ता भी कमलके पत्तेकी तरहका होता है मगर उसमें वह गुण नहीं पाया जाता। कमलिनीका पत्ता जलमें रहकर भी जैसे जलसे अलिप्त रहता है इसी प्रकार स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, कर्ण इनके विषयोंमें प्रवर्तन करते हुए भी सम्यग्दृष्टि जीव उनमें लिप्त नहीं होता। वह क्या कारण है कि लिप्त नहीं होता? तो उसने निज सहज ज्ञानस्वभावका आनन्द पाया है और ज्ञानानुभूतिको छोड़कर अन्य कुछ भी उसे सुहाता ही नहीं है। फिर भी कर्मविपाकवश कुछ भोगोपभोगके साधन मिले उनमें प्रवृत्ति होती तो भी उनसे लिप्त नहीं होता। यह भावपाहुड़ ग्रन्थमें भावोंकी विशेषता बतायी जा रही है। जिसका उपयोग ज्ञानस्वरूपकी ओर लगा है उसकी यह चर्चा है। गप्प करने वालोंकी चर्चा नहीं है।

ते च्चिय भणामि हं जे सयलकलासीलसंजमगुणेहिं।
बहुदोसाणावासो सुमलिणचित्तो ण सावयसमो सो ॥१५५॥

(५७५) **दोषावास मलिनचित्तको सम्बोधन**—ये कुन्दकुन्दाचार्य कह रहे कि मैं सत्

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

पुरुषोंकी, उन्हीं कलाओंको कहूंगा जिन कलाओंके कारण यह भव्य जीव विषयकषायोंमें नहीं लगता। वे कलायें क्या हैं ? शील और संयम। शील कहलाता है आत्मस्वभाव। चेतना मात्र अविकार और उस ही स्वभावमें अपने उपयोगको जुटाना, यह है संयम। तो इन शील संयम गुणोंके द्वारा यह पूर्ण कला प्रकट होती है। जैसे कि स्वर्णकी परीक्षा ४ बातोंसे होती है, (१) निघर्षण—याने कसौटीमें कसना, उसमें भी यदि संदेह रहा तो (२) दूसरा उपाय है छेदन—उसको थोड़ा छेद करके, काट करके देखा जाय और इतने पर भी शंका रहे तो (३) तीसरा काम है तपन—उसको आगमें तपाकर देखा जाय और उसके बाद (४) चौथा है ताड़न। इन चार प्रकारोंसे स्वर्गकी स्वर्णमयिताकी परीक्षा होती है। ऐसे ही धर्मकी परीक्षा चार प्रकारसे है—श्रुत, ज्ञान, तर्क, और युक्तियां इनसे धर्मकी परीक्षा होती है। शील, स्वभाव, शान्ति, ब्रह्मचर्य, अपने आपकी ओर झुकना, इन बातोंसे धर्मकी परीक्षा होती है। तीसरी बात है तपश्चरण। तपश्चरणसे धर्मकी परीक्षा होती है। और चौथी चीज है दया गुण। चित्तमें दयाका भाव है। उससे धर्म की परीक्षा होती है। दयाशून्य हृदयमें धर्म नहीं बसता। तो इन चार उपायोंसे धर्मकी परीक्षा होती है। धर्मकी परीक्षा कहो या धर्मात्माकी परीक्षा कहो, एक ही बात है। क्योंकि धर्मात्माओंको छोड़कर धर्म और क्या चीज है ? कोई अलग पड़ी हुई चीज तो नहीं है कि यह रखा है धर्म। यह गिर गया धर्म। जो पुरुष निज सहज ज्ञानस्वभावकी आराधनामें रत रहता है वह स्वभावविकासरूप बनता है, वही धर्म कहलाता है।

ते धीर वीर पुरिसा खमदमखग्गेण विप्फुरंतेण।
दुज्जयपबलबलुद्धरकसायभड णिज्जया जेहिं ॥१५६॥

(५७६) **क्षमा और इन्द्रियविजयसे आत्माका महत्त्व**—वह पुरुष धीर वीर है जिसने क्षमा और इन्द्रियविजयरूपी चमकती हुई तलवारसे दुर्जेय कषायरूपी योद्धाओंको जीत लिया है, विषय और कषाय—इन दो का ही तो युद्ध है। जहां ज्ञानबल है वहां कषाय हट जाती है। जहां कषाय उत्कृष्ट है वहां ज्ञान तप जाता है। तो जिसने ऐसा ज्ञान उत्पन्न किया कि कषाय बैरियोंको जीत डाला वह पुरुष धन्य है। जो कषायके वश है वह काहेका बड़ा और जिसने कषायोंको जीत लिया उसका भाव है बड़ा। ऐसे पुरुषपर चाहे कितने ही उपद्रव आयें, उपसर्ग आयें फिर भी वह किसीका अहित नहीं विचारता। और न वह किसीके साथ छल कपटका प्रयोग करता है, क्योंकि इसका सीधा उपाय तत्त्वज्ञान उसे मिल गया है। बड़ा नाम धरा ना उसका, जो उड़दकी दालका बनाया जाता। अब उसका बड़ा नाम क्यों धरा सो सुनो—तो बड़ा नाम उसका इसलिए रखा

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

गया कि जब बहुत चोटें झेल लेता है वह उड़द तब उसका नाम बड़ा पड़ता है। खेतमें सूख गया, फिर काटा गया, फिर उसपर बैलोंसे दांयकी गई, फिर चकलासे उसके दो टूक किए गए, फिर उन टूक किए गये दोनोंको शामको पानीमें भिगोया गया, रात भर पड़ा रहा, फिर सुबह हाथसे रगड़-रगड़कर उसका छिलका उतारा गया, अब वह साफ बना। फिर इसके बाद सिलबट्टेपर उसे रगड़ा गया, फिर उसमें नमक मिरच बुरका गया, फिर उसको गोल गोल लोई बनाकर उसकी शक्ल बिगाड़ी गई, फिर उसको जलती हुई तेज तेलकी कड़ाहीमें पटका गया, वह बेचारा बड़ा उस तेलमें पककर खूब फूल गया, इतने पर भी लोग नहीं मानते, उसके पेटमें एक लकड़ी घुसेड़ते, यह देखनेके लिए कि वह पका या नहीं, इसके बाद भी उसे मट्ठेमें भिगोया तब उसको खाया। इतने-इतने कष्ट उठानेके बाद वह 'बड़ा' कहलाया। यहां लोग बड़ा तो कहलवाना चाहते, मगर किस तरह कि खूब आराममें रहकर विषयोंके साधनोंमें रहकर बड़ा बनना चाहते हैं। अरे बड़ा बनना है तो उस बड़ेकी तरह बड़ी बड़ी चोटें आने दो अपने ऊपर तब कहीं बड़ा कहला सकोगे। तो जिनके ज्ञानबल है उनके धीरता है और वीरता है। भोगना भोग बड़ा आसान, भोग तजना शूरोंका काम। सो यह विषय विरक्ति उसीके ही बन सकती है जिसको अविकार ज्ञानस्वभावका अनुभव बना, स्वाद आया और एक ही निर्णय है कि यह ही ज्ञानस्वभावकी अनुभूति श्रेष्ठ उपाय है, कर्तव्य है कि जिसके प्रसाद से हम उत्कृष्ट पदमें पहुंच सकते हैं। तो क्षमा और इन्द्रियविजय—इन दो गुणोंका निर्देश किया है इस गाथामें।

(५७७) **क्षमा और इन्द्रियविजयसे सर्वजीतपना**—अब समझ लीजिए खुदमें कि दूसरे छोटे लोग बड़े लोग कुछ भी हमपर जुल्म ढाते हों या कटुक व्यवहार करते हों तो उनके प्रति क्षमाका भाव जगता या नहीं। दूसरे इन्द्रियविजयकी बात देख लो, सर्वप्रकारकी घटनाओंमें इन्द्रियविजय होता है या नहीं अर्थात् ज्ञानस्वभावकी सुध बनी रहे और उस ही में लीन होनेका पौरुष करे, ऐसी उसकी दृष्टि बनी या नहीं। जिसके क्षमा और इन्द्रियविजय बनता है वह धीर वीर है, जिसने ज्ञानबलसे दुर्जेय क्रोध, मान, माया, लोभ रूपी प्रबल शत्रुओंको नष्ट कर दिया। जीवका प्रबल शत्रु कषाय है, कषायसे यह जल भुन रहा है और पता नहीं करता अपना कि इन कषायोंसे मेरी बरबादी हो रही, सो कषायको क्षमा और इन्द्रियविजय—इन दो उपायोंसे जीता जा सकता है। जिसका इतना बड़ा ध्येय होता है वही पुरुष इन घटनाओंको क्षमा कर सकता है। जैसे इस लोकमें किसी पुरुषका बहुत बड़ा काम है। जैसे वोटिंगका काम और ऊंची बात, तो

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

छोटी-मोटी बातोंकी उपेक्षा कर लेना, उनका ध्यान न देना, क्योंकि बहुत बड़े कामकी जिम्मेदारी ले रखी, तो ऐसे ही आत्माका बहुत बड़ा काम है—अपने स्वभावमें रमना। इसकी जिसे धुन लगी है सो वह छोटी मोटी बातोंका कोई ध्यान नहीं करता, अपने ही इस महान ध्येयका ध्यान करता है। सो पंचेन्द्रिय विजय द्वारा ज्ञानके बलके द्वारा जिसने कषायोंको जीत लिया वह पुरुष धीर वीर है। कोई एक बड़ा प्रचंड राजा था तो उसने सब राजाओंको जीत लिया और उसने अपना नाम सर्व जीत रखा लिया। अब उसे सभी लोग सर्वजीत कहने लगे पर उसकी मां उसे सर्वजीत न कहती थी। सो एक दिन वह पूछ बैठा—मां जी सभी लोग मुझे सर्वजीत कहते हैं, पर तुम क्यों नहीं कहती हो? तो वह मां बोली—बेटा अभी तुमने सबको जीत नहीं पाया इसलिए तुम्हें सर्वजीत नहीं कहती?...अरे अभी कौनसा राजा जीतनेको बाकी रह गया?...अरे राजाओंको तो तुमने जीत लिया पर तुमने अभी अपनी कषायोंको नहीं जीता, अपने आत्माको नहीं जीता इसलिए मैं तुम्हें सर्वजीत नहीं कहती हूं। तो सर्वजीत वही है जिसने विषय कषायोंको जीत लिया।

धण्णा ते भयवंता दंसणणाणग्गपवरहत्थेहिं।
विसयमयरहरपडिया भविया उत्तारिया जेहिं ॥१५७॥

(५७८) **दर्शनज्ञानलक्षण भवोत्तारक भगवंतोंको धन्यवाद**—वे भगवान धन्य हैं जिन्होंने ज्ञान दर्शन रूपी श्रेष्ठ हाथोंके द्वारा विषयरूपी समुद्रमें पड़े हुए भव्य जीवोंको उतार कर पार लगाया। भगवान अरहंतदेव समस्त लोकालोकको जानते हैं, फिर भी वे अपने ही विशुद्ध आनन्दरसमें लीन हैं। वे परमार्थतः किसी जीवमें राग नहीं करते, न किसीका हाथ पकड़ कर मोक्षमें ले जाते, किन्तु जो भगवानकी शरणमें आता है, निर्मल भावोंसे उनका ध्यान करता है, जिसके प्रसादसे अपने स्वभावमें लीनता बनती है, तो यह भव्य जीव स्वयं पार हो जाता है। तो जिसका आश्रय करके, जिसका ध्यान करके यह स्वभावदृष्टिमें आया पार उन्होंने किया, ऐसी कृतज्ञताकी भाषामें कहना उचित ही है। प्रभु दर्शन ज्ञानसे समृद्ध है। आत्माका स्वरूप दर्शन ज्ञान है। चैतन्य प्रतिभास वही दर्शन और ज्ञान दो रूपोंमें प्रकट हुआ है। इसके लिए एक उदाहरण लीजिए आइनाका। आइनामें खुदकी चमक है, खुदकी झलक है और उसी खुदकी झलक होनेके कारण बाहरी कोई पदार्थ सामने आये तो उसकी भी झलक बनती है। आइनामें दो झलकें हैं—स्वयं की झलक और बाह्य पदार्थोंकी झलक। जिसमें स्वयंकी झलक नहीं होती उसमें बाह्य-पदार्थोंकी झलक भी नहीं बनती। जैसे भींत है, घट है, दरी है, इनमें स्वयंमें झलक नहीं है तो दूसरे पदार्थोंकी झलक भी इनमें नहीं आती। आइनामें स्वयंकी झलक है, वहां

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

फोटो भी आती और जो बाह्यका फोटो है वह है ज्ञान। तो आत्मा ज्ञानसे युक्त है। उसके स्वरूपका ध्यान करनेसे भव्य जीव इस संसारसमुद्रसे पार हो जाते हैं।

मायावेल्लि असेसा मोहमहातरुवरम्मि आरूढा।
विसयविसपुप्फफुल्लिय लुणंतिमुणि णाणसत्थेहिं ॥१५८॥

(५७६) **ज्ञानशास्त्रसे मायावेलका छेदन**—मोहरूपी महावृक्षपर चढ़े और विषयरूपी विष पुष्पोंसे फूली हुई इस मायारूपी लताको मुनिगण ज्ञानरूपी शस्त्रके द्वारा छेद डालते हैं। यह मायालता भीतरी माया, ऊपरी माया दो प्रकारकी है। भीतरी माया तो है छल, कपट, दुर्विचार और ऊपरी माया है धन वैभव आदिक पुद्गलोंका ढेर, ऐसी इस लताको मुनिजन ज्ञानशस्त्रके द्वारा छेद डालते है। सो लता कैसी है कि विषयरूपी फूलों से तो फूली है और मोह रूपी महावृक्षपर चढ़ी है, इसको मुनिजन मूलसे उखाड़ देते हैं। यह मनुष्य स्त्री पुत्रादिकके स्नेहमें पड़कर नाना प्रकारकी माया करता है। मायाका स्वभाव है प्रतारण, दूसरेको ठगना। सो यह माया कषाय इस संसारभ्रमणका कारण है। यह मोहरूपी महान वृक्ष चढ़ा है माया कुटुम्बके स्नेहरूपी मोहके वृक्षसे उपमा दी और मायाको लता बताया और विषयको विषपुष्प बताया। कोई लता होती है तो उसमें फूल भी निकलते हैं। तो फूल क्या हैं? विष पुष्प। विषयइच्छाको ज्ञानशस्त्र बल से ज्ञानियोंने मूलतः दूर किया है।

मोहमयगारवेहिं य मुक्का जे करुणभावसंजुत्ता।
ते सव्वदुरियखंभं हणंति चारित्तखग्गेण ॥१५९॥

(५८०) **मोहमदरहित भव्य जीवों द्वारा दुरितखंडन**—जो पुरुष मोहमद और घमंडसे रहित है, मोहका मद याने शराबका जैसा नशा होता वैसा ही मोहका नशा होता है। मोहके नशेमें यह जीव न्याय अन्याय कुछ नहीं गिनता और जैसा इसे रुचा वैसा अटपट काम करता है। तो मोहका नशा न हो और गारव न हो। गारव कहते हैं घमंडको। मुझे खूब खाना पीना मिलता। ये लोग मेरा बहुत बड़ा आदर करते। मेरेको ऐसी-ऐसी ऋद्धियां प्राप्त हुई हैं, मेरेमें बड़ा चमत्कार उत्पन्न हुआ है, ऐसा घमंड करना यह गारव कहलाता है। तो मोह न हो, और करुणाभावसे हृदय भर गया हो, ऐसे मुनि श्रेष्ठ चारित्ररूपी खड्गके द्वारा समस्त पापरूपी स्तम्भको नष्ट कर देते हैं। मोह मायने क्या हैं? परको आपा मानना। जैसे ये स्त्री, पुत्र, धन वैभव आदिक मेरे नहीं हैं पर इन्हें अपना मानना, इनमें आसक्तिपूर्वक स्नेह जगना मोह कहलाता है। और मद क्या कहलाता है? घमंड। सम्यक्त्वके ८ मदोंमें बताया है—१. ज्ञानका मद, २. पूजाका मद, ३. कुलका मद ४. जातिका मद, ५. बलका मद, ६. ऋद्धिऐश्वर्यका मद, ७. तपका मद,

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

रूपका मद याने शरीरकी सुन्दरताका मद। इन ८ प्रकारके मदोंसे रहित हो वही पापके स्तम्भको नष्ट कर सकता है।

(५८१) **गारवमुक्त भव्य जीवों द्वारा दूरितखंडन**—गारव कितने होते ? तो पहला तो यह ही गर्व कि मैं बहुत शुद्ध बोलता हूं, मेरे वर्णोंका उच्चारण बहुत सुन्दर होता है, इस प्रकार अपनी शब्दकलापर मद करना यह वर्णोच्चार गारव है। मेरे अनेक शिष्य हैं, मेरे पास इतना पुस्तकोंका संग्रह है। मेरा कमंडल कैसा छोटा सुहावना है, मेरी पिछी बहुत सुन्दर है, इस प्रकारका अपना महत्त्व प्रकट करना ऋद्धिगारव है। और, भोजन पान आदिकसे उत्पन्न हुए सुखका गर्व होना सातगारव है। लोग बहुत सोचते कि मेरा बड़ा पुण्यका उदय है, जो मनने चाहा वही चीज मिल जाती है, इस प्रकारका गारव होता है, घमंड होता है यह है सातगारव। इसीमें अन्य और भी गारव आ जाते हैं। जैसे मेरी राजलमें बड़ी मान्यता है आदिक बहुत सी मदपूर्ण बातें हैं, यह सब कहलाता है ऋद्धिगारव। तो जो मुनि इन गारवोंसे मुक्त है, मोहमद कषायोंसे दूर रहता है, दया-भावसे संयुक्त है वह पापोंको याने अपनी वृत्तिमें आने वाली शिथिलताको चारित्ररूपी डड्गके द्वारा नष्ट कर देता है। सब उपयोगका प्रभाव है। उपयोग कहां लगाना, कैसे लगाना, इसमें ही दुर्गति और सद्गतिके पानेका रूप बसा है। जब उपयोगसे ही, भावों से ही हम बुरे बनते हैं, भले बनते हैं तो बुरे बनकर हमने अपना ही घात किया। इस-लिए भावोंमें कभी बुराई न आये। सद्भावना हो, अपने ज्ञानस्वरुपकी आराधना हो, ऐसी भीतरमें तीक्ष्ण दृष्टि बन जाय तो इस आत्माके कल्याणमें कोई विलम्ब नहीं है। तो जो मुनिवर इन गारवोंसे दूर रहते, घमंडोंसे अलग रहते वे चारित्ररूपी खड्गके द्वारा समस्त पाप अतिचार दोषोंको नष्ट कर देते है। अपना बल है ज्ञानबल। इस ज्ञानबलसे सच्ची समझ बने तो वहां अशान्तिका काम नहीं रहता और जहां केवल मोहमद ही आक्रमण कर रहा है तो ऐसा पुरुष स्वयं कायर होता है और अपने आत्माका वह बल नहीं प्रकट कर पाता कि जिससे अनेक भव-भवके बांधे हुए कर्म भस्म हो जाया करते हैं। कोई भीतर निहारे तो सही, उसको विदित होगा कि मैं केवल ज्ञानमात्र हूं और ज्ञानकी परिणति हुए बिना ज्ञान जगता नहीं। सो मति, श्रुत, अवधि आदिक जैसे स्थूलकी बात नहीं कह रहे, किन्तु ज्ञानमें ज्ञानस्वरूप ही समाया हो तो उसमें वह बल प्रकट होता है कि जिससे भव-भवके बांधे हुए कर्म भी निर्जीर्ण हो जाते हैं। इससे हे मुने ! सम्यक्त्व सहित बनो, अपने भावोंकी संभाल करो। यदि भाव संभाले रहे तो आगे भविष्य सब अच्छा ही अच्छा रहेगा।

गुणगणमणिमालाए जिणमयगयणे णिसायरमुणिंदो।

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

तारावलिपरियरिओ पुण्णिमइंदुव्व पवणपहे ॥१६०॥

(५८२) **गुणपूरित मुनिवरकी शोभायमानता**—जिस मुनिका ध्यान ऐसे निज सहज चैतन्यस्वरूपमें लगा है, इस रूप हो अपनेको अनुभव करता हुआ आनन्द पा रहा, उसकी ऐसी शोभा है कि जैसे गगनमें चन्द्रकी शोभा हो। ऐसे ही इस गगनमें हम आपकी इस उपासनामें ऐसे मुनिराज मिलें, उनका दर्शन प्राप्त हो तो वे कैसा जन जनके हृदयमें शोभित होते हैं। मुनिका खास वैभव है अपने सहजज्ञानस्वरूपकी आराधनामें रहना। प्रत्येक वस्तुकी किसी खासियतके कारण कदर है। तो मुनिकी कीर्ति और मुनिका महत्त्व आत्मस्वभावकी आराधनामें है। सो जैसे आकाशमें तारोंकी पंक्तिसे सहित पूर्ण चन्द्रमा शोभायमान होता है ऐसे ही जैन सिद्धांतके आकाशमें गुणसमूहरूप मणियोंकी मालासे युक्त यह मुनिरूपी चन्द्रमा शोभित होता है। जैन शासनका परिणाम क्या है? किस बातके लक्ष्यमें जैन शासनका उपदेश सफल होता है, वह है अविकार ज्ञानस्वभाव की श्रद्धा। विकार मेरे स्वरूपमें नहीं। मेरे स्वरूपमें केवल शुद्ध ज्ञानस्वभाव है। जो मैं सत् हूं तो अपने ही सत्त्वके कारण ज्ञानमात्र हूं। जानन, इतनी ही मेरेमें तरंग चलती है, मुझमें अन्य दोष नहीं हैं। अन्य दोष विकार ये उपाधिका सान्निध्य पाकर हुए हैं। उपाधिका सान्निध्य पाकर हुए फिर भी उपाधिकी परिणतिसे नहीं हुए। देखना यहां बात दोनों हैं, उसमें किसको कमजोर बताया जाय? एकान्तवादका निर्णय न ठीक बनेगा।

(५८३) **आत्मामें विकार आनेका विधान**—आत्मामें विकार आत्माकी परिणतिसे चल रहा है। यह एक द्रव्यको देखकर समझमें आ रहा, इसे कहते हैं निश्चयनय। जैसे सामने एक दर्पण है और पीछे मानो दो चार लड़के खेल रहे हैं तो वह सारा खेल उस दर्पणमें दिख रहा फोटो रूपमें आकर। तो वह खेल जो दर्पणमें झलक रहा वह दर्पणके प्रदेशोंमें झलक रहा, उस दर्पणकी उस उस परिणतिसे झलक रहा। यह केवल एक दर्पणको देखकर हम कह रहे हैं। यह झलक, यह परिणमन बच्चोंकी परिणतिसे नहीं हो रहा। यह एक द्रव्यको देखकर जाना। यह कहलायी निश्चयकी दृष्टि। पर साथमें यदि यह निर्णय नहीं है कि यह उन ४-५ बच्चोंकी उपस्थितिके सान्निध्यमें खेल बन रहा तो पहले सोची हुई बात गलत हो जाती है। यदि इतना प्रत्यय रखें चित्तमें कि उस उपाधिके सान्निध्य में इस दर्पणमें यह प्रतिबिम्ब चल रहा है, चल रहा है दर्पणकी परिणतिसे और बच्चों में चल रहा है बच्चोंकी परिणतिसे। दोनों जगह दोनोंकी परिणतिसे चल रहा, पर कोई श्रद्धा रखे यह कि दर्पणका काम है दर्पणमें अपने समयमें अपनी योग्यतासे यहां आ गया, इसमें कोई एकान्त करे, जिसमें यह बात मिटा दी जावे कि उन चार लड़कों के सामने होनेपर यह दर्पणमें चित्र आया है, यह बात मिट जाने पर पहली बात एकांत

Version 1

 http://sahjanandvarnishastra.org/

में मिथ्या हो जाती है। और, यह दर्पणकी परिणतिसे यह चित्र चल रहा है, इसको न मानकर और यह माना जाय कि वे ४ लड़के इस दर्पणकी फोटो बना रहे हैं तो उसने दर्पणकी शक्ति नहीं समझी। तो उनकी बात गलत हो जाती है। इस स्याद्वाद शासनमें द्रव्यदृष्टिकी बात मना करने पर पर्यायकी कोई बात कहे तो गलत हो जाती है। पर्याय-दृष्टिकी बात मना करने पर द्रव्यदृष्टिकी कोई बात कहे तो गलत हो जाती है। क्योंकि पदार्थ ध्रुव है और उत्पादव्ययमय है। इस कारण वस्तुका पूरा स्वरुप सर्व दृष्टियोंसे ज्ञात होता है। तो इसी तरह आत्मामें रागद्वेष बनना, यह एक ज्ञानकी कोई परिणति है। ज्ञानमें ऐसा जानें कि यह बड़ा अच्छा है, मेरा मित्र है, मेरा सब कुछ है, इस तरह की ज्ञानमें जो कल्पनाकी धारा चल रही है वही तो राग है। तो रागद्वेष जीवकी परिणति है कर्मकी परिणति नहीं। जीवने किया, जीवमें हुआ, जीवकी परिणतिसे हुआ, किन्तु साथमें यह विश्वास हो कि कर्मविपाकके सान्निध्यमें ही जीवमें ये रागद्वेष हो सके तो वह बात सत्य कहलायगी।

(५८४) वस्तुस्वातन्त्र्य व निमित्तनैमित्तिक भाव इनमें से एकको असत्य माननेपर दूसरेका भी असत्यपना—वस्तुस्वातन्त्र्य व निमित्त नैमित्तिक भाव इनमें किसीको मना कर दिया जाय कि कर्म क्या करता? कर्मकी क्या जरूरत? इस कर्मका तो केवल नाम ही ले लिया जाता। जो सामने पड़ा सो निमित्तका नाम कर देते। उसकी यहां कुछ सान्निध्य की बात नहीं तो पहली बात भी गलत हो जाती है। और यदि कोई ऐसा माने कि कर्म ही रागद्वेष कराता है, जीवका वहां कुछ परिणमन नहीं तो जो कर्मपर कर्मत्व थोपते हैं वह बात गलत हो जाती है। तो स्याद्वाद शासनमें यह समझिये कि कर्मके सान्निध्यमें कर्मके विकारका फोटो यहां झलकता है और उसे यह ज्ञान अपनाता है और रागद्वेष बनता है तो निश्चयसे तो जीवने ही रागद्वेष बनाया, पर व्यवहारनयसे कर्मका निमित्त पाकर जीवमें रागद्वेष परिणमन बना। अब इन दोनोंमें किसको मना करेंगे? एकको मना करेंगे तो दूसरा गलत। अब कल्याणके लिए मुख्यतया क्या देखना चाहिए? यहां दो बातें सामने आयीं—जीवके परिणमनसे जीवमें राग हुआ, कर्मका निमित्त पाकर जीवमें राग हुआ, इन दो बातोंमें से कौन सा चिन्तन ठीक है कि जिससे हम निर्विकल्प समाधिमें पहुंच सकें? तो साक्षात् और परम्परया इन दो का भेद है। साक्षात् दृष्टिसे देखे तो ये दोनों ही बातें छोड़ने योग्य हैं। न तो यह निश्चयकी बात चित्तमें रखनी चाहिए कि जीवकी परिणतिसे राग हुआ है और न यह व्यवहारकी बात चित्तमें रखनी चाहिए कि कर्मका निमित्त पाकर जीवमें राग हुआ है। तो साक्षात्के लिए कौनसी बात चित्तमें रखना? शुद्धनय अवक्तव्य, अखण्ड चैतन्यमात्र स्वरूप। पर यह शुद्धनय पायें

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

कैसे ? तो आप निश्चयनयके मार्गसे चलकर शुद्धनय पा सकेंगे और व्यवहारनयके मार्ग से भी बढ़कर शुद्धनय पा सकेंगे ।

(५८५) **शुद्धनय तक पहुंचनेसे पहिलेके प्रयास**—निश्चयके मार्गसे कैसे शुद्धनय मिला ? जहां यह ही दिख रहा कि जीवमें जीवकी परिणतिसे राग हो रहा वहां अन्यका ध्यान न रहा । निमित्तका ध्यान नहीं है वहां । राग हो रहा और जीवमें हो रहा । दो दृष्टियोंमें आयी बात । तो जब मुकाबला करते हैं, रागपरिणमन इस जीवसे निकल रहा तो ऐसा देखनेपर रागपरिणमन तो लुप्त हो जाता और जीवद्रव्यकी दृष्टि मुख्य हो जाती है और इस मुख्यता होनेसे वह शुद्धनय प्राप्त होता है जिससे कि आत्महित हुआ । अब व्यवहार की बात देखिये—जब यह राग निरखा गया कि जीवमें यह राग कर्मका निमित्त पाकर हुआ है, जीवके स्वभावमें नहीं है तो वह विकारसे उपेक्षा करेगा । यह मेरी चीज ही नहीं । यह तो कर्मोपाधिका निमित्त पाकर हुआ है, तो उसको निज अविकारस्वभावकी दृष्टि जग जायगी, शुद्धनयमें पहुंच गया, आत्महित हो गया । एक दृष्टान्तसे समझिये । इस मन्दिरमें आनेके आपके दो तीन रास्ते हैं, दक्षिणसे भी आनेका रास्ता है, उत्तरसे भी आनेका रास्ता है । तो मन्दिरमें आनेके ये सब रास्ते हुए, मगर साक्षात् रास्ता एक है । चाहे पूरब दिशासे आवे, चाहे उत्तर दिशासे और चाहे दक्षिण दिशासे, मगर इस मंदिरका दरवाजा तो एक ही है जिससे मंदिरके अन्दर प्रवेश करते हैं । तो साक्षात् मार्ग एक है, मगर उस साक्षात् मार्गमें लगनेके लिए दो तीन मार्ग हो गए । ऐसे ही मुक्तिका साक्षात् मार्ग तो शुद्धनयका आलंबन है, मगर उस मार्ग तक पहुंचनेके लिए आपको निश्चयनयसे भी जानना, व्यवहारसे भी जानना, अनेक प्रकारसे जानना, कथा पुराणोंसे भी जानना, सब प्रकारसे आपको प्रयोग उपयोग करना पड़ता है । तो ऐसा ही ज्ञान सब करना है और एक आदत बनाना है कि हम कुछ भी ज्ञान करें, हमें उस ज्ञानसे अपने ज्ञानस्वभावकी दृष्टि करनी है, यह शिक्षा लेनी है । जिन्होंने एक यह निर्णय बनाया कि मुझे तो अविकार ज्ञानस्वभावकी दृष्टि बनाना है, तो न व्यवहारनयसे घृणा होगी, न निश्चयनयसे घृणा होगी, न कथा कहानीसे घृणा होगी, न संयमसे घृणा होगी और जिसने यह लक्ष्य नहीं बनाया उसको सर्वत्र दोष ही दिखेंगे । चरणानुयोगमें दोष दिखेंगे, व्यवहारनयमें दोष दिखेंगे, निश्चयनयमें दोष दिखेंगे । सर्वत्र दोष ही दोष नजर आयेंगे ।

(५८०) **आत्मस्वभावदृष्टिका प्रताप**—भैया ! अपना यह लक्ष्य बनावें कि मुझे अविकार ज्ञानस्वभाव तक पहुंचना है । मैं अपनेको यह समझ लूं कि मैं अविकारस्वभावी हूं । ज्ञान मेरा सर्वस्व स्वरूप है । और इसको समझनेके लिए प्रेक्टिकल और अधिकाधिक सहायक आपको यह निमित्तनैमित्तिक योगका परिचय मिलता है । एकदम जल्दी स्वभाव

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

में पहुंच जायेंगे इस परिचयसे । जैसे जहां यह जाना कि रागद्वेष सुख दुःख ये कर्मउपाधि के प्रभावसे हुए, ये मेरे स्वरूप नहीं हैं । इनसे मेरा मतलब नहीं, ये तो झलकते भर हैं, इनको मैं क्यों देखूं, ये मेरे स्वरुप नहीं, मैं अविकार स्वरुप हूं, ये नैमित्तिक हैं । इस ज्ञान में वह स्फूर्ति है कि हम जल्दी ही स्वभाव तक पहुंच जाते हैं और यह बड़ा आसान काम रहता है । तो जिनको आत्महितकी भावना नहीं उन्हें तो विवाद है और जिन्हें आत्महितकी भावना है वे जिनवाणीके प्रत्येक कथनसे अपने स्वभावकी दृष्टि कर लेते हैं । उसके लिए व्यवहारनयसे भी सहयोग मिला, निश्चयनयसे भी सहयोग मिला, कथा पुराणोंसे भी सहयोग मिला और स्वभावदृष्टिसे भी, क्योंकि उसने एक लक्ष्य बनाया है कि आखिर सबका निष्कर्ष यह है, प्रयोजन यह है, अपनेको यह मान लूं, समझ लूं, अनुभव लूं कि मैं तो अविकार ज्ञानमात्र हूं । ज्ञानमें एक ऐसी दृष्टि होती है कि विकार भाव निरंतर चलता रहे हम आपमें । जिस समय हम अविकार ज्ञानस्वरूपकी दृष्टि कर रहे हैं उस समय भी विकार चल रहे हैं । ये विकार एक क्षणको भी खतम नहीं होते । फर्क रहता है अव्यक्त और व्यक्तका जब हम ज्ञानस्वभावकी आराधनामें चलते हैं तो विकार अव्यक्त रहते हैं, जब हम स्वभावकी आराधनाका ध्यान देते हैं तो विकार व्यक्त हो जाते हैं । तो निरन्तर विकार चलते रहनेपर भी ज्ञानमें ऐसी कला है कि वह विकार से न छिड़कर अपने आपके स्वभावमें पहुंचा देता है । जैसे हड्डीका फोटो लेने वाला यंत्र होता है । उस यंत्रके सामने रोम, चमड़ी, खून, मांस, मज्जा आदिक सब चीजें आती हैं मगर इनमेंसे किसीको भी न छूकर केवल हड्डीका फोटो ले लेता है, ऐसे ही यह ज्ञान दृष्टि वाला है । इस समय शरीरके साथ कर्म भी हैं, विकार भी हैं, विकार भी निरन्तर चल रहे हैं, पर इन सबसे न छिड़कर अपने ध्रुव ज्ञानस्वभाव तक पहुंचा देता है । तो बात दोनों समझनी हैं—१. वस्तुस्वातंत्र्य और २. निमित्तनैमित्तिक भाव और दोनोंकी समझ बनने पर हम विकल्पसे रहित होकर अविकारस्वभावमें आ सकते हैं । तो वे मुनि जो इस अविकारस्वरूपकी धुनमें रहा करते हैं वे पूर्ण चन्द्रकी तरह इस जैनसिद्धान्तरूप आकाशमें शोभायमान होते हैं ।

चक्कहररामकेसवसुरवर जिणगणहराइसोक्खाइं ।
चारणमुणिरद्धीओ विसुद्धभावा णरा पत्ता ॥१६१॥

(५६१) **सम्यग्दृष्टिके ही विशिष्ट पुण्यसम्पदाका लाभ**—विशुद्ध भावोंके धारण करने वाले भव्य पुरुष जब तक उनका मोक्ष नहीं हुआ तब तक वे बड़े वैभवको प्राप्त होते हैं । और यह भी समय बहुत कम होता है जिसके बाद वे मोक्षको प्राप्त कर लेते हैं । ऐसे ही जगतमें वैभव क्या है ? चक्रवर्तीका वैभव । जो दुनियाके सबसे ऊंचे वैभव हैं वे

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

मिथ्यादृष्टियोंको प्राप्त नहीं होते। हां इतनी बात जरूर है कि जब सम्यग्दृष्ट थे, विशिष्ट पुण्यबंध हुआ, बड़ा वैभव प्राप्त हुआ और अब मिथ्यादृष्टि हो गए, यह बात तो हो सकती है, मगर जो ऊंचेसे ऊंचा वैभव है वह वैभव सम्यग्दर्शन हुआ हो तब ही प्राप्त हो पाता है। मिथ्यात्वके साथ इतना विशुद्ध भाव किसीके नहीं जग सकता है, जिसमें ऊंचा पुण्यका बंध हो सके। पुण्य बंध मिथ्यादृष्टि भी करते, मगर उत्कृष्ट पुण्यबंध मिथ्यादृष्टि नहीं करते। तो जो जिनभावनासे सहित हैं ऐसे पुरुष उत्कृष्ट वैभवको प्राप्त करते हैं, चक्रवर्तीका वैभव प्राप्त करते हैं। भले ही कोई चक्रवर्ती मिथ्यादृष्टि हुआ है और नरक तक भी गया, मगर चक्रवर्तीने जो कुछ कमायी की है वह चक्रवर्ती के भवमें कमायी नहीं की। जैसे आपको जो कुछ वैभव प्राप्त है वह आपके इस भवके पुरुषार्थका फल नही है, वह पूर्वभवके पुरुषार्थका फल है। तो चक्रीको जो वैभव प्राप्त हुआ है सो उसके पूर्वभवमें कमाये हुए पुण्यका फल है। बलभद्र हुए, नारायण हुए, इनके भी ऊंचे वैभव होते हैं। यह भी सम्यग्दर्शनके बिना इनका पुण्यबंध नहीं होता जैसा कि इनको वैभव मिला। बताया है कि नारायण अपने भवके बाद पाताल लोक की यात्रा करता है, अधोलोकमें जाता है और मिथ्यादृष्टि भी हो गया, लेकिन यह सम्यग्दृष्टि जब था तब इसके ऐसा सातिशय बड़ा पुण्यबंध था कि जिसके कारण ये पद प्राप्त हुए। बलभद्र और नारायण ऊंचे स्वर्गोंसे अवतार लेकर यहां नारायण और बलभद्र बनते हैं। बात यह बतला रहे हैं कि सम्यग्दर्शनके साथ ही वह निर्मलभाव विशुद्धभाव बनता है कि जिससे विशिष्ट पुण्यका बध होता है।

(५९२) **सम्यक्त्वका प्रताप**—सम्यक्त्वका फल मोक्ष है, मगर जब तक मोक्ष नहीं मिला तब तक वह गरीबीसे न रहेगा। सम्यक्त्वके साथ विशिष्ट पुण्यबंध होता है। देवेन्द्र तीर्थंकर गणधर आदिकके जो आनन्द हैं उन आनन्दोंको और मुनिपदमें जो बड़ी-बड़ी ऋद्धियां प्राप्त होती हैं उन सबको ये सम्यग्दृष्टिजन प्राप्त करते हैं। ऋद्धियां ऐसा उत्कृष्ट फल बताने वाली हैं कि जिनको सुनकर लोग आश्चर्य करते हैं। उन सबमें प्रधान तो है केवलज्ञान ऋद्धि, जिसके समान अन्य कोई नहीं है। पर अन्य ऋद्धि भी तो देखो-जहां मुनि आहार कर जायें उस चौकेसे हजारों, लाखों, करोड़ो, चक्रीकी सेना भी भोजन कर जाय तो भी वहां आहार खतम नहीं होता। न जाने कैसी-कैसी आकाशगामी ऋद्धियां उनके जगतीं ? ये सब गातें सम्यग्दृष्टिके ही सम्भव हो पाती हैं। तो यहां भावपाहुड़ ग्रंथमें सम्यक्त्वकी महिमा बतायी है कि इसके पाये बिना मुक्ति नहीं और जबतक मुक्ति नहीं हो पा रही है और सम्यक्त्व मौजूद है तब तक इस लोकमें वह अनेक वैभवों से सम्पन्न होकर रहेगा, कातर कायर बनकर न रहेगा। तो ऐसा सम्यक्त्वका प्रभाव

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

जानकर और अपना पक्का साथी जानकर सम्यक्त्वकी भावना भायें और अपने आपमें यह मनन बनायें कि जो विकार हो रहा, जो गड़बड़ हो रही, क्षोभ हो रहा, सुख दुःख हो रहा, यह सब कर्मउपाधिकी छाया माया है, यह मेरा स्वरूप नहीं है। मैं तो अविकार ज्ञानस्वभाव मात्र हूं। मोक्षमें यह ज्ञानस्वरूप ही रह जाता है और अन्य सब उपाधियां दूर हो जाती हैं, ऐसा परभावोंसे निराला यह मैं ज्ञानस्वरूप हूं, इस चिन्तनमें ज्ञानानुभूति बनेगी, औलौकिक आनन्द जगेगा और मोक्षमार्गके दर्शन प्राप्त होंगे।

सिवमजरामरलिंगमणोवममुत्तमपरमविमलमतुलं।
पत्ता वरसिद्धिसुहं जिणभावणभाविया जीवा ॥१६२॥

(५९३) **जिनभावनाभावित मुनिवरोंको अतुल आनन्दका लाभ**—जो सम्यक्त्वसे सहित हैं वे जीव सिद्ध भगवानके सुखको प्राप्त करते हैं। सम्यग्दर्शनका अर्थ है अपने आत्माका सच्चा दर्शन, श्रद्धान होना। यह आत्मा इस शरीरसे निराला है या एकमेक है? जब यह जीव शरीरसे निराला है, लोग सब समझते हैं, शरीरको जला डालते हैं, जानते हैं कि शरीरमें जीव नहीं है, जीव शरीरसे निकल गया। तो जो निकल गया वह जीव, जो निकल जायगा वह जीव। अभी भी जीव इस शरीरसे अलग स्वरूप रखता है, पर दोनों का एक जगह बंधन है, इस कारणसे मेल हो गया कि यह मैं हूं। वस्तुतः यह शरीर मैं नहीं, और जिसको यह भेदविज्ञान दृढ़ हो जाता उसको चाहे गीदड़ी खा रही, सिंहनी खा रही फिर भी वह आत्मा यह जान रहा है कि मैं तो अमूर्त हूं। मेरा तो कोई दखल नहीं दे सकता, उनको वेदनाका भी अनुभव न था। किसीको हो वेदनाका अनुभव तो उसको अभी राग है। जिसके राग नहीं रहा और बिल्कुल निराला अपना आत्मतत्त्व ध्यानमें आ गया उसको शरीरके जलनेसे भी वेदनाका अनुभव नहीं होता। भेदविज्ञान की दृढ़ताका कितना माहात्म्य है, और यहां तो खटमल भी बर्दाश्त नहीं कर सकते। तो यह जानना चाहिए कि हमको शरीरमें राग भी है, मोह भी है और जब तक राग मोह है तब तक सब आपत्ति है। तो जिन जीवोंने सम्यग्दर्शन प्राप्त कर लिया वे आसन्न भव्य जीव जन्म जरा मरणसे रहित हो जाते हैं, मायने शुद्ध हो जाते हैं। आत्मध्यान और बढ़ायेंगे, मुनिपद पायेंगे, निर्ग्रन्थ दिगम्बर रहकर आत्माकी उपासना रखेंगे तो वे भी उत्कृष्ट शुद्ध सुखको प्राप्त होते हैं। वह भगवानका सुख कैसा है? अनुपम। प्रभुके सुखकी उपमा यहांके किसीके सुखसे नहीं दे सकते। भले ही बतलाते हैं ऐसा कि तीनों लोकके जो सबसे बड़े जीव हैं, इन्द्र हैं, चक्रवर्ती हैं उन सबके सुखोंको जोड़ लें, उससे भी अनन्तगुणा सुख भगवानके है। मगर यहांके सुख तो इन्द्रियजन्य सुख हैं। उनके जोड़नेसे क्या होता? उनके तो अलौकिक अतीन्द्रिय सुख है, सर्वोत्तम आनन्द प्रभुका

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

आनन्द है। जहां आकुलता रंच नहीं है वही वास्तविक आनन्द है। उस आनन्दमें किसी भी प्रकारकी मलिनता नहीं। यहांके इन्द्रियजन्य सुखमें मलिनता बसी हुई है, पवित्रता नहीं है, किन्तु भगवानका आनन्द पवित्र है, उसके साथ मल रंचमात्र भी नहीं है। ऐसा अनन्त उत्कृष्ट सिद्धका सुख ये सम्यग्दृष्टि जीव चारित्र धारण करके प्राप्त करते हैं।

ते मे तिहुवणमाहया सिद्धा सुद्धा णिरंजणा णिच्चा।
दिंतु वरभावसुद्धिं दंसणणाणे चरित्ते य ॥१६३॥

(५६४) **सिद्धोंके ध्यानसे निर्मलताके आशीषकी अभ्यर्थना**—सर्व जीवोंके सर्वोत्कृष्ट आत्मा सिद्ध भगवान हैं। तो सिद्ध भगवानके ध्यानसे आत्मा निर्मल होता है। ॐनमः सिद्धेभ्यः, इस मंत्र पदोंके सहारे सिद्धका ध्यान करना, वे विकाररहित हैं, केवल आत्मा ही आत्मा रह गए हैं, उसका अतुल आनंद है, जिसमें अब कोई तरंग नहीं, जो कभी लौटकर संसार में नहीं आते, वे सदाके लिए पवित्र हो गए हैं। उन सिद्ध भगवानका ध्यान हम आपके लिए बहुत बड़ा शरण है। कैसी भी विपत्ति आयी हो, सिद्ध प्रभुका ध्यान करें। मोह हटेगा, राग गलेगा, संसार टल जायगा। संकट कुछ भी नहीं है हम आपपर बुलाये हुए संकट हैं। परवस्तुका मोह किया, परवस्तुमें राग बसाया और वह परवस्तु हमारे आधीन है नहीं, वह तो जैसा परिणमन है, परिणति है तो उसके परिणमनको निरखकर यहां मोही जीव मानते कि हाय ऐसा क्यों हो गया? यों सोच सोचकर दुःखी होते हैं और अगर यह जानें कि ये सब तो बाहरी परिणमन हैं, जो परिणमन होना था सो हो गया, जगतके जीवोंका समागम मिला है। जितना आयुका उदय है उतनी देरका समागम है। न रही आयु तो अब यहांसे विदा हो गए, वे बिल्कुल भिन्न जीव हैं, उनसे मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है। सबके अपने-अपने जुदे-जुदे कर्म हैं, जुदा-जुदा सत्त्व है। अपने सत्त्वमें सब रहते हैं। संकट किस बातका आया? तो संकट हुआ करता है मोह और रागका। तो जहां मोह और राग नहीं है वहां संकट नहीं। तो यह स्थिति बनेगी सिद्ध भगवानके ध्यानसे, अपने आत्मस्वरूपके ध्यानसे। तो इस गाथामें सिद्ध भगवानका ध्यान करके अपने लिए उत्कृष्ट भावशुद्धि प्राप्त हो, यह भावना की। ये प्रभु तीनों लोकके द्वारा पूजित हैं। कैसे तीनों लोकके द्वारा पूजित है? स्वर्गके देव और इन्द्र भी इनका ध्यान करते हैं। मध्य लोकमें मनुष्य उनका ध्यान करते हैं। ऊर्द्धलोकके देवेन्द्र भी उनका ध्यान करते हैं और नीचे अधोलोकके भवनवासी व्यन्तरदेव तथा नारकी ये सब सिद्धके स्वरूप का ध्यान करते हैं। जिन्होंने केवल आत्माके चैतन्यस्वरुपका ध्यान किया उन्होंने सिद्धका ध्यान कर लिया। नरकोंमें भी सम्यग्दृष्टि नारकी आत्माके स्वरुपका ध्यान बना लेते हैं। तो ऐसे ये सिद्ध प्रभु तीनों लोकोंके द्वारा पूजित हैं, शुद्ध हैं। न कर्म इनके साथ हैं, न कोई

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

विकार है। निरंजन हैं, कोई अंजन नहीं रहा, सदा रहने वाले हैं। ऐसे ये सिद्ध भगवान हमारे दर्शन, ज्ञान और चारित्रमें उत्कृष्ट भावशुद्धिको प्रदान करें। कुंदकुंदाचार्य इस ग्रथ की समाप्तिके समय सिद्ध भगवानका ध्यान करते हुए भावशुद्धिकी प्रार्थना कर रहे हैं।

किं जंपिएण बहुणा अत्थो धम्मो य काममोक्खो य।
अण्णे वि अ वावारा भावम्मि परिट्ठिया सव्वे ॥१६४॥

(५९५) **सर्व अभ्युदयोंकी भावपरिनिष्ठितता**—अधिक कहनेसे क्या लाभ ? अर्थात् अधिक क्या कहना ? जितने भी लोकमें अभ्युदय है—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष और अन्य जितने भी व्यापार हैं वे सब भावोंमें ही याने परिणामोंकी विशुद्धतामें ही स्थित हैं। जगतका सुख कैसे प्राप्त होता ? उसका कारण है कि जीवने भाव विशुद्ध बनाया, पुण्यबंध हुआ, उसके उदयमें ये सब बातें प्राप्त होती हैं, और मोक्ष भी कैसे प्राप्त होता है ? भाव अत्यंत निर्मल हो गए, रागद्वेष रंच न रहे। शुक्लध्यान होता है, केवलज्ञान बनता है। अरहंत हुए तो शेष कर्मोंके नष्ट होनेपर सिद्ध हो जाते हैं। तो लौकिक सुख कहें तो वह भी भावोंकी विशुद्धिपर निर्भर है, और परमात्मपदकी प्राप्ति कहें तो वह भी भावोंकी अत्यन्त विशुद्धिपर निर्भर है। इसलिए अपना सदा एक काम है कि भाव गंदे न हों। भावोंमें निर्मलता रहे, और निर्मलता है भावोमें। इसकी पहिचान यह है कि सिद्ध भगवानकी सुध बनी रहे, अपने आत्माके अविकारस्वरूपकी सुध बनी रहे तो समझिये कि सिद्ध भगवानका ध्यान है, परिणामोंमें विशुद्धि है। जितना भी जो कुछ चमत्कार है वह सब भावोंकी विशुद्धिका है। जैसे एक देव, प्रभु। हम मंदिरमें आते हैं, प्रभुके दर्शन करते हैं, बतलाओ प्रभु काठके हैं कि पाषाणके है कि धातुके हैं ? हमने मूर्तिकी स्थापना की, किन्तु आपके भाव काम तो कर रहे हैं कि मूर्तिको निरखकर आप भगवानका ध्यान बना लें। तो भगवान आपके भावोंसे हुआ या यहां मंदिरमें भगवान बैठे हैं ? आपके भावोंमें भगवानका स्वरूप आया आपका भगवान मिला। यहां की भी बात छोड़ो, समवशरणमें भी कोई जाय तो वहां भगवान कहां मिलते हैं ? जो उस अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनंत वीर्य और अनंत आनंदमय अरहंत परमात्मका, शुद्ध आत्माका ध्यान करता है उसको भगवानका दर्शन होता, और जो आंखोंसे दिखता ही नहीं है तो जैसे यहां मनुष्य दिखे वैसे ही वहां भी भगवानका शरीर दिख गया, पर भगवानके दर्शन वहां भी नहीं हुए। भावोंमें भगवान बसा है, भावोंमें भगवत् स्वरूप आया है तो भगवानके दर्शन होते हैं। तो भगवान कहो, देवता कहो, वह कहां है ? हमारे भावोंमें स्थित है, और भगवान जो है वह स्वयं अपने स्वरूपमें स्थित है। जिसको भी भगवानके दर्शन हुए उसको अपने ही भावोंमें हुए।

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

(५९६) **भावरहितकी चेष्टावोंसे धर्मलाभकी असंभवता**—हे जीव ! यदि तू भावोंसे रहित होकर अपने सिरको नवाकर जिनभगवानको धारण कर रहा है या सिरके ऊपर अमृत रखकर मानो भगवानको धारण कर रहा है तो तेरे भाव जब नहीं हैं प्रभुके स्वरुपके तो इससे क्या होने वाला है ? क्या अमृतको सींचनेसे पत्थरपर कमल उग सकता है ? पत्थरपर कितना ही जल सींचा जाय और बहुत अच्छा अमृत जैसा जल भी सींचा जाय तो क्या कमल उग सकते हैं ? नहीं । तो ऐसे ही भावरहित इस जीवपर प्रतिमा भी धारण करा दें, समवशरणमें भी चला जाय और स्वयके भाव ठीक नहीं बनाता है तो उससे प्रभु दर्शन नहीं होता । सो भावोंकी बात बतला रहे । इस ग्रंथका नाम भावपाहुड़ है, मायने भावोंसे आत्माकी विजय है । भावरहित कोई पुरुष मुनि जैसा व्रत धारण कर ले तो भी उसको मोक्ष मार्ग या शान्तिमार्ग मिलनेका नहीं । भावसहित हो तो सिद्धि है । जिसका अभिप्राय खोटा है उसको सिर झुकानेसे कौनसा लाभ होने वाला है ? तब क्या करना कि भगवानके दर्शन, भगवानकी भक्ति या आत्मध्यान उपासनामें लगते हैं तो भाव विशुद्ध होने चाहिएं और आत्माका जो वास्तविक स्वरूप है ज्ञानमात्र वह दृष्टि में रहना चाहिए । सब कुछ अपने भावों पर निर्भर है । जैसे हिंसा और अहिंसा । जिसने हिंसाके भाव किये उसको हिंसा लग गई चाहे वह जीव मरे या न मरे और जिसका अहिंसारूप भाव रहता है सदा, चाहे किसी प्रकार उसके शरीरसे कोई छोटा जीव दब जाय, मर भी जाय तो भी उसके हिंसा नहीं लगती । जैसे कोई शिकारी लोग मच्छलियों को पकड़नेके लिए पानीमें जाल डालते हैं या पक्षियोंको पकड़नेके लिए जाल बाहरमें बिछाते हैं, तो भले ही उसमें एक भी मछली या एक भी पक्षी न फंसे, फिर भी उनको हिंसाका पाप लग ही गया और मुनि महाराज जो अहिंसा व्रतकी निरन्तर भावना रखते हैं, सब जीवोंमें दया रखते हैं, चले जा रहे हैं ईर्यासमितिसे और उनके पग तले कोई छोटा जंतु आ जाय, कदाचित् मर जाय तो भी मुनि महाराजको हिंसा नहीं है । इससे जानना कि जो कुछ है वह सब भावोंसे होता है । अपनेको सुख शांति चाहिए तो यह बहुत ध्यान रखना चाहिए कि हमारे भाव निर्मल रहें । किसी पड़ौसीसे ईर्ष्या न हो, किसीसे वैर न हो, द्वेष न हो, सबका भला चाहें तो शांति सुख मिलेगा और यदि दूसरे के प्रति बैर हो, क्षमा न हो, बिगाड़का भाव हो तो उसको शांति नहीं प्राप्त हो सकती ।

इय भावपाहुडमिणं सव्वं बुद्धेहि देसियं सम्मं ।
जो पढइ भावइ सो पावइ अविचलं ठाणं ॥१६५॥

(५९७) **भावपाहुड़का भावसे पठनका फल अविचल स्थानकी प्राप्ति**—सर्वज्ञदेव द्वारा कथित इस समस्त भावपाहुड़ को जो पढ़ता है, सुनता है, भावना करता है वह अविचल स्थानको प्राप्त होता है । जो भावोंसे बढ़ता है अर्थात् भावोंकी परीक्षा करते हुए बढ़ता है देखिये

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/
–विकारभाव आये, चाहे वह क्रोध हो, मान हो, माया हो, लोभ हो, बस उसी क्षण इस आत्माने इसे पीस डाला और क्षण भरको आया, वह मिट गया, मगर क्षणभर आये हुए विकारोंने सागरों पर्यंतके लिए ऐसे खोटे कर्मका बंध कराया कि अब संसारमें रुलते ही रहें। ये रागद्वेष भाव तुरन्त तो सुहावने लगते हैं, किसीसे राग किया जा रहा है, बहुत सुहावना लगता, किसीसे द्वेष किया जा रहा है तो वहां भी बहुत भला लग रहा, मगर यह विकारपरिणाम इनको लाखों करोड़ों भव तक परेशान करेगा और एक क्षणको विशुद्ध भावसे रह ले कोई, अपने आत्माके अविकारस्वरुपका ध्यान कर ले कोई उसको फिर यह परेशानी नहीं होती। वह मोक्ष मार्गमें लगता है। मोक्षका साक्षात् अधिकारी मुनि है। इस कारण भावपाहुड़ ग्रंथमें मुनियोंको सम्बोध करके शिक्षा दिया है कि हे मुनिश्रेष्ठ! सर्वज्ञ देवके द्वारा कहा हुआ भावपाहुड़ ग्रंथ बड़े भावोंसे सुनो और जो जो तत्त्व बताये हैं उनका अंतरंगमें मनन करिये। मैं जीव हूं, देह नहीं, मैं ज्ञानस्वरुप हूं अज्ञानमय नहीं। मेरेमें खुदके स्वरुपमें कोई विकार नहीं है। ये विकार कर्मकी छाया हैं। इन विकारोंमें मैं क्यों फंसूं? अपने विकारस्वरुपका चितन करता हुआ ध्यानमें बढ़े, ऐसा मुनियोंको संबोधन है।

(५६८) **सप्ततत्त्वका परिचय**–मुख्य परिचय कीजिये ७ तत्त्वका, जो मोक्षमार्गकी एक आधारशिला बनाता है जीव अजीव, जीवको दो तरहसे देखा गया है। अपने स्वरूपको देखा तो यह अविकार है, ज्ञानस्वरूप है। तो इस रूपसे जीवको देखा तो उससे ७ तत्त्व नहीं बनते। वह तो एक परमार्थ स्वरूप है। तब पर्यायरूपमें जीवको देखिये–जो औपशमिक भावमें है, क्षायोपशमिक भावमें है, कोई औदयिक भावमें है तो औदयिक भावोंके रूपमें निरखा गया यह जीव आखिर जीव ही तो है। वह तो तत्त्व लिया जहां ७ तत्त्व बने है और क्रमसे ये तत्त्व थोपे जायेंगे और अजीव है कर्म जो जीवके साथ लगे हुए हैं। जीवमें अजीवकर्मका आस्रव है, कर्म कैसे आते? बाहरसे नहीं आते, इस जीवके साथ ही कार्माणवर्गणायें लगी हैं। जैसे यह पुद्गल लगा है वैसे ही कार्माणवर्गणायें लगी हैं, तो जैसे ही जीवने कषायभाव किया कि वे कार्माणवर्गणायें कर्मरूप बन जाती है। और जैसी कषाय रखा तेज मंद उसके अनुसार उन कर्मोंमें स्थिति पड़ जाती है कि ये कर्म इतने वर्षों तक सागरों पर्यन्त जीवके साथ बंधे रहेंगे। उनका जब उदय आयगा तो यह जीव उनका फल भी पायगा। यह बंध हुआ। अब जीव अपने भावोंको संभाले, जीवका जो असली स्वरूप है ज्ञान, उस ज्ञान रूपमें ही अपनेको देखे तो कर्म न बधेंगे और इसी उपायसे पहले बंधे हुए कर्मोंकी निर्जरा हो जायगी। निर्जरा होते-होते जब सब कर्मोंकी निर्जरा हो चुकेगी तब उसको मोक्ष कहेंगे। तो इस संसारमें रहनेसे, जन्म-मरण

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

करनेसे आपको क्या लाभ होनेका ? और यह ध्यान रखना चाहिए कि हमारा तो एक ही लक्ष्य है कि इस संसारके जालसे हमको निकलना है, हमें इस जालमें नहीं फंसना है। अगर यह लक्ष्य बन जाय संसारके सारे दुःख जानकर तो आपको गृहस्थीमें रहते हुए भी चाहे कैसी ही घटनायें घटें, आपको कभी आकुलता नहीं हो सकती।

(५९९) सप्ततत्त्वका परिचय करके सप्ततत्त्वविकल्परहित शाश्वत स्वभावकी आराधनका फल उत्तमधामका लाभ—७ तत्त्वोंका ज्ञान करके भावना भाइये ऐसे जीवस्वरूपकी कि जो अपनी सत्तासे स्वयं सहज सिद्ध है ऐसे अपने सहज परमात्मतत्त्वकी उपासनासे यह जीव इन कर्मोंसे छूटता है। तो यह जानकर कि सब कुछ लाभ हमको भावोंकी विशुद्धिमें ही है, अन्य कामोंमें नहीं है, इसलिए अपने भाव शुद्ध करके यह जीवन बिताना चाहिए। कर्म यह नहीं देखते हैं कि यह कैसे खड़ा है, कैसे बैठा है, कैसे रह रहा है तो हम बधें। कर्म देखते हैं भावोंको। चाहे वह किसी धर्मस्थानमें बैठा हो, चाहे शौचालय जैसी अशुद्ध जगहमें बैठा हो, यदि इसकी दृष्टि आत्मस्वरूपमें हो जाय तो वहां कर्म न बधेंगे। तो सर्वत्र भावोंकी ही प्रधानता है, और जीव भावमय ही है। यह जीव पुद्गलकी तरह ढेला पत्थर रूप नहीं है। यह जीव किसी भी इन्द्रियसे दिख सकने वाला नहीं है। यह तो केवल चैतन्य भावस्वरूप है, तो ऐसा ध्यान बने। मैं ज्ञानमात्र हूं, मेरे स्वरूपमें किसी अन्यका प्रवेश नहीं। तब मेरे पर भार क्या ? मैं ज्ञानघन हूं, ज्ञानसे भरा हुआ हूं, पूर्ण हूं, मेरेमें अधूरापन है ही नहीं, फिर घबड़ाहट किस बातकी ? कुछ करनेका काम है ही नहीं। अपने स्वरूपको ही अनुभव लूं। मेरेमें सहज ही आनन्द है, स्वरूप ही आनन्द है, मेरेमें कष्ट नहीं, फिर क्यों बाहरी पदार्थोंमें उपयोग फंसाकर कष्ट मानूं ? तो इस तरह इस समस्त जगजालसे उपेक्षा रखना और एक ही लक्ष्य रखना अपना कि मुझको तो संसारजालसे छूटना है, मुक्त होना है। दूसरी बात मुझे न चाहिए। जो होता है सो हो, उसका मैं जाननहार रहूंगा। उसमें मेरेको रागद्वेष मोह न होना चाहिए। ऐसा निर्णय बने और फिर प्रभुध्यान करें, आत्मध्यान करें, ज्ञानमें बढ़ें, इस आनन्दका लाभ चाहिए। सांसारिक सुखोंमें, इन्द्रियविषयोंमें उलझकर मौज मानना, इसमें बड़ा धोखा है। आज इस भावपाहुड़ ग्रन्थकी समाप्तिके समय एक दृढ़ निश्चय बनायें कि मुझे तो वह भाव चाहिए जिससे मुक्ति मिलती है। इस संसारजालका रुलना हमें इष्ट नहीं है।

॥ भावपाहुड़ प्रवचन समाप्त ॥

जमना प्रिंटिंग प्रेस, इन्दिरा नगर, प्रथम, मेरठ।

Version 1